संपादक जयदेव तनेजा

राकेश मुख्यतः शहरी मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और आधुनिक व्यक्ति की विभक्त मानसिकता की दुविधाग्रस्त जटिलता के रचनाकार हैं। रचनावली के इस खंड में उनके तीन उपन्यास 'न आनेवाला कल', 'अन्तराल' और 'काँपता हुआ दरिया' कालक्रमानुसार संकलित हैं।

'न आने वाला कल' घटनाओं का नहीं, मनः-स्थितियों और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का उपन्यास है जिसमें परिस्थितियों की घुटन और अनिर्णय के दबाव में पत्नी को पत्रोत्तर देने में स्वयं को असमर्थ पाकर नायक मनोज सक्सेना हैडमास्टर के नाम अपना इस्तीफ़ा आसानी से लिख देता है। शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता से भयभीत तथा अपने वर्तमान से असन्तुष्ट नायक ने तो स्वयं अपने रचनाकार की तरह बिना कुछ सोचे-समझे ही अँधेरे में छलाँग लगाई है—भविष्य चाहे जो भी हो!

'अन्तराल' का नायक भी 'न आने वाला कल' जैसा ही बेचैन, बेसब्र और ख़ानाबदोश व्यक्ति है। विडम्बनापूर्ण स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की यह एक संवेदनशील, मार्मिक और संश्लिष्ट कहानी है।

एक अलग भावभूमि, पात्र, प्रसंग, परिवेश और वर्ग-समाज पर आधारित होने के कारण 'काँपता हुआ दरिया' को इस खंड में तीसरे स्थान पर रखा गया है। कश्मीर के सौंदर्य और रूमानी प्रेम की काल्पनिक कहानियों से अलग जेहलम में घर बनाकर रहने वाले निम्नवर्गीय हाँजी परिवार के सुख-दुख तथा संवेदनाओं के टकराव एवं जीवन-संघर्ष के कठोर यथार्थ के जीवंत चित्रण की वजह से यह उपन्यास राकेश के शेष तीनों उपन्यासों से भिन्न है।

'अंतराल' का पूर्व-रूप 'नीली रोशनी की बाँहें' है। इसके ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए इसका संक्षिप्त रूप यहाँ इसके असंशोधित मूल रूप में इस खंड के परिशिष्ट में दिया गया है।

मोहन राकेश रचनावली-7
[उपन्यास]

# मोहन राकेश रचनावली

## खंड : सात

सम्पादक
जयदेव तनेजा

राधाकृष्ण
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद

ISBN : 978-81-8361-427-6

**मोहन राकेश रचनावली-7**



**पहला संस्करण** : 2011

**मूल्य** : ₹ 10400
(तेरह खंड)

**प्रकाशक**
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

**शाखाएँ** : अशोक राजपथ, साइंस कॉलेज के सामने, पटना-800 006
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211 001

वेबसाइट : www.radhakrishnaprakashan.com
ई-मेल : info@radhakrishnaprakashan.com

**आवरण** : राधाकृष्ण स्टूडियो

**मुद्रक**
बी.के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

MOHAN RAKESH RACHANAWALI-7
*Edited by* Jaidev Taneja
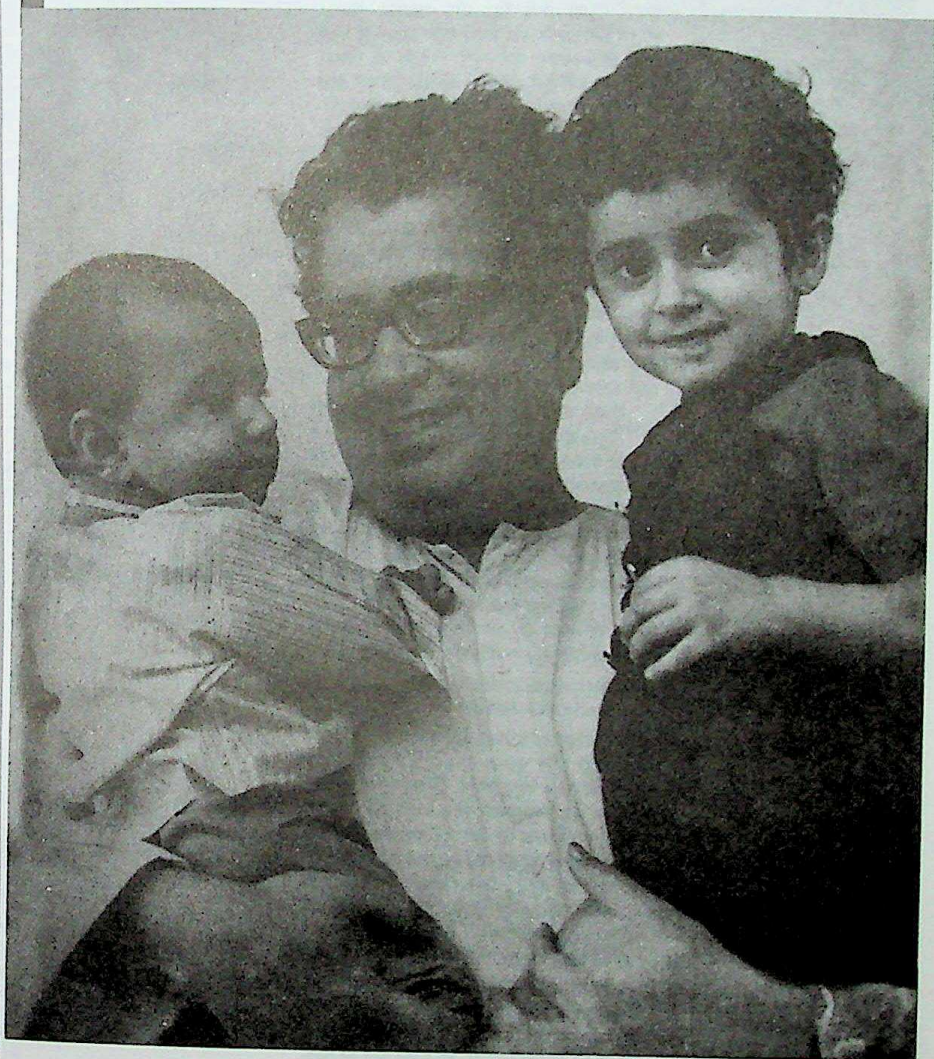
पुर्वा और शैली के साथ मोहन राकेश, नवम्बर, 1972

सागवान के कठघरे के बाहर फिर एक शाम उतर आयी थी।

कुमारने घड़ीकी तरफ देखा और [illegible] रजिस्टर बन्द कर दिया। शरीर और मनकी थकान [illegible] गवाह थी कि दिन—कामका दिन—पूरा हो [illegible] था, हालांकि दिनका काम अभी बहुत बाकी था। कोई दिन [illegible] नहीं आता था जिस दिन, दिनके सब काम पूरे हो जायें। हर आज आने-वाले कलके लिए कामकी कुछ-न-कुछ विरासत छोड़ जाता था।

वह कुरसीसे उठा, तो उसे लगा कि रीढ़की हड्डी [illegible] की तरह [illegible] ऐंठ गयी है। कनपटियां और आंखोंके पपोटे भी रोजकी तरह बंद कर रहे थे। सिर ऐसे हो रहा था, जैसे उस-पर मोटे कागजका खोल चढ़ा दिया गया हो। उसने आंखोंको झपका कि शायद इस हरकतसे उनमें कुछ ताजगी लौट आये [illegible] काम [illegible] रोज कुरसीसे उठनेपर वह अनायास ही कर डालता था। [illegible] दिमागकी जकड़ [illegible] ज्यों-की-त्यों बनी रहती थी और [illegible] जंग लगी मशीन-सा केबिनसे बाहर निकल आता था।

केबिनसे बाहर आकर उसने एक बार फिर घड़ीकी तरफ देखा। पांच बजकर पांच मिनट हुए थे। साढ़े पांच बजे [illegible] मिलनेकी बात थी। रेशम भवनमें। वह जगह उसने जान-बूझकर चुनी थी। इस ख्यालसे कि वहां ग्राहक ज्यादा नहीं आते और भरी शाममें भी कई बार वहां एक पूरा कोना खाली मिल जाता है। कई बार उस बड़े-से खाली हालमें उसने [illegible] अकेले बैठकर [illegible] चाय पी थी। जब भी वह [illegible] दिमागके जमघटसे निकलना चाहता था, तो वहां चला जाता था। [illegible] आज पहला मौका था, जब किसी औरको [illegible] वहां बुलाया था, और पहला ही मौका था, जब उस जगहके साथ [illegible] समयकी पाबन्दीकी बात जोड़ रहा था।

~~[illegible]~~

लिफ्टमैनने सलाम किया, [illegible] उसने जैसे उस आदमी-को देखा ही नहीं। चुपचाप उसके पाससे गुजरकर जीने [illegible] जीने उतरने लगा। उसे लग रहा था जैसे [illegible] कोई बहुत बड़ा बोझ कन्धोंपर लेकर चल रहा हो। कन्धोंपर नहीं, सिरपर। वजन [illegible] सिरपर ही महसूस हो रहा था। [illegible] झुंझलाहट भी हो रही थी कि [illegible] यह वजन क्यों महसूस [illegible] रहा है। आखिर श्यामासे ही तो मिलने जा रहा था — [illegible] जिससे [illegible] कभी [illegible] बातें करते हुए [illegible] अब अगर वह बदली भी होगी, तो कितना बदल गयी होगी?

एक शब्द उसके दिमागमें अटक गया था—लड़की! श्यामा लगभग उसके बराबरकी उम्रकी थी और वह खुद तीसको छूने जा रहा था। फिर भी वह श्यामाके बारेमें सोच रहा था; एक लड़कीके रूपमें ही। क्या परोक्ष रूपसे वह अपने-को विश्वास दिलाना चाहता था कि वह खुद भी अभी लड़का-ही है—थकी हुई आंखों, जकड़े हुए सिर और ऐंठी हुई रीढ़की हड्डीके बावजूद?

'नीली रोशनी की बाँहें' में संशोधन-परिवर्तन

# अनुक्रम

# भूमिका

मोहन राकेश रचनावली के खंड सात में उनके तीन (चार) उपन्यास संकलित हैं। रचनाकाल की दृष्टि से 1954-55 में कश्मीर की पृष्ठभूमि में राकेश ने अपना सर्वप्रथम उपन्यास 'सौन्दर्य की खोज' लिखना शुरू किया था। समाप्त होते-होते इसका नाम 'जेहलम के माँझी' हो गया। संशोधन-सम्पादन के बाद प्रकाशन के लिए देते समय 1964 में राकेश ने इसका शीर्षक 'काँपता हुआ दरिया' कर दिया। अतः रचना-काल की दृष्टि से यहाँ इस उपन्यास को प्रकाशन-क्रम में पहला स्थान मिलना चाहिए था। प्रकाशन-काल की दृष्टि से भी यह 'नई कहानियाँ' में मार्च, 1964 से लेकर मार्च, 1965 तक कुल ग्यारह किस्तों में छपकर संपादक कमलेश्वर की इस सूचना के साथ समाप्त हुआ कि "इस अंक से इस उपन्यास का धारावाहिक प्रकाशन बंद हो रहा है। पूरा उपन्यास शीघ्र ही पुस्तक रूप में प्रकाशित होगा।" परन्तु पता नहीं क्यों और किन कारणों से ऐसा नहीं हुआ? इसके बावजूद, पत्रिका में ही सही राकेश का सबसे पहले प्रकाशित होने वाला उपन्यास तो यह है ही। परन्तु कई कारणों से इसे तीसरे स्थान पर रखा गया है। इसका प्रथम कारण तो यही है कि रचनावली में कृतियों के क्रम-निर्धारण में हमने उनके पुस्तकाकार रूप के प्रकाशन-वर्ष को ही ध्यान में रखा है। इस दृष्टि से इसका पहला प्रकाशन 1998 में राकेश की अप्रकाशित-असंकलित रचनाओं के संकलन 'एकत्र' में हुआ था। दूसरा कारण, इसके छोटे से अंतिम अंश के उपलब्ध न हो पाने के कारण इसे खंडित उपन्यास ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कश्मीर के सौंदर्य और रूमानी प्रेम की काल्पनिक कहानियों से अलग जेहलम में घर बनाकर रहने वाले निम्नवर्गीय हाँजी परिवार के सुख-दुःख तथा संवेदनाओं के टकराव एवं जीवन-संघर्ष के कठोर यथार्थ के जीवंत चित्रण की वजह से यह उपन्यास राकेश के शेष तीनों उपन्यासों से भिन्न है। अतः एक अलग

भावभूमि, पात्र, प्रसंग, परिवेश और वर्ग-समाज पर आधारित होने के कारण भी 'काँपता हुआ दरिया' को क्रम में तीसरे स्थान पर रखा गया है।

राकेश मुख्यतः मध्यवर्गीय शहरी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और आधुनिक व्यक्ति की विभक्त मानसिकता की दुविधाग्रस्त जटिलता के रचनाकार हैं। कथाकार राकेश की इस मूल चेतना-धारा से प्रत्यक्षतः जुड़े और प्रकाशन-काल की दृष्टि से भी इस खंड का आरम्भ 1970 और 1972 में क्रमशः प्रकाशित हुए 'न आने वाला कल' तथा 'अंतराल' से ही करना अधिक तर्क-संगत प्रतीत हुआ। इसके अलावा छठे खंड में प्रकाशित राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' के बाद 'न आने वाला कल' एवं 'अन्तराल' में क्रमशः चरित्र, संवेदना, अनुभव और परिवेश की दृष्टि से एक निरन्तरता भी बनी रहती है। इसी तर्क के आधार पर यहाँ इन तीनों उपन्यासों का क्रम-निर्धारण किया गया है।

'न आने वाला कल' घटनाओं का नहीं, मनःस्थितियों और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का उपन्यास है। शिमला के 'फ़ादर बर्टन स्कूल' और उसके हिन्दी मास्टर मनोज सक्सेना के नाम बदलकर यदि 'बिशप कॉटन स्कूल' और मोहन राकेश कर दिए जाएँ तो यह उपन्यास लेखक द्वारा शिमला में अध्यापन करते हुए बिताए दो वर्षों के आत्मानुभव पर आधारित जीवनी या डायरीनुमा रचना कही जा सकती है। मोहन राकेश को प्रायः त्यागपत्र देनेवाला आदमी कहा जाता है। इस उपन्यास में भी परिस्थितियों की घुटन और अनिर्णय के दबाव में पत्नी को पत्रोत्तर देने में स्वयं को असमर्थ पाकर नायक मनोज सक्सेना हैडमास्टर के नाम अपना इस्तीफ़ा आसानी से लिख देता है। इस पर स्कूल में एक भूचाल-सा आ जाता है। कारण को लेकर हर कोई अटकलें लगाता है। परन्तु कारण को लेकर स्वयं त्यागपत्र देनेवाला ही अनिश्चित है तो भला कोई और निश्चित कैसे हो सकता है! शान्ति, सुरक्षा और स्थिरता से भयभीत तथा अपने वर्तमान से असन्तुष्ट नायक ने तो बिना कुछ सोचे-समझे अंधेरे में छलाँग लगाई है—भविष्य चाहे जो भी हो! राकेश की डायरी और पत्रों में इस उपन्यास के कथ्य की पर्याप्त झलक मिलती है—इसके बावजूद है यह उपन्यास ही, जिसे कल्पनाशीलता और परिपक्व भाषा-शैली के बिना नहीं लिखा जा सकता था।

'अन्तराल' का नायक भी 'न आने वाले कल' जैसा ही बेचैन, बेसब्र और ख़ानाबदोश व्यक्ति है। विडम्बनापूर्ण स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की

यह एक संवेदनशील, मार्मिक और संश्लिष्ट कहानी है। कुमार के साथ दुबली-पीली-सी लड़की लता की आत्मीय यादों के साए हैं तो श्यामा के साथ भी देव के साथ गुज़री रातों की परछाइयाँ हैं। अतीत की नामालूम सी जकड़न उनके नामहीन किन्तु सूक्ष्म, गहरे और परस्पर पूरक रिश्ते के वर्तमान को अस्वाभाविक, अबूझ और पेचीदा बना देती है। यह एक संवेदनशील और मार्मिक उपन्यास है।

'अंतराल' का पूर्व-रूप 'नीली रोशनी की बाँहें' है, जो 'धर्मयुग' में 1962 में धारावाहिक छपा था। संयोग से उसकी सिलसिलेवार कतरनें मुझे राकेश की एक बड़ी डायरी में मिल गईं। शायद पुस्तक रूप में छपवाने के उद्देश्य से ही राकेश ने उसमें अपने हाथ से संशोधन भी किए हुए हैं। परन्तु हैरानी की बात यह है कि कथा, चरित्र, भाषा, संवेदना और घटनाक्रम समान होने के बावजूद 'अन्तराल', 'नीली रोशनी की बाँहें' के उस संशोधित रूप से भी भिन्न और बेहतर रचना है। फिर भी, अनुपलब्ध 'नीली रौशनी की बाँहें' के ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए उसका संक्षिप्त रूप हम यहाँ इसके असंशोधित मूल रूप में इस खंड के परिशिष्ट में दे रहे हैं।

**—जयदेव तनेजा**

# न आनेवाला कल
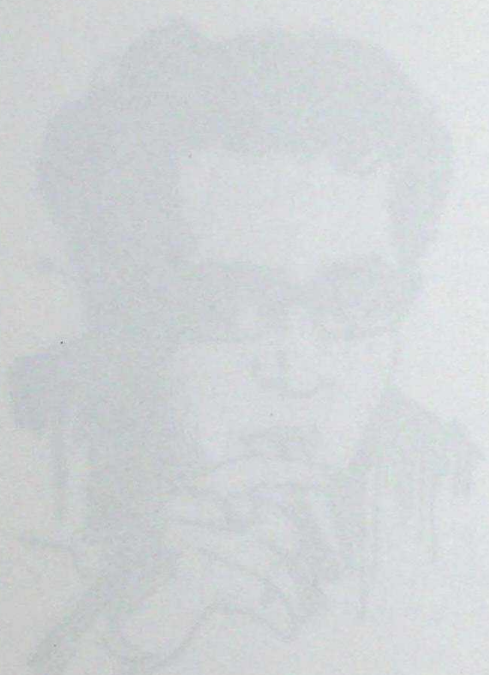
न आनेवाले उस कल की सशक्त कहानी, जो लौटकर कभी नहीं आता और वह 'कल' ही है, जो ज़िन्दगी के लिए एक हादसा, एक तक़लीफ़ बन जाता है।

# त्यागपत्र

त्यागपत्र देने का निश्चय मैंने अचानक ही किया था। उसी तरह जैसे एक दिन अचानक शादी करने का निश्चय कर लिया था। मगर स्कूल में किसी को इस पर विश्वास नहीं था।

मुझे कई दिनों से अपने अन्दर बहुत गरमी महसूस हो रही थी। छह हज़ार नौ सौ फुट की ऊँचाई, शुरू नवम्बर के दिन, फिर भी नसों में एक आग-सी तपती रहती थी। सूखे होंठों की पपड़ियाँ रोज़ छील-छीलकर उतारता था, पर सुबह सोकर उठने तक वैसी ही पपड़ियाँ फिर जम जाती थीं। कई बार सोचा था कि जाकर कर्नल बत्रा को दिखा लूँ, लेकिन इस ख़याल से टाल दिया था कि वह फिर से बात को हँसी में न उड़ा दे। उस बार, सात महीने पहले, जब रात को सोते में मुझे अपनी साँस घुटती महसूस होने लगी थी, तो वह दिल और फेफड़ों की पूरी जाँच करने के बाद मुस्कुरा दिया था। बोला था, ''तुम्हें बीमारी असल में कुछ नहीं है। अगर है तो सिर्फ़ इतनी ही कि तुम अपने को बीमार माने रहना चाहते हो। इसका इलाज भी सिर्फ़ एक ही है। ख़ूब घूमा करो, डटकर खाया करो और सोने से पहले चुटकुलों की कोई किताब पढ़ा करो।''

मुझे इस पर बहुत ग़ुस्सा आया था। उस ग़ुस्से में ही मैंने रात को देर-देर तक जागकर अपने को ठीक कर लिया था। स्कूल से त्यागपत्र देने की बात मैंने उस बार भी सोची थी। पर तब मैं अपने से निश्चय कर सकने की स्थिति में नहीं था। जब तक शोभा घर में थी, मैं अपने निर्णय से सबकुछ करने की बात करता हुआ भी वास्तव में हर निर्णय उस पर छोड़े रहता था। यह एक तरह का खेल था जो मैं अपने साथ खेलता था। अपना स्वाभिमान बनाए रखने के लिए। वह क्या चाहेगी, पहले से ही सोचकर उसे अपनी इच्छा के रूप में चला देने की कोशिश करता था। शोभा इस खेल को समझती न हो, ऐसा नहीं था। वह बल्कि यह कहकर इसका मज़ा भी लेती थी, ''मुझे पता था तुम यही चाहोगे। छह महीने साथ रहकर इतना तो मैं तुम्हें जान ही गई हूँ।'' यूँ हो सकता है वह सचमुच ऐसा ही सोचती हो। मैं उसे उत्तर न देकर बात बदल देता था। मन में बहुत कुढ़न पैदा होती थी, तो उसे अपने स्वाभिमान की क़ीमत समझकर सह जाता था।

पहले कभी मुझे वैसी गरमी महसूस नहीं हुआ करती थी। यह नई बीमारी कुछ महीनों से ही शुरू हुई थी। शायद ख़ून में कुछ नुक़्स पड़ गया था। ख़ून और खाल का रिश्ता ठीक नहीं रहा था। वरना यह क्यों होता कि हाथ-पैर तो ठंड से ठिठुरते रहें और गला हर वक़्त सूखा और चिपचिपा बना रहे? पहली नवम्बर को सीज़न की पहली बर्फ़ गिरी थी। लेकिन उस रात भी मुझे दो-तीन बार उठकर पानी पीना पड़ा। प्यास की वजह से नहीं, गले को ठंडक पहुँचाने के लिए। फिर भी ठंडक पहुँची नहीं थी। अन्दर जैसे रेगिस्तान भर गया था जो सारा पानी सोखकर फिर वैसा-का-वैसा हो जाता था।

त्यागपत्र मैंने इतवार की रात को सोने से पहले लिखा था। दिनभर हम लोग त्रिशूली में थे। कई दिन पहले से तय था कि इतवार को सुबह से शाम तक वहाँ रहेंगे। पर शाम तक से मेरा मतलब था शाम के चार बजे तक। यह सभी को पता था कि हमें इतवार को भी पूरे दिन की छुट्टी नहीं होती। पाँच बजे चेपल में पहुँचना ज़रूरी होता है। फिर भी उन लोगों का हठ था कि अँधेरा होने तक वहीं रहेंगे। उससे पहले मुझे अकेले को भी नहीं लौटने देंगे। ठर्रा पी-पीकर यह हालत हो गयी थी सबकी कि कोई भी उनमें से बात सुनने की स्थिति में नहीं था। मैंने काफ़ी कोशिश की उन्हें समझाने की, पर वे समझने में नहीं आए। बस हँसते रहे और नशे की भावुकता में इसकी-उसकी दुहाई देते रहे। आख़िर थोड़ी बदमज़गी हो गई। क्योंकि मैं इसके बावजूद वहाँ से चला आया। डिंग डांग डिंग डांग...चेपल की घंटियाँ बजनी शुरू हुई थीं कि अन्दर अपनी सीट पर पहुँच गया। उन लोगों को शायद लगा कि मैं बहुत डरपोक हूँ। अपनी नौकरी पर किसी तरह की आँच नहीं आने देना चाहता। मगर असल वजह मैं ही जानता था। मैं अगले दिन मिस्टर व्हिसलर के सामने अपनी सफ़ाई देने के लिए हाज़िर नहीं होना चाहता था। मुझे चेपल में जाने से चिढ़ थी, लेकिन उतनी ही चिढ़ लड़कों की कापियाँ जाँचने से भी थी। फिर भी एक-एक कापी मैं इतनी सावधानी से जाँचता था कि कभी एक बार भी मिस्टर व्हिसलर को इस पर टिप्पणी करने का मौक़ा मैंने नहीं दिया था। कारण यहाँ भी वही था जो शोभा के साथ था। मैं ऐसी कोई स्थिति नहीं आने देना चाहता था जिसमें अपने को ग़लत मानकर मुझे दूसरे के सामने खेद प्रकट करना पड़े। अपने अन्दर से यह मानकर चलना और बात थी कि मैं एक मजबूरी में दूसरे की शर्तों पर जी रहा हूँ। मगर उन शर्तों पर जीने के लिए मजबूर किया जाना बिलकुल दूसरी बात थी।

चेपल में जो कुछ हुआ, वह नया नहीं था। कुछ साम गाए गए। पादरी ने प्रार्थनाएँ कीं। घुटनों के बल होकर आँखों पर हाथ रखे लोगों ने प्रार्थनाओं को दोहरा दिया। अन्त में पादरी बेनसन ने सैंतीस मिनट का सर्मन दिया। स्कूल-मास्टर होने के नाते उसका सर्मन पूरे एक पीरियड का होता था...चालीस में से हाज़िरी के तीन

मिनट निकालकर। मैं बग़लों में हाथ दबाए उतनी देर चेपल की दीवारों और लोगों के हिलते सिरों को देखता रहा। लगातार सैंतीस मिनट, बिना किसी प्रतिक्रिया के, एक ही आदमी की आवाज़ सुनते जाना काफ़ी धीरज का काम था—ख़ास तौर से एक ग़ैर-ईसाई के लिए। पर मुझे इसकी आदत हो चुकी थी। अपनी सारी स्थिरता कूल्हों और टाँगों तक सीमित किए खपर से बुत-सा बना बैठा रहता था। अपने को व्यस्त रखने के लिए बिना घड़ी की तरफ़ देखे समय का अनुमान लगाता और उसे घड़ी से मिलाकर देखता रहता था। उसी तरह जैसे बस में सफ़र करते हुए एक आदमी तय किए फ़ासले का अपना अनुमान मील के पत्थरों से मिलाकर देखता है। जितनी बार अनुमान सही निकलता, मुझे अपने में एक इंट्यूशन का अहसास होता। इंट्यूशन की वैज्ञानिकता में विश्वास होने लगता। पर जितनी बार अनुमान ग़लत निकल आता, उतनी बार मन इस विषय में नास्तिक होने लगता। चेपल से उठते समय मेरी आस्तिकता या नास्तिकता इस पर निर्भर करती थी कि अन्तिम बार का मेरा अनुमान सही निकला था या ग़लत। पर कई बार वह कुछ दूसरे कारणों पर भी निर्भर करती थी।

चेपल के अन्दर उस समय काफ़ी ठंड थी—वह ख़ास ठंड जो कि एक चेपल के अन्दर ही होती है। उस ठंड से, अन्दर की रोशनी के बावजूद, बाहर गहरा साँझ का कुछ-कुछ आभास मिल रहा था। हालाँकि मेरे ख़ून की तपिश उस समय भी कम नहीं थी, फिर भी मेरे हाथ-पैर सुन्न हुए जा रहे थे। ठंड का असर नाक और माथे पर भी हो गया था जिससे डर लग रहा था कि कहीं सर्मन के दौरान ही न छींकने लगूँ। रूमाल पास में नहीं था, यह मैं ज़ेबों में टटोलकर देख चुका था। त्रिशूली में एक जगह हम लोग अपने-अपने रूमाल बिछाकर बैठे थे। शायद वहीं भूल आया था। ऐसे में हालत यह थी कि अपने पर वश रखने के लिए मुझे बार-बार थूक निगलना पड़ रहा था। आँखों और कानों से मैं यह अनुमान लगाने की भी कोशिश कर रहा था कि उस हालत में वहाँ अकेला मैं ही हूँ या कोई और भी मेरी तरह उस यन्त्रणा में से गुज़र रहा है। मेरा ख़याल है मिसेज़ दारूवाला की स्थिति भी वैसी ही थी। वह जैसे सर्मन से अभिभूत होकर बार-बार अपनी आँखों को रूमाल से छू रही थी। पर रूमाल आँखों के अलावा उसकी नाक और होंठों को भी ढक लेता, इससे वास्तविकता कुछ और ही जान पड़ती थी। मेरी नास्तिकता उस समय काफ़ी बढ़ गई थी, क्योंकि मेरा समय का अनुमान तीन बार ग़लत निकल चुका था। आख़िर सर्मन समाप्त हुआ। बाहर निकलने से पहले आख़िरी प्रार्थना की जाने लगी। अपने को छींकने से रोके रहने के कारण मेरी हालत उस बच्चे की-सी हो रही थी जो कमोड की तरफ़ भागना चाहते हुए भी बड़ों के डर से अच्छा बच्चा बना बैठा हो। पर चेपल से बाहर आते ही और ज़रा देर अच्छा बच्चा बने रहना मुझे सम्भव नहीं लगा।

इसलिए, 'गुड नाइट मिस्टर सो एंड सो', और 'गुड नाइट मिसेज़ सो एंड सो' का रुटीन पूरा करने के लिए मैं कॉरिडोर में नहीं रुका। इससे पहले कि मिस्टर और मिसेज़ व्हिसलर चेपल से बाहर आएँ, पीछे का रास्ता पकड़कर सड़क पर निकल आया। घर पहुँचकर अलमारी से दूसरा रूमाल निकालने तक मेरा छींक-छींककर बुरा हाल हो गया।

गरम पानी के साथ थोड़ी-सी ब्रांडी लेकर दस मिनट में मैंने अपने को ठीक कर लिया। अब मैं था और वह खालीपन जिसके साथ रोज़ रात को बारह बजे तक संघर्ष करना होता था। अगर हफ़्ते के बीच का कोई दिन होता, तो दो घंटे के लिए माल पर निकल जाता। घर से लोअर माल और लोअर माल से माल की चढ़ाई चढ़ने में ही एक निरर्थक-सी सार्थकता का अनुभव कर लेता। पर माल पर जाकर जिन लोगों से मिलना होता था, उनसे पहले ही दिन-भर ऊबकर आया था। यूँ भी उनसे मिलना मिलने के लिए न होकर किसी चीज़ के एवज़ में होता था और एवज़ की वे आकृतियाँ तब तक भी शायद त्रिशूली से अपर रिज के रास्ते में किसी पेड़ के नीचे लुढ़क रही थीं। अभी सात नहीं बजे थे। सोने से पहले के पाँच-छह घंटे ऐसे थे कि उनकी हदबन्दी किसी के सर्मन से नहीं होती थी। वह सिर्फ़ ख़ाली समय था—खा ा ा ली समय—जिसे बिना किसी विराम चिह्न के एक-एक मिनट करके आगे बढ़ना था। उस बीच काम सिर्फ़ एक ही था—बिना भूख के खाना खाना—जिसे समय के उस पूरे फैलाव में अपनी मर्ज़ी से इधर या उधर को सरकाया जा सकता था।

'अब?' मैंने आईने में अपना चेहरा देखा। पचीस वाट की रोशनी में वह काफ़ी बेजान-सा लगा। कुछ-कुछ डरावना भी। जैसे कि उसके उभार अलग हों, गहराइयाँ अलग। मैंने आईने के पास से हटते हुए दोनों हाथों से चेहरे को मल लिया। 'अब?'

कुछ था जो किया जाना था। लेकिन क्या?

मैंने कमरे में खड़े होकर आस-पास के सामान को देखा। दो कबर्ड, दो पलंग। एक चेस्ट ऑफ़ ड्राअर्ज़। एक ड्रेसिंग टेबल। दो कुर्सियाँ। एक तिपाई। सबकुछ उस ज़माने का जिस ज़माने में वह कोठी बनी थी। या जिस ज़माने में स्कूल बना था। तब से अब तक की सारी घिसाई के बावजूद अपनी जगह मज़बूत। बाहर बरामदे में एक पहियेदार सोफ़ा और दो सोफ़ा-चेयर। तीनों के स्प्रिंग अलग-अलग तरफ़ को करवट लिए। बीस साल पहले के पर्दे; न जाने किस रंग के। उतने ही साल पहले की दरी। शराब, शोरबा, स्याही और बच्चों की हाजत के निशान लिए। सबकुछ बीता हुआ, जिया जा चुका, फिर भी जहाँ-का-तहाँ। मुझसे पहले जाने किस-किसका, पर आज मेरा। मेरा अर्थात् स्कूल के हिन्दी-मास्टर का। तीन साल पहले तक हिन्दी-मास्टर का नाम था नरूला। आज नाम था सक्सेना। मनोज सक्सेना अर्थात् शिवचन्द नरूला अर्थात् वह अर्थात् मैं अर्थात् हम दोनों में से कोई नहीं अर्थात्

हिन्दी-मास्टर फ़ादर बर्टन स्कूल। मैं कमरे से बरामदे में आ गया और जिस सोफ़ा-चेयर के स्प्रिंग ज़रा कम चुभते थे, उस पर पसर गया। 'अब?'

यह भी आदत-सी बन गई थी—जब-तब, किन्हीं दो स्थितियों के बीच, अपने से सवाल पूछ लेना। जाने कब और कितनी जगह अपने मुँह से यह शब्द सुना था। उसी दिन। उससे एक दिन पहले। हफ़्ता-भर पहले। महीना-भर पहले। जैसे कि हर नई बार इस शब्द को सामने रख लेने से एक नई तरह से सोचने की शुरुआत हो सकती हो। पर होता इससे कुछ नहीं था—सिवा इसके कि सोच के उलझे हुए धागे में एक गाँठ और पड़ जाती थी। सात दस। अब? सात पचीस। अब? सात सैंतालीस। अब? सात अट्ठावन। अब? जैसे कि नींद लाने के लिए एक गिनती की जा रही हो। भेड़ों की गिनती की तरह। अब? अब? अब?

खिड़कियों के बाहर सबकुछ अँधेरे में घुल गया था। हर काँच पर काले फौलाद का एक-एक शटर खिंच गया था। यूँ दिन में भी उस सोफ़े पर बैठने से सिवा पेड़ों की टहनियों और यहाँ-वहाँ उगे घास-पात के कुछ नज़र नहीं आता था। पर शाम को सात के बाद तो कुछ भी सामने नहीं रह जाता था—स्याह काँच और फटी जाली को छोड़कर। पहले एक काँच पर सड़क के लैम्प की रोशनी पड़ा करती थी। उससे वह लैम्प, उससे नीचे का खम्भा और सड़क का उतना-सा हिस्सा रात-भर सजीव रहते थे। पर अब कई दिनों से वह लैम्प जलता ही नहीं था। पता नहीं बल्ब फ़्यूज़ हो गया था या लाइन ही कट गई थी। इससे बाहर अँधेरा होने का मतलब होता था बिलकुल अँधेरा। जाकर काँच से आँख सटा लो, तो भी सिवा अँधेरे के कुछ नहीं।

सोफ़ा-चेयर पर मुझे काफ़ी असुविधा हो रही थी। रोज़ होती थी। उसके स्प्रिंग अपेक्षाकृत कम चुभते थे, पर चुभते तो थे ही। वे शिवचन्द नरूला की बैठन के अनुसार ढले थे। या उससे पहले जो हिन्दी-मास्टर था, उसकी। पर जिस किसी की बैठन के अनुसार ढले हों, पिछले तीन सालों में वे मेरी बैठन के आदी नहीं हो पाए थे। हम दोनों के बीच एक बेगानापन था जिसकी शिकायत हम दोनों को रहती थी। अपनी-अपनी शिकायत का ग़ुस्सा भी हम एक-दूसरे पर निकालते रहते थे। वह मुझे स्प्रिंग चुभोकर, मैं उस चुभन को पीसकर। साधारणतया होना यह चाहिए था कि इतने अर्से में मेरी बैठन उन स्प्रिंगों के मुताबिक ढल जाती। पर ऐसा हुआ नहीं था। मेरी बैठन का अपना कसाव स्प्रिंगों के कसाव से कम नहीं था।

'यह अब और ऐसे नहीं चल सकता,' मैंने अपनी बैठन और स्प्रिंगों के बीच हाथ रखे हुए सोचा। 'जो भी निश्चय करना हो, वह अब मुझे कर ही लेना चाहिए।'

...

... सहारे अपने को इससे आगे सोचने ...

विकल्प एक। उठकर कपड़े बदले जाएँ। खाना बाहर किसी होटल में खाया जाए। फिर रात का शो देखकर सोने के समय घर लौटा जाए—अर्थात् जब बीच का पूरा अन्तराल तय हो चुका हो।

विकल्प दो। ड्रेसिंग गाउन पहनकर एन.के. के यहाँ चला जाए। दो घंटे उससे उसकी प्रेमिका अर्थात् होनेवाली पत्नी के पत्र सुने जाएँ। फिर सुबह तक उसके उस ख़ाली बिस्तर में दुबक रहा जाए जो उसने अभी से फरवरी में होनेवाली अपनी शादी की प्रतीक्षा में बिछा रखा है।

विकल्प तीन। ज़ेबों में हाथ डाले लोअर माल का एक चक्कर लगा लिया जाए। एकाध डब्बी सिगरेट ख़रीदकर फूँक डाली जाए। फिर इस तरह घर की तरफ़ लौटा जाए जैसे उतनी देर बाहर रहकर किसी-से-किसी चीज़ का कुछ तो बदला ले ही लिया हो।

विकल्प चार...

मैं सोफ़ा-चेयर से उठ खड़ा हुआ। इनमें से कुछ भी करने में कोई तुक नहीं थी क्योंकि सब बातें पहले की आज़माई हुई थीं। कमरे में जाकर मैंने स्कूल से आया टिफिन कैरियर खोल लिया। खाना गरम करने की हिम्मत नहीं हुई, इसलिए दो बोटी ठंडा गोश्त ठंडे सूप के साथ निगल लिया। फिर टिफिन के जूठे डब्बों को इस तरह ग़ुसलख़ाने में पटक दिया जैसे कि खाने के बदमज़ा होने की सारी ज़िम्मेदारी उन्हीं पर हो।

'मुझे पता है मैं क्या चाहता हूँ,' ग़ुसलख़ाने का दरवाज़ा बन्द करते हुए मैंने सोचा। 'फिर उसे करने में मुझे इतनी रुकावट क्यों महसूस हो रही है?'

खट्...खट्...खट्...साथ के पोर्शन से आती आवाज़ ने कुछ देर के लिए ध्यान बँटा दिया। कोहली की बीवी शारदा खड़ाऊँ पहने अपने ग़ुसलख़ाने की तरफ़ जा रही थी। शाम के सात बजे से लेकर रात के दो बजे तक वह जाने कितनी बार ग़ुसलख़ाने में जाती थी। कभी गुरदे साफ़ करने के लिए, कभी प्लेटें धोने के लिए और कभी अन्दर बन्द होकर रोने के लिए। बीच में पक्की दीवार होने के बावजूद उसकी खड़ाऊँ से मेरे पोर्शन का फ़र्श भी हिल जाता था। आधी रात को तो लकड़ी के फ़र्श पर वह खट्-खट् की आवाज़ बहुत ही मनहूस लगती थी।

मैं बरामदे में आकर अपनी पढ़ने की मेज़ के पास बैठ गया। चिट्ठी लिखने का काग़ज़ निकालकर सामने रख लिया। कलम खोल लिया। फिर भी तब तक अपने को लिखने से रोके रहा जब तक शारदा के पैरों की खट्-खट् ग़ुसलख़ाने से वापस नहीं आ गई। उसके बाद लिखना शुरू किया—'प्रिय शोभा...'

मन में यह पत्र मैं कई बार लिख चुका था। लिखकर हर बार मन में ही उसे फाड़ दिया था। उस समय वे दो शब्द काग़ज़ पर लिख लेना मुझे काफ़ी हिम्मत का

काम लगा। मैं कुछ देर चुपचाप उन्हें देखता रहा। कैमल रंग के दानेदार काग़ज़ पर वे दोनों शब्द—'प्रिय' और 'शोभा'—सतह से ऊपर को उठे-से लग रहे थे। दोनों अलग-अलग। बल्कि सभी अक्षर अलग-अलग। प्रि य श ो भ ा। मैंने उन अक्षरों पर लकीर फेर दी और काग़ज़ को मसलकर टोकरी में फेंक दिया। एक कोरा काग़ज़ लेकर फिर से लिखना शुरू किया—'शोभा...'

रुककर जेबें टटोलीं। डब्बी में एक ही सिगरेट था। सोचा कि अगर घूमने निकल गया होता, तो कुछ सिगरेट तो और ख़रीद ही लाता। छह-आठ सिगरेट पास में होते, तो पत्र आसानी से पूरा किया जा सकता था।

मैंने सिगरेट सुलगा लिया। बस पहली पंक्ति लिखना ही मुश्किल था। उसके बाद बाक़ी मज़मून के लिए रुकने की सम्भावना नहीं थी।

सामने के स्याह काँच को देखते हुए मैंने एक लम्बा कश खींचा। शोभा पास में होती, तो उस तरह कश खींचने से मुझे रोकती तो नहीं, पर एक शहीदाना भाव आँखों में लाकर चुपचाप मुझे देखती रहती। उसकी आँखों के उस शहीदाना भाव को सहना ही मुझे सबसे मुश्किल लगता था। लगता कि वह मुझे देख नहीं रही, मन-ही-मन उस दूसरे के साथ मेरी तुलना कर रही है जिसके साथ विवाहित जीवन के सात साल उसने पहले बिताए थे। हालाँकि उस दूसरे का नाम वह ज़बान पर नहीं लाती थी—अपने सारे व्यवहार से यही प्रकट करने का प्रयत्न करती थी कि यह उसकी पहली शादी है—फिर भी अपने मन से वह जीती उस खोई हुई ज़िन्दगी में ही थी। इसीलिए उसकी आँखों में वह शहीदाना भाव दिन में कई-कई बार नज़र आ जाता था। सुबह उठने से रात को सोने तक वह बात-बात पर शहीद होती थी। मेरा हँसना, बात करना, खीझना, कुछ भी ऐसा नहीं था जो उसे शहीद होने के लिए मजबूर न करता हो, बातचीत के दौरान मेरे मुँह से कभी उसके पहले पति का नाम निकल जाता, तो उसे लगता जैसे जान-बूझकर उसे छीलने की कोशिश की गई हो। और उसकी शहीद होते रहने की आदत के कारण मैं भी अपने को शहीद होने के लिए मजबूर पाता था। उसके जूड़े से बाहर निकली पिनें, साड़ी से नीचे को झाँकता पेटीकोट, आँखों में लदा-लदा सुरमा और फड़कती नसें लिए बात के बीच से उठ जाने का ढंग—बहुत कुछ ऐसा था जिसके लिए मैं उसे टोकना चाहता था, पर टोक नहीं पाता था। कुछ दिनों के परिचय की झोंक में शादी तो मैंने उससे कर ली थी, पर अब लगता था कि अन्दर के एक डर से अपने को कमज़ोर पाकर ही मैंने ऐसा किया था। शादी से पहले एक बार मैंने उससे कहा भी था कि पैंतीस की उम्र तक अकेला रहकर मैं अपने को बहुत थका हुआ महसूस करने लगा हूँ। तब उसने बहुत समझदारी के साथ आँखें हिलाई थीं—जैसे कि यह कहकर मैंने अपनी तब तक की ज़िन्दगी के लिए पश्चात्ताप प्रकट किया हो। 'मुझे पहली बार मिलने पर ही लगा था,' उसने कहा

था। 'आदमी अपने मनबहलाव के लिए चाहे जितने उपाय कर ले, पर रात-दिन का अकेलापन उसे तोड़कर रख देता है।' इस बात में उसका हलका-सा संकेत अपने पिता से सुनी बातों की तरफ़ भी था। मैंने उस संकेत को नहीं उठाया था क्योंकि ख़ामख़ाह की लम्बी व्याख्या में मैं नहीं पड़ना चाहता था।

उसने मेरे घर में आकर एक नई शुरुआत की कोशिश की थी, पर वह शुरुआत सिर्फ़ उसके अपने लिए थी। उस शुरुआत में मुझे उसके लिए वही होना चाहिए था जोकि वह दूसरा था जिसकी वह सात साल आदी रही थी। घर कैसा होना चाहिए, खाना कैसा बनना चाहिए, दोस्ती कैसे लोगों से रखनी चाहिए—इस सबके उसके बने हुए मानदंड थे जिनसे अलग हटकर कुछ भी करना उसे बुनियादी तौर पर ग़लत जान पड़ता था। शुरू-शुरू में जब मैं अपने ढँग से कुछ भी करने की ज़िद करता, तो वह आँखों में रुआँसा भाव लाकर पलकें झपकती हुई सिर्फ़ एक ही शब्द कहती, 'अरे!' मैं उस 'अरे!' की चुभन महसूस करता हुआ एक उसाँस भरकर चुप रह जाता, या मन में कुढ़ता हुआ कुछ देर के लिए घर से चला जाता। तब लौटकर आने पर वह रोए चेहरे से घर के काम करती मिलती। उसकी नज़र में मैं अब भी एक अकेला आदमी था जिसका घर उसे सँभालना पड़ रहा था जब कि मेरे लिए वह किसी दूसरे की पत्नी थी जिसके घर में मैं एक बेतुके मेहमान की तरह टिका था। मैं कोशिश करता था कि जितना ज़्यादा-से-ज़्यादा वक़्त घर से बाहर रह सकूँ, रहूँ। पर जब मजबूरन घर में रुकना पड़ जाता, तो वह काफ़ी देर के लिए साथ के पोर्शन में शारदा के पास चली जाती थी।

बीच में एक बार उसे कॉलिक का दौरा पड़ा था। तब कर्नल बत्रा ने जो दवाइयाँ लिखकर दीं, वे उसने मुझे नहीं लाने दीं। काग़ज़ पर कुछ और दवाइयों के नाम लिख दिए जो कुछ साल पहले वैसा ही दौरा पड़ने पर उसे दी गई थीं। मैंने उससे कहा भी कि जिस डॉक्टर को दिखाया है, उसी की दवाई उसे लेनी चाहिए। पर वह अपने हठ पर अड़ी रही। "मुझे अपने जिस्म का पता है," उसने कहा। "मुझे आराम आएगा, तो उन्हीं दवाइयों से जो मैं पहले ले चुकी हूँ। जब मैं कहती हूँ कि मुझे वही दवाइयाँ चाहिए, तो तुम इन दवाइयों के लिए हठ क्यों करते हो?"

मैंने हठ नहीं किया। वह अपनी दवाइयों से तीन-चार दिन में ठीक भी हो गई। उसे सचमुच अपनी दवाइयों का पता था, खान-पान के परहेज़ का पता था। और भी प्रायः सभी चीज़ों का पता था—उन किताबों का जो उसे पढ़नी चाहिए थीं, उन जगहों का जहाँ उसे जाना चाहिए था और उस सारे तौर-तरीक़े का जिससे एक घर में 'अच्छी ज़िन्दगी' जी जा सकती थी। अगर कुछ सीखने को था, तो सिर्फ़ मेरे लिए था क्योंकि इतने साल अकेली ज़िन्दगी जीने के कारण 'मुझे किसी भी सही चीज़ का बिलकुल पता नहीं था।' साथ रहने के कुछ महीनों में हमें एक-दूसरे की इतनी आदत तो हो

ही गई थी कि हमने एक-दूसरे के मामले में दख़ल देना छोड़ दिया था। मुझे मन में जितना ग़ुस्सा आता था, बाहर मैं उतने ही कोमल ढँग से बात करता था। वह भी ऐसा ही करती थी। एक-दूसरे की बढ़ती पहचान हमारे अन्दर एक औपचारिकता में ढलती गई थी। यह जान लेने के बाद कि न तो हम अपनी-अपनी हदें तोड़ सकते हैं और न ही एक-दूसरे की हदबन्दी को पार कर सकते हैं, हमने एक युद्ध-विराम में जीना शुरू कर दिया था। उस युद्ध-विराम की दोनों की अपनी-अपनी शर्तें थीं—अपने-अपने तक सीमित। दोनों को एक-दूसरे से कुछ आशा नहीं थी, इसलिए हदबन्दी टूटने की नौबत बहुत कम आती थी।

सिगरेट में एकाध कश बाक़ी था, फिर भी मैंने उसे ट्रे में मसल दिया। कुछ ऐसे जैसे शोभा की शहीद नज़र उस समय भी सामने हो। फिर अपने हाथों को देखा। सिगरेट पी-पीकर पीली पड़ी उँगलियाँ। सोचा कि फेफड़े तो अब तक स्याह हो चुके होंगे—शायद उनमें कैंसर की शुरुआत भी हो चुकी हो। शोभा ने एक बार एक लेख पढ़ने को दिया था—'यू कैन स्मोक योरसेल्फ टु डेथ'। उस दिन मैंने सबसे ज़्यादा सिगरेट पिए थे। दोनों में से कहा किसी ने कुछ नहीं था। शोभा ने लेख सामने रखकर मुझे गाली दे दी थी, मैंने सिगरेट फूँक-फूँककर उसे। फिर हमने सहज भाव से खाना खाया था। मैंने उसकी बनाई मूली-पालक की सब्ज़ी की तारीफ़ भी की थी। पर शाम को बाज़ार से लौटने पर शोभा ने फिर एक बार मुझे गाली दे दी थी—सिगरेट का पूरा कार्टून मेरी मेज़ पर रखकर।

उस दिन स्कूल से घर लौट रहा था, तो देखा कि वह स्कूल की तरफ़ आ रही है। यह काफ़ी अस्वाभाविक-सी बात थी क्योंकि स्कूल की बिल्डिंग में क़दम रखने से ही उसे चिढ़ थी। दो-एक बार जब मैंने उससे स्कूल की पार्टियों में चलने को कहा था, तो उसने इनकार कर दिया था। उस दिन भी स्कूल में किसी की चाय पार्टी थी जिस वजह से मुझे घर लौटने में देर हो गई थी। मुझे दूर से आते देखकर वह रुक गई। "मैं चार बजे से इन्तज़ार करते-करते थक गई थी," मेरे पास पहुँचने पर वह बोली। "मुझे तुमसे कुछ ज़रूरी बात करनी थीं।"

वह सुबह से नहाई नहीं थी। बाल उड़ रहे थे और कपड़े भी उसने रात के ही पहन रखे थे। उसे उस रूप में सड़क पर देखकर मुझे अच्छा नहीं लगा। फिर भी अपनी त्योरी पर क़ाबू पाकर आगे चलते हुए मैंने कहा, "जो भी बात करनी हो, घर चलकर करना। मैं सुबह तुम्हें बताकर गया था कि आज एक चाय पार्टी है। तुम्हें पता है कि यहाँ पार्टी के लिए रुकना भी उतना ही ज़रूरी होता है जितना क्लास में पीरियड लेना।"

"यहाँ की सब चीज़ें बहुत अजीब हैं," वह कुछ उतावली के साथ बोली। बात करने के लिए वह जिस तरह तैयार होकर आई थी, उससे घर पहुँचने तक प्रतीक्षा

करना उसके लिए मुश्किल लग रहा था। ''यहाँ के लोग, यहाँ के रंग-ढंग, सभी बहुत अजीब हैं। मुझे तो लगता है कि मैं इसी तरह यहाँ रहती रही, तो जल्दी ही पागल हो जाऊँगी।''

''घर सामने ही है,'' मैंने अपनी अभ्यस्त कोमलता के साथ कहा, ''एक बार अपने कमरे में पहुँच जाएँ तो।''

''मैं कमरे में बैठकर बात नहीं करना चाहती,'' उसका स्वर कुछ ऊँचा हो गया। बिखरे बालों के कारण उसकी आँखों का सुरमा और गहरा लग रहा था। उसके हाव-भाव से स्पष्ट था कि उसने अपनी तरफ़ से युद्ध-विराम आज तोड़ दिया है।

''तो ठीक है,'' मैं चलते-चलते रुक गया। ''तुम्हें जो भी कहना है, यहीं पर कह डालो।''

वह पल-भर खड्ड में गिरते नाले को देखती रही, फिर आँखें उठाकर बोली, ''मैं खुरजा जाने की सोच रही हूँ।''

मैं अचकचाया-सा उसे देखता रहा। इस बीच और कई बातें मैंने सोच डाली थीं। पर वह खुरजा जाने की बात कहेगी, इसकी मैंने कल्पना तक नहीं की थी।

''क्यों?'' मैंने सिर्फ़ इतना ही पूछा। पर उसने उत्तर न देकर मुझसे पूछ लिया, ''तुम एक दिन की छुट्टी लेकर मेरे साथ चल सकते हो—मुझे छोड़ने के लिए?''

''देखो...।''

''अगर नहीं चल सकते, तो भी मुझे साफ़ बता दो।''

''तुम समझती हो कि यह बात यहाँ रास्ते में खड़े होकर तय करने की है?'' अब मेरे लिए अपनी खीझ दबाए रखना असम्भव हो गया।

''इसमें तय करने को कुछ नहीं है,'' वह बोली, ''जाने को मैं अकेली भी जा सकती हूँ। पर इसलिए कह रही थी कि उसमें तुम्हें कुछ वैसा न लगे। फिर उससे वे लोग भी कुछ दूसरी तरह की बात सोच सकते हैं।''

मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि वह सचमुच गम्भीर होकर बात कर रही है। उसका पहले का घर खुरजा में था—साल-भर पहले वहाँ से आने पर उसका लौटकर जाने का रिश्ता भी था, पर उस शादी के बाद वह रिश्ता कहाँ गया? हालाँकि जब हम लोगों की शादी की बात तय हुई थी, तो उसने वहाँ एक पत्र लिखकर सूचना दे दी थी जिसका उत्तर उसे तीन-चार महीने बाद मिला था। तब तक उसके पिता ट्रांसफर होकर जालन्धर चले गए थे—पत्र पहले डाकख़ाने से रिडायरेक्ट होकर जालन्धर गया था, फिर वहाँ से मेरे पते पर रिडायरेक्ट होकर आया था। उसमें इतना ही लिखा था कि वे लोग दिल से उसका भला चाहते हैं, इसलिए उसके निर्णय को लेकर उन्हें कुछ कहना नहीं है—और कि उसका जो सामान वहाँ पड़ा है, वह जब चाहे, उसे भेज दिया जा सकता है। पत्र पर पता उसके पिता ने अपने हाथ से बदला था,

पर स्वयं उन्होंने पत्र नहीं लिखा था। यहाँ रहते ही उन्होंने हम लोगों से अपने को काट लिया था। शोभा दो-एक बार उन दिनों उनके पास जा आई थी, पर वे न कभी हमारे यहाँ आए थे और न ही उन्होंने मुझे कभी अपने यहाँ बुलाया था। उनकी नाराज़गी का कारण यह नहीं था कि शोभा ने दूसरी शादी क्यों की, बल्कि यह कि मुझसे क्यों की। एक शहर में रहते हुए वे जितना मुझे जानते थे, उतना उनकी नज़र में मुझे रद्द करने के लिए काफ़ी था। जब शोभा खुरजा से नहीं आई थी, तो वे स्वयं इस बात की कोशिश में थे कि उसे बुलाकर साल-छह महीने में कहीं उसकी दूसरी शादी की व्यवस्था कर दें। किसी आदमी का सुझाव देने के लिए उन्होंने जिन-जिन लोगों से कहा था, उनमें मैं भी था। "तुम्हारे स्कूल में कोई मास्टर हो," उन्होंने कहा था, "अट्ठाईस-तीस साल तक की उम्र का, कँवारा या आसरू, तो मुझे बताना—या स्कूल से बाहर ही तुम्हारा कोई परिचित हो। लड़की सात साल शादीशुदा रही है, पर अब भी वह मुश्किल से तेईस साल की है। कोई बच्चा-अच्चा भी नहीं है, इसलिए उसे फिर से सेटल हो ही जाना चाहिए।" तब हम दोनों में से किसी ने नहीं सोचा था कि लड़की के आने पर परिस्थिति का रूप यह हो जाएगा। जब पहली बार शोभा ने उनसे इस सम्बन्ध में बात की थी, तो उन्हें लगा था कि मैंने शोभा को बरगलाकर उनके साथ विश्वासघात किया है। "मैं तुम्हें हतोत्साह नहीं करना चाहता," उन्होंने शोभा से कहा था, "पर मैं उस आदमी को शादी के क़ाबिल बिलकुल नहीं समझता। यह मैं उसके बाँसनुमा डील-डौल की वजह से नहीं कह रहा, उन सब बातों की वजह से कह रहा हूँ जो तुम उसके बारे में नहीं जानतीं।" शोभा ने मुझे बताया था कि मेरे बारे में क्या-क्या बातें उसके पिता ने सुन रखी हैं। उनके अनुसार मैं बेहद शराब पीता था और हर सातवें-आठवें रोज़ एक नई लड़की के साथ रात गुज़ारता था। इसका प्रमाण था कि मैं अकसर अपनी शाम 'स्टैंडर्ड' में बिताता था और दो-एक बार उन्होंने खुद मुझे अपर रिज से पीछे की छोटी सड़क पर लड़कियों के साथ घूमते देखा था। इनमें से पहली बात जहाँ काफ़ी हद तक सच थी, वहाँ दूसरी लगभग बेबुनियाद थी। जिन लड़कियों के साथ उन्होंने मुझे घूमते देखा था, वे मेरी मौसेरी बहनें थीं जो मौसा-मौसी के साथ एक बार मेरे यहाँ आकर महीना-भर रही थीं। फिर भी मैं जानता था कि आस-पास कई लोग ऐसे हैं जिनके मन में मेरी कुछ ऐसी ही तसवीर बनी हुई है—मैंने स्वयं यह तसवीर अपने अकेलेपन की दलील के तौर पर बन जाने दी थी। पर इसके पीछे जो वास्तविकता थी, उसे शोभा भी अब उतनी ही अच्छी तरह जानती थी जितनी कि मैं। बल्कि यह जानकर कि मेरी असली तसवीर उस प्रचारित तसवीर से काफ़ी अलग है, उसे कुछ निराशा ही हुई थी। वह अपने प्रभाव से मेरे जिस व्यक्तित्व को बदलने की बात मन में लेकर आई थी, उससे बिलकुल अलग एक व्यक्तित्व से उसका वास्ता पड़ा था। इस आदमी के नुक़्स उतने

बाहर के नहीं थे कि उन्हें आसानी से ठीक किया जा सकता। इसके ज़्यादा नुक़्स अन्दर के थे जिन्हें लेकर शायद कुछ भी नहीं किया जा सकता था।

खुरजा से आया पहला पत्र उसने मुझे पढ़ने को दे दिया था—बिलकुल चुपचाप। मैंने भी चुपचाप पढ़कर एक तरफ़ रख दिया था। तब तक हम लोग उस मुक़ाम पर पहुँच चुके थे जहाँ ज़्यादा बातें मुँह से न कहकर ख़ामोशी से कही जाती थीं।

"तुम बिलकुल चुप हो गए हो," उस समय खड़े-खड़े वह कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद बोली, "तुम्हें शायद लग रहा है कि मैं सिर्फ़ तुम्हें परेशान करने के लिए यह बात कह रही हूँ। लेकिन ऐसा नहीं है। मैं सचमुच जाना चाहती हूँ।"

"कितने दिनों के लिए?" मैंने कोशिश की कि उसकी आँखों से उसका वास्तविक आशय जान सकूँ।

"यह मैं अभी नहीं कह सकती। वहाँ जाकर देखूँगी कि कितने दिन मन लगता है।"

"उन्होंने तुम्हें लिखा है वहाँ आने के लिए?" मुझे पता था कि कुछ दिन पहले खुरजा से एक और पत्र आया था। वह पत्र उसने मुझे नहीं दिया था। मैं भी तब से उसका ज़िक्र ज़बान पर नहीं लाया था।

"हाँ...मैंने उन्हें लिखा था कि मैं कुछ दिनों के लिए आना चाहती हूँ। वहाँ से पुष्पा का जवाब आया था कि मैं जब चाहूँ, आ जाऊँ। बाऊजी और बीजी दोनों ने अपनी तरफ़ से लिखवाया था कि मैं मन में किसी तरह का संकोच न रखूँ—वे मेरी स्थिति को समझते हैं और उन्हें हम दोनों से मिलकर ख़ुशी होगी।"

"तुमने उन्हें दोनों के वहाँ आने की बात लिखी थी?"

"नहीं। मैंने सिर्फ़ अपने लिए लिखा था। उन्होंने लिखा था दोनों के लिए।"

"तो इसलिए तुम चाहती हो कि...?"

"मैं तुम पर ज़ोर नहीं देना चाहती। मैं उन्हें समझा दूँगी कि तुम्हें स्कूल से आसानी से छुट्टी नहीं मिलती, इसलिए तुम नहीं आ सके।"

अब मुझे सन्देह नहीं रहा कि वह वास्तव में ही जाना चाहती है। "तुम कब जाने की सोचती हो?" मैंने हल्के से आँखें झपकते हुए पूछ लिया।

"कल शाम की बस से।"

"तो ठीक है। जब तुमने तय कर ही लिया है, तो मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहूँगा।"

"इसका मतलब यही है न कि तुम साथ नहीं चलोगे?" उसकी गरदन थोड़ी कस गई।

"तुम जानती ही हो कि इन दिनों... ।"

"ठीक है। तुम घर चलो। मैं अभी माल से तार देकर आती हूँ।"

सड़क के मोड़ पर मुझसे अलग होकर वह माल की चढ़ाई पर चल दी। मेरे मन में कहीं ख़याल था कि शायद वह अभी तार न दे—लौटकर उस बारे में थोड़ी और बात

करे। पर पौन घंटे के बाद जब वह आई, तो तार की रसीद उसके हाथ में थी। रात को सोने से पहले हममें थोड़ी-सी ही और बात हुई। खाना खाकर हम रोज़ की तरह बरामदे में आमने-सामने की सोफ़ा-चेयर्ज़ पर बैठे थे। "तुमने जालन्धर पता दे दिया है कि तुम खुरजा जा रही हो?" काफ़ी देर की चुप्पी के बाद मैंने उससे पूछ लिया।

"मुझे वहाँ से कभी पत्र आता है जो मैं वहाँ पत्र लिखूँगी?" उसने बाहर के अँधेरे को देखते हुए कहा, "अगर मैं उन्हें लिखती भी, तो ज़्यादा सम्भव यही था कि वे मुझे उत्तर न देते। मैं पिताजी के स्वभाव को अच्छी तरह जानती हूँ।"

"फिर भी...।"

"जैसे वह बात मैंने अपनी मर्ज़ी से तय की थी, वैसे ही यह भी तय की है। न उस बार उनसे इजाज़त ली थी, न इस बार लेना चाहती हूँ।"

कुछ देर फिर ख़ामोशी रही। दोनों की आँखें स्याह काँचों पर रुकी रहीं। फिर वह बिस्तर में जाने के लिए उठने लगी तो मैंने उससे कहा, "तुम अब जा रही हो, तो मुझे तुमसे कुछ पूछना नहीं चाहिए। पर मैं अब तक नहीं समझ पाया कि खुरजा जाने की बात अचानक तुम्हारे मन में आई कैसे।"

वह शाल समेटती हुई खड़ी हो गई थी। "बात खुरजा जाने की नहीं, यहाँ से जाने की है," उसने कहा, "और कितनी जगहें हैं जहाँ मैं जा सकती हूँ?"

"पर यहाँ से जाने की ही बात–इस तरह अचानक मन में कैसे आ गई?"

"क्योंकि मैं कहीं भी जाना चाहती थी–और यह बात मेरे मन में अचानक ही नहीं आई।"

"लेकिन...।"

"तुम भी जानते हो कि यह ज़िन्दगी तुम्हें रास नहीं आती–उसी तरह जैसे मुझे नहीं आती। तुम जिस तरह की ज़िन्दगी के आदी रहे हो, तुम्हें फिर वही ज़िन्दगी जीने को मिल जाएगी, बिलकुल अकेलेपन की–कम-से-कम कुछ दिनों के लिए। मैं भी वहाँ रहकर देख लूँगी कि मुझे कौन-सी ज़िन्दगी बेहतर लगती है।"

अगले दिन शाम को मेरे स्कूल से लौटने तक उसने अपना सूटकेस तैयार कर रखा था। बस के अड्डे पर मैंने उसे गाड़ी में बैठाया, तो उसके चेहरे से जल्दी-से-जल्दी आगे को चल देने की व्यग्रता झलक रही थी। जाने के बाद पहले पन्द्रह दिन उसने मुझे कोई पत्र नहीं लिखा। उसके बाद उसका एक पत्र आया था जिसमें लिखा था कि उस घर में उन लोगों ने उसे किसी तरह का फ़र्क़ महसूस नहीं होने दिया–वह आज भी वहाँ पहले जैसी सुविधा से रह रही है। 'बाऊजी तुमसे मिलने और बातें करने के लिए काफ़ी उत्सुक हैं। तुम्हें कभी स्कूल से तीन-चार दिन की छुट्टी हो, और तुम्हारा मन हो, तो चाहे चले आना। पर आने के लिए ख़ास छुट्टी लेने की ज़रूरत नहीं।'

उसी पत्र का उत्तर था जो इतने दिनों से काग़ज़ पर नहीं लिखा जा रहा था। जिस नए काग़ज़ पर लिखना शुरू किया था, उसका हुलिया इस बीच लकीरें खींच-खींचकर बिगाड़ दिया था। उसे भी मसलकर टोकरी में फेंकते हुए मैंने घड़ी में वक़्त देखा। सवा नौ। नींद आने में अब भी तीन घंटे बाक़ी थे। सोचा कि सोने से पहले पत्र पूरा करने के लिए कुछ सिगरेट ले आना ज़रूरी है। मैंने उठकर कमरे को ताला लगाया और घर से बाहर कच्ची सड़क पर आ गया। लेकिन कोने के खोखे से सिगरेट ख़रीदने के बाद घर की तरफ़ नहीं मुड़ा। उसी सड़क पर टहलता हुआ आगे निकल गया।

अँधेरी सड़क। खड्ड से गुज़रते नाले की आवाज़। चुभती हवा।

कुछ दूर आगे नाले का पुल था। वहाँ पहुँचकर मैं पुल की मुँडेर पर बैठ गया। बैठने से नीचे के पत्थर थोड़ा सरके, फिर नई जगह जम गए। वह मुँडेर मेरे लिए घर से बाहर एक घर की तरह थी। जिन दिनों शोभा घर पर थी, उन दिनों भी कितनी बार रात को वहाँ जा बैठा करता था। उन पत्थरों की ठंडक से अन्दर की गरमी कुछ कम हो जाती थी, मन का तनाव कुछ हलका पड़ जाता था। कई बार जूता-मोज़ा उतारकर पैर भी मैं ठंडी ज़मीन पर रख लेता था। जब लगता था कि अन्दर की काफ़ी गरमी ज़मीन ने सोख ली है, तो वहाँ से उठ आता था। शोभा मेरे लौटने से पहले सो चुकी होती थी। मैं कपड़े बदलकर चुपचाप अपने बिस्तर में दाख़िल हो जाता था। वह अगर इससे जाग जाती, तो कोशिश करती थी कि मुझे उसके जागने का पता न चले। नींद आने तक हम दो अजनबियों की तरह दम साधे पड़े रहते थे। शायद दोनों को यह आशा रहती थी कि कभी किसी दिन कुछ ऐसा होगा जिससे वह गतिरोध टूट जाएगा—और उस आशा तथा तनाव की स्थिति में ही दोनों सो जाते थे। वह बाईं बिस्तर पर बाईं करवट, मैं दाएँ बिस्तर पर दाईं करवट। कभी ग़लत करवट में एक का हाथ दूसरे से छू जाता, तो एक शब्द से उसकी ग़लतफ़हमी दूर कर दी जाती, "सॉरी!" हर पखवारे में तेरह दिन यही सिलसिला चलता था। जिस रात नहीं चल पाता था, उस रात दोनों के मन में एक अतिरिक्त घुटन और उदासी घिर आती थी। जैसे एक लम्बे अनचाहे सफ़र में किसी अनचाही जगह से अनचाहा खाना खा लेने के बाद। अगली सुबह दोनों की आँखें पहले से ज़्यादा कसी होती थीं। जैसे कि रात को जो कुछ हुआ, वह अपनी वजह से नहीं, दूसरे की वजह से था। फिर भी शब्दों में यह बात दोनों एक-दूसरे से नहीं कहते थे।

मुँडेर उस समय कुछ ज़्यादा ही ठंडी थी—हलका-हलका कोहरा घिरे रहने के कारण। पर हाथ-पैरों में इतनी जलन भर रही थी कि वहाँ बैठकर भी राहत नहीं मिली। वह सवाल जो हर समय मन में बना रहता था, उस समय भी नसों को कुरेद रहा था। सवाल नहीं, संकट। अपनी ही इच्छा और ज़िम्मेदारी से हम लोगों ने अपने

लिए एक परिस्थिति खड़ी कर ली थी जिससे उबरने का उपाय दोनों को ही नहीं आता था। इसके बाद साथ रह सकना लगभग असम्भव था, पर सम्बन्ध-विच्छेद की बात दोनों अपने-अपने कारणों से ज़बान पर नहीं ला पाते थे। शोभा के लिए प्रश्न था विरोधी परिस्थितियों में लिए गए अपने निर्णय का मान रखने का, मेरे लिए पहले की बनी अपनी ग़लत तसवीर को सही साबित न होने देने का। दोनों के लिए इस उपाय को अपनाने का अर्थ था एक मानसिक संकट से बचने के लिए एक और मानसिक संकट मोल ले लेना। परन्तु ऐसा उपाय क्या कोई भी हो सकता था जो बिना किसी और संकट को जन्म दिए इस संकट से मुक्त कर दे?

दो जोड़ी पैरों की आहट ने कुछ देर के लिए ध्यान बँटा दिया। दूर की मद्धिम-सी बत्ती की रोशनी में दो धुँधली आकृतियाँ पास को आ रही थीं—चेरी और उसकी पत्नी लारा। एक मन हुआ कि जल्दी से वहाँ से उठ जाऊँ। वे लोग पास आएँ, इससे पहले ही उसी रुख़ में आगे को चल दूँ। उन दोनों की ख़ास आदत थी कि रात को खाना खाने के बाद उसी सड़क पर घूमने निकलते थे। शायद इसलिए कि स्कूल के आस-पास वही सड़क सबसे एकान्त थी—या कि शादी से पहले शाम को उसी सड़क पर टहला करते थे, इसीलिए अब भी अपने रोमांस की याद ताज़ा रखने के लिए रोज़ एक चक्कर उधर का लगा लेना अपना फ़र्ज़ समझते थे। पहले भी एक-दो बार उस जगह बैठे हुए उसी तरह उन लोगों से मुलाक़ात हो चुकी थी। चेरी हर बार एक ही सवाल पूछता था, ''और तुम्हारी वह कहाँ है?'' फिर चलते-चलते फिकरा कस देता था, ''उसे घर पर छोड़कर अकेले घूमने निकल आते हो, शरम नहीं आती?'' यह वह सिर्फ़ मुझे छेड़ने के लिए कहता था, या साथ अपनी बीवी को अपनी वफ़ादारी का विश्वास दिलाने के लिए, पता नहीं। मुझे हर बार उसके पास से गुज़रने से कोफ़्त होती थी। ख़ासतौर से इसलिए कि कुछ दूर आगे निकल जाने पर उसकी जो हँसी सुनाई देती थी, वह मुझे लगता था कि मुझी को लेकर है। तब मैं मन में उस हँसी के तरह-तरह के मतलब निकालने लगता था—सोचने लगता था कि हँसने से पहले लारा के कन्धे पर हाथ रखे हुए उसने क्या बात कही होगी। पर वे लोग इतना पास आ गए थे कि मन में उठने की तैयारी कर लेने के बाद भी मैं वहाँ से उठ नहीं पाया। एक सज़ायाफ़्ता आदमी की तरह चुपचाप अपनी सज़ा को सिर पर आते देखता रहा। उन लोगों ने भी देख लिया था कि मैं वहाँ पर हूँ क्योंकि उनकी आपसी बातचीत रुक गई थी। मैंने सोचा कि ज़रूर लारा ने चेरी को हलके से कुहनी लगा दी होगी क्योंकि अपने-आप बात करने से रुक जाना चेरी के स्वभाव में नहीं था। वह बोलने लगता था, तो बिना विराम, अर्ध-विराम के बोलता ही जाता था—या दूसरे को उसे याद दिलाना पड़ता था बोलने के अलावा भी कुछ काम करने को है। उसकी आवाज़ भी ऐसी थी कि पचास गज़ से उसका कहा एक-एक शब्द सुना जा सकता था—यहाँ

तक कि जो कुछ वह धीरे से फुसफुसाकर कहता था, वह भी साधारण आदमी की साधारण बात जितना ऊँचा तो होता ही था। अपनी आवाज़ की इस पहुँच को जानने के कारण पाँच-सात गज़ दूर से ही उसने अपना फंदा मेरी तरफ़ फेंक दिया, "क्यों पट्ठे, अब भी अकेली सैर का शौक़ गया नहीं?"

मैं मुँडेर से उठ खड़ा हुआ। स्कूल के शिष्टाचार का पालन स्कूल से बाहर भी करते रहने की आदत हो गई थी। "खाना खाने के बाद हाज़मा दुरुस्त करने निकले हो?" मैंने उसकी बात को हँसी में उड़ा देने की कोशिश की।

"इस स्कूल का खाना किसी को हज़म होता है?—चाहे आदमी कितनी कोशिश कर ले!" उसने ठहाका लगाया। लारा इससे गम्भीर हो गई। "अगर नहीं होता, तो इसकी ज़िम्मेदारी तुम्हीं पर है," वह बोली। "तुम्हीं तो सबके लिए खाना बनवाते हो।"

चेरी और भी हँसा। "औरतें बहुत समझदार होती हैं," उसने कहा। "तुम नहीं मानते?"

"इतना मानता हूँ कि लारा बहुत समझदार है।"

"फिर भी इतनी समझदार नहीं कि सही और ग़लत आदमी में फ़र्क़ कर सके। यह तुम्हें भी उन्हीं में से एक समझती है। इसलिए तुम्हारे सामने भी बात का भरम बनाए रखना चाहती है।" फिर लारा की गरदन को उँगली से सहलाते हुए उसने कहा, "सक्सेना उसके ताबूतों में से नहीं है, माई डियर! यह ख़ालिस आदमी है। यह और बात है कि अब पहले की तरह हँसता नहीं, पर इस स्कूल में रहकर किसकी हँसी ख़ुश्क नहीं हो जाती?" और जैसे इतने से ही लारा को निश्चिन्त करके मुझसे बोला, "तुमने अच्छा किया जो बीवी को यहाँ से भेज दिया। हम लोगों को तो यहाँ रहकर यहाँ का नरक भोगना ही है, बीवियाँ बेचारी भी क्यों साथ यह नरक भोगती रहें? मैं तो खुद लारा से कहता हूँ कि..."

"यह मुझे यहाँ से भेजकर मुझसे छुट्टी पाना चाहता है," लारा जल्दी से बात को समाप्त करने के लिए बोली, "पर मैं इसे इस तरह छुट्टी देने की नहीं।...अच्छी ठंडी शाम है आज। मैं और किसी शाम घूमने निकलूँ या न निकलूँ, इतवार की शाम को खाना खाने के बाद ज़रूर कुछ देर टहल लेना चाहती हूँ।"

"पादरी वेन्सन का सर्मन हज़म करने के लिए बहुत ज़रूरी होता है यह—क्या कहते हो?" चेरी फिर हँसा, "वह आदमी पता नहीं इतना सब कैसे अपने पेट में भरे रहता है!"

"आओ, चलें," लारा ने उसकी बाँह पर दबाव दे दिया।

"अच्छा गुड नाइट!" चेरी जैसे मजबूर होकर उसके साथ चलता हुआ बोला, "अपनी बीवी को ख़त लिखो, तो हमारी तरफ़ से प्यार लिख देना।"

"ज़रूर। गुड नाइट।"

"गुड नाइट।"

उन लोगों के आगे बढ़ जाने के बाद मैं वापस मुँडेर पर नहीं बैठा। कुछ देर सिगरेट सुलगाने के बहाने रुका। फिर वहाँ से लौट पड़ा। कोहरे में ढकी अपने घर की छत दिखाई देने लगी, तो फिर एक बार पाँव रुक गए। छत पर कोहरे के गोले इस तरह बैठे थे कि घर एक मक़बरा-सा नज़र आ रहा था। मुझे लगा कि पगडंडी से उतरकर मुझे अब मक़बरे के अन्दर अपने तावूत में जा लेटना है। मन में उन दिनों का अहसास ताज़ा हो आया जब अभी शादी नहीं की थी। तब भी वह घर मुझे एक बन्द तहख़ाने की तरह लगा करता था जहाँ उतरकर जाते मन में एक दहशत भर जाती थी। घर के बाहर उस पगडंडी के पास रुककर मन को अन्दर जाकर बन्द हो रहने से ज़्यादा राहत महसूस होती थी। तब लगता था कि यह शायद अकेलेपन की वजह से है। घर के अन्दर जो कुछ था, उससे अकेले मन में कोई रिश्ता ही नहीं बैठता था। वह सब जैसे अपनी जगह पर था, मुझसे अलग और बेजोड़। पर वह सब था ही, इसलिए उसे और उसके अन्दर अपने को बरदाश्त करना होता था। शोभा को जब पहली बार अपने साथ घर पर लाया था, तो उससे यह बात कही भी थी। वह सुनकर गम्भीर हो गई थी—कुछ भावुक भी—हालाँकि उसकी भावुकता से उस समय भी मुझे चिढ़ हुई थी। "तुम इन सब चीज़ों से छुटकारा पाना नहीं चाहते, सही माने में अपने लिए घर चाहते हो," उसने कहा था। मुझे उसकी बात पर विश्वास हुआ हो, ऐसा नहीं। पर मैंने चाहा था कि विश्वास हो सके। उसे पहली बार बाँहों में लेकर चूमते हुए मैंने आस-पास की सब चीज़ों के साथ एक रिश्ता महसूस करने की कोशिश की थी। फिर भी मन उसी तरह उखड़ा रहा था। तब अपने को समझाया था—धीरे-धीरे आदत हो जाने से शायद दूसरी तरह महसूस होने लगे। फिर शोभा के साथ प्यार में डूबकर उस बात को मन से निकाल दिया था। बाद में अपने बालों में कंघी करते हुए उसने कहा था, "यह कैसी कंघी रख रखी है तुमने? मैं कल तुम्हें एक नई कंघी ख़रीदकर दूँगी। ऐसी टूटी-फूटी चीज़ें घर में होने से किसका मन उचाट नहीं होता?" फिर दोनों कमरों की पूरी जाँच-पड़ताल के बाद एक बार उसने सिहरने की तरह सिर हिला दिया था। "क्या-क्या कूड़ा भर रखा है तुमने यहाँ! मैं आकर पहला काम करूँगी कि यह सामान उठवाकर इसकी जगह नया सामान मँगवाऊँगी।" पर मेरे यह बताने पर कि नए सामान के लायक़ पैसे मेरे पास नहीं हैं और कि स्कूल से दूसरा सामान मिलेगा नहीं, वह काफ़ी उदास होकर वहाँ से गई थी।

कुछ था जिससे मैं छुटकारा चाहता था। उस कुछ का दबाव शोभा के आने से पहले भी था, शोभा के साथ रहते भी था, अब भी था। वह कुछ क्या था?

कच्...पहली नवम्बर की बची-खुची बर्फ़ का एक लौंदा जो तब तक पैर को सहारे था, अचानक हलकी आवाज़ के साथ दब गया। यूँ आस-पास की सारी बर्फ़

तब तक पिघल चुकी थी, पर झाड़ियों के कोनों में यहाँ-वहाँ कुछ लौंदे बचे रह गए थे। इस डर से कि पैर फिसल न जाए, काफ़ी बच-बचकर पगडंडी से उतरना होता था। ऊपर आते हुए उस तरफ़ ध्यान नहीं था, इसलिए बचाव की ज़रूरत महसूस नहीं हुई थी। पर अब काफ़ी ध्यान से अँधेरी पगडंडी पर आँखें गड़ाए मैं उतरकर गैलरी तक आया। मन में तब फिर वही सवाल कौंध गया—अब?

ज़ीने से ऊपर आकर दरवाज़ा खोला और कमरे की बत्ती जला दी। वही सब चीज़ें, अपने-अपने कोने में रखी फिर एक बार सामने चमक गईं।

मैं कुछ देर कमरे के बीचोबीच रुका रहा। क्या वास्तविक समस्या इस सबसे—इस सबके बीच अपने को ढोने की बेबसी से—छुटकारा पाने की नहीं थी?

मुझे लगा कि जिस चीज़ का एक हल होना चाहिए था, उसका दूसरा हल खोजकर मैंने स्थितियों को बहुत उलझा दिया है। सिर्फ़ अपने लिए ही नहीं, शोभा के लिए भी। यह मैंने कैसे सोच लिया था कि जिस चीज़ को मैं अकेला रहकर नहीं सुलझा सका, वह शोभा के आ जाने से अपने-आप सुलझ जाएगी? यह क्या खुद को डूबने से बचाने के लिए दूसरे डूबते व्यक्ति का कन्धा थामने की तरह नहीं था? और जिस दृष्टि से शोभा का सहारा ढूँढ़ा, उसी दृष्टि से उसने भी मेरा सहारा ढूँढ़ा—इसके लिए क्या मैं उसे दोष दे सकता था?

पर अब जो भी वस्तुस्थिति थी, उसके बीच से ही तो हल ढूँढ़ना था। अगर ज़िन्दगी में एक की जगह दो गाँठें कस गई थीं, तो दोनों को ही तो एक-एक करके खोलना था।

लेकिन कैसे?

दोनों चीज़ें सामने थीं। स्कूल के जूनियर हिन्दी-मास्टर के रूप में ज़िन्दगी मेरी अपनी ज़िन्दगी नहीं थी। मुझे इसे लेकर कुछ करना था। शोभा के पति के रूप में ज़िन्दगी भी मेरी अपनी ज़िन्दगी नहीं थी। उसे लेकर भी कुछ करना था।

लेकिन क्या?

स्कूल से त्यागपत्र दे देने से शोभा के साथ अपने सम्बन्ध की स्थिति हल नहीं हो सकती थी। शोभा से अपने को काट लेने से स्कूल की यन्त्रणा से नहीं बचा जा सकता था। तो क्या आवश्यक यह नहीं था कि दोनों क़दम साथ-साथ उठाए जाएँ?

लेकिन क्या यह सम्भव था? और क्या सचमुच इससे कुछ हासिल हो सकता था?

पास में इतने साधन नहीं थे कि बिना नौकरी के चार महीने भी जिया जा सके। कभी रहे ही नहीं थे। आगे कभी रहेंगे, इसकी भी सम्भावना नहीं थी। तो एक नौकरी छोड़कर दूसरी की तलाश—इसका अर्थ क्या यही नहीं था कि इस दूसरे की ज़िन्दगी न जीकर उस दूसरे की जी जाए? कुछ दिन बेकार रहने के बाद उस दूसरे की ज़िन्दगी ढोने की जगह इसी ज़िन्दगी को ढोते जाना क्या बुरा था?

यही बात शोभा के साथ अपनी ज़िन्दगी को लेकर भी थी।

तो इसका अर्थ क्या यह था कि दोनों स्थितियों को चुपचाप स्वीकार करके सबकुछ जैसे चल रहा था, उसे वैसे ही चलने दिया जाए?

उसके लिए अपेक्षित था कि शोभा को पत्र लिखकर बुला लिया जाए। या ख़ुद जाकर उसे ले आया जाए। क्या इसके लिए मैं अपने को तैयार कर सकता था?

मैंने दोनों कमरों पर—अर्थात् कमरे और ग्लेज़्ड बरामदे पर—नज़र दौड़ाई। सोचा कि अगर शोभा वहाँ आ जाए और वे सब चीज़ें वहाँ न रहें, तो कुछ हो सकता है? लगा कि कुछ नहीं हो सकता। कमरे अगर ख़ाली हो जाएँ, तो उन दीवारों को लेकर ही उलझन बनी रहेगी। दीवारों के अलावा शोभा को लेकर। उसके अलावा अपने को लेकर।

तो क्या इसका हल एक यही था कि...?

मैंने अपने को रोका। मन को मैं आत्महत्या की पटरी पर नहीं चलने देना चाहता। इसलिए कि उसका कुछ अर्थ नहीं था। मैं जानता था कि मैं किसी भी स्थिति में आत्महत्या नहीं कर सकता। मैं हर स्थिति के परिणाम को स्वयं देखना चाहता था—और जिसमें देखना न हो, उस परिणाम की कल्पना ही मुझे झूठ लगती थी।

तो?

माथे की नसें बुरी तरह खिंच गई थीं। हर बार पलकें झपकने पर आँखों की गरमी पलकों को महसूस होती थी। मन हो रहा था कि हाथों में कुछ हो जिसे ज़ोर से फ़र्श पर पटक दिया जाए, या सामने दीवार पर दे मारा जाए।

पर आस-पास जितना सामान था वह अपना नहीं था। उसे फेंकने और तोड़ देने का मुझे कोई अधिकार नहीं था।

फिर भी मैंने एक-एक चीज़ को देखा कि कौन-कौन-सी चीज़ इतनी पुख़्ता है कि फेंकने से टूटे नहीं? या इतनी नरम? दो तकिये थे। एक पीतल की ऐश-ट्रे। एक पेपरवेट। एक प्लास्टिक का मग। मगर प्लास्टिक का मग ज़ोर से फेंकने से टूट भी सकता था। मैंने उन सब चीज़ों को सिर्फ़ देखा ही। हाथ से छुआ नहीं। फिर बरामदे में आकर सोफ़ा-चेयर के पास खड़ा हो गया। जिन दिनों अकेला रहता था, उन दिनों दोनों सोफ़ा-चेयर्ज़ को घसीटकर उनकी स्थितियाँ बदलता रहता था। शोभा के आने के बाद से यह कमरा बन्द कर दिया था। सोचा कि अगर दोनों सोफ़ा-चेयर्ज़ को उठाकर खिड़की के रास्ते नीचे खड्ड में फेंक दूँ, तो तनख़ाह में से कितने पैसे कटेंगे? पर इसका हिसाब लगाने से पहले ही इरादा छोड़ दिया। एक तो उन दोनों का वज़न ही इतना था कि उन्हें उठाना मुश्किल था। दूसरे खिड़कियाँ छोटी थीं। तीसरे उस बारे में सोचना सिर्फ़ तरद्दुद ही था क्योंकि करना तो मुझे वह था नहीं। हालाँकि

कर सकता, तो कुछ देर के लिए मन थोड़ा हलका हो जाता। साथ के पोर्शन से कोहली अपनी लुंगी बाँधता हुआ निकल आता, नीचे के क्वार्टर से गिरधारीलाल अपने पाजामे का नाड़ा कसता हुआ, 'क्या हुआ है? क्या हुआ है?' के शोर में अन्दर की हलचल कुछ देर के लिए डूब जाती।

थकान के मारे बैठ जाने को मन न था, पर जैसे किसी चीज़ का विरोध करने के लिए मैं चुपचाप खड़ा रहा। फ़र्श पर एक अधमरा तिलचट्टा रेंग रहा था। सोचा यह वही तिलचट्टा होगा जो थोड़ी देर पहले, जब मैं चिट्ठी लिखने की कोशिश कर रहा था, खिड़की के काँचों से टकरा रहा था। अब भी रेंगते-रेंगते वह बीच में थोड़ा फुदक लेता था, फिर कुछ देर मरा-सा होकर पड़ रहता था, और तब फिर रेंगने लगता था। फिर एक बार खिड़की तक उठने की कोशिश कर लेना चाहता था हालाँकि उठान उसकी अब छह-आठ इंच से ऊपर नहीं जाती थी। बाहर बिलकुल सन्नाटा था। अन्दर की ही तरह। गिरधारीलाल के क्वार्टर की बत्तियाँ बुझ चुकी थीं। कोहली के यहाँ सिर्फ़ एक बत्ती जल रही थी...अन्दर के बड़े कमरे की। वही जो रोज़ सारी रात जलती रहती थी। पहली बीवी के मरने के बाद जब से वह शारदा को लेकर आया था, तभी से। ठक्...ठक्...ठक्...शारदा फिर ग़ुसलख़ाने की तरफ़ जा रही थी। वे लोग अभी सोए नहीं थे। शायद उनमें अभी सोने के पहले झगड़ा चल रहा था। मैंने कल्पना की कि अपनी आरामकुर्सी पर बैठे हुए कोहली का चेहरा कैसा लग रहा होगा और फिर से अपनी लिखने की मेज़ के पास आ गया। तिलचट्टा तब तक रेंग-रेंगकर न जाने कहाँ चला गया था। 'वह ज़रूर मर गया होगा,' मैंने सोचा और एक नया काग़ज़ निकालकर सामने रख लिया। 'प्रिय शोभा...।'

हाथ फिर रुक गया। लगा कि मैं ग़लत सिरे से शुरू कर रहा हूँ। शोभा के और अपने बीच की स्थिति को सुलझाने की बात बाद में आती थी। उससे पहले सुलझाने की स्थिति दूसरी थी।

मैं कुछ देर अपने निचले होंठ को दो नाख़ूनों के बीच मसलता रहा। थोड़े-थोड़े वक़्फ़े से सुनाई देती हँसी की आवाज़ बाहर के सन्नाटे को तोड़ रही थी। चेरी और लारा स्प्रिंगडेल के चौराहे तक जाकर अपने क्वार्टर की तरफ़ लौट रहे थे।

मुझे लगा कि मैं किसी चीज़ को धकेलकर खिड़की तक ले आया हूँ। वह चीज़ भारी है, खिड़की छोटी है, फिर भी यही एक क्षण है जब अपने को उससे मुक्त किया जा सकता है। एक बार उस वज़न को ऊपर तक उठा लेने की ज़रूरत है, खिड़की के चौखटे को ज़रा-सा तोड़ देने की, और बस। उसके बाद कोई आवाज़ नहीं होगी, किसी को पता भी नहीं चलेगा और मन पर कसी हुई एक गाँठ खुल जाएगी—कम-से-कम एक दबाव से तो मन को निजात मिल ही जाएगी। उसके बाद जो जैसे सामने आएगा, देख लिया जाएगा।

हँसी की आवाज़ धीरे-धीरे दूर जाकर ख़ामोश हो गई थी। पेड़ों की सायँ-सायँ के साथ खड्ड में गिरते नाले की आवाज़ ने फिर पूरे वातावरण को छा लिया था। बाहर की धुन्ध से खिड़की के स्याह काँचों पर हल्की सफ़ेदी उभर आई थी।

खटाक्...ग़ुसलख़ाने का दरवाज़ा बन्द हुआ और खट्...खट्...खट्...शारदा अपने कमरे में लौट आई।

चिंग-चिंग-चिंग...तिलचट्टा अभी मरा नहीं था। मेज़ के नीचे पैरों के पास आकर वह लगातार गोल घूम रहा था। झिर्र-झिर्र-झिर्र...चिंग-चिंग चक्...! मैंने उसे जूते से मसल दिया। पैर हटाया, तो वह सीधा होने की कोशिश में ऊपर उठी टाँगों को बेतहाशा पटक रहा था। मैंने हलकी ठोकर से उसे परे फेंक दिया। कुछ देर प्रतीक्षा की। लेकिन उसके बाद उसकी हलकी-सी भी झिर्र-झिर्र सुनाई नहीं दी, तो एक नया काग़ज़ लेकर उस पर लिखना शुरू किया :

"दि हेडमास्टर, फ़ादर, बर्टन स्कूल...।"

## डर

अगली सुबह काफ़ी सर्द थी।

अपना त्यागपत्र मैं क्लासें शुरू होने से पहले मिस्टर व्हिसलर की मेज़ पर छोड़ आया था। उस समय चेपल की घंटियाँ बज रही थीं, इसलिए दफ़्तर में सिवाय चपरासी फ़कीरे के और किसी से सामना होने की सम्भावना नहीं थी। ख़याल था कि अभी एकाध दिन शायद स्टाफ़ में किसी को इसका पता नहीं चलेगा। पर ग्यारह बजे टी ब्रेक में सब लोग कामन रूम में जमा हुए, तो लगा कि कम-से-कम चार व्यक्ति तब तक उस बात को जानते हैं—बर्सर बुधवानी, हेड क्लर्क पार्कर, मिसेज़ पार्कर और एकाउंटेंट गिरधारीलाल।

रात का कोहरा सुबह तक घना होकर बर्फ़ानी बादल में बदल गया था हालाँकि बर्फ़ पड़नी शुरू नहीं हुई थी। हर हाथ की प्याली से उठती भाप मुँह की भाप से टकराकर कुछ ऐसा आभास देती थी जैसे सीधे भाप की ही चुस्कियाँ ली जा रही हों। बड़े सोफ़े पर और उसके आस-पास महिलाओं का जमघट था। उस जमघट में बॉनी हाल स्टाफ़ की एकमात्र कुँवारी मेट्रन होने के नाते सबसे ज़्यादा चहक रही थी। वह कान खोले जैसे हर बात को दबोचने के लिए तैयार रहती थी और ज्योंही बात कानों

तक पहुँचती थी, एकाएक खिलखिलाकर हँस उठती थी। आँखें उसकी पूरे कमरे में तफ़रीह कर रही थीं। यह वॉनी हाल की ख़ासियत थी कि वह जिस किसी भी समुदाय में हो, उस समुदाय के हर व्यक्ति को अपनी तरफ़ देखती जान पड़ती थी। उसकी आँखें एक टिड्डे की तरह यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ फुदकती रहती थीं।

कोहली और जेम्स हमेशा की तरह साथ-साथ एक कोने में खड़े थे। जैसे कि वे लोग स्टाफ़ के सदस्य न होकर बाहर से आए मेहमान हों या ऐसे दर्शक जिन्हें बाहर खड़े देखकर चाय पीने के लिए अन्दर बुला लिया गया हो। उनसे थोड़ा हटकर दूसरे ग्रुप में चारों हाउस-मास्टर एक-दूसरे से सटकर खड़े किसी गम्भीर मसले पर बात कर रहे थे। मिसेज़ पार्कर एक अलग कुर्सी पर बैठी अपनी कापियाँ जाँच रही थी। उसकी कापियों का कुछ ऐसा सिलसिला था कि हर समय जाँचते रहने पर भी वे कभी पूरी जाँचने में नहीं आती थीं। हर बार हाथ की कापी हटाकर दूसरी कापी उठाने पर वह एक उसाँस छोड़ देती थी।

बुधवानी, पार्कर और गिरधारीलाल तीनों अलग-अलग खड़े थे—पूरे कमरे में यहाँ से वहाँ चक्कर काटते हुए वे मेरे काफ़ी नज़दीक आ गए थे। फिर भी तीनों मुझसे और एक-दूसरे से इतना फ़ासला बनाए हुए थे कि यह न लगे कि उनके उस तरह खड़े होने का कोई ख़ास मतलब है। मुझे लग रहा था कि उनमें से हरएक मुझसे अलग से बात करना चाहता है और इस प्रतीक्षा में है कि दूसरे दो ज़रा परे हट जाएँ, तो वह दो क़दम और पास चला आए।

उन तीनों ने—बल्कि मिसेज़ पार्कर समेत चारों ने—बीच में कई-कई आदान- प्रदान चाहती नज़र से मुझे देख लिया था। मगर ऊपर से हरएक अपनी गम्भीरता और उदासीनता बनाए हुए था। पहले दो-एक बार उस तरह देखे जाने से मुझे असुविधा हुई थी। पर बाद में मैंने स्वयं खोजना शुरू कर दिया था कि उन चार के अलावा क्या कोई और भी है जो उस तरह मुझसे आँख मिलाना चाहता हो।

महिलाओं के वर्ग में उस समय मौसम और आनेवाली छुट्टियों को लेकर बात हो रही थी। वहाँ से डोरी थामकर बुधवानी ने दूर से ही मुझसे बात का सिलसिला शुरू करने की कोशिश की, "असली जाड़ा उतर आया है आज तो। इसके बाद लगता है टेम्परेचर रोज़-रोज़ गिरता जाएगा। छुट्टियों से पहले अब धूप नहीं निकलेगी। क्या ख़याल है?"

"इस बार काफ़ी जल्दी बर्फ़ पड़ने लगी है," मैंने कहा। "एक बर्फ़ पहले पड़ चुकी है, एक आज पड़ जाएगी। इसके बाद धूप अगर निकली भी, तो जाड़ा कम नहीं होगा।"

बुधवानी ने हाथ की प्याली रख दी और अपने को गरमाने के लिए अपने दोनों हाथ मलने लगा। "अच्छी खुली धूप के लिए हमें तीन महीने इन्तज़ार करना पड़ेगा,"

उसने कहा, ''मेरा ख़याल है छुट्टियों से पहले अभी दो-एक बर्फ़ें और पड़ेंगी—कम-से-कम एक तो ज़रूर ही पड़ेगी।''

''मेरा भी यही ख़याल है,'' मैंने अपने हाथ बग़लों में दबा लिए। बुधवानी के हाथ उसकी ज़ेबों में चले गए।

''आज बर्फ़ पड़ गई, तो बाहर निकलने के लिए शाम बहुत अच्छी हो जाएगी।'' वह मुस्कुराया। पर वह मुस्कुराहट उसकी बात से जुड़ी हुई नहीं थी। वह हलके-हलके अपना होंठ काटकर अपनी उत्तेजना को छिपाना चाह रहा था। पर इससे उसकी उत्तेजना छिप नहीं पा रही थी। उस समय बुधवानी के अन्दर से उत्तेजित होने का अर्थ था कि वह मिस्टर व्हिसलर को उत्तेजित देखकर आया था। उसका चेहरा एक आईना था जिसमें हेडमास्टर के मन की हर प्रतिक्रिया का अक्स देखा जा सकता था। जब हेडमास्टर ख़ुश रहता था, तो बुधवानी भी खुश नज़र आता था। पर जब हेडमास्टर की त्योरी चढ़ी रहती, तो बुधवानी के लिए भी चीज़ों को बरदाश्त करना मुश्किल हो जाता था। इसलिए पीठ पीछे लोग उसका ज़िक्र 'हेडमास्टर्ज़ माइंड' और 'हेडमास्टर्ज़ वायस' के रूप में करते थे। मिस्टर व्हिसलर को अच्छा-बुरा जो भी करना होता था, उसे मुँह से कहने की ज़िम्मेदारी बुधवानी पर ही आती थी। यूँ भी वह कुछ इस तरह अपने को हेडमास्टर के तौर-तरीक़े में ढाले रहता था—कपड़े पहनने से लेकर चलने तक के अन्दाज़ में—कि उसका अपना कोई अलग व्यक्तित्व नज़र ही नहीं आता था।—अगर किसी दूसरे की तरह सोचने, महसूस करने और व्यवहार करने को ही एक तरह का व्यक्तित्व न मान लिया जाए तो। जिस किसी से बुधवानी ख़ासी बेतकल्लुफ़ी से बात करता था, उसके बारे में यह निश्चित रूप से सोचा जा सकता था कि टोनी व्हिसलर आजकल उस आदमी पर ख़ुश है। जिससे टोनी व्हिसलर नाराज़ हो, उससे बेतकल्लुफ़ी तो दूर, बुधवानी की बातचीत तक बन्द हो जाती थी। किसी ख़ास चीज़ को लेकर टोनी व्हिसलर का क्या रुख़ है, इसकी काफ़ी पहचान बुधवानी की मुस्कुराहट या उसके होंठ हिलाने के अन्दाज़ से हो जाती थी। वह जिस भाव से उस समय मुझे देख रहा था, उसका अर्थ था कि मेरे त्यागपत्र को लेकर हेडमास्टर ने अभी कोई निश्चय नहीं किया था। निश्चय करने से पहले अभी मेरा मन टटोलने की ज़रूरत थी—क्योंकि बुधवानी की मुस्कुराहट में मुस्कुराने से ज़्यादा टटोलने की ही कोशिश थी।

उसकी मुस्कुराहट के जवाब में मैं भी मुस्कुराया—उसके बढ़कर और पास आने की प्रतीक्षा में और उस विषय में पहली बातचीत की तैयारी के साथ। बुधवानी अपने कोट के कॉलर को उँगली और अँगूठे के बीच मसलता हुआ सचमुच मेरे बहुत क़रीब आ गया। यह देखकर कि अब उनके लिए मौक़ा नहीं रहा, पार्कर और गिरधारीलाल अलग-अलग दिशा से कोहली के ग्रुप में जा शामिल हुए। मिसेज़ पार्कर ने माथे पर त्योरी डाले हाथ की कापी पर तीन जगह क्रॉस खींच दिए।

"तो?" बुधवानी के हाथ ज़ेबों से निकल आए और आँखें मेरी आँखों में खुभ गईं। अपनी नीची गरदन को मेरी ऊँचाई तक लाने की कोशिश में उसने काफ़ी धीमे स्वर में कहा, "यह क्या कर दिया तुमने?"

"क्यों?" अब मैंने हाथ बग़लों से निकालकर ज़ेबों में डाल लिए।

"पहले किसी से ज़िक्र तक नहीं किया और अचानक...?"

"बात इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी कि मैं पहले किसी से ज़िक्र करता।"

"फिर भी...," उसने एक दोस्त की तरह मेरी कुहनी पर हाथ रख लिया। "...हेड ने अभी मुझे बताया, तो मुझे बहुत हैरानी हुई। मुझे विश्वास है कि तुम...कि तुम उस बात को लेकर बहुत गंभीर नहीं हो।"

"बात अपने में ही ज़्यादा गम्भीर नहीं है," मैंने अपनी कुहनी पर उसके स्पर्श से असुविधा महसूस करते हुए कहा, "मैं नौकरी छोड़ना चाहता था, इसलिए मैंने त्यागपत्र दे दिया है।"

बुधवानी ने एक बार आस-पास देख लिया कि मेरे मुँह से निकले शब्द 'त्यागपत्र' ने किसी का ध्यान तो नहीं खींचा। फिर हलके से अपना हाथ दबाकर बोला, "देखो, जब तक अन्तिम रूप से बात तय नहीं हो जाती, तब तक बेहतर है इस शब्द को ज़बान पर न लाओ। तुम तो जानते ही हो कि लोग किस तरह हर बात को लेकर तरह-तरह के मतलब निकालने लगते हैं।"

"ठीक है पर जहाँ तक मेरा सवाल है..."

"वह बात अभी देखने की है," कहते हुए उसने फिर एक बार पूरे कमरे का जायज़ा ले लिया। हाउस-मास्टरों का ग्रुप तब तक छितरा गया था। मिस्टर व्हाइट और मिस्टर क्राउन बाहर चले गए थे और बाक़ी दोनों—मिस्टर ब्रैंडल और मिस्टर मर्फ़ी—महिलाओं के बीच जा खड़े हुए थे। मिसेज़ ज्याफ्रे वहाँ कोई क़िस्सा सुना रही थी जिससे सब लोग एक ठहाके में फूट पड़ने की तैयारी में थे।

"हेड तुमसे बात करना चाहते हैं," बुधवानी ने फिर मेरी तरफ़ मुड़कर कहा, "तुम्हारा छठा पीरियड आज ख़ाली है न?"

मैंने सिर हिला दिया।

"तो लंच के बाद हेड के कमरे में उनसे मिल लेना। उन्होंने बुलाया है। वे इस बात से काफ़ी परेशान हैं कि बिना कारण ही तुमने..."

"कारण मेरे लिए अपने हैं। तुम जानते हो, बिना कारण ऐसा क़दम कोई नहीं उठाता।"

"कारण जो भी हों, तुम्हें उन पर हेड से बात कर लेनी चाहिए," वह मेरी कोहनी थामे हुए मुझे मैगज़ीनोंवाली मेज़ की तरफ़ ले आया। पार्कर इस बीच फिर कोहली वाले ग्रुप से थोड़ा इधर को हट आया था। मेरी तरफ़ उसने एक बार हल्के से आँख

भी दबा दी थी जिसका मतलब था कि यह आदमी तुम्हें क्या समझ रहा है, मुझे पता है। मिसेज़ ज्याफ्रे की बात से फूटा ठहाका अचानक ही दब गया था क्योंकि एकाएक सब लोग सचेत हो गए थे कि स्कूल के अन्दर हँसी की इतनी ऊँची आवाज़ मिस्टर व्हिसलर को बर्दाश्त नहीं है।

"हेड सचमुच तुमसे तुम्हारी बात जानना और समझना चाहते हैं," बुधवानी को कमरे में छा गई ख़ामोशी ने कुछ अव्यवस्थित कर दिया। वह जो बात ढककर करना चाहता था, वह इससे नंगी हुई जा रही थी। आगे बात करने के लिए उसने तब तक प्रतीक्षा की जब तक मिसेज़ ज्याफ्रे ने एक नया क़िस्सा छेड़कर फिर लोगों का ध्यान नहीं बँटा लिया। फिर बोला, "यह मैं ही जानता हूँ कि तुम्हारी तरफ़ हेड का रुख़ हमेशा कितनी हमदर्दी का रहा है। वे तुम्हारी क़द्र भी बहुत करते हैं। सो तुम्हारे मन में जो भी बात हो, तुम खुलकर उनसे कर सकते हो।"

तभी बॉनी हाल थिरकती हुई हम लोगों के पास आ गई। "मेरे ऑफ़ डे का क्या हुआ?" उसने बुधवानी से पूछा।

"मैंने हेड से बात कर ली है," बुधवानी कोमल अभिवादन के साथ बोला, "इस सप्ताह से छुट्टियाँ होने तक हर शनिवार तुम्हें ख़ाली मिल जाएगा। तुम यही चाहती थीं न?"

"ओह फाइन, फाइन!" बॉनी अपनी एड़ी पर घूमकर वापस लौट गई, "इस उपकार के बदले में मैं एक शनिवार को तुम्हारे साथ डेट रखूँगी।"

"हर शनिवार को नहीं?"

"हर शनिवार को तुम्हारे साथ? तुम इतने ख़ूबसूरत नहीं हो।"

"तो मैं हेड से कहूँगा कि..."

"शट अप। मैं एक भी शनिवार को तुम्हारे साथ डेट नहीं रखूँगी।"

बुधवानी के जबड़े उतनी देर ढीले रहने के बाद मेरी तरफ़ देखकर फिर कस गए, "तुम्हारा काग़ज़ पढ़कर हेड को बुरा नहीं लगा, यह मैं नहीं कहता," वह मुझसे बोला, "तुम्हें पता ही है इन सब मामलों में उनका रवैया क्या रहता है। तुम्हारी जगह और आदमी होता, तो वे उसे बुलाकर हरगिज़ बात न करते। चुपचाप उस काग़ज़ पर दस्तख़त करके मुझसे उसका हिसाब करने को कह देते। पर तुम्हारे साथ वे बात करना चाहते हैं, इसी से तुम सोच सकते हो कि तुम्हारे लिए उनके मन में क्या एहसानात हैं। तुम उन लोगों में से नहीं हो जिनके चले जाने से उन्हें लगे कि किसी चीज़ को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। बल्कि वे तो सोच रहे थे कि...।"

अब गिरधारीलाल पास आ गया। "वह वाउचर अभी बनाना है या...?" उसने पूछा।

"तुमसे कहा था टी ब्रेक के बाद तुम्हें बताऊँगा," बुधवानी चिढ़े हुए स्वर में बोला, "मैं यहाँ से सीधा दफ़्तर में ही आऊँगा।"

गिरधारीलाल इस स्वर से कुछ घबरा गया और एक रोनी-सी मुस्कुराहट दोनों की तरफ़ मुस्कुराकर कामन रूप से बाहर चला गया।

"...वे तो बल्कि सोच रहे थे," बुधवानी ने बात आगे जारी रखी, "कि सीनियर हिन्दी मास्टर की जो जगह ख़ाली है, उसके लिए तुम्हारा नाम बोर्ड के सामने रखें। तुम एक दोस्त के नाते मेरी राय लेना चाहो, तो मैं तुमसे कहूँगा कि तुम्हें उनसे काफ़ी सँभालकर बात करनी चाहिए। तुमने जो क़दम उठाया है, इसे तुम अपनी बेहतरी के लिए भी इस्तेमाल कर सकते हो। निर्भर इस पर करता है कि तुम सारी चीज़ को किस तरह हैंडल करते हो। तुम कहो, तो लंच से पहले मैं भी हेड से थोड़ी बात कर लूँगा। वे सुनने के मूड में इसलिए होंगे कि आज तक यहाँ किसी ने यहाँ अपनी तरफ़ से ऐसा नहीं किया। तुम पहले आदमी हो जिसने..."

"ओफ!" मिसेज़ पार्कर की ऊँची आवाज़ ने उसे बीच में रोक दिया। वह गरदन पर काफ़ी ज़ोर देकर लगभग मेरे कान में बात कर रहा था। अब अपने को अलगाने के लिए वह थोड़ा पीछे हट गया। मिसेज़ पार्कर की 'ओफ' से कमरे के और लोग भी चौंक गए थे। हलके वक़्फ़े के बाद सबके होंठों पर मुस्कुराहट आ गई। डायना और बॉनी हाल तो मुँह पर हाथ रखे हँस भी दीं। मिसेज़ पार्कर बिना अपनी 'ओफ' के प्रभाव को जाने अब भी अपनी जगह व्यस्त थी। हाथ की कापी पर वह ग़ुस्से में पूरे-पूरे सफ़े के क्रास खींच रही थी। "हॉरीवल! हॉरीवल!" साथ वह कहती जा रही थी, "ऐसे-ऐसे स्पेलिंग हैं कि पढ़कर आदमी के होश-हवास गुम हो जाएँ।" फिर आँखें उठाकर आस-पास के लोगों को देखते हुए उसने कहा, "मैं कई बार सोचती हूँ कि यह सब पढ़-पढ़कर मैं अब तक पागल क्यों नहीं हो गई? मुझे पागल ज़रूर हो जाना चाहिए था। ओफ!"

सारे कमरे में कोई किसी से बात नहीं कर रहा था। अकेला पार्कर ही था जो कोहली से चल रही अपनी बात आगे जारी रखने की कोशिश में था। "वह तब ऊपर से घूमकर सामने चला आया है? सामने से उसने जो उसे पटखनी दी, तो बस!"

पर कोहली का ध्यान भी मिसेज़ पार्कर की तरफ़ ही था—और इस बात की तरफ़ कि पूरे कमरे की ख़ामोशी में उसकी—'हूँ-हाँ' सबको सुनाई दे रही है। पार्कर भी यह देख रहा था, फिर भी वह बोलने से रुका नहीं। "एक और कुश्ती मैंने देखी थी जब मैं बेगमाबाद में था। उस कुश्ती की ख़ासियत यह थी कि..."

मिसेज़ पार्कर कापियाँ परे हटाकर कुर्सी से उठ खड़ी हुई थी। हमेशा थके रहने वाले अपने भारी शरीर को किसी तरह धकेलती हुई वह चाय की मेज़ की तरफ़ जा रही थी। यहाँ यह देखकर कि चायदानी में चाय नहीं है, वह ऐसे हो गई जैसे उसे बेकार ही उतनी दूर तक आने देकर सब लोगों ने उसके साथ ज़्यादती की हो। फिर एक पैर दबाकर अपनी घिसटती चाल से वह पैंट्री के दरवाज़े तक जा पहुँची। वहाँ

से उसने आवाज़ दी, ''शेरसिंह! मुझे चाय की एक प्याली बनाकर ला दो, प्लीज़! घंटी का वक़्त हो गया है, ज़रा जल्दी से। चीनी मत डालना। तुम्हें पता ही है मैं चीनी नहीं लेती।'' फिर पैंट्री से अपनी कापियों के ढेर के पास वापस आकर वह निढाल-सी बैठ गई–जैसे कि एक ख़ामख़ाह के सफ़र पर निकलने के बाद आधे रास्ते से उसे अपने डेरे पर लौटना पड़ा हो। ''सब काम जान लेनेवाले होते हैं,'' वह हाँफती हुई बोली, ''पर यह काम तो सबसे ज़्यादा जानलेवा है। पता नहीं इस सबका अन्त किस दिन होगा? मेरे शरीर में प्राण रहते तो शायद होगा नहीं।''

उसने एक नई कापी जाँचने के लिए सामने रख ली, तो बुधवानी वहाँ से चलने की तैयारी में अपने कालर को मसलता हुआ पहले से भी आहिस्ता स्वर में मुझसे बोला, ''याद रखना। छठे पीरियड में, हेड के कमरे में। अब तक सिवा दफ़्तर के लोगों के किसी को पता नहीं है। दफ़्तर के लोगों से भी ऐसे ही बात हो गई थी...यूँ उन्हें भी हेड ने मना कर दिया है। एक बार हेड से तुम्हारी बात हो जाए, तो फिर जैसे हो देख लेना...ओ.के.?'' और चलते हुए मेरा हाथ काफ़ी घनिष्ठता से दबाकर वह एक बार फिर मुस्कुरा दिया।

शेरसिंह ने जैसे मिसेज़ पार्कर की असुविधा बढ़ाने के लिए ठीक उस वक़्त उसे चाय की प्याली लाकर दी जब टी ब्रेक समाप्त होने की घंटी बज रही थी। तब तक आधे लोग कामन रूम से जा चुके थे। बाक़ी अपने-अपने गाउन सँभालकर जा रहे थे। मिसेज़ पार्कर प्याली हाथ में लेते ही कुढ़ गई। ''देखो, कैसी प्याली लाकर दी है इसने मुझे!'' वह जाते लोगों को सुनाकर बोली, ''ऊपर से नीचे तक गीली! बताओ, कौन इनसान ऐसी प्याली में चाय पी सकता है?'' पर प्याली उसने लौटाई नहीं। एक नज़र अपने पति पर डालकर जल्दी-जल्दी चुस्कियाँ भरने लगी। फिर चाय की गरमी अन्दर पहुँचने से पल-भर आँखें मूँदे रही। वह जब भी ऐसा करती थी, तो उसका थल-थल गोल चेहरा ऐसे लगता था जैसे चमड़े के घिसे हुए थैले पर दो बन्द क्लिपें लगी हों। अगली चुस्की भरने के लिए उसने आँखें खोलीं, तो पार्कर को दरवाज़े की तरफ़ बढ़ते देखकर उसकी बड़बड़ाहट फिर शुरू हो गई, ''कौन समझाए इन्हें कि प्याली में चाय डालने से पहले एक बार उसे अच्छी तरह पोंछ लेना चाहिए? पाँच-पाँच साल हो जाते हैं इन्हें यहाँ काम करते, फिर भी ज़रा-सी बात इनकी समझ में नहीं आती। मैं तो कहती हूँ, इन्हें कुछ भी सिखाने का कुछ मतलब ही नहीं है। ये लोग कभी सीख ही नहीं सकते। यहाँ के लड़कों को कभी स्पेलिंग नहीं आ सकते और यहाँ के नौकरों को...''

''तुम्हारी क्लास नहीं है? घंटी बज चुकी है,'' पार्कर ने उसके पास रुककर कुछ तुर्श आवाज़ में कहा। मिसेज़ पार्कर की दोनों क्लिपें कस गईं। पर इससे पहले कि वह जवाब में कुछ कहे, पार्कर मेरे पास आ गया। ''की गल्ल ए जी?'' वह हिन्दुस्तानी

मास्टरों से मित्रता बढ़ाने के अपने ख़ास लहज़े में बोला, ''ए की पुआड़ा पा दित्ता जे अज्ज?'' फ़ौज में कई साल रहने के कारण पार्कर हिन्दी और पंजाबी दोनों गुज़ारे लायक़ बोल लेता था। इस वजह से वह हिन्दुस्तानी मास्टरों में काफ़ी लोकप्रिय था, हालाँकि इसी वजह से लोग उससे कतराते थे क्योंकि स्कूल में कौन क्या कहता-करता है, इसकी ज़्यादातर रिपोर्टें पार्कर ही हेडमास्टर के पास पहुँचाता था।

''तुम्हें दफ़्तर में काम नहीं है? तुम्हारे लिए घंटी नहीं बजी?'' मिसेज़ पार्कर ने प्याली रखते हुए उसे जवाब दे दिया। पार्कर इस तरह हँसकर जैसे कि वह इस चोट की आशा ही कर रहा था, बाहर को चलता हुआ मुझसे बोला, ''तुमसे मुझे कुछ बात करनी है। लंच ब्रेक से पहले या बाद में जब भी वक़्त मिला, देखेंगे।'' फिर जल्दी-जल्दी से मिसेज़ पार्कर से कहकर, ''तुम्हारी क्लास रो रही है उधर,'' वह जूता चरमराता बरामदे में पहुँच गया।

पार्कर ने अन्तिम बात उसे नहीं कहने दी, इसलिए मिसेज़ पार्कर हताश भाव से उसे पीछे से देखती रही। तब तक कामन रूम में उसके और मेरे सिवा और कोई नहीं रह गया था।

''देखो, यह आदमी है।'' उसने आँखें झपकते हुए मुझसे कहा—जैसे मुझसे किसी चोर की शिनाख़्त करा रही हो।

मैं सिर हिलाकर मुस्कुरा दिया।

''मैं कितना कुछ बरदाश्त करती हूँ यहाँ,'' वह निढाल हाथों से अपनी कापियाँ समेटती बोली, ''पर अब मुझसे बरदाश्त नहीं होता। मैं अब जल्द-अज़-जल्द यहाँ से वापस चली जाना चाहती हूँ।''

''वापस? तुम्हारा मतलब है कि...?''

''बैक होम। मेरा असली घर लन्दन में है। तुम्हें पता नहीं?''

वह कितनी ही बार यह बात कहती थी। पर हर बार हरएक उससे यही कहता था, ''अच्छा? मुझे पता नहीं था।''

''मेरी दादी वहाँ पर है। यहाँ तो मेरी सिर्फ़ एक ही पुश्त बीती है। मेरी माँ एक सिविल सर्वेंट से शादी करके यहाँ चली आई थी।'' वह सिविल सर्वेंट क्या और कौन था, इस पर मिसेज़ पार्कर कभी रोशनी नहीं डालती थी। ''मेरी दादी मुझे कितनी बार लिख चुकी है कि वह मुझे वीज़ा भेज देगी, मैं जब चाहूँ वहाँ चली आऊँ। मैं तो इसी साल चली जाना चाहती थी, पर...।'' और किसी तरह कापियों के साथ अपने को सँभाले वह उठ खड़ी हुई। ''पर यह आदमी ऐसा है कि मेरी बात ही नहीं सुनता। इसे जाने क्यों यहीं पड़े रहना पसन्द है! इसकी वजह से मैं भी यहाँ पड़ी हूँ...अपनी लड़की को हालाँकि मैंने पिछले साल भेज दिया है। वहाँ रहकर उसका कुछ बन भी जाएगा, यहाँ पर उसका क्या बनना था? मेरी तरह ज़िन्दगी-भर किसी स्कूल में

कापियाँ जाँचती रहती और शादी भी किसी ढंग के आदमी के साथ न कर पाती।...मैं इस आदमी से कई बार पूछती हूँ कि यहाँ हम लोगों का अब क्या भविष्य है? यहाँ आए दिन जिस तरह की बातें सुनने को मिलती रहती हैं, उससे तुम्हें लगता है कि यह स्कूल साल, दो साल से ज़्यादा चल पाएगा? मुझे तो ज़रा नहीं लगता।''

''बातें तो सब तरह की लोग करते रहते हैं, उससे क्या होता है?'' मैंने कहा, ''सत्तर साल पुराना स्कूल है।''

''फिर भी...,'' वह पैर घसीटती मेरे पास आ गई। ''तुम शायद बेहतर जानते हो क्योंकि तुम...अच्छा बताओ, वह बात ठीक है जो चार्ली ने टी ब्रेक से पहले मुझे बताई है?''

''कौन-सी बात?''

मिसेज़ पार्कर पल-भर सन्देह की नज़र से मुझे देखती रही। फिर अपने मन से बोझ उतार फेंकने की तरह बोली, ''कि तुमने स्कूल से त्यागपत्र दे दिया है?''

मैंने आँखें हिलाकर एक मैगज़ीन उठा ली।

''फिर भी तुम कहते हो कि यहाँ कुछ होनेवाला नहीं है?''

''क्यों? एक आदमी के त्यागपत्र दे देने से...?''

''इतने मासूम मत बनो। कम-से-कम मुझे तो तुम बता ही सकते हो। तुम्हें पता है, मैं यहाँ किसी चीज़ के लेने-देने में नहीं हूँ।''

''मेरे पास बताने को कुछ हो तब न!''

''तुमने इसलिए त्यागपत्र नहीं दिया कि...?''

''किसलिए?''

''इसलिए कि...?'' मिसेज़ पार्कर ऐसे स्वर में बोली जैसे कि त्यागपत्र देकर मैंने ख़ास उसी के साथ कुछ बुराई की हो। ''अच्छा, रहने दो। नहीं तो चार्ली बाद में मेरी जान खाएगा।''

''मेरा ख़याल है अपने त्यागपत्र की असली वजह का सिर्फ़ मुझे ही पता नहीं है।''

''तुम्हें किस चीज़ का पता नहीं है?'' मिसेज़ पार्कर अभी बात करने के लिए रुकना चाहती थी, पर अपनी क्लास की वजह से उसे जाने की उतावली भी हो रही थी। ''मेरा ख़याल है यहाँ सबसे होशियार आदमी एक तुम्हीं हो।''

''सचमुच?''

''नहीं हो क्या?''

''कह नहीं सकता। मेरा तो ख़याल था कि...।''

''मैं चार्ली से कितनी बार कह चुकी हूँ कि तुम बाहर से जितने चुप रहते हो, अन्दर से उतने ही...उतने ही तेज़ आदमी हो।'' 'तेज़ आदमी' की जगह वह कुछ और कहना चाहती थी, पर आख़िरी क्षण कुछ सोचकर उसने शब्द बदल दिया था।

"मुझे आशा है कि यह बात मेरी प्रशंसा में कही जा रही है!" मैं फिर मुस्कुरा दिया। मिसेज़ पार्कर आश्वस्त हो गई कि जो नश्तर उसने बचा लिया था, उसका अन्दाज़ा मुझे नहीं हुआ।

"और नहीं तो क्या?" वह आँखों में बीतते समय का दबाव लिए बाहर को चल दी। "तुम्हारी इस वक़्त क्लास नहीं है?"

मैंने सिर हिला दिया। "सोमवार को मेरे दो पीरियड ख़ाली होते हैं। चौथा और छठा। सिर्फ़ सोमवार को ही।"

"तभी तुम इतने आराम से खड़े बात कर रहे हो," वह पहले से ज़्यादा हड़बड़ा गई। "ख़ुशक़िस्मत आदमी हो तुम जो तुम्हें किसी एक दिन तो दो पीरियड ख़ाली मिल जाते हैं। मेरे किसी भी दिन दो पीरियड ख़ाली नहीं होते। मेरा ख़याल है, यहाँ सबसे ख़राब टाइम टेबल मेरा है। मैं किसी से कुछ कहती नहीं, इसलिए जैसा चाहते हैं रख देते हैं। मैं भी कहती हूँ चलो, मुझे कौन ज़िन्दगी-भर यहाँ पड़ी रहना है।"

पर चौखट लाँघने के बाद वह फिर एक बार अन्दर लौट आई। "तुम किसी दिन हमारे यहाँ चाय पीने क्यों नहीं आते?" उसने कहा।

"तुमने आज तक कभी बुलाया ही नहीं।"

"आज तक की बात छोड़ो। तुम आज या कल किसी वक़्त आ सकते हो... मतलब शाम को किसी वक़्त।"

"हाँ-हाँ...क्यों नहीं? मुझे बहुत खुशी होगी।"

"तो मैं चार्ली से कहूँगी, तुमसे तय कर ले। मैं अपने हाथ की बनी पाई तुम्हें खिलाऊँगी—अगर पाई तुम्हें पसन्द हो तो।"

"पसन्द क्यों नहीं होगी? ख़ासतौर से तुम्हारे हाथ की बनी पाई... ।"

"मैं चार्ली से कहूँगी तुमसे तय कर ले। कल का या परसों का। कुछ देर बैठकर बात करेंगे।"

मिसेज़ पार्कर के जाने के बाद मैं अकेले कामन रूम में इस तरह खड़ा रहा जैसे कि एक भीड़ से निकलकर वहाँ आया होऊँ। यहाँ-वहाँ तिपाइयों पर पड़ी जूठी प्यालियाँ, सोफ़े के कवर पर महिलाओं के बैठने की सलवटें। अन्दर की उदास ठंडक उस एकान्त में मुझे और गहरी महसूस होने लगी। मैंने मन-ही-मन दिन गिने। छुट्टियाँ होने में पूरे चार हफ़्ते थे। मेरा नोटिस पीरियड छुट्टियों में ही पूरा हो जाना था, इसलिए लौटकर एक दिन के लिए भी वहाँ आने की ज़रूरत नहीं थी। मैं कुछ देर इस नज़र से कमरे को देखता रहा जैसे कि मैं अभी से वहाँ से जा चुका हूँ। वह कमरा अगले साल के किसी उतने ही ठंडे दिन में उसी तरह उदास पड़ा है, लोग वहाँ से चाय पीकर अपनी-अपनी क्लासों में गए हैं और किसी को यह याद भी नहीं है

कि पिछले साल सक्सेना नाम का कोई आदमी यहाँ काम करता था, या कि आज के दिन उसके त्यागपत्र को लेकर लोगों ने यहाँ थोड़ी हलचल महसूस की थी। नई टर्म से स्टाफ़ में कुछ नए लोग आ गए हैं जो नए सिरे से अपने को यहाँ के वातावरण में ढालने की कोशिश में हैं। किसी सिलसिले में जब उनमें से किसी के कान में सक्सेना का नाम पड़ता है, तो वह यूँ ही चलते ढँग से पूछ लेता है, ''सक्सेना? वह कौन था?''

फिर मैं सोचने लगा कि अगले साल इन दिनों मैं कहाँ रहूँगा, क्या कर रहा हूँगा। साल के बारह महीनों में से कुछ महीने तो यहाँ से मिली तनख़्वाह से निकल जाएँगे—उसके बाद के महीने? तब यह सोचकर मन को थोड़ा आश्वासन मिला कि अभी मेरा त्यागपत्र मंजूर नहीं हुआ, अभी उस बारे में मुझसे बात की जानी है—मैं चाहूँ, तो त्यागपत्र वापस भी ले सकता हूँ और अगले साल आज के दिन अपने को यहीं, इसी तरह, खड़ा पा सकता हूँ।

'मैंने त्यागपत्र क्यों दिया है?' यह सवाल मेरे अन्दर से भी कोई बुधवानी या पार्कर मुझसे पूछ रहा था, लेकिन उसे भी जवाब देना मैं उसी तरह टाल रहा था। 'मुझे इस बारे में सोचना नहीं चाहिए,' मैंने अपने से कहा। मुझे डर लग रहा था कि मिस्टर व्हिसलर के पास जाने तक मेरा निश्चय कहीं टूट न जाए।

''क्या सोच रहे हो,'' मुझे पता नहीं चला था कि गिरधारीलाल कब पिछले दरवाज़े से दबे पैरों अन्दर चला आया था। चेचक के दाग़ों से लदे अपने साँवले चेहरे पर सहानुभूति का भाव लिए वह उस कुर्सी के पास आ गया था जिससे मिसेज़ पार्कर उठकर गई थी।

''सोचना क्या है?'' मैंने थोड़ा चौंककर कहा, ''ऐसे ही ख़ाली वक़्त बिता रहा हूँ।''

''आज बुधवानी ने बचा दिया,'' वह बोला, ''नहीं, हेड ने तो काम कर ही दिया था।'' वह सतर्क आँखों से आस-पास देखता मेरे नज़दीक आ गया।

''क्या मतलब?''

''उसने तो त्यागपत्र का काग़ज़ पढ़ते ही सीधे मुझे बुला लिया था। मुझसे बोला कि मैं तुम्हारे पूरे हिसाब का वाउचर बना दूँ—आज शाम को ही आपसे चले जाने को कह दिया जाएगा। मैंने बाहर आकर बुधवानी को बताया, तो इसने अन्दर जाकर उसे जाने क्या समझा-बुझा दिया। वाउचर रोके रहने के लिए अभी मुझसे बुधवानी ने ही कहा है, हेडमास्टर ने खुद नहीं, बुधवानी ने बताया है कि लंच के बाद तुम हेडमास्टर से मिल रहे हो। मैंने सोचा कि मुझे इस बारे में तुम्हें बता तो देना ही चाहिए। एक घर में रहते हैं, इसलिए इतना तो फ़र्ज़ मेरा बनता ही है।''

"बता देने के लिए शुक्रिया," मैंने कहा। "हेडमास्टर से मिलने की बात मेरी तरफ़ से नहीं है। मुझसे बुधवानी ने कहा है कि हेड मुझसे बात करना चाहते हैं।"

"बुधवानी अच्छा आदमी है।" गिरधारीलाल थोड़ा और सतर्क हो गया। "मैं पहले उसे जितना अच्छा समझता था, उससे भी अच्छा है।"

"लेकिन मुझे हेड से कुछ ख़ास बात नहीं करनी है...।"

"बात तुम्हें ज़रूर करनी चाहिए, क्योंकि हेडमास्टर का ख़याल है कि...।"

मैं आगे बात सुनने की प्रतीक्षा में उसे देखता रहा। गिरधारीलाल की सतर्कता में अब एक डर भी आ समाया—कि मेरा हित चाहने में कहीं वह अपने हित की क्षति तो नहीं कर रहा। पर किसी तरह अपने डर पर क़ाबू पाकर उसने इतने धीमे स्वर में कि हम लोगों से एक गज़ दूर भी सुनाई न दे, कहा, "उसका ख़याल है कि इसके पीछे चेरी की कुछ साज़िश है। चेरी अभी कल-परसों ही डी.पी.आई. से मिलकर आया है। दो-चार दिनों में किसी दिन डी.पी.आई. के यहाँ आने की भी बात है।"

चेरी पर हेडमास्टर ने कुछ अभियोग लगा रखे हैं, यह बात कामन रूम में ही किसी से सुनी थी। यह भी सुना था कि चेरी ने उन अभियोगों के उत्तर में हेडमास्टर तथा डी.पी.आई. को एक लम्बा खरड़ा लिखकर दिया है। मेरे त्यागपत्र का उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है, इससे मुझे थोड़ा ग़ुस्सा हो आया। "मुझे इस चीज़ से कोई मतलब नहीं कि हेडमास्टर मेरे त्यागपत्र को लेकर क्या सोचता है," मैंने कहा। "मेरे त्यागपत्र के कारण बिलकुल व्यक्तिगत हैं।"

"यही मैंने भी मिस्टर व्हिसलर से कहा था कि कोई ऐसी-वैसी बात होती, तो घर में साथ रहते कभी तो ज़िक्र आता। उसने मुझसे पूछा था कि त्यागपत्र देने से पहले तुमने किसी को कुछ बताया तो नहीं। मैंने कहा कि कल शाम को तो हमारी मुलाक़ात नहीं हुई, पर परसों और परले रोज़ हमारी घर पर बात हुई है—उसमें ज़िक्र तक नहीं आया ऐसा किसी चीज़ का।"

"कल रात तक मैंने खुद नहीं सोचा था कि मैं त्यागपत्र दे दूँगा।"

"तो फिर एकाएक कैसे...?"

"बस तय कर ही लिया कल रात। मेरा मन नहीं लगता था यहाँ।"

'था' में जो अतीत की ध्वनि थी, उसने फिर मुझे अन्दर कहीं पर खरोंच दिया।

"अकेले में मन लग सकना मुश्किल तो है ही। मैंने पहले भी कहा था दो-एक बार कि शोभा बहन को वहाँ से बुला लो। कितने दिन रहेंगी वे अपने पिता के यहाँ?"

यह शोभा जाते हुए उन लोगों से कह गई थी कि वह जालन्धर जा रही है, अपने पिता के पास। उसके जाने के बाद से मैं भी उस झूठ को निभा रहा था।

"अकेलेपन का मन न लगने से कोई ताल्लुक़ नहीं था," मैंने कहा।

"जो भी बात हो, मिस्टर व्हिसलर को यह नहीं लगना चाहिए कि...।"

"मिस्टर व्हिसलर को क्या लगता है, इसकी मैं चिन्ता नहीं करना चाहता।"

गिरधारीलाल का चेहरा मुरझा गया। वह मुझसे इतने रूखे स्वर की आशा नहीं करता था। वह पल-भर सिकुड़ा-सा मुझे देखता रहा। "देख लो। अब यह तुम पर है।"

"अब ही क्यों, पहले भी मुझी पर था।" मुझे ख़ुद लग रहा था कि मैं बेचारे गिरधारीलाल से इस तरह क्यों बात कर रहा हूँ? उससे मुझे किस चीज़ की चिढ़ थी?

ख़ैर, मेरा फ़र्ज़ था कि मैं इस बारे में तुमको आगाह कर दूँ। हेडमास्टर की त्योरी सुबह से चढ़ी हुई है। वह ग्यारह बजे की चाय पीने घर पर नहीं गया। मिसेज़ व्हिसलर ने इसे बुला भेजा क्योंकि उन्हें इससे कुछ बात करनी थी। पर इसने कहला दिया कि इस वक़्त फुर्सत नहीं है—शाम को ही घर आएगा।"

"आगाह कर देने के लिए शुक्रिया," मैंने बात समाप्त करने के लिए कहा और पत्रिका में आँखें गड़ा लीं।

गिरधारीलाल फिर भी रुका रहा। "कोई ग़लत बात कही गई हो, तो माफ़ कर देना," वह मुझे ठीक से न समझ पाने के असमंजस में बोला। "मेरा मतलब सिर्फ़ इतना ही था कि..."

"मुझे पता है तुम्हारा मतलब मेरा भला चाहना ही है," मैंने उसका कन्धा थपथपा दिया, "मैं बाद दोपहर हेडमास्टर से बात कर लूँ, तो फिर..."

"जो भी बात हो बताना। शाम को घर पर मिलेंगे," कहकर वह बेबस सद्भावना के साथ मुस्कुराया और दबे पैरों वहाँ से चला गया।

मैं मैगज़ीन हाथ में लिए खिड़की के पास आ गया। बाहर घास पर हलकी-हलकी सफ़ेद चकत्तियाँ पड़ गई थीं। बर्फ़ गिरने लगी थी। 'इस तरह यहाँ खड़ा होकर क्या फिर कभी मैं बर्फ़ गिरती देखूँगा?' मैंने सोचा और खिड़की की सिल पर बैठ गया।

## कुरसी

एक-डेढ़ घंटे में इतनी बर्फ़ गिर गई कि लंच तक सारा लान, छतें, चिमनियाँ और खुले में जो कुछ भी था, सब सफ़ेद हो गया। कामन रूम में तब तक दो बड़ी-बड़ी अँगीठियाँ दी गई थीं। बर्फ़ की सफ़ेदी के बीच जहाँ-तहाँ उभरे हरे-स्याह-स्लेटी रंगों को देखता मैं पाँचवें पीरियड के बाद वहाँ आया, तो अकेली मिसेज़ व्हिसलर सोफ़े के सामने रखी

अँगीठी के पास खड़ी थी। मुझे देखते ही कहा, "मैं नहीं जानती थी कि तुम इतने ख़तरनाक आदमी हो।" साथ वह अपनी बाईं आँख ज़रा-सी दबाकर हँस दी।

ज़ेन व्हिसलर टोनी व्हिसलर से अपने व्यक्तित्व में इतनी अलग थी कि उसे मिसेज़ हेडमास्टर के रूप में स्वीकार करना मुश्किल लगता था। टोनी व्हिसलर हर समय जितना कसा-कसा रहता था, वह उतनी ही खुली, खुशमिज़ाज और मिलनसार थी—या शायद टोनी को चिढ़ाने के लिए ऐसी बनी रहती थी। क़द में वह टोनी से एक-डेढ़ इंच ऊँची थी और उम्र में दो-एक साल बड़ी भी। टोनी ने हेडमास्टर लगने के बाद जहाँ चार-छः बढ़िया सूट सिला लिए थे, वहाँ ज़ेन अब भी सादा छींट के फ्राक पहनती थी। सुनहरे फ्रेम का वह चश्मा भी उसने नहीं बदला था जिसकी वजह से वह बयालीस की उम्र में कम-से-कम पैंतालीस की नज़र आती थी। टोनी के चेहरे की हड्डी स्लैव क़िस्म की थी, ज़ेन की कुछ-कुछ मंगोल ढँग की—नीचे से गोल और ऊपर से उभरी हुई। टोनी से उसकी एक असमानता यह भी थी कि दिन में एकाध बार वह अपने (मतलब टोनी के) रुतबे का ध्यान छोड़कर कामन रूम में चली आती थी। यूँ टोनी के सामने वह अपने को काफ़ी गम्भीर बनाए रखती थी, पर उसकी अनुपस्थिति में ख़ूब खुलकर हँसती थी। उसका ज़िक्र होने पर बाईं आँख दबाकर कहती थी, "ओ टोनी? वह तो स्टेनलेस स्टील का पुर्ज़ा है जो बिना घिसे चौबीसों घंटे काम कर सकता है। उसे दुःख है तो यही कि दुनिया में और लोग भी उसकी तरह स्टेनलेस स्टील के पुर्ज़े क्यों नहीं हैं। यूँ वह इतना अच्छा फ़ोटोग्राफ़र है कि मैं समझती हूँ, उसे सिवाय फ़ोटोग्राफ़ी के कोई काम नहीं करना चाहिए। पर उसके स्वभाव को देखते हुए लगता है कि उसे हेडमास्टर या फ़ोटोग्राफ़र न होकर किसी स्टील प्लांट में हेड फोरमैन होना चाहिए। वहाँ वह दिन-रात कच्चे फौलाद को जैसे साँचों में चाहे ढालता रह सकता है। बेचारा टोनी! मैं सचमुच तरस जाती हूँ उसे कभी खुलकर हँसते देखने के लिए।" फिर वह अपनी चिड़ी-शक्ल नाक को रूमाल से छूने लगती थी। "शुक्र है परमात्मा का कि मेरी नाक ज़्यादा लम्बी नहीं है। नहीं तो टोनी जैसे आदमी के साथ चार दिन गुज़ारा करना मुश्किल हो जाता।"

मैं तीन-चौथाई कमरा लाँघकर उसके बराबर जा खड़ा हुआ। राख की हलकी परतों के नीचे उठती कोयलों की आँच शरीर को गरमाने लगी। "हो सकता है मैं हूँ ख़तरनाक," मैंने कहा, "लेकिन किस तरह से हूँ, यह भी आप ही को बताना होगा।"

"वह मैं नहीं बता सकती," मिसेज़ व्हिसलर हाथों से चेहरा गरम करती बोली, "अपने गुणों का तुम्हें खुद ही पता होना चाहिए।"

मुझे लगा कि वह सीधी अपने पति के पास से वहाँ आई है। उसका उत्साह इस बात का सूचक था कि मिस्टर व्हिसलर को उसने काफ़ी बेचैन मनःस्थिति में देखा है।

"आपका मतलब शायद..."

"मेरा मतलब उसी चीज़ से है जिससे तुम समझ रहे हो। पर उसके अलावा भी किसी चीज़ से है जिसकी मैं बात नहीं करूँगी। मैं सचमुच नहीं सोचती थी कि..." वह फिर हँस दी। साथ ही उसकी आँखों में हलकी चमक भर आई।

"देखिए, जहाँ तक मेरे त्यागपत्र का सवाल है..."

"मुझे पता है उसकी कोई-न-कोई वजह तुम मुझे बता दोगे। लेकिन मैं तुमसे वजह नहीं जानना चाहती। हर आदमी अपने हर काम की कोई-न-कोई वजह बता सकता है, हालाँकि ज़्यादातर काम किए उस वजह से नहीं जाते जिस वजह से आदमी समझता है कि वे किए गए हैं।"

मैं कुछ पल चुप रहकर अपने ठंडे हाथों को अँगीठी पर तापता रहा। फिर आलोचना के स्वर में मैंने कहा, "आप आज काफ़ी ख़ुश हैं।"

"मैं कब ख़ुश नहीं रहती?" उसने अपने सैंडल की नोक से अँगीठी के कोयलों को थोड़ा हिला दिया। "हालाँकि आज तुम्हारी वजह से मुझे अफ़सोस भी है, पर सचमुच अपने पति की वजह से मैं ख़ुश भी हूँ। उसकी मानसिक तन्दुरुस्ती के लिए ज़रूरी था कि उसे इस तरह का कोई झटका लगे। पिछले कई सालों में मैंने उसे आज जितना परेशान नहीं देखा।"

"तो क्या आप समझती हैं कि..."

"मेरे समझने न समझने की बात जाने दो। कुछ बातें हैं जिन्हें मैं समझकर भी चुप रहती हूँ। कुछ हैं जिन्हें बिना समझे बात कर आती हूँ।" और तभी एल्बर्ट क्राउन को अन्दर आते देखकर वह उसकी तरफ़ मुड़ गई। "आज तो तुम्हारे त्रिशूली जाने का दिन है, एल्बर्ट! आज वहाँ बर्फ़ पर फिसलने में ख़ूब मज़ा आएगा तुम्हें।"

हम लोगों में आगे बात नहीं हो सकी, पर हर अन्दर आते व्यक्ति से वह उसी उत्साह के साथ कुछ-न-कुछ कहती रही। कोहली को उसने सलाह दी कि उसने नई-नई शादी की है, इसलिए अब उसे एक नया गाउन भी ख़रीद लेना चाहिए। डायना को उसने नई तरह से बाल कटाकर आने के लिए बधाई दी और कहा कि अब वह जल्दी ही किसी नए समाचार की प्रतीक्षा करेगी। जेम्स से पूछा कि उसकी सेहत अब कैसी है और कि डॉक्टर ने उसे नौकरी छोड़ देने की सलाह तो नहीं दी। वह जिस तरह बात कर रही थी, उससे लंच की घंटी बजने तक कामन रूम में सारा जमाव उसी के आस-पास रहा। अकेली मिसेज़ ज्याफ्रे अलग बैठी एक-एक व्यक्ति से आँख मिलाकर उसके उत्साह की ख़ामोश आलोचना करती रही। कामन रूम से निकलकर डाइनिंग हॉल की तरफ़ जाते हुए भी मास्टरों और मेट्रनों की पूरी कतार ज़ेन के साथ थी। पर डाइनिंग हॉल के बाहर पहुँचकर सब लोग उससे थोड़ा-थोड़ा

हटकर खड़े हो गए। वह मिसेज़ हेडमास्टर थी, इसलिए फ़ासला ज़्यादा नहीं बढ़ाया जा सकता था। पर उसमें और हेडमास्टर में ठीक से बनती नहीं थी, इसलिए हेडमास्टर के आने के वक़्त उसके बहुत नज़दीक भी खड़े नहीं हुआ जा सकता था। हॉल में लड़के अपनी-अपनी जगह आकर खड़े हो गए थे। ठक् ठक् ठक्...प्रीफ़ेक्टों के जूतों की आवाज़ ने और सब आवाज़ों को चुप कर दिया। प्रीफ़ेक्ट ऊपर चबूतरे पर हेडमास्टर की मेज़ के गिर्द अपनी सीटों के पास जा खड़े हुए, तो आठ-दस सैकेंड के हलके विराम में सब लोगों ने चोर नज़र से आस-पास देख लिया। लंच शुरू होने से पहले ग्रेस के शब्द मिस्टर व्हिसलर को कहने होते थे, पर बरामदे के सिरे तक वह तनी हुई गरदन और चौड़े कन्धे कहीं नज़र नहीं आ रहे थे। एक नज़र अपनी घड़ी और एक पीछे के छोटे रास्ते पर डालकर सीनियर मास्टर मिस्टर ब्राइट ने तुरन्त आपत्कालीन निर्णय ले लिया। खुद अन्दर जाकर उसने ग्रेस के शब्द बोल दिए 'आमेन' की गूँजती आवाज़ के साथ लंच शुरू हो गया।

मेरी सीट जिस सिरे पर थी, वहाँ से हेडमास्टर की मेज़ बिलकुल सामने पड़ती थी। मिसेज़ व्हिसलर जिस तरह कामन रूम में चहक रही थी, कुछ उसी तरह वहाँ प्रीफ़ेक्टों के बीच हँसती हुई बात कर रही थी। मिस्टर व्हिसलर की उपस्थिति में उस मेज़ पर लंच बहुत संजीदगी के साथ खाया जाता था। मिसेज़ व्हिसलर ख़ामोश और उदासीन बनी रहती थी, जबकि आठों प्रीफ़ेक्ट मिस्टर व्हिसलर का ही एक-एक मुखौटा लगाए पूरे हॉल में नज़र दौड़ाते रहते थे। परन्तु उस समय वे सब भी मिसेज़ व्हिसलर के साथ उसी की तरह हाथ हिलाते और गरदन पीछे फेंककर हँसते हुए बात कर रहे थे। उससे पूरे हॉल में भी वह तनाव नहीं रहा था जो मिस्टर व्हिसलर की उपस्थिति में रहा करता था। हेडमास्टर की मेज़ पर चल रही बातचीत का खुलापन और सब मेज़ों पर भी छा गया था। और दिनों हॉल में बातचीत में ऊँची आवाज़ छुरी-काँटों की रहा करती थी। पर उस समय छुरी-काँटों की आवाज़ बातचीत के शोर में डूब गई थी।

''मुझे मिसेज़ व्हिसलर बहुत अच्छी लगती हैं, सर!'' मेरे पास बैठा चौथे फ़ार्म का इन्द्रजीत कह रहा था। ''मैं जब हेडमास्टर हाउस में था, तो ये कई बार रात को हमारी डारमेटरी का चक्कर लगाने आ जाती थीं। हम लोग इनके आने का इन्तज़ार करते रहते थे क्योंकि ये कोई-न-कोई बात करके हम सबको हँसा देती थीं। पता नहीं बड़े लड़कों की डारमेटरियों में ये क्यों कभी नहीं आतीं? मेरा ख़याल है मिस्टर व्हिसलर ने इन्हें रोक रखा होगा। मैं अगर उस बार फेल हो जाता, तो मुझे इस बात की खुशी होती कि एक साल और हेडमास्टर्ज हाउस में रहने का मौक़ा मिल जाएगा। ये इतनी अच्छी हैं, इतनी अच्छी हैं, फिर भी...ख़ैर...कितने अफ़सोस की बात है कि ये एक साल के लिए यहाँ से जा रही हैं!''

यह बात एक अफ़वाह की तरह कई दिनों से सुनी जा रही थी। ज़्यूरिच में मिसेज़ व्हिसलर के किसी रिश्तेदार की जायदाद थी जो वह अपनी वसीयत में इसके नाम छोड़ गया था। उसका अधिकार लेने और व्यवस्था करने के लिए मिसेज़ व्हिसलर वहाँ जाने की सोच रही थी। उस जायदाद का क्या किया जाना चाहिए इसे लेकर उसमें और मिस्टर व्हिसलर में काफ़ी मतभेद था। मिस्टर व्हिसलर का ख़याल था कि उस जायदाद को बेच देना चाहिए, जब कि मिसेज़ व्हिसलर चाहती थी कि वे लोग अब ज़्यूरिच को ही अपना स्थायी निवास स्थान बना लें। मिसेज़ ज्याफ्रे दबे-दबे लोगों को बताया करती थी कि इस बात को लेकर दोनों में कितनी खटपट चल रही है। ''मेरा ख़याल है उसे ज़्यूरिच में रहने का इतना शौक़ हो आया है कि वह उसके लिए अपने पति को हमेशा के लिए छोड़कर भी जा सकती है,'' एक बार उसने कहा था, ''और मुझे कहीं यह भी लगता है कि टोनी उससे लड़-झगड़कर, जान-बूझकर उसे इसके लिए उकसा रहा है। वह शायद सोचता है कि इसी तरह अगर इससे छुटकारा मिल जाए तो शायद बुरा सौदा नहीं होगा।''

ज़ेन व्हिसलर के दूर या पास रहने पर टोनी के व्यवहार में क्या अन्तर आ जाता है इसका कुछ-कुछ आभास मुझे पिछली बार छुट्टियों में मिला था। उस बार छुट्टियों के तीनों महीने मैं कहीं बाहर नहीं गया था। एक तो जाने को कोई जगह नहीं थी, दूसरे मैं चाहता भी था कि कुछ दिन बिना कुछ किए, कहीं जाए, बस ऐसे ही पड़ा रहूँ। उन्हीं दिनों एक बार टोनी के बुलाने पर उसके क्वार्टर में गया था। वहाँ उस समय जिस टोनी व्हिसलर को बहुत-से नेगेटिव आस-पास फैलाए उन पर निशान लगाते देखा था, वह ज़ेबों में हाथ डाले कंधे चौड़ाकर स्कूल के बरामदों में चक्कर लगानेवाले व्यक्ति से बहुत भिन्न था। उसकी भूरी आँखें भी जिनका काम वैसे सिर्फ़ यह देखना लगता था कि कौन कहाँ क्या ग़लत कर रहा है, उस समय एक सहजता का स्पर्श लिए थीं। यूँ भी कसे हुए कपड़ों की जगह उसे एक ढीली-ढाली पोशाक में देखना मुझे अच्छा लगा था। नौकरी के दो सालों में मैं कभी उतने इत्मीनान के साथ उसके पास नहीं बैठ सका था।

''तुम्हें कोहली की कोई ख़बर मिली है?'' उसने जिस मुस्कुराहट के साथ पूछा था, वह भी मेरे लिए बिलकुल अपरिचित थी।

''हाँ, सुना है उसकी बीवी गुज़र गई है,'' मैंने कहा। ''गिरधारीलाल उस दिन बता रहा था।''

''बहुत अफ़सोस की बात है?'' वह उसी तरह मुस्कुराता रहा।

''हाँ, बात तो अफ़सोस की है ही, हालाँकि बेचारी जिस तरह बीमार रहती थी, उससे दोनों की ज़िन्दगी काफ़ी दूभर हो रही थी।''

"तुम्हारा क्या ख़याल है...कोहली को कैसा लगा होगा अपनी बीवी की मौत से?"

उसकी आँखों की चमक से ही मुझे लगा कि वह किसी ख़ास वजह से यह बात पूछ रहा है। यूँ मेरा ख़याल था कि कोहली को इससे ज़्यादा बुरा नहीं लगा होगा क्योंकि छुट्टियों से पहले वहाँ से जाने तक वह स्त्री लगभग अपाहिज हो चुकी थी। फिर वह जिस तरह रात-दिन झीखती रहती थी, उससे कोहली को तो क्या, पड़ोसी होने के नाते मुझे भी कम परेशानी नहीं होती। फिर भी शिष्टाचार के तकाज़े से मैंने कहा, "मेरा ख़याल है कोहली को बहुत अकेलापन महसूस हो रहा होगा। बीस साल वह उसके साथ रहा है। ठीक है पिछले दो-तीन साल से वह उसके लिए एक बोझ बन गई थी, फिर भी...।"

टोनी खिलखिलाकर हँस दिया। वह पहली और आख़िरी बार थी जब मैंने उसे उस तरह हँसते देखा था, "कोहली की एक चिट्ठी आई है," वह बोला। "मैं चाहता हूँ वह चिट्ठी तुम पढ़ लो।"

उसके पास ही एक लिफ़ाफ़ा रखा था जो उसने उठाकर मेरी तरफ़ बढ़ा दिया। मैं चिट्ठी निकालकर पढ़ने लगा। पढ़ते हुए मुझे भी हँसी आ गई। कोहली ने लिखा था कि उसे यह सूचना देते बहुत दुःख है कि दो सप्ताह पहले उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई है। इसलिए वह छुट्टियाँ समाप्त होने से पहले ही वापस आ जाएगा। वह एहसान मानेगा अगर मिसेज़ क्राउन से कहकर अभी से उसके क्वार्टर की रोगन और सफ़ेदी करा दी जाए। इसके बाद की पंक्तियाँ थीं : "इससे यह मतलब न लिया जाए कि मुझे इसके बाद फैमिली-क्वार्टर की ज़रूरत नहीं रहेगी। मैं इन्हीं दिनों दूसरी शादी कर रहा हूँ और अपनी नई पत्नी को साथ लेकर ही वहाँ आऊँगा। यह बात लिख देना मैंने इसलिए आवश्यक समझा है कि कहीं मुझे अकेला मानकर मेरे वाला क्वार्टर किसी और को दे दिया गया, तो मेरे यहाँ आने पर नए सिरे से व्यवस्था करने का झंझट पैदा न हो। मुझे आशा है मेरी स्थिति को ध्यान में रखते हुए आप मिसेज़ क्राउन से विशेष अनुरोध कर देंगे कि...।"

"ऐसा क्या यहाँ इतनी आसानी से हो जाता है?" मैंने पत्र रख दिया, तो टोनी ने उसी तरह हँसते हुए पूछा।

"होने को तो सबकुछ हो जाता है, लेकिन...।"

"और तुम्हारा केस देखकर मुझे लगता था कि यहाँ स्कूल-मास्टरों को आसानी से लड़कियाँ मिलती ही नहीं।"

इस पर हम दोनों हँसते रहे। "कोहली ख़ुशक़िस्मत आदमी है," मैंने कहा।

"ख़ुशक़िस्मत है या बदक़िस्मत, इसका पता तो बाद में चलेगा। पर जो काम उसने किया है, वह अपने में काफ़ी बेढंगा है। भले आदमी को कम-से-कम साल-छः

महीने तो इन्तज़ार कर ही लेना चाहिए था,'' फिर अपने नेगेटिवों को सहेजते हुए उसने मुझसे पूछा, ''तुम्हारे लिए यह पड़ोस अब भी ठीक रहेगा न? तुम्हें तो इसे लेकर कोई आपत्ति नहीं है?''

''मुझे क्या आपत्ति हो सकती है? मुझे इस पड़ोस की आदत हो चुकी है।''

''यह तुम नहीं कह सकते। जो पड़ोस पहले था, अब उससे अलग तरह का पड़ोस होगा तुम्हारा। मैंने तुम्हें इसीलिए बुलाया था कि एक बार तुमसे पूछ लूँ। तुम चाहो, तो तुम्हारे लिए स्कूल के अन्दर ही दूसरे क्वार्टर की व्यवस्था हो सकती है।''

''आप जैसा चाहें। वैसे मुझे वहाँ रहने में कोई आपत्ति नहीं है।''

''तुम्हें आपत्ति नहीं है, तो ठीक है। बल्कि इस तरह के पति-पत्नी पड़ोस में हों, तो ज़िन्दगी काफ़ी दिलचस्प बनी रहती है।''

उसके बाद उसने अपने हाथ से कॉफ़ी की प्याली बनाकर मुझे दी थी और मुझे छोड़ने बाहर सड़क तक चला आया था। वहाँ से विदा लेते हुए भी उसने हँसकर कहा था, ''ज़्यादा झाँक-वाँककर मत देखना, पर उसी वक़्त जाया करना जब कोहली वहाँ पर हो।''

उन दिनों वह आदमी घर पर अकेला था। मिसेज़ व्हिसलर दो महीने के लिए दक्षिण घूमने गई हुई थी।

उसके कुछ ही दिन बाद स्कूल खुलने से पहले मुझे फिर एक बार उसके यहाँ जाना पड़ा था। तब वह मुझे यह बताना चाहता था कि बोर्ड ने एक सीनियर हिन्दी मास्टर रखने का फ़ैसला तो कर लिया है, पर वह जगह अभी भरी नहीं जाएगी। तब तक मिसेज़ व्हिसलर लौटकर आ चुकी थी। उस बार उनके ड्राइंग रूम में मुझे काफ़ी देर इन्तज़ार करना पड़ा। आख़िर वह अन्दर के कमरे से निकलकर आया, तो उसकी भौंहें तनी हुई थीं। मुझे देखकर लगा जैसे कि मुझसे कोई क़सूर हो गया हो जिसके लिए वह मुझे डाँटने जा रहा हो।

''लुक हेयर,'' उसने जाते ही कहा, ''एक बात है जो मैं नई टर्म शुरू होने से पहले ही तुम्हें बता देना चाहता हूँ। तुम्हारे पास इस साल भी उतने ही पीरियड रहेंगे जितने पिछले साल थे। तुम्हें इस बारे में कुछ कहना तो नहीं है?''

मुझे बहुत कुछ कहना था। लेकिन मैं जानता था कि मैं अपनी बात कहूँ, इसके लिए सवाल नहीं पूछा गया।

''वैसे तो आप जो भी फ़ैसला करें, ठीक है,'' मैंने कहना शुरू किया। ''लेकिन...''

''लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। सीनियर हिन्दी मास्टर की नियुक्ति हम अगले साल से पहले नहीं कर पाएँगे। यह बात मैंने बोर्ड में भी कह दी थी। मिसेज़ बुधवानी इस साल भी पिछले साल की तरह छोटी क्लासें लेती रहेंगी। बड़ी क्लासें तुम्हारे पास रहेंगी।

तुम्हें बाद में अपने टाइम टेबल को लेकर कोई ऐतराज़ हो, इससे बेहतर है कि तुम अभी से यह बात जान लो। वैसे इसमें तुम्हारा फ़ायदा ही है। तुम्हें तीस रुपए अतिरिक्त एलाउन्स मिल जाता है। किस क्लास में क्या चीज़ शुरू में पढ़ाई जाएगी, इसका ब्योरा बनाकर मिसेज़ को दे देना। पिछले साल तुम्हारे पास खेलों की ड्यूटियाँ नहीं थीं। इस साल तुम्हारी वे ड्यूटियाँ भी लगानी पड़ेंगी क्योंकि दूसरे मास्टर इस चीज़ को लेकर एतराज़ करते हैं। अपना नया टाइम टेबल तुम पार्कर के पास देख सकते हो।''

उसके आने के साथ ही मैं कुर्सी से उठ गया था। उसके बाद मैं खड़ा ही रहा–उसने मुझसे बैठने के लिए नहीं कहा। अपनी बात कह चुकने के बाद ज़ेबों में हाथ डाले इस तरह मुझे देखने लगा जैसे कि मैं बिना इजाज़त उसके कमरे में घुस आया होऊँ और मुझसे यह पूछकर कि मैं क्यों आया हूँ, अब वह मेरे बाहर निकलने की राह देख रहा हो।

''फार वाट वी हैव रिसीव्ड, मे द लार्ड मेक अस ट्रूली थैंकफुल फार क्राइस्ट्'स सेक।'' अपनी सीट से उठकर लंच की समाप्ति की ग्रेस भी मिस्टर ब्राइट ने कही और सब लोग प्लेटें छोड़कर खड़े हुए। मैंने पहली सर्विस में अपनी प्लेट में चावल नहीं लिए थे, तब तक बैरे के दूसरी बार आने की राह ही देख रहा था, ''सर भूखे रह गए हैं,'' इन्द्रजीत ने आहिस्ता से कहा और सहानुभूति के साथ मुस्कुरा दिया। मैं अधभूखे पेट तीन बजे तक का समय काटने की उलझन मन में लिए कामन रूम में आ गया।

अँगीठियाँ आधी बुझ चुकी थीं। फिर भी लोग क्लासों में जाने से पहले उन्हें घेरकर खड़े हो गए थे। कोहली क्योंकि लंच से पहले परे एक कोने में खड़ा रहा था, इसलिए अब वह एक अँगीठी के ऊपर अपनी दोनों बाँहें फैलाए था–ताकि स्कूल द्वारा दी गई उस सुविधा में अपना हिस्सा प्राप्त करने से वंचित न रह जाए। 'फ्र फ्र फ्र'–अपने ठिठुरते शरीर की कँपकँपी होंठों से व्यक्त करके वह स्थापित करना चाह रहा था कि उसे आग की कितनी ज़रूरत है। ''बहुत ठंड लग रही है?'' मैंने उसके पास जाकर पूछा।

पर वह जवाब न देकर उसी तरह 'फ्र फ्र फ्र' करता रहा। आँख से उसने पीछे खिड़की की तरफ़ इशारा कर दिया। बाहर हलकी-हलकी बर्फ़ अब भी गिर रही थी–धुनी रुई के उड़ते रेशों जैसी। खिड़की के पास छह-सात लोग जमा थे–चारों हाउस-मास्टर, मिसेज़ क्राउन, बॉनी हाल और एकाध और। खिड़की के चौखटे पर बाहर की तरफ़ इतनी बर्फ़ जम गई थी कि वह पूरा बर्फ़ की तख़्तियों का बना लग रहा था। मिसेज़ ज्याफ्रे, जो कामन रूम के बाहर खिड़की के पास खड़ी उन लोगों से बात कर रही थी, अपने नीले स्कर्ट और रुपहले बालों के कारण उस चौखटे में जड़ी एक तसवीर की तरह लग रही थी। साठ साल की उम्र में भी पाउडर से लदे

अपने नुकीले दुबले चेहरे, पतले होंठों और चमकती आँखों में वह अपने अतीत यौवन की कुछ-कुछ छाया सुरक्षित रखे थी। कम-से-कम अपनी लड़की मॉली क्राउन के झाईं-भरे चेहरे से तो उसका चेहरा अधिक युवा नज़र आता ही था। वह खिड़की पर थोड़ा अन्दर को झुककर कह रही थी, "कुछ-न-कुछ ज़रूर हुआ है इनके बीच। तभी न वह आज लंच के लिए नहीं आया। यह जिस दिन उसे जितना परेशान कर लेती है, उस दिन उतनी खिली हुई नज़र आती है। नहीं? मुझे लगता है कि आख़िर यह उसे अपने साथ ज़्यूरिच ले जाए बिना मानेगी नहीं। वह कितना चाहे कि इससे अपनी बात मनवा ले, पर हारकर उसे करना वही पड़ेगा जो यह चाहेगी। इसका साल-भर के लिए जाना तो मुझे सिर्फ़ एक बहाना लगता है। यह वहाँ से लौटकर आएगी, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। साल के अन्दर-अन्दर देखना, या तो वह भी इसके पास वहीं चला जाएगा या..."

एल्बर्ट क्राउन हम लोगों की तरफ़ देखकर हलके से खाँस दिया। मिसेज़ ज्याफ्रे ने उसका इशारा कुछ-कुछ समझा, फिर भी अपनी बात रोकी नहीं। "...या की बात मैं नहीं कह सकती। लगाने को आदमी कई तरह से अनुमान लगा सकता है। पर असल में जो होना है, उसका पता तो होने पर ही चल सकता है।"

"काम का समय है, काम करना चाहिए," कहते हुए मिसेज़ क्राउन ने वहाँ से हटकर उस सारे ग्रुप को छितरा दिया। कमरे से निकलते हुए उनमें से हरएक ने एक-एक बार हम लोगों की तरफ़ देख लिया। जब वे सब चले गए और मिसेज़ ज्याफ्रे भी खिड़की के पास से हट गईं तो कोहली ने रुके हुए रिकार्ड की तरह मेरे सवाल का जवाब दे दिया, "हाँ, बहुत ठंड लग रही है आज। आज तुम्हें नहीं लग रही?"

मेरे मन में एक बार आया कि कम-से-कम कोहली को तो बता ही दूँ कि मैंने त्यागपत्र दे दिया है और उस सम्बन्ध में बात करने के लिए अभी मुझे हेडमास्टर के कमरे में जाना है। सुनकर उसके चेहरे पर क्या भाव आएगा और उसकी 'फ्र फ्र फ्र' अचानक कैसे रुक जाएगी, इसकी भी मैंने कल्पना की। पर यह सोचकर उससे नहीं कहा कि किसी दूसरे से यह बात सुनकर उनके चेहरे पर जो भाव आएगा, वह कहीं ज़्यादा मनहूस और मनोरंजक होगा। वह एक हाथ लगभग बुझी हुई अँगीठी पर तापता हुआ दूसरा अब अपने गाउन के उस फटे हिस्से पर रखे था जिस पर मिसेज़ व्हिसलर ने लंच से पहले टिप्पणी की थी। मुझे जवाब देने के बाद न जाने क्या सोचकर वह थोड़ा अन्तर्मुख हो गया था। कुछ देर चुपचाप खड़े रहने के बाद उसने एक उसाँस भरी और मन-ही-मन जैसे किसी परिस्थिति से समझौता करके बाहर जाने के लिए तैयार हो गया। "तुम्हारी क्लास नहीं है?" उसने चलते हुए मुझसे पूछा।

मेरे मन में फिर एक बार आया कि उसे बता दूँ। लेकिन मैं फिर अपने को रोक गया। इस बार उसके बाहर नज़र आ रहे जबड़ों की वजह से जो बात करने से कुछ

देर और सामने खुले रहते। कुछ देर में कामन रूम बिलकुल ख़ाली हो गया, तो भी मैं वहाँ रुका रहा। पहले कभी हेडमास्टर ने बुलाया होता, तो मैं डाइनिंग हॉल से निकलते ही सीधा उसके कमरे में पहुँच जाता। पर उस समय मुझे लग रहा था कि मैं जाने से पहले थोड़ा और वक़्त ले सकता हूँ। कम-से-कम अपना सिगरेट तो पूरा पी ही सकता हूँ। सिगरेट के कश खींचते हुए मैं अपने को उसके साथ होनेवाली बातचीत के लिए तैयार भी करता रहा। आज तक जब भी उससे बात हुई थी—सिर्फ़ एक दिन को छोड़कर—तो जूनियर मास्टर और हेडमास्टर के निर्धारित सम्बन्ध के आधार पर हुई थी। उस एक दिन भी, जब वह कुछ खुलेपन से पेश आया था, मैं अपनी तरफ़ से उस निर्धारित रेखा को नहीं लाँघ पाया था। पर आज, वहाँ से त्यागपत्र दे चुकने के बाद, मुझे लग रहा था कि मैं बिलकुल दूसरे आधार पर उससे बात कर सकता हूँ। एक बार यह भी मन में आया कि अपना गाउन उतारकर मैं कामन रूम में छोड़ जाऊँ, पर यह इसलिए नहीं किया कि वह पहले से ही मेरे रुख़ को भाँपकर और उस दृष्टि से तैयार होकर बात न करे। आख़िर जब सिगरेट फ़िल्टर के सिरे तक पिया जा चुका, तो उसे ऐश-ट्रे की तरफ़ उछालकर मैं कामन रूम से निकल आया। सोचा था कि आज अपनी टाई की गाँठ की चिन्ता नहीं करूँगा, पर बाहर आते ही हाथ अनायास उस पर पहुँच गया। फिर भी और दिनों से कहीं ज़्यादा आत्मविश्वास के साथ मैं ऑफ़िस में दाख़िल हुआ। बुधवानी, पार्कर और गिरधारीलाल तीनों तीन पुतलों की तरह अपनी-अपनी मेज़ पर झुके थे। उनके चेहरों से लग रहा था कि मेरे देर से आने का तनाव तीनों अपने अन्दर महसूस कर रहे हैं। फ़कीरे ने मुझे देखते ही हेडमास्टर के कमरे का दरवाज़ा खोल दिया। बुधवानी अपनी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और एक ओढ़ी हुई मुस्कुराहट के साथ मुझे अन्दर ले गया। टोनी हमारे पहुँचने के बाद भी इस तरह अपने काग़ज़ों में डूबा रहा जैसे हमें अन्दर आते उसने देखा ही न हो। कुछ पल एक तरफ़ खड़े रहने के बाद बुधवानी ने उसे मेरे आने की सूचना दी और दबे पैरों कमरे से चला गया।

टोनी ने दरवाज़ा बन्द होने तक आँखें नहीं उठाईं। मैं भी उतनी देर खिड़की से बाहर क्रिकेट ग्राउंड की जाली को देखता रहा। फिर पेन नीचे रखते हुए उसने अपने उस ख़ास ढँग से मुझे देखा जिससे बात करने से पहले वह दूसरे को थोड़ा अव्यवस्थित करने की चेष्टा किया करता था। पर उस समय मेरे ऊपर उस नज़र का कुछ ख़ास असर नहीं हुआ। मुझे लगा कि मेरा पूरा सिगरेट पीकर आना बेकार नहीं गया।

"तुम सचमुच स्कूल छोड़ना चाहते हो?" उसने एक झटके के साथ पूछा। मेरे चेहरे पर अपनी नज़र की प्रतिक्रिया न देखकर उसका स्वर हमेशा से भी कुछ तीखा हो गया था।

"जी हाँ," मैंने कहा। "मैं इस टर्म के बाद वापस नहीं आना चाहता।"

''इसका असल कारण मैं जान सकता हूँ?''

''कारण मैंने अपने त्यागपत्र में लिखा है।'' वह जिस जल्दी से सवाल पूछ रहा था, मैं उसी जल्दी से जवाब देता जा रहा था।

''अपने त्यागपत्र में तुमने कुछ भी कारण नहीं लिखा। सिर्फ़ यह लिखा है कि तुम्हारी व्यक्तिगत परिस्थितियाँ तुम्हें नौकरी छोड़ने के लिए मजबूर कर रही हैं।''

''मेरा ख़याल था कि यह अपने में ही एक कारण हो सकता है। मेरे लिए इसके अलावा और कोई कारण नहीं है।''

''हूँऽऽ!'' वह पल-भर उँगलियाँ चटकाता रहा। उसे आशा नहीं थी कि मेरे जवाब इतने कटे-छँटे होंगे। दो-एक बार आँखें झपकने के बाद उसका चेहरा थोड़ा नरम पड़ गया। उसने मेरे त्यागपत्र का काग़ज़ निकालकर सामने रख लिया। ''तो मैं यह मानकर चलूँ कि तुमने अपने इस फैसले के सब पहलुओं पर ठीक से विचार कर लिया है?''

मैंने सिर हिला दिया–''आप सोच ही सकते हैं कि बिना ठीक से विचार किए ऐसा क़दम कोई नहीं उठाता।''

''तुम यहाँ से छोड़कर कहाँ जाना चाहते हो?''

''अगर आपका मतलब मेरे कोई और नौकरी करने से है, तो मैं कह सकता हूँ कि फ़िलहाल मैं कहीं भी नौकरी करने का विचार नहीं रखता।''

''सुनने में बात कुछ अजीब-सी लगती है,'' कहता हुआ वह अपनी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। ''इसलिए मैं तुमसे ज़रा विस्तार से जानना चाहता हूँ।'' फिर मेज़ से आगे आकर बोला, ''आओ, उधर सोफ़े पर बैठकर बातें करते हैं।''

नौकरी के तीन सालों में यह दूसरा अवसर था जब उसने मुझसे उस तरह ऑफ़िस के सोफ़े पर बैठने को कहा था। पहला अवसर तब था जब मैं वहाँ इंटरव्यू के लिए आया था। सोफ़े की तरफ़ बढ़ते हुए उसने एक नज़र दीवार-घड़ी पर डाल ली। मतलब था कि तुम ग्यारह मिनट लेट आए हो, फिर भी देखो मैंने तुमसे कुछ नहीं कहा। अपने पर क़ाबू रखने की चेष्टा में उसकी नुकीली ठोढ़ी चौकोर चेहरे से इतनी जुदा लग रही थी जैसे कि अलग से तराशकर वहाँ चिपकाई गई हो। गरदन भी और दिनों से ज़्यादा सुर्ख़ नज़र आ रही थी–इतनी कि जैसे अभी-अभी उसके अन्दर से लहू फूट आना हो।

''देखो, वैसे तो यह तुम्हारा व्यक्तिगत मामला है,'' हम लोग सोफ़े पर बैठ गए, तो उसने कहना शुरू किया, ''इसलिए मुझे इस बारे में कुछ कहना नहीं चाहिए। लेकिन तुमने एकाएक जाने का फ़ैसला किया है, इसलिए एक बात मैं तुमसे जान लेना ज़रूरी समझता हूँ। तुम यहाँ किसी तक़लीफ़ की वजह से तो छोड़कर नहीं जा रहे?'' यह उसने जिस स्वर में कहा, वह हेडमास्टर व्हिसलर का वह स्वर नहीं था

जिसे सुनने के कान आदी थे–'एऽऽ, क्या कर रहे हो तुम वहाँ?' वाला चाबुकाना स्वर। मगर अलग-सा होते हुए भी वह स्वर मेरे लिए बिलकुल अपरिचित नहीं था। तीन साल पहले उसी सोफ़े पर हुई बातचीत में वह स्वर पहले भी इस्तेमाल हो चुका था। उसमें अधिकार का दावा और रुतबे का अलगाव तो था, पर साथ अपनी जगह से थोड़ा नीचे उतरकर एक परिस्थिति को स्वीकार करने की मजबूरी भी थी। इस बार मजबूरी का कारण था कि मेरी नियुक्ति डी.पी.आई. के सुझाव से हुई थी, क्योंकि स्कूल में हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था से शिक्षा-विभाग सन्तुष्ट नहीं था। मेरी नियुक्ति के बाद वह व्यवस्था ठीक हो गई मान ली गई थी, क्योंकि मुझे नौकरी दिलाकर डी.पी.आई. को मुझसे अनुवाद का कुछ व्यक्तिगत काम कराना था।

"मुझे यहाँ रहकर तक़लीफ़ क्या हो सकती थी?" मैंने उसकी असुविधा में रस लेते हुए कहा, "हम लोग यहाँ एक परिवार की तरह रहते हैं। फिर मैं यह भी जानता हूँ कि जितनी सुविधाएँ मुझे यहाँ प्राप्त हैं, उतनी और किसी स्कूल की नौकरी में नहीं मिल सकतीं।"

उसका हाथ अपनी टाई के निचले सिरे से सरकता हुआ उसकी गाँठ तक पहुँच गया था। ये दोनों बातें तीन साल पहले उसी ने मुझसे कही थीं। कुछ उसी तरह अपनी टाई से खेलते हुए उसने मुझे उस नौकरी की विशेषताएँ बतलाई थीं। कहा था कि तीन सौ लड़कों और स्टाफ़ के साठ सदस्यों को मिलाकर वह तीन सौ साठ व्यक्तियों का एक परिवार है। उस परिवार में सब लोग एक-सा खाना खाते हैं और एक-सी सुविधा के साथ रहते हैं। फिर यह बात लाने के बाद कि तनख़्वाह के अलावा यहाँ मुझे पूरा खाना और क्वार्टर फ्री मिलेगा, बिजली और जमादार का ख़र्च स्कूल देगा, सर्दियों में कोयले की सप्लाई मुफ़्त होगी, उसने मुझे एक विशेष सुविधा भी दी थी। 'देखो एक अकेले आदमी को स्कूल से सिर्फ़ बैचलर क्वार्टर ही मिल सकता है। फैमिली क्वार्टर हम उन्हीं को देते हैं जो विवाहित हैं। अगर किन्हीं विवाहित मास्टरों की पत्नियाँ स्कूल में नौकरी नहीं करतीं, तो उन्हें भी रिहायश के बदले में स्कूल का कुछ-न-कुछ काम करना पड़ता है। जैसे रोज़ है, सीनियर मास्टर मिस्टर व्हिटमैन ब्राइट की पत्नी। वह यहाँ फूलों की देखभाल करती है। मगर तुम्हें यहाँ आने पर वही क्वार्टर मिल जाएगा जो तुमसे पहले हिन्दी मास्टर शिवचन्द नरूला के पास था। इस तरह अकेले लोगों में तुम्हीं एक होगे जिसके पास बड़ा फैमिली क्वार्टर होगा। कल को कोई और अकेला आदमी मुझसे यह सुविधा चाहे, तो मैं उसे नहीं दूँगा।" इस बात का पता मुझे वहाँ आने के बाद चला था कि शिवचन्द नरूला वाला क्वार्टर कोई और वहाँ लेने को तैयार ही नहीं था। एक तो इसलिए कि वह क्वार्टर स्कूल से बहुत दूर पड़ता था, दूसरे इसलिए कि कोहली की बीमार बीवी का पड़ोस किसी को पसन्द नहीं था।

मेरी बात में कहीं एक नोक है, यह उसे महसूस हो गया था। उसका हाथ अब टाई की गाँठ से नीचे की तरफ़ उतर रहा था। आगे कुछ भी कहने से पहले वह थोड़ी देर रुका रहा। जैसे कि अभी मेरे मुँह से और भी कुछ सुनने की उसे आशा हो। एक उड़ती नज़र उसने खिड़की की तरफ़ डाल ली। एक गंजा गोरा सिर खिड़की के पास से निकल गया। खोपड़ी की बनावट और पैरों की ठप्-ठप् से स्पष्ट था कि वह जेम्स है। टोनी के माथे पर हलकी-सी त्योरी आई जो अगले ही क्षण साफ़ हो गई। "तो क्या तुम्हारे पास इतने साधन हैं कि तुम बग़ैर नौकरी के गुज़ारा कर सको?" उसने आँखों से मुझे तौलते हुए पूछा।

"ऐसा होता, तो मैं अपने त्यागपत्र में यही कारण लिख सकता था," मैंने कहा। "यह आप भी जानते हैं कि मेरे जैसा आदमी कभी इतने साधन नहीं जुटा सकता।"

"तो फिर नौकरी छोड़कर तुम करना क्या चाहते हो?" वह थोड़ा बेसब्र हो गया। "साधन तुम्हारे पास हैं नहीं, दूसरी नौकरी तुम करोगे नहीं, तो क्या तुम सिर्फ़ बेकारी का मज़ा लेने के लिए ही ये क़दम उठाना चाहते हो? अब तुम शादीशुदा आदमी हो। क्या अपनी पत्नी से तुमने इस विषय में राय ले ली है?"

मैं पहली बार थोड़ा अव्यवस्थित हुआ। अपने चेहरे पर फैलती सुर्ख़ी को वश में रखने की चेष्टा करते हुए मैंने कहा, "आप शायद जानते हैं कि वह इन दिनों यहाँ नहीं है।"

"जानता हूँ," उसके स्वर में ठीक जगह को छू लेने का विश्वास आ गया। "इसीलिए तुमसे पूछा रहा हूँ।"

"देखिए, यह मेरा व्यक्तिगत मामला है, इसलिए..."

"हाँ-हाँ, मैं जानता हूँ कि यह तुम्हारा व्यक्तिगत मामला है।" वह पल-भर चुप रहा। जैसे मेरी कही बात से किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की कोशिश कर रहा हो। फिर बोला, "पर इसके बावजूद मैं तुमसे एक बात पूछ लेना चाहता हूँ।" उसकी एक बाँह सोफ़े की पीठ पर फैलकर मुझसे छह-आठ इंच दूर तक आ गई। "मैं जानता हूँ कि मुझे पूछने का हक़ नहीं है, फिर भी एक हितचिन्तक होने के नाते पूछ लेना मेरा फ़र्ज़ है।...तुम्हारी विवाहित ज़िन्दगी तो ठीक चल रही है न?"

मुझे पता था वह इसी बात पर आ रहा है। मेरे और शोभा के बीच जो कुछ घटित होता रहा था, उसे दीवार के उस तरफ़ से देखने वाली कोहली की आँखें कितनी दीवारों के अन्दर तक उसका समाचार पहुँचा आई होंगी, इसका अनुमान मैं लगा सकता था। पर पहले से उस प्रश्न के लिए तैयार होने के कारण मैं तब तक थोड़ा सँभल गया था। स्वर में कुछ अतिरिक्त रूखापन लाकर मैंने कहा, "मेरे त्यागपत्र के साथ इस बात का क्या सम्बन्ध है, मैं समझ नहीं सका।"

उसका हाथ जो थोड़ा और आगे बढ़ आने को था, सहसा पीछे हट गया। उसकी आँखें भी मेरे चेहरे से हटकर दूसरी तरफ़ व्यस्त हो गईं। ''कई बार होता है सम्बन्ध,'' उसने जैसे मुझसे नहीं, किसी तीसरे व्यक्ति से कहा, ''मुझे एकाध ऐसे केस का पता है। मेरा मतलब इतना ही था कि अगर कोई वैसी बात हो, तो स्कूल की कोई दिलचस्पी नहीं। आदमी अपना काम ठीक से करता रहे, तो स्कूल के लिए सबकुछ ठीक है।''

'यह बात यह मुझसे कह रहा है या अपने से?' मैंने सोचा। उसके चेहरे से एकसाथ कई बातें सोचने का-सा भाव झलक रहा था। अचानक उसने अपनी कलाई की घड़ी को दीवार-घड़ी से मिलाकर देखा और उतारकर चाबी देने लगा। ''तुम समझ गए हो न, मैं क्या कह रहा हूँ?'' उसने जैसे अपने विचारों के गुंझल से निकलने की चेष्टा करते हुए पूछा।

मैंने हलके से आँखें झपक लीं और सीधी नज़र से उसे देखता रहा।

''स्कूल एक संस्था है,'' वह कुछ देर रुका रहने के बाद बोला, ''और संस्थाएँ व्यक्तियों से चलती हुई भी व्यक्तियों पर निर्भर नहीं करतीं। अपनी जगह के लिए एक आदमी बहुत अनुकूल हो सकता है, पर किसी भी जगह के लिए कोई आदमी अनिवार्य नहीं होता। फिर भी एक अनुकूल आदमी अपनी जगह से उखड़ रहा हो, तो उसे समय से सचेत कर देना ग़लत नहीं है। तुम चाहो, तो तीन-चार सप्ताह और सोच लो। छुट्टियों से तीन दिन पहले भी तुम मुझे अन्तिम रूप से बता दोगे, तो...''

''मैं दूसरा कुछ सोचूँगा, तो आपको बता दूँगा। अगर नहीं बताता, तो आप यही मानकर चलिए कि मैं छोड़कर जा रहा हूँ।'' तीन-चार सप्ताह और सोचने में जो अनिश्चय की स्थिति रहती, उसकी कल्पना ने ही मुझे अन्दर से सिहरा दिया था। उस समय तक मन में अपने को उस वातावरण से जुड़ जाने की सम्भावना से और गहरी उदासी मन में छा जाती। अगले साल वहाँ न रहने की बात मैं इस हद तक मन में स्वीकार कर चुका था कि टी ब्रेक के बाद कामन रूम में अकेले खड़े होकर जिस स्थिति की कल्पना की थी, उससे अलग, अपने समेत, वहाँ की स्थिति की कल्पना मेरे लिए एक वास्तविकता रह ही नहीं गई थी। अपने वहाँ न होने के स्थान पर होने की चुभन—मैं यह विकल्प ही सामने नहीं रखना चाहता था।

टोनी व्हिसलर के चेहरे की सुर्ख़ी में हलकी स्याही घुल गई। आँखों में वह कठोर भाव घिर आया जो दूसरी ओर से हलके-से प्रतिरोध को भी सहन नहीं करता था। उस भाव की तीव्रता कुछ महीने पहले मैंने एक स्टाफ़ मीटिंग में देखी थी। वह मीटिंग विशेष रूप से बुलाई गई थी क्योंकि स्टाफ़ के ग़ुसलख़ाने का कमोड किसी ने गन्दा कर दिया था। इसका पता सबसे पहले पार्कर को ग़ुसलख़ाने में जाने पर चला था और उसी ने उसे साथ ले जाकर दिखा दिया था। मीटिंग में वह आपे से बाहर होकर

चिल्लाता रहा था कि 'वे लोग' जिन्हें 'हमारी' चीज़ों का इस्तेमाल करना नहीं आता, अपने को उन चीज़ों से दूर ही रखा करें। 'हम' और 'वे' ये दो श्रेणियाँ थीं जिनमें उसने अपने आस-पास की सारी दुनिया को बाँट रखा था। 'हम'—अर्थात् स्कूल के गोरे-अधगोरे मास्टर और मैट्रनें, मेज़-कुर्सियाँ, कमोड, टायलेट पेपर और बाहर से आनेवाली आधी दर्जन पत्रिकाएँ। 'वे'—अर्थात् हिन्दुस्तानी मास्टर और उनकी पत्नियाँ, मज़दूर, चपरासी, रिक्शावाले और लड़कों के माँ-बाप, डी.पी.आई. और शिक्षा-विभाग, किचन, पैंट्री और वे कुत्ते-बिल्ले जो स्कूल की सीमाओं में दाख़िल होकर गन्दगी फैला जाते थे।

"तो ठीक है। मैं तुम्हारा त्यागपत्र मंजूर कर रहा हूँ," कहता हुआ वह सोफ़े से उठ खड़ा हुआ। मैं भी साथ ही खड़ा हो गया। "मगर साथ ही मैं तुम्हें एक चेतावनी दे देना उचित समझता हूँ। अगर तुम्हारा इरादा सचमुच चले जाने का है, तब तो कोई बात ही नहीं है, पर अगर इसके पीछे कोई और चीज़ है, तो तुम्हें याद रखना चाहिए कि टोनी व्हिसलर किसी भी तरह की उलटी-सीधी हरकतों को बरदाश्त नहीं करता। वह जब तक यहाँ हेडमास्टर है, तब तक सबकुछ उसी तरह चलेगा जैसे कि अब तक चलता आया है। उसके जाने के बाद लोग इस स्कूल का क्या करेंगे, वह नहीं जानता। लेकिन फ़िलहाल उसका जाने का कोई इरादा नहीं है।"

मैं अपना ग़ुस्सा पीकर पल-भर चुपचाप उसे देखता रहा। फिर मैंने आहिस्ता से कहा, "मैं आपका मतलब नहीं समझ सका।"

"मुझसे इस तरह मासूमियत के साथ बात करने की ज़रूरत नहीं," वह अपनी कुर्सी पर लौटता हुआ उबल पड़ा, "मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि स्कूल में कौन कहाँ क्या कर रहा है, क्या सोच रहा है। स्कूल के बाहर से जो लोग यहाँ अपना जाल बिछा रहे हैं, उन्हें भी अच्छी तरह जानता हूँ। मगर मैं उनमें से किसी की भी परवाह नहीं करता। मैं जब तक यहाँ हूँ, उनमें से कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। मेरा ख़याल है अब तुमने मेरा मतलब समझ लिया होगा।" काँपते हाथ से अपनी ट्रे में से कुछ काग़ज़ निकालकर उसने सामने रख लिए।

"मैं अब भी नहीं समझ सका," मैंने फिर उसी तरह कहा।

"तुम समझ सके हो या नहीं, मैं इसकी छानबीन में नहीं पड़ना चाहता। समझ सके हो, तो भी तुम्हारे हक़ में अच्छा है और नहीं समझ सके हो, तो भी तुम्हारे ही हक़ में अच्छा है। कुछ लोग अपने को भुलावे में रखने के लिए अफ़वाहें फैलाते रहते हैं कि मैं स्कूल छोड़कर यहाँ जा रहा हूँ, वहाँ जा रहा हूँ—या कि मुझे ऊपर से इस चीज़ के लिए मजबूर किया जा रहा है, उस चीज़ के लिए मजबूर किया जा रहा है। मैं उन सब लोगों पर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि न तो मैं कहीं जा रहा हूँ और न ही मुझे किसी चीज़ के लिए मजबूर किया जा सकता है। तुम्हारा हिसाब मैंने तैयार

करा दिया है। पहले सोचा था कि छुट्टियों की तनख़ाह समेत पूरी रक़म का चेक देकर आज ही तुम्हें विदा दे दी जाए, पर बाद में तय किया है कि तुम टर्म पूरी करके ही यहाँ से जाओगे। उस तरह देख भी लोगे कि स्कूल में गड़बड़ करनेवालों को आख़िर हासिल क्या होता है।...तुम्हें अब कुछ कहना तो नहीं है?''

''अपनी तरफ़ से मुझे कुछ भी नहीं कहना है। लेकिन आपने जो बात कही है...''

''मैंने जो बात कही है, उसके बारे में मैं किसी तरह की टिप्पणी नहीं सुनना चाहता। मैं यह हक़ किसी को नहीं देता—अपनी पत्नी तक को नहीं—कि वह मेरी किसी बात पर टिप्पणी कर सके। तुम अब जा सकते हो।''

''देखिए, मिस्टर व्हिसलर...''

''मुझे देखना कुछ नहीं है। मैंने तुमसे कहा है कि तुम अब यहाँ से जा सकते हो।''

''मिस्टर व्हिसलर!'' मेरा स्वर इतना ऊँचा हो गया कि वह कुछ पल चुप रहकर आँखें झपकता मुझे देखता रहा। फिर दोनों हाथ मेज़ पर रखे तमतमाए चेहरे के साथ कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। ''तुम कहना क्या चाहते हो?'' उसने पूछा।

''मैं सिर्फ़ इतना कहना चाहता हूँ कि आपको मुझसे इस तरह बात करने का कोई हक़ नहीं।''

''तो तुम्हारा मतलब है कि...तुम्हारा मतलब है कि...?'' उसका स्वर काँपने लगा। वही गंजा गोरा सिर फिर खिड़की के पास से निकल गया।

मैं पल-भर सीधे उसकी आँखों में देखता चुप रहा। फिर मैंने कहा, ''मेरा मतलब है कि आपको किसी से भी इस तरह बात करने का हक़ नहीं है।'' और उसके कमरे से निकलकर ऑफ़िस में आ गया। वहाँ बुधवानी, पार्कर और गिरधारीलाल पहले से ज़्यादा जड़ होकर अपनी-अपनी मेज़ पर झुके थे। पार्कर मेरे आते ही एक फ़ाइल लेकर अन्दर चला गया। मुझे अपने बीच से दूसरे दरवाज़े की तरफ़ जाते जैसे उनमें से किसी ने देखा ही नहीं। मैं बाहर बरामदे में आया, तो सामने ही जेम्स पर नज़र पड़ गई। वह ठप्-ठप्-ठप् जूते की एड़ियाँ पटकता मेरे साथ-साथ कामन रूम की तरफ़ चलने लगा।

''बहुत ज़ोर से चिल्ला रहा था वह!'' उसने मेरे कन्धे-से-कन्धा मिलाए धीमी आवाज़ में कहा।

मैं चुप रहकर चलता रहा।

''चेरी ने इसकी गरदन दबोच रखी है न, उसी से यह इतना हताश हो रहा है।''

मैंने फिर भी कुछ नहीं कहा।

''तुम मिसेज़ ज्याफ़्रे की बात सुन रहे थे न आज? मेरा ख़याल है इसकी बीवी ने भी इसे नोटिस दे रखा है।''

"तुम उस समय कहाँ थे?" मुझे याद था कि जब मिसेज़ ज्याफ्रे बात कर रही थी, वह कामन रूम में नहीं था।

वह अपने पीले दाँत उघाड़कर मुस्कुरा दिया। "मैं वहीं पास में ही था। तुम्हारा क्या ख़याल है वह ले जाएगी इसे अपने साथ इसी साल?"

"मुझे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है," मैंने कुछ उकताहट के साथ कहा, "तुम्हें अगर पता न हो, तो मैं तुम्हें बतला दूँ कि मैंने यहाँ से त्यागपत्र दे दिया है।"

वह उसी तरह मुस्कुराता रहा। "मुझे पता चल गया है। यही एक तरीक़ा था जिससे तुम इसे सीनियर ग्रेड देने के लिए मजबूर कर सकते थे। अब देख लेना, इसे झख मारकर ग्रेड देना पड़ेगा तुम्हें। नहीं तो...।"

कामन रूम के अन्दर पहुँच जाने से सहसा उसे चुप हो जाना पड़ा। वहाँ मिसेज़ ज्याफ्रे एल्बर्ट क्राउन से बात कर रही थी–"ज़्यादा-से-ज़्यादा अगली गर्मियों तक...।" हमें आते देखकर वह भी चुप हो गई।

# सहयोगी

रात को स्टिवर्ड चार्ल्टन की काटेज के बाहरी कमरे में हम तीन आदमी बैठे थे... चार्ल्टन, लैरी जो और मैं। खिड़कियाँ-दरवाज़े सब बन्द करके बुखारी में आग जला दी गई थी जिससे कमरा काफ़ी गरम था। फिर भी मैं चाह रहा था कि बाहर की हवा के लिए कहीं कोई दरार छोड़ दी गई होती, क्योंकि चेरी ने सिगार फूँक-फूँककर इतना धुआँ कमरे में भर दिया था कि अपने समेत सबकुछ उस कसैली गंध में घुटा-घुटा लग रहा था।

"देखो, वह कुतिया अब तक नहीं आई," चेरी ने राख का मोटा-सा लोंदा ऐश-ट्रे में झाड़ते हुए कहा और अपनी दोहरी ठोढ़ी छाती पर झुकाए फिर से कश खींचने लगा। लैरी आँखें मूँदकर बाँहें सिर पर रखे गम्भीर भाव से कुछ सोच रहा था। उसने उसी मुद्रा में अपने होंठ वितृष्णा से हिला दिए। मैं प्लेट से सीख-कबाब का एक टुकड़ा उठाकर धीरे-धीरे चबाने लगा।

शाम को लैरी ने मुझसे अपने यहाँ आने को कहा था, तो मुझे इस पूरे आयोजन का पता नहीं था। स्कूल से चलते समय उसने कुछ उसी तरह मुझे रात को अपने

यहाँ पीने आने की दावत दी थी जैसे पहले दिया करता था...हर महीने की पहली के आस-पास। इस बार इतना अन्तर ज़रूर था कि पहली तारीख़ बहुत पीछे छूट चुकी थी। मैंने सोचा था कि इस बार भी वह हमेशा की तरह मद्रास के दिनों के अपने प्रेम-सम्बन्धों की चर्चा करेगा, पर उसके यहाँ पहुँचने पर पता चला कि कार्यक्रम चेरी के क्वार्टर में है। ''मैंने स्कूल में तुमसे ज़िक्र करना उचित नहीं समझा,'' उसने कहा, ''किसी के कान में बात पड़ जाती, तो तुम्हारे लिए ख़ामख़ाह की परेशानी हो जाती। चेरी चाहता है कि तुम्हारे त्यागपत्र को लेकर जो नई स्थिति पैदा हो गई है, उस पर हम लोग आपस में बात कर लें। वह खुद तुमसे कहना चाहता था, पर मैंने ही उसे मना किया था कि वह बात न करे, मैं तुम्हें अपने यहाँ बुलाकर साथ लेता आऊँगा। तुम्हें कोई एतराज़ तो नहीं?''

मुझे एतराज़ था, पर उस वक़्त उस एतराज़ की बात करना बेमानी था। मैं चुपचाप उसके साथ चेरी के क्वार्टर में चला आया था। वह क्वार्टर एक पहाड़ी की ऊँचाई पर बिलकुल अलग-थलग बना था, इसलिए चेरी उसे क्वार्टर न कहकर अपना काटेज कहा करता था। उस क्वार्टर की तरफ़ जाते व्यक्तियों को नीचे स्कूल की सड़क से देखा जा सकता था, इसलिए अँधेरा होने के बावजूद मेरी आँखें बार-बार उस तरफ़ मुड़ जाती थीं। बर्फ़ानी हवा और पगडंडी की बर्फ़-मिली मिट्टी से ज़्यादा मैं उस तरफ़ की आहटों के प्रति सचेत था। मुझे लग रहा था कि दोपहर को टोनी व्हिसलर की जिस बात से मुझे ग़ुस्सा आया था, उसे कुछ ही घंटे बाद चेरी के क्वार्टर में जाकर मैं एक तरह से सच साबित कर रहा हूँ। आस-पास की झाड़ियों और ढलान पर उगे पेड़ों के बीच से कुछ साये जैसे मुझे उस पहाड़ी पर ऊपर जाते देख रहे थे और मैं कोट के कालर ऊँचे किए अपने को उन द्वारा पहचाने जाने से बचा लेना चाहता था। लैरी मुझसे आगे-आगे चल रहा था, इसलिए भी मैं अपने को उस रास्ते पर काफ़ी अनढका-सा महसूस कर रहा था। पर लैरी को इसका कुछ एहसास नहीं था। वह इतना ही जानता था कि मैंने चुपचाप मुस्कुराकर उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था।

चेरी के क्वार्टर में पहुँचने पर पता चला कि लारा वहाँ नहीं है।

''उसकी माँ की तबीयत ठीक नहीं थी, वह उसे देखने के लिए गई है,'' चेरी ने कमरे में दाख़िल होते ही बताया, ''उसने कहा था कि मैं उसकी ओर से तुमसे क्षमा माँग लूँ।'' मगर यह बात सच नहीं थी। वहाँ आने के थोड़ी ही देर बाद मुझ पर स्पष्ट हो गया कि चेरी ने जान-बूझकर उसे वहाँ से भेज दिया है। स्कूल में यह बात प्रायः सुनी जाती थी कि शादी के बाद भी चेरी किंडरगार्टन की मिसेज़ दारूवाला से अपना सम्बन्ध बनाए है और कि जब भी लारा घर से जाती है, चेरी मिसेज़ दारूवाला को अपने यहाँ बुला लेता है। उस दिन भी मिसेज़ दारूवाला वहाँ निमन्त्रित

थी, हालाँकि हम लोगों को पहुँचे डेढ़ घंटा हो गया था और वह अब तक आई नहीं थी।

बातचीत की शुरुआत लैरी ने की थी। कहा था कि अब मौक़ा आ गया है जब हम लोगों को मिलकर हेडमास्टर के ख़िलाफ़ अपना मोर्चा बना लेना चाहिए। जब वह पहला पेग पी रहा था, तो उसका ख़याल था कि मैंने त्यागपत्र देकर बहुत साहस का काम किया है। पर तीसरे पेग के बाद वह मेरा कन्धा हिलाता हुआ कहने लगा था कि मैं बहुत डरपोक आदमी हूँ...अगर मुझमें साहस होता, तो मैं चेरी की तरह डटकर उस आदमी से लोहा लेता। ''त्यागपत्र देने का क्या है? एक चपरासी भी त्यागपत्र दे सकता है। गुरदा चाहिए लड़ने के लिए। मुझे अफ़सोस है कि तुम्हारे पास वह गुरदा नहीं है।''

लैरी की बातों से मुझे पता चल गया था कि जेम्स ने मेरे त्यागपत्र की बात पूरे स्कूल में फैला दी है—यहाँ तक कि शाम की चाय के समय यह बात लड़कों की ज़बान पर भी थी। लैरी ने कुरेद-कुरेदकर मुझसे पूछने की कोशिश की कि मेरे निर्णय का वास्तविक कारण क्या है और कि हेडमास्टर ने इस चीज़ को लेकर मुझसे क्या बात की है। मैं उस कमरे में आने के बाद से ही मन में इतना कुढ़ गया था कि उसके हर सवाल को मैंने एक मुस्कुराहट के साथ टाल दिया। संक्षेप में इतना बता देने के बाद कि मुझे अब इस नौकरी में दिलचस्पी नहीं रही, उसकी गेंद को हर बार वापस उसी की तरफ़ उछाल दिया। ''तुम बताओ, तुम क्या सोचते हो इस बारे में?'' लैरी आख़िर थककर और शायद अपनी ही रट से ऊबकर कुछ देर के लिए ख़ामोश हो गया।

चेरी शुरू से ही ख़ामोश था। मेरा ध्यान बार-बार उसके भारी पेट पर कसे जैकेट की तरफ़ चला जाता था जिसके बटन बुरी तरह खिंचे हुए थे। तब तक उसके व्यक्तित्व की जो छाप मेरे मन पर थी, उस समय वह उससे काफ़ी भिन्न लग रहा था। यह वह मुँहफट और दबंग आदमी नहीं था जो किचन, पैंट्री और डाइनिंग हॉल के इलाक़े में दूसरे हेडमास्टर की तरह कहता घूमता था, ''मुझसे क्या बात करेगा कोई? मुझसे इनमें से किसी का कुछ छिपा है?'' और जिसके कमरे में हर समय टेलीफ़ोन पर मांस-मच्छीवालों से की जानेवाली इस तरह की बातचीत सुनाई देती थी, ''एक पूरा बकरा ख़राब है...यह क्या भेजा है तुमने? ऐसा मांस तो कुत्तों के खाने लायक़ भी नहीं है, हरामख़ोर, तुमने समझ क्या रखा है? यह तंदूर है या ढाबा? पता है यहाँ एक-एक लड़के से महीने का दो-दो सौ रुपया लिया जाता है? उसके बदले में मैं उन्हें यह बकरा खाने को दूँ? तुम दूसरा बकरा जल्दी से भेजो अपने आदमी के हाथ। वह भी ठीक न हुआ, तो तुम्हारे आदमी को ही काटकर चढ़ा दूँगा आज। और कल मुझे तीन सूअर चाहिए। तुम्हारी तरह पले हुए। आ गया समझ में? आ

गया कि नहीं?'' इसके अलावा वह राह चलते किसी के भी कन्धे पर हाथ मारकर कह सकता था, ''क्यों पट्ठे, बताओ क्या खाओगे आज शाम को?'' और अपेक्षा रखता था कि उसके बनवाए पानी की शक्ल के स्टू से लेकर डंठलों समेत उबली गोभी तक–हर चीज़ की उसके सामने प्रशंसा की जाए। प्रशंसा सुनकर उसका चेहरा एक उदार मुस्कुराहट से खिल जाता था। ''गोभी कल शाम मैंने तुम्हारे लिए स्पेशल बनवाई थी। मुझे पता है तुम्हें गोभी बहुत पसन्द है।'' लोग उससे ज़्यादा बात करने से अक्सर बचते थे, पर ख़ास मुश्किल उस समय पड़ती थी जब हेडमास्टर से डाँट खाकर वह अपना गुबार निकालने के लिए कामन रूम में चला आता था। ''पता है आज सूअर के उसने मुझसे क्या कहा है? कहता है खाना दिन-ब-दिन बदज़ायका होता जा रहा है। कोई पूछे इस बन्दर की औलाद से कि खाना यहाँ हेडमास्टर लगने से पहले इसने कभी खाया भी था? वहाँ मद्रास में मिलता क्या था इसे? रसम् और तक्रम्? डंटल चूसते यहाँ आकर हड्डियाँ चूसने को मिल गई, तो बड़ा जानकार हो गया यह खाने का! जानता नहीं कि हम तो पैदा ही मुर्गे के शोरबे में हुए हैं। बीस साल का तजुर्बा है मेरा इस काम का। जिन दिनों कलकत्ता के ग्रैंड होटल में मुझे सात सौ तनख़्वाह मिलती थी, उन दिनों इसे तीन सौ भी नहीं जुटते होंगे मास्टरी के। पहला हेडमास्टर चाहे पादरी था, पर उसे तमीज़ थी खाने-पीने की। उसके ज़माने में कभी कोई पार्टी होती थी यहाँ बग़ैर ब्रांडी-व्हिस्की के? पर यह नीरे की औलाद, न खुद पीता है न दूसरों को पीने देता है। बस पार्टी के बाद भेज देता है अपने बैरे को कि जितना सामान बचा हो, उठाकर ले आए। सुबह बुला लेता है हिसाब चेक करने। मैं कहता हूँ कर ले हिसाब चेक, मैं एक-एक पैसे का ख़र्चा लिखकर रखता हूँ अपने पास। तुझे जिस-जिस चीज़ का बिल चाहिए, उसका बिल ले ले। कुछ और चाहिए तो वह भी ले ले। मुझे क्या पता नहीं कि यह सारी साज़िश किस चीज़ की है? यह उसे लगाना चाहता है स्टिवर्ड अपनी मदाम जाफरी को (मिसेज़ ज्याफ्रे का चेरीकरण) जिससे लड़कों के माँ-बाप का ख़ून चूस-चूसकर ये अपने ग्लैंड्स में भर लें। मैं कहता हूँ मैंने न कर दिया पंक्चर तुम्हारा एक-एक ग्लैंड तो कहना। दिखाते फिरोगे एक-दूसरे को कि देखो चेरी ने क्या कर दिया है। इन्हें पता नहीं कि चेरी की पहुँच इनके भी माई-बापों तक है। मैंने एक बार वहाँ जाकर कर दी न रिपोर्ट तो हड्डियों की सब गाँठें ढीली हो जाएँगी।''

ज़्यादातर बातें वह काली चमड़ी के रिश्ते से हिन्दुस्तानी मास्टरों के सामने और हिन्दी में ही कहता था। एक बार कोहली ने उसे इस तरह खुलेआम बक-झक करने से टोक दिया था, तो पन्द्रह दिन उसके यहाँ खाना जाता रहा था जो बैरे-चपरासियों का हिस्सा देकर बच जाया करता था। यह बात भी चेरी ने किसी से छिपा नहीं रखी थी कि वह कोहली को दब्बूपन की सज़ा दे रहा है। ''मैं कहता हूँ क्या करेगा वह

यह अच्छा खाना खाकर? गुर्दे में जो सत ईसबगोल भरा है, उससे सब निकल जाता है बाहर। इसलिए कुछ दिन ऐसा खाना खा ले जिससे इसका सत ईसबगोल थोड़ा कम हो जाए।''

पर उस समय व्हिस्की का आधा गिलास हाथ में लिए अपनी कुर्सी पर फैला वह एक मार खाए साँड की तरह साँस ले रहा था। मुझे लग रहा था कि उसने एक बार कुछ लम्बी साँस खींच ली, तो जैकेट का एकाध बटन ज़रूर टूट जाएगा।

''तो?'' लैरी सिर से हाथ हटाकर सीधा हो गया।

''तो क्या?'' मैंने पूछा।

''तुम इस हक़ में बिलकुल नहीं हो कि कल हम तीनों—और अगर मिसेज़ दारूवाला भी चलने को तैयार हो, तो चारों...जाकर डी.पी.आई. से मिल लें? तुम्हें नौकरी छोड़नी ही है, तो इससे तुम्हारा कुछ बिगड़ नहीं जाएगा। मगर दूसरों का, जो यहाँ रहना चाहते हैं इससे थोड़ा भला हो सकता है। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हारे मन में डर किस चीज़ का है।''

''मेरे मन में डर किसी चीज़ का नहीं है,'' मैंने कहा, ''मगर मेरे छोड़ने का कारण क्योंकि बिलकुल व्यक्तिगत है, इसलिए...''

लैरी वितृष्णा के साथ हँस दिया, ''मैं समझ गया तुम्हारी बात।''

''मैं नहीं जानता कि तुम क्या समझ गए हो, लेकिन...।''

''मैं बिलकुल समझ गया हूँ। मेरा ख़याल है चेरी भी ज़रूर समझ गया होगा। क्यों चेरी, तुम समझ नहीं गए इसकी बात?''

चेरी के गले से जो आवाज़ निकली, वह ऐसी थी जैसे एक गाली में से व्यंजन निकालकर केवल स्वर रहने दिए गए हों। ''मैं पहले ही समझ रहा था,'' उसने कहा, ''मैंने तुमसे कहा नहीं था कि मामला कुछ दूसरा ही हो सकता है?''

''इसे पता नहीं है कि उस आदमी की मियाद यहाँ ख़त्म हो चुकी है,'' लैरी अपने गिलास में और व्हिस्की डालने लगा। फिर मेरी तरफ़ मुड़कर कुछ ऊँचे स्वर में बोला, ''तुम सुन रहे हो न मेरी बात? उस आदमी की मियाद यहाँ ख़त्म हो चुकी है। इसलिए उसकी जी-हुज़ूरी करने से तुम्हें कुछ फ़ायदा नहीं होने का।''

मैं अपना गिलास रखकर उठ खड़ा हुआ। ''मैं जा रहा हूँ,'' मैंने कहा, ''मुझे नहीं पता था कि तुम लोगों ने इस सबके लिए मुझे यहाँ बुलाया है।''

लैरी भी साथ ही उठ खड़ा हुआ, ''देखो सक्सेना,'' वह मेरी बाँह थामकर बोला, ''तुम्हें यह बताकर जाना होगा कि तुम हमारे दोस्त हो या दुश्मन।''

''मैं नहीं जानता,'' मैंने बाँह छुड़ाने की कोशिश की। लेकिन उसने बाँह नहीं छोड़ी। ''मैं तो समझता था कि...''

''तुम हमारे दोस्त हो,'' लैरी के हाथ की जकड़ और मज़बूत हो गई। ''दोस्त होने के नाते तुम्हारा फ़र्ज़ है कि तुम हमारा साथ दो। तुम हमारा साथ देने से इनकार नहीं कर सकते।''

''देखो लैरी...''

''तुम बैठकर बात करो। मैं इस तरह तुम्हें यहाँ से नहीं जाने दे सकता।'' उसने मुझे ज़बरदस्ती फिर कुर्सी पर बिठा दिया। ''तुम यह तो मानते हो न कि टोनी व्हिसलर को जितना मैं जानता हूँ, उतना यहाँ तुम लोगों में से कोई नहीं जानता?''

यह दावा वह पहली बार नहीं कर रहा था। कुछ साल पहले वह और टोनी व्हिसलर मद्रास में एक स्कूल में साथ पढ़ाते थे। उसी आधार पर टोनी उसे यहाँ लाया भी था। पर उसके आने के एक-डेढ़ महीने के अन्दर ही यह बात दोनों पर स्पष्ट हो गई थी कि जिस रूप में वे पहले एक-दूसरे को जानते थे, वह रूप अब दोनों में से किसी का नहीं रहा। एक-दूसरे की अपेक्षाएँ भी वे पूरी नहीं कर सकते थे। इससे पैदा हुई निराशा के कारण ही लैरी की उन सब लोगों से घनिष्ठता हो गई थी जो टोनी के विश्वासपात्र नहीं थे—और उनमें भी सबसे ज़्यादा चेरी से।

लैरी इसी तरह का सवाल पूछकर जब कुछ क्षण उत्तर सुनने की प्रतीक्षा में रुका रहता था, तो उसका चेहरा, उभरी हुई आँखों समेत, प्लास्टर ऑफ़ पेरिस के एक बुत-जैसा लगने लगता था। फिर अपने आप जैसे लोगों की आँखों से ही उत्तर पाकर, वह प्लास्टर पिघल जाता था। ''तो मैं तुम्हें बतला रहा हूँ कि उसके यहाँ रहने का समय अब चुक गया है। जिस तरह यहाँ आकर एकदम यह इस रुतबे पर पहुँच गया है, उसी तरह एकदम अब इससे नीचे गिरनेवाला है। मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह रहा हूँ। तुम्हें मुझ पर ज़रा भी भरोसा है, तो तुम्हें भी इस बात पर पूरा विश्वास हो जाना चाहिए। तुम देख लेना...इसमें ज़्यादा वक़्त नहीं लगेगा। मद्रास में तो हम इसे बहुत अक़्लमन्द आदमी भी नहीं समझते थे। सचमुच बहुत मामूली दिमाग़ का आदमी माना जाता था इसे। यह तो यहीं आकर इसने अपने लिए इतना ऊपर तक रास्ता बना लिया है। वहाँ होता, तो आज भी यह तीसरे और चौथे फ़ार्म की क्लासें ले रहा होता।''

चेरी ठोढ़ी ऊँची करके लगातार सिगार के कश खींच रहा था। कुछ देर खाँसने और मुँह में आया बलगम निगल जाने के बाद वह बोला, ''यह तो यहाँ हर आदमी जानता है कि अगले साल तक यह यहाँ हेडमास्टर नहीं रहेगा। सवाल सिर्फ़ इतना है कि इसे हटाने में क़ामयाब कौन होता है।''

''अगर हम लोग समय से कार्यवाही नहीं करते, तो यह निश्चित है कि वह स्त्री जो चीज़ चाहती है, वह कर ले जाएगी,'' लैरी ने उसकी बात पूरी कर दी।

वह किस स्त्री की बात कर रहा है, यह मुझे पूछने की ज़रूरत नहीं थी। स्कूल में जब भी कोई बातचीत में 'उस स्त्री' का ज़िक्र करता था, तो उसका मतलब मिसेज़

ज्याफ्रे से होता था। ज़्यादातर लोगों की आपसी बातचीत का विषय भी वही रहती थी। इस दृष्टि से स्कूल में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति वही थी। रहस्यमय भी। क्योंकि उसके अतीत को लेकर कई तरह की बातें लोगों से सुनने को मिल जाती थीं। एक बात जो सबसे ज़्यादा प्रचलित थी, वह यह थी कि मॉली क्राउन उसके पति की सन्तान नहीं है। ''मॉली आधी हिन्दुस्तानी है,'' कोहली कहा करता था, ''जब कि इसका पति इसकी तरह ख़ालिस अंग्रेज़ था। बीस साल यह एक राजकुमारी की गवर्नेस रही है। उसी ज़माने में सुना है कि... ।'' लोगों को मिसेज़ ज्याफ्रे का बीस साल पहले का इतिहास कहाँ से मालूम हुआ था, पता नहीं। पर बातें काफ़ी विस्तार के साथ कही जाती थीं। ''यह जिस महाराजा के यहाँ रहती थी, सुना है उसी ने इसके पति को ज़हर देकर मरवा दिया था। पार्टियों में देखते हो यह कितनी क़ीमती पोशाकें पहनकर आती है? वे पोशाकें तुम समझते हो इसने अपनी तनख़्वाह से बनवाई हैं?'' इसके अलावा भी कई तरह का ब्योरा उसके बारे में दिया जाता था। ''पता है वहाँ से इसे निकाला क्यों गया था? यह शिकार पर जाया करती थी महाराजा के एक दोस्त के साथ। एक बार ऐसा हुआ कि...''

''तुम्हें पता है वह स्त्री क्या खेल खेल रही है यहाँ?'' चेरी बोला।

मैंने कन्धे हिला दिए। मतलब था कि न मैं जानता हूँ, न मेरी जानने में दिलचस्पी है।

''वह अपनी जगह इस कोशिश में लगी है कि इसे उखाड़कर इसकी जगह एल्बर्ट को हेडमास्टर लगवा दे।''

''और टोनी इतना बेवकूफ़ आदमी है कि उसकी इस चाल को समझ ही नहीं रहा।'' लैरी अपना चेहरा मेरे इतने क़रीब ले आया कि उसकी साँस से बचने के लिए मुझे अपना सिर काफ़ी पीछे हटा लेना पड़ा। मेरी ख़ामोशी उन लोगों को एक तरह का बचाव लग रही थी जिसे वे किसी तरह तोड़ देना चाहते थे।

''वह तो समझता है कि वह स्त्री उसकी ख़ुफ़िया है जो यहाँ-वहाँ की सब ख़बरें उस तक पहुँचाती रहती है।''

''एल्बर्ट और मॉली को भी इस वजह से वह अपने आदमी समझता है।''

''पर यह स्त्री शतरंज की बिसात पर बड़ी सावधानी से एक-एक चाल चल रही है।''

''देखा नहीं कि गोरी चमड़ीवाले के बीच वह अंग्रेज़ बनकर बात करती है और काली चमड़ीवालों के बीच हिन्दुस्तानी बनकर?''

''यहाँ तक कि बैरों से भी इस तरह बात करती है जैसे कि वे भी इसके बहुत अपने हों–'किसने तुमको बुलाया इदर? मैंने बुलाया? किसने बोला'–छिनाल कहीं की!''

''तुम बताओ कि जब एल्बर्ट और मॉली एक बार चले गए थे लन्दन, तो इसने ख़ास कोशिश करके उन्हें यहाँ क्यों बुलाया था?''

''पिछले हेडमास्टर को पता था कि यह कितनी बदकार औरत है। तभी न उसने कपड़ों की धुलाई का काम इससे लेकर इसे किंडरगार्टन की इंचार्ज बना दिया था?''

''किंडरगार्टन में यह उस तरह कमीशन नहीं ले सकती न, जैसे धोबियों से लिया करती थी!''

''स्कूल की आधी चादरें और पर्दे उन दिनों हर साल सिकुड़ जाते थे या गुम हो जाते थे।''

''अगर इसे कमीशन मिल सकता, किंडरगार्टन के आधे लड़के भी हर साल गुम हो जाया करते।''

''इसीलिए स्कूल के पर्दों को छू-छूकर अब नाक-भौं चढ़ाती रहती है–'कैसी धुलाई होने लगी है आजकल यहाँ?' ''

''बड़ी बनती है सफ़ाईपसन्द! दुनिया-भर की गन्दगी ज़िन्दगी-भर पेट में भरती रही है!''

''उसे धोने के लिए ही तो पीती रहती है इतनी स्पिरिट!''

''और चेरी की जगह पर उसकी आँख किसलिए हैं? इसलिए न कि...?''

यहाँ पर चेरी ने उसे टोक दिया। ''उसे मिल जाए न इस महकमे का चार्ज, तो देख लेना हर महीने का ख़र्च कितना बढ़ जाता है।''

''मेरा मतलब यही था,'' लैरी ने जल्दी से अपनी ग़लती को सुधारा। ''उसे हर चीज़ में कमीशन लेने की लत पड़ी है, इसीलिए मैं यह कह रहा हूँ।''

''एल्बर्ट यहाँ हेडमास्टर हो जाए, इसकी भी कोशिश वह किसलिए कर रही है? इसलिए नहीं कि अपने दामाद से उसे लगाव है; वह ऐसा हेडमास्टर चाहती है यहाँ जिसके नीचे अपनी मनमानी करने में उसे किसी तरह की रोक-टोक न रहे।''

''तुम्हारा ख़याल है एल्बर्ट इसे समझता नहीं है?''

''एल्बर्ट अच्छी तरह समझता है। मेरा ख़याल है जितनी नफ़रत एल्बर्ट को इससे है, उतनी और किसी को हो ही नहीं सकती।''

''देखा नहीं इसकी पीठ पीछे वह कैसे नाक हिलाता रहता है, जैसे कि उसे इससे बदबू आ रही हो।''

''ख़ैर वह चीज़ तो वह पब्लिक रिलेशन्ज़ के लिए करता है...''

''और जिस तरह वह सबके सामने मॉली से पूछता रहता है, 'व्हेयर इज़ योर बिग मदर?' ''

''एल्बर्ट मॉली से भी उतनी ही नफ़रत करता है जितनी...''

"इसमें तो कोई शक ही नहीं है। पर उसे जब इस तरह अपना काम बनता नज़र आता है, तो वह भी सोचता है ठीक है..."

अचानक दोनों आदमी चुप हो गए। बाहर किसी के पैरों की आहट सुनाई दे रही थी। "मेरा ख़याल है मिसेज़ दारूवाला है," कुछ देर उधर कान लगाए रहने के बाद लैरी ने कहा और अपनी टाई पर पड़े टमाटर की चटनी के निशान को उँगली से साफ़ करने लगा।

पर वह आहट बरामदे तक नहीं आई। बरामदे के परे से ही कच्ची बर्फ़ पर पड़ते पैरों की कचर-कचर दूसरी तरफ़ चली गई।

"कोई और था शायद!" लैरी ने एक आशंकित नज़र चेरी पर डाल ली।

पर चेरी उस आहट से आशंकित नहीं हुआ था। "होगा कोई," उसने कहा, "उधर सिंह की कोठी है। वहाँ आधी रात तक लोगों का आना-जाना चलता रहता है।"

"तुम्हें विश्वास है न कि...?"

चेरी ने आँखें हिलाईं। "उस तरह इस काटेज तक आने का किसी का हौसला नहीं पड़ सकता।"

लैरी फिर भी आश्वस्त नहीं हुआ। कुछ देर अपने गिलास को हाथ में घुमाने के बाद वह व्यस्त भाव से उठ खड़ा हुआ। "मैं अभी ग़ुसलख़ाने से होकर आता हूँ।"

पर बाहर जाने के लिए दरवाज़ा उसने काफ़ी आहिस्ता से और सावधानी के साथ खोला। ठंडी हवा की एक लहर कमरे के धुएँ को चीर गई।

"बातें बहुत बड़ी-बड़ी करता है, पर है बहुत कमज़ोर दिल का आदमी," दरवाज़ा फिर से बन्द हो जाने पर चेरी अपनी कुर्सी थोड़ा आगे को सरकाकर बोला, "तुमसे कहता है कि तुम्हारे अन्दर हौसला नहीं है, पर अपने को देखो..."

मैंने उसे जवाब न देकर घड़ी में वक़्त देख लिया।

"तुम अब तक उस बात का बुरा माने बैठे हो?"

मैंने सिर हिलाया, पर कहा फिर भी कुछ नहीं।

"फिर तुम्हारा चेहरा ऐसे क्यों हो रहा है?"

मैं ज़बर्दस्ती मुस्कुरा दिया। "मुझे नींद लग रही है," मैंने कहा, "सोचता हूँ कि अब घर जाकर खाना-वाना खा लिया जाए और..."

"तुम्हें इस आदमी की बातों का बुरा नहीं मानना चाहिए," वह बोला, "तुम्हें पता ही है, यह कितना बेवकूफ़ आदमी है। मैंने तुमसे कोई ऐसी-वैसी बात कही हो, तो तुम बताओ..."

"देखो चेरी..."

"यह मतलबी आदमी है। अपने मतलब से मेरे पीछे लगा रहता है। तुम्हारी इसके साथ दोस्ती ज़रूर है, पर तुम इसे ठीक से जानते नहीं हो।"

''मैं कभी दावा नहीं करता कि मैं...''

''हम लोग कभी अलग से बैठेंगे, तो मैं तुम्हें इसके बारे में बताऊँगा। एक-एक बोटी मांस और एक-एक गुत्थी नमक के लिए यह आदमी कैसे मेरी मिन्नत करता है, तुम नहीं जानते।''

''मैंने कहा है न कि मुझे इस बात का बिलकुल दावा नहीं है कि...''

''तुम्हारे साथ इसके सम्बन्ध बनाकर रखने का भी एक राज़ है। तुम्हारी नियुक्ति डी.पी.आई. के जरिए हुई थी, इसलिए यह समझता रहा है कि तुम्हें खुश रखकर यह अपने को डी.पी.आई. की नज़रों में ला सकता है। मेरे साथ इसके दोस्ती रखने की वजह भी मांस-मच्छी के अलावा यही है कि मैं डी.पी.आई. के पास जाता-आता रहता हूँ। टोनी से जो इसकी अनबन हुई है, उसकी असली वजह तुम जानते हो?''

मैंने बात में दिलचस्पी न रखने के ढँग से सिर हिला दिया।

''इसका ख़याल था कि यहाँ आकर टोनी का सबसे नज़दीकी आदमी यही होगा। इसकी नज़र सीनियर मास्टर की जगह पर थी क्योंकि इसने सुन रखा था कि जिमी ब्राइट कुछ दिनों में यहाँ से जानेवाला है। पर जब यहाँ आकर इसने देखा कि टोनी का अन्दरूनी सर्कल बिलकुल दूसरा है और कि मिसेज़ ज्याफ्रे और एल्बर्ट क्राउन के सामने इसकी दाल नहीं गल सकती, तो यह अपनी दूसरी जोड़-तोड़ में लग गया।''

''हो सकता है,'' मैंने फिर भी अपने को तटस्थ रखते हुए कहा। ''यह उसका अपना तरीक़ा है जीने का।''

''तुम बात समझ नहीं रहे,'' वह बोला, ''मैं तुम्हें इसलिए बता रहा हूँ कि वह तुमसे अलग से बात करने लगे, तो तुम ज़रा होशियार रहो। आज हम लोग यहाँ मिलकर बात करें, यह सुझाव भी उसी का था। दरअसल यह अपनी जगह डरा हुआ है कि छुट्टियों के शुरू में टोनी इसे नोटिस न दे दे। तुम्हें पता ही है, टोनी का यह तरीक़ा है। उसे जिस आदमी को निकालना होता है, उसे तीन महीने की तनख़ाह और नोटिस एक ही दिन हाथ में पकड़ा देता है। मैंने भी इसीलिए इसके सामने आज ज़्यादा बात नहीं की। इसका मतलब यह नहीं कि मैं इससे या किसी से डरता हूँ। चेरी को और चाहे कुछ भी कह ले, डरपोक कभी कोई नहीं कह सकता। मुझे जो भी कुछ कहना-करना होता है, मैं धड़ल्ले के साथ कहता-करता हूँ। इसीलिए टोनी और किसी से भी उस तरह ख़म नहीं खाता जिस तरह मुझसे खाता है। बल्कि पूरे स्कूल में वह अगर किसी से डरता है, तो मुझसे। मैं अगर आज डी.पी.आई. से अपनी शिकायत वापस ले लूँ, तो उससे जो चाहूँ अपने लिए करा लूँ। मगर मैं एक बुनियादी चीज़ के लिए लड़ रहा हूँ–हेडमास्टर और उसके पिट्ठओं को स्कूल में खाने-पीने की ख़ास रिआयतें मिली रहें, इस चीज़ के ख़िलाफ़– इसलिए अपना नफ़ा-नुकसान ताक पर रखकर मैं यह चीज़ साबित कर देना चाहता हूँ कि दुनिया में असूल नाम की

भी कोई चीज़ है। जिस तरह तुम्हारी लड़ाई असूल की है कि तुम्हें सीनियर ग्रेड मिलना ही चाहिए जिसके कि तुम हक़दार हो, उसी तरह मेरी भी लड़ाई असूल की है कि बावर्चीख़ाने के काम-काज को लेकर मुझ पर किसी तरह का दबाव नहीं डाला जाना चाहिए। जब इस काम की उनमें से किसी को समझ ही नहीं है, तो जिसे समझ है, उसे अपने ढँग से काम करने देना चाहिए। ठीक है कि नहीं? पर मुझे इस आदमी पर इतना भी एतबार नहीं है कि कल को हेडमास्टर इसे फुसलाकर अपनी तरफ़ करना चाहे, तो यह जाकर यहाँ पर हुई सारी बातें उसके सामने उगल नहीं देगा। यह आज बात मेरी तरफ़ से कर रहा है, पर तुम समझते हो इसे सचमुच इस चीज़ का गम है कि कहीं मिसेज़ ज्याफ्रे मेरे वाली जगह न ले ले? इसे गम है तो इस चीज़ का कि...''

दरवाज़ा खुलने की आवाज़ से उसकी बात रुक गई और उसने अपनी कुर्सी फिर पीछे सरका ली। लैरी अन्दर आया, तो उसका रूमाल उसके हाथ में था। पीछे दरवाज़ा बन्द करने और कुर्सी की तरफ़ बढ़ने से उसके ढँग से स्पष्ट था कि वह ग़ुसलख़ाने में कै करके आया है। अपनी कुर्सी पर आकर वह कुछ पल आँखें मूँदे रहा।

''तुम्हारी तबीयत तो ठीक है?'' चेरी ने उससे पूछा।

लैरी ने आँखें मूँदे हुए सिर हिला दिया।

''आज तुमने कुछ ज़्यादा भी नहीं पी।''

लैरी ने हाथ से बाहर की तरफ़ इशारा कर दिया। ''यह उस वजह से हुआ है।''

''उस वजह से यानी...?''

''हवा की वजह से। ठंडी हवा में जाते ही मेरा सिर चकरा गया था।''

''तुम्हें कोई चीज़ चाहिए इसके लिए?''

''नहीं। मैं अभी ठीक हो जाऊँगा। काफ़ी ठीक हो गया हूँ अब तक।''

''मेरा ख़याल है तुम्हें अपने क्वार्टर में जाकर लेट जाना चाहिए।'' मैंने इतनी देर में पहली बार उससे बात की।

''चाहो तो यहीं लेट जाओ...कुछ देर के लिए,'' चेरी ने कहा।

''नहीं। मैं ठीक हो जाऊँगा ऐसे ही,'' लैरी हठ के साथ बोला, ''मैं सीधा खुले में चला गया था। पगडंडी की तरफ़। इसी से हवा खा गया हूँ।''

''वहाँ क्या देखने गए थे...कि कौन गया है निकलकर?'' चेरी की आँखें मुझसे मिल गईं। मैंने अपनी आँखें हटा लीं।

''मैंने कहा था देख लूँ वह आ भी रही है या नहीं...दारूवाला। पर नीचे सड़क तक वह मुझे कहीं नहीं दिखी। मेरा ख़याल है वह डर के मारे नहीं आई कुतिया!''

चेरी का चेहरा कस गया। वह मिसेज़ दारूवाला के लिए जिस शब्द का प्रयोग स्वयं करता था, उसे लैरी के मुँह से सुनना उसे गवारा नहीं हुआ। ''हो सकता है

उसे मेरी चिट न मिली हो,'' उसने कहा, ''मैं ऊपर आते हुए एक बैरे के पास चिट छोड़ आया था कि उसके क्वार्टर में दे आए।''

लैरी ने ठीक से आँखें खोल लीं। ''तुम्हें उसका जवाब नहीं मिला था कि वह आ रही है?''

चेरी ने हलके से सिर हिला दिया और नया सिगार मुँह में लेकर तीलियाँ घिसने लगा।

''पर तुमने तो कहा था कि वह निश्चित रूप से आ रही है।''

''मैंने सोचा था कि उसे चिट मिल जाएगी, तो वह निश्चित रूप से आ जाएगी।''

''तुमने यह नहीं कहा था। तुमने कहा था कि...''

''मेरा ख़याल था वह आ जाएगी। नहीं आई, तो उसके लिए मैं ज़िम्मेदार नहीं हूँ।''

लैरी की आँखों में लाल डोरे उभर आए थे। उसका चेहरा भी पहले से विकृत हो गया था। ''और तुम कहते हो कि तुम्हारे कहने से वह कुछ भी कर सकती है।''

चेरी जवाब में कुछ कहने को हुआ, पर मेरी तरफ़ देखकर अपने को रोक गया। ''इस वक़्त हम इस पर बात नहीं कर रहे,'' उसने आहिस्ता से कहा, ''कि मेरे कहने से वह क्या कर सकती है और क्या नहीं।''

लैरी निचला होंठ बाहर निकालकर ऊपरी होंठ को उस पर दबाए बारी-बारी से हम दोनों को देखता रहा। ''लगता है तुम लोग इस बीच किसी नतीजे पर पहुँच गए हो,'' उसने कहा।

''तुम्हारे पीछे हम लोगों में बात तक नहीं हुई, किसी नतीजे पर क्या पहुँचना था?'' चेरी ने अपने स्वर से मुझे भी साथ समेट लिया।

''ख़ूब!'' लैरी सिर हिलाने लगा, ''बाहर से लग तो ऐसे रहा था जैसे अन्दर तुम्हारा भाषण चल रहा हो।''

''मैं इससे इसकी पत्नी के विषय में पूछ रहा था। वह बहुत भली स्त्री है। मुझे बहुत अच्छी लगती है।''

''तो कुछ भी तय नहीं किया तुम लोगों ने?'' लैरी अब मेरी तरफ़ घूम गया। मेरा ध्यान उसके हाथ की नसों की तरफ़ चला गया जो रूमाल को भींचे रहने से बाहर को उभर आई थीं। ''या मुझे अब इस बातचीत से बाहर रखने का फ़ैसला किया गया है इस बीच?''

''तुम्हें आज थोड़ी-सी पीकर ही नशा हो गया है,'' चेरी बोला। ''इसलिए बेहतर यही है कि...''

लैरी ने अपने दोनों हाथ हम लोगों की तरफ़ फैला दिए। ''तुम लोग समझते हो कि मैं परवाह करता हूँ? मैं तुम दोनों को यह बता देना चाहता हूँ कि मैं बिलकुल

परवाह नहीं करता। किसी भी चीज़ की परवाह नहीं करता। जो आदमी टोनी व्हिसलर जैसे आदमी को सुर्ख़ आँख से देख सकता है, वह किसी की क्या परवाह कर सकता है? तो ठीक है। मैं खुद अपने को इस बातचीत से बाहर रखना चाहता हूँ। मुझे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है। सच पूछो, तो मुझे किसी भी चीज़ में कोई दिलचस्पी नहीं है। मुझे यहाँ की हर चीज़ से उबकाई आती है—लोगों से, बातों से, हर चीज़ से।''

''इसकी तबीयत ठीक नहीं है,'' लैरी ने मेरी तरफ़ देखकर कहा। ''मेरा ख़याल है इसके बाद जो भी बात करनी हो, वह फिर किसी वक़्त की जाए। आज के लिए हम लोग...''

''फिर किसी वक़्त क्यों की जाए?'' लैरी अपना रूमालवाला हाथ कुर्सी की बाँह पर पटकने लगा। ''जो बात इस वक़्त नहीं की जा सकती, वह फिर किसी वक़्त भी नहीं की जा सकती। और मैं इस बात में आता कहाँ हूँ? बात तुम दोनों की है। तुम दोनों की नौकरी का सवाल है। मुझे क्या पड़ी है कि मैं बीच में दख़ल दूँ।''

''लैरी!'' चेरी ने अपने ऊँचे स्वर से उसे दबाने की कोशिश की।

''मुझसे इस तरह बात मत करो,'' लैरी सरककर अपनी कुर्सी के सिरे पर आ गया। मैं किसी के मुँह से इस तरह अपना नाम सुनने का आदी नहीं हूँ।''

''देखो लैरी...।'' मैंने एक मध्यस्थ की तरह कहना शुरू किया।

''मुझसे इस तरह बात मत करो,'' उसने मुझे भी काट दिया। ''मैं जानता हूँ कि तुम लोग इस वजह से मुझसे बात करने से कतरा रहे हो। मैं बच्चा नहीं हूँ। मैंने ज़िन्दगी देखी है। मैं आदमी को सूँघकर बता सकता हूँ कि उसके मन के अन्दर क्या बात है। तुम लोग समझते हो कि मैं समझता नहीं हूँ। मैं सब समझता हूँ।''

''इसे घर जाकर लेट जाना चाहिए,'' चेरी बोला।

''मुझे कुछ काम भी है,'' मैंने कहा, ''इसलिए मैं समझता हूँ कि...''

''तुम लोग समझते हो कि मुझे ही कुछ काम नहीं है?'' लैरी और भी चमक उठा। ''यहाँ इतनी ज़रा-सी शराब पीने आने के लिए मेरे पास फ़ालतू वक़्त रखा है। मैं आया था तुम दोनों की ख़ातिर। वरना मुझे क्या पड़ी थी यहाँ आने की? शराब मैंने ज़िन्दगी में बहुत पी है। औरतें भी बहुत देखी हैं। अगर किसी का यह ख़याल था कि...''

चेरी ने ताव में उसकी बाँह झकझोर दी। ''तुम्हें होश है कि तुम क्या बात कर रहे हो?''

लैरी ने झटके से बाँह छुड़ा ली और पल-भर हाँफता हुआ उसे देखता रहा। फिर ऐसे जैसे कि उसकी बात के उत्तर पर ही सबकुछ निर्भर करता हो, बोला, ''तुम समझते हो कि मुझे होश नहीं है?''

"हाँ, मैं समझता हूँ कि तुम्हें होश नहीं है," चेरी उसकी आँखों में आँखें गड़ाए रहा।

"सचमुच समझते हो कि मुझे होश नहीं है?"

"हाँ, सचमुच समझता हूँ कि तुम्हें होश नहीं है।"

"और तुम्हें होश है?"

"हाँ, मुझे होश है।"

"सचमुच होश है।"

"यह तुम्हें भी दीख रहा है कि सचमुच होश है।"

"और अगर मुझे कुछ और ही दीख रहा हो, तो?"

"और क्या दीख रहा हो?"

"तुम जानना चाहोगे?"

"क्यों नहीं जानना चाहूँगा?"

मैंने अपने को तैयार कर लिया था कि जहाँ ये सवाल-जवाब रुकेंगे, वहाँ एक का हाथ दूसरे के गले की तरफ़ बढ़ जाएगा। वे अपनी-अपनी कुर्सियों पर कुछ उसी तरह आगे को बढ़ भी आए थे। मैं उनके बीच बिलकुल फ़ालतू पड़ गया था। अगर मैं कुछ कहता, तो वह उनके कानों को छूता भी नहीं। आगे आनेवाले 'कुछ' की प्रतीक्षा में मैंने अपने को अपनी कुर्सी पर ढीला छोड़ दिया। वे दोनों भी जैसे उसी 'कुछ' की प्रतीक्षा में कुछ पल एक-दूसरे को देखते रुके रहे। फिर लैरी सिर पीछे टिकाता हुआ वितृष्णा के साथ हँस दिया, "मैं तुम्हें बताकर अपने को छोटा नहीं करना चाहता।"

"हाँ, वैसे तो तुम काफ़ी बड़े हो," कहकर चेरी ने कुछ देर और प्रतीक्षा की। फिर वह भी अपनी जगह ठीक से हो गया।

उसके बाद ख़ामोशी का एक लम्बा अन्तराल रहा। हम तीनों बिना एक-दूसरे की तरफ़ देखे अपनी-अपनी अस्थिरता को दबाए पर्दों, गिलासों और दीवारों तथा दीवारों के कोनों में उभर आई सीलन को देखते रहे। मुझे ख़ुद अपने अन्दर मितली-सी उठती महसूस हो रही थी। लग रहा था जैसे कोई हाथ मेरे अन्दर उतर गया हो और वहाँ के धड़कते लोंदे को धीरे-धीरे अपने में भींचता जा रहा हो। मैंने काफ़ी देर से सिगरेट नहीं पिया था। पीने को मन नहीं था। बल्कि अपनी साँस से टकराता चेरी के सिगार का धुआँ भी मुझसे बरदाश्त नहीं हो रहा था। उस गन्ध के अलावा एक और गन्ध जो मेरी उबकाई को बढ़ा रही थी, वह थी लैरी की अलकोहल-मिली साँसों की। सिर पीछे डाल लेने के बाद उसने अपनी बाँहों और टाँगों को बेतरह फैल जाने दिया था और उसके फैलने का ढँग कुछ ऐसा था कि उसका सिर मेरी तरफ़ को काफ़ी झूल आया था। चेरी लगातार लम्बे-लम्बे कशों का धुआँ

बाहर उँडेलता हुआ इस तरह इधर-उधर आँखें घुमा रहा था जैसे कि हम लोगों का वहाँ होना उसके ठीक से किसी चीज़ को देख सकने में बाधा हो।

मैं सोच रहा था कि वहाँ से चलने का प्रस्ताव लैरी के मुँह से निकले, तो ज़्यादा अच्छा होगा। अपनी उबकाई पर क़ाबू पाए मैं उसकी प्रतीक्षा करता रहा। पर उसके चेहरे और आँखों के स्थिर होते भाव से जब यह लगने लगा कि वह वहीं पड़ा-पड़ा सो न जाए, तो मैंने अपनी तरफ़ से ख़ामोशी को तोड़ने का निश्चय कर लिया। ''मैं अब चल रहा हूँ,'' मैंने कुर्सी से उठते हुए लैरी की बाँह को छूकर कहा, ''तुम्हारा इरादा अगर कुछ देर और यहीं बैठने का है, तो...''

लैरी ने एक झटके के साथ अपने को सँभाल लिया। आस-पास इस तरह देखा जैसे कि जहाँ होने की आशा थी, उसकी जगह अपने को किसी और जगह पर देख रहा हो। फिर चेरी के चेहरे पर नज़र डालकर उसने जैसे पिछली स्थिति से इस स्थिति का सम्बन्ध जोड़ा और ठक् से फ़र्श पर जूतों की आवाज़ करता उठ खड़ा हुआ। ''मैं भी चलूँगा,'' उसने कहा। ''मैं तो कब का चला गया होता अगर तुम्हें इस तरह जमकर बैठे न देखता। मैं न तो अपनी वजह से आया था यहाँ, और न ही...न ही...।'' आगे बात पूरी न कर सकने से उसने होंठ चबा लिया।

चेरी हम लोगों के उठने की प्रतीक्षा में था। ''अच्छा,'' उसने अपनी कुर्सी छोड़ते हुए मुझसे कहा, ''फिर किसी दिन बैठेंगे, तो बात करेंगे।'' साथ आँखों से उसने मुझे समझाने की चेष्टा की कि हम दोनों के बीच कोई ग़लतफहमी नहीं है, मैं उस लिहाज़ से मन में किसी तरह की बात लेकर न जाऊँ। लैरी ने भी उसकी आँखों का वह भाव देखा और फिर एक बार वितृष्णा से हँस दिया। ''आओ चलें,'' उसने कहा और दरवाज़े की तरफ़ बढ़ गया।

बाहर निकलने पर हवा इतनी तीखी लगेगी, इसका अन्दाज़ा कमरे में बैठे हुए मुझे नहीं था। पगडंडी पर आकर लैरी ने मेरे कन्धे का सहारा ले लिया। मुझे बुरा नहीं लगा क्योंकि खुद मुझे भी उस समय उस तरह के सहारे की ज़रूरत महसूस हो रही थी। एक-एक क़दम चलते हुए लग रहा था जैसे इस बीच बर्फ़ की फिसलन पहले से काफ़ी बढ़ गई हो। यहाँ तक कि दो-एक जगह बर्फ़ से बचकर चलने की कोशिश में मैं पगडंडी से हटकर झाड़ियों के अन्दर चला गया। एक जगह तो लैरी मुझे वक़्त से सँभाल न लेता, तो मैं ढलान से सीधा नीचे को लुढ़क जाता।

''बहुत गन्दी शराब थी,'' कुछ दूर उतरने के बाद सामने आए बर्फ़ के एक लोंदे को पैर से हटाते हुए उसने कहा, ''अच्छी शराब पीकर मेरी तबीयत कभी ख़राब नहीं होती।''

''अच्छा है हम आज की शाम के बारे में बात न करें,'' मैंने कहा। मुझे कोशिश करनी पड़ रही थी कि नीचे सड़क पर पहुँचकर उससे अलग होने तक अपनी तबीयत ज़्यादा ख़राब न होने दूँ।

"तुम ठीक कहते हो," वह बोला, "मुझे नहीं पता था यह शाम इतनी गन्दी बीतेगी।"

"मैं तो यहाँ आने के लिए तैयार होकर आया भी नहीं था। मेरा तो ख़याल था कि..."

"हम लोग अगली बार अकेले बैठेंगे। जैसे हमेशा बैठते हैं। पहली से पहले ही किसी दिन।"

"हाँ, पहली के बाद तो छुट्टियाँ हो जाएँगी।"

"मैं कह रहा हूँ न उससे पहले ही किसी दिन। इसीलिए तो कह रहा हूँ। लेकिन एक चीज़ का तुम्हें ध्यान रखना चाहिए।" इस बार वह ठोकर खा गया और मैंने उसे सँभाल लिया।

"किस चीज़ का?"

"इस आदमी की बातों में आकर कोई ग़लत क़दम न उठा लेना।"

मैंने उसे जवाब नहीं दिया। देखने की कोशिश की कि पगडंडी के अभी कितने मोड़ बाक़ी हैं।

"तुम इसे नहीं जानते," वह बोला, "मैं जानता हूँ। आज बल्कि पहले से ज़्यादा जान गया हूँ। तुमने देखा है न कि इसकी 'वह' भी आज नहीं आई। वह भी इसे जानती है।"

"हूँऽऽ!" मैंने कहा और अपनी छाती को हाथ से दबा लिया। कुल दो-तीन मिनट और अपने पर क़ाबू रखने की ज़रूरत थी।

"तुम समझते हो कि इसकी चिट उसे मिली नहीं होगी? मैं यह बात मान ही नहीं सकता। चिट ज़रूर मिली होगी, पर वह जान-बूझकर नहीं आई। वह जानती है कि इसके साथ मिलने-जुलने में नौकरी का ख़तरा है। वह अपनी नौकरी ख़तरे में क्यों डाले?"

एक ही मोड़ और था जिसके बाद चौड़ी सड़क थी। "फिर कभी बैठेंगे, तो बात करेंगे" मैंने कहा, और इस तरह तेज़ चलने लगा जैसे कि पगडंडी की ढलान ने ही इसके लिए मजबूर कर दिया हो। उसे भी ज़बर्दस्ती घिसटकर मेरे साथ तेज़ चलना पड़ा।

"एक मैं ही हूँ," वह कहता रहा, "जो इन चीज़ों की परवाह नहीं करता। कल को देख लेना यह भी जाकर हेडमास्टर के तलवे चाट आएगा। मगर मैं इन चीज़ों से बहुत ऊपर हूँ। मैं अपनी मर्ज़ी से ऐसी पचास नौकरियाँ छोड़ सकता हूँ। पर कोई मेरे साथ चालाकी बरतकर मुझे किसी जाल में फँसा दे, ऐसा मैं नहीं होने दे सकता। तुमको भी मैं इसीलिए होशियार किए दे रहा हूँ। यह मेरी ग़लती थी जो मैं आज तुम्हें इसके यहाँ ले गया। मैं अपनी ग़लती साफ़ मान रहा हूँ। पर इसके बाद अगर

कुछ होता है, तो वह मेरी ग़लती नहीं होगी। यह भी मैं तुमसे साफ़ कहे दे रहा हूँ। तुम अपनी मर्ज़ी से छोड़कर जाना चाहो, यह तुम्हारे ऊपर है। पर अगर तुम अपनी नौकरी बनाए रखना चाहते हो, तो इस आदमी से अपने को बचाकर रखना। यह तुम्हें कई तरह का लोभ दे सकता है—तुम्हारे यहाँ यह चीज़, वह चीज़ भिजवाने का, इसका, उसका। अपनी 'उस' के साथ तुम्हारी दोस्ती कराने का। अगर तुम इसकी बातों में आ गए, तो देख लेना क्या होता है। जो हाल इसका होगा, वही तुम्हारा भी होगा। फिर मुझसे मत कहना कि..."

पाँव सड़क पर पहुँच जाने से उसकी बात रुक गई। उसने इस तरह आस-पास देख लिया जैसे कि जिस पर्दे की ओट में वह बात कर रहा था, वह एकाएक सामने से हट गया हो। "बहुत जल्दी पहुँच गए नीचे," उसने कहा, "तो ठीक है। फिर किसी दिन बैठेंगे, तो बात करेंगे।"

मैंने किसी तरह उसका हाथ अपने हाथ में लिया और आहिस्ता से हिला दिया। उसका हाथ पहले दो-एक क्षण तो ढीला रहा, फिर मेरे हाथ पर कस गया। "याद रखना, मैं तुम्हारा दोस्त हूँ," कहकर वह मुस्कुराया। "वह आदमी का दोस्त नहीं है।" मैंने भी मुस्कुराकर इसकी स्वीकृति दी। फिर हम हाथ हिलाकर अपने-अपने क्वार्टर की तरफ़ चल दिए।

मेरे लिए अपनी उबकाई रोकना असम्भव हो रहा था। फिर भी जितना रास्ता रोशनी थी, उतना रास्ता मैंने साँस रोके हुए पार कर लिया। पर उस खम्भे के पास आते ही जिससे आगे घर तक अँधेरा-ही-अँधेरा था, मैं खड्ड की तरफ़ झुक गया और अपनी छाती के कसाव को मैंने ढीला हो जाने दिया।

## नाटक

कई दिनों से कोई चिट्ठी नहीं आई थी। कहीं से भी, किसी की भी। खुद चाहे चार हफ़्ते से मैंने किसी को एक पंक्ति नहीं लिखी थी, शोभा के पत्र का उत्तर भी नहीं दिया था, फिर भी हर रोज़ ज़रा-सा समय मिलते ही कामन रूम की ड्योढ़ी में अपने पिजन-होल पर एक नज़र डाल आता था। पता यूँ पहले से होता था कि पिजन-होल ख़ाली होगा, फिर भी उसे ख़ाली देखने तक मन में एक व्यस्तता का अनुभव कर लेता था। इस तरह सुबह का खालीपन दोपहर की प्रतीक्षा में कट जाता था, दोपहर

का अगले दिन की प्रतीक्षा में। जैसे कि किसी दिन पिजन-होल के अन्दर कुछ ऐसा रखा मिल जाना हो जिससे अन्दर की उलझन का उपाय हो सकता हो।

उस दिन स्कूल के बाद ख़ाली पिजन-होल के पास खड़ा था जब सीनियर मास्टर जिमी ब्राइट ने पीछे से आकर कहा, ''क्या कर रहे हो खड़े-खड़े? यह प्रार्थना कि कोई चुपके से आकर ख़ाली पिजन-होल में प्रेम-पत्र रख जाया करे?''

मैं थोड़ा सकपका गया क्योंकि यह भूलकर कि मैं वहाँ क्यों आया हूँ, शायद एक-डेढ़ मिनट से मैं वहीं खड़ा था। मैंने मुस्कुराकर अपनी सकपकाहट को ढाँप लेने की चेष्टा की।

''एक मिनट मेरे साथ चल सकते हो मेरी स्टडी में?'' जिमी बोला। ''एक लड़के को सज़ा दी जानी है। मुझे गवाह के तौर पर एक आदमी के हस्ताक्षर चाहिए। मेरा ख़याल है, तुम इस वक़्त ख़ाली हो।''

''मैं बिलकुल ख़ाली हूँ,'' मैंने अपने को सहेजते हुए कहा और उसके साथ चल दिया, हालाँकि मुझे घृणा थी उस सारी प्रक्रिया से। जाकर सीनियर मास्टर की स्टडी में एक तरफ़ खड़े हो जाओ और एक लड़के को पिछवाड़े पर बेंत की मार खाते देखो। फिर रजिस्टर में हस्ताक्षर करो कि लड़के को कुल कितने बेंत मारे गए। उसके बाद ज़ेबों में हाथ डाले टहलते हुए वहाँ से चले आओ। मगर यह सब भी नौकरी के अनुशासन में शामिल था। इसे भी चुपचाप इसी तरह सह जाना होता था जैसे मिस्टर व्हिसलर की त्योरियों को और 'डाल' के नाम से खाई जानेवाली बेहूदा दाल को।

जिमी के साथ उसकी स्टडी में पहुँचने पर प्रीफ़ेक्ट जसवन्त को वहाँ खड़े देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। यह बहुत कम होता था कि स्कूल के किसी प्रीफ़ेक्ट को इस तरह सज़ा दी जाए। फिर जसवन्त लगता भी काफ़ी बड़ा था—अपने ऊँचे क़द और डेढ़-डेढ़ इंच की दाढ़ी की वजह से। हमें देखकर उसने अभिवादन किया और चुपचाप उस कोने में चला गया जहाँ लड़के मार खाने के लिए खड़े होते थे। जिमी ने भी बिना उससे कुछ कहे अपना बड़ा बेंत उठाया और सड़ाप्-सड़ाप् सात बार उसके जड़ दिया। जसवन्त ने बिना शरीर या चेहरे पर किसी तरह की प्रतिक्रिया आने दिए एक बुत की तरह पूरी मार सही और इस तरह सीधे होकर जैसे कि इस बीच झुकने के अलावा और किसी तरह की तक़लीफ़ उसके शरीर ने न सही हो, मुस्कुराता हुआ जिमी के पास चला आया।

''तुम इसकी वजह तो नहीं जानना चाहते?'' जिमी ने उससे पूछा।

''अगली बार ऐसा हुआ, तो तुम्हें वापस भेज दिया जाएगा, यह भी जानते हो?''

''हाँ, सर!''

''तो अब तुम जा सकते हो।''

जसवन्त ने फिर सिर हिलाकर हम दोनों को अभिवादन किया और स्टडी से बाहर चला गया। जिमी ने सज़ा का रजिस्टर मेरे सामने कर दिया। मैंने चुपचाप हस्ताक्षर कर दिए।

"तुम स्कूल से जा रहे हो, इसलिए पाँच मिनट रुककर चाय की एक प्याली आज यहीं पी लो," मैं भी चलने को हुआ, तो उसने कहा, "तुम्हें इस वक़्त कोई काम तो नहीं है?"

मैंने सिर हिला दिया। स्कूल के बाद कहीं भी रुकने का मौक़ा मिले यह मुझे अच्छा लगता था। इससे अपने को ख़ाली कमरे में लौटकर जाने की ज़हमत से कुछ देर के लिए तो बचाया ही जा सकता था। पर जिमी के यहाँ रुकने में मुझे वैसा नहीं लगा। यह इस ख़याल से कि उसके साथ 'पाँच मिनट' चाय पीने में केवल शिष्टाचार निभाना होगा। वह स्कूल की बिरादरी में सबसे मिलनसार होता हुआ भी सबसे अकेला आदमी था। जैसे एक फ़ीता लेकर दिन के एक-एक मिनट को नापने में व्यस्त। "जेंटलमेन, आज शाम को चार पचास से पाँच तीस तक स्टाफ़ की मीटिंग होगी—हेड के कमरे में।" या, "दोस्तो, बाहर से एक मेहमान आ रहे हैं आज। उनके साथ हम चाय पिएँगे—तीन पचास से तीन पैंतालीस तक।" इसी तरह, "अब दस मिनट हम लोग गपबाज़ी करेंगे!" और मज़ाक शुरू। ठीक दस मिनट बाद, "अब अपने-अपने काम पर!" और मज़ाक का बटन बन्द, काम शुरू। सुबह के आठ बजे से रात के साढ़े नौ बजे तक स्विचबोर्ड लगातार चालू। साढ़े नौ स्विचबोर्ड बन्द, बत्तियाँ गुल और बिस्तर के अन्दर।

"मैं अभी आ रहा हूँ रोज़ से कहकर," और वह घर के अन्दर चला गया। मैं सोचता रहा कि बँधे-बँधाए पाँच मिनटों में उन लोगों से क्या बात हो सकेगी। जिमी एक ऐसा आदमी था जिसके साथ पचास बार हँस चुकने के बाद भी बेगानगी का अहसास अन्दर से जाता नहीं था। वह जैसे उतनी देर के लिए ही दूसरे से जुड़ता था जितनी देर दूसरा उसके सामने हो। फिर परे हटते ही एकाएक बिलकुल और पूरा अलग हो जाता था। पर उससे भी ज़्यादा बेगानगी का अनुभव रोज़ के सामने होता था। वह स्त्री यह मानकर चलती थी कि स्कूल से और वहाँ काम करनेवाले लोगों से उसका कुछ लेना-देना नहीं है। वहाँ के जितने भी दायित्व हैं, लोगों की तरफ़ मुस्कुराने से लेकर उनसे बात करने तक के, वे सब उसके पति के हैं क्योंकि उनमें से वही अकेला स्कूल से तनख़्वाह लेता है। साधारणतया वह अपने को घर में ही बन्द रखती थी। स्कूल में किसी के भी यहाँ आती-जाती नहीं थी। कभी हफ़्ते-पखवारे में एकाध बार वह बाहर नज़र आती थी—अपनी बच्ची को प्रैम में घुमाती हुई या रिक्शा में बैठकर घूमने जाती हुई। इसके अलावा उससे भेंट होती थी साल में एक बार उस नाटक के मंच पर जो जिमी स्कूल के लिए प्रस्तुत करता था। इस बार का

नाटक उसी शाम को था, इसलिए मैंने सोचा कि वे पाँच मिनट उस विषय में अपनी उत्सुकता प्रकट करने में बिताए जा सकते हैं।

पर जिमी ने अन्दर से आने में ही पाँच मिनट से ज़्यादा लगा दिए। मैं उस बीच उसकी मेज़ का जायज़ा लेता रहा जिस पर एक-एक चीज़ इस तरह रखी थी जैसे कि उसे कभी हाथ से छुआ ही न जाता हो। जिमी आया, तो ऐसे व्यस्त भाव से जैसे कि कोई रुका हुआ काम उसे अभी-अभी पूरा करना हो। आकर बैठता हुआ बोला, ''तुम रात को नाटक देखने आ रहे हो?''

मैंने सोचा, अच्छा है रोज़ के आने से पहले ही उस विषय में बात शुरू हो गई। ''स्कूल में कोई ऐसा आदमी है जो नहीं आएगा?'' मैंने कहा। पर कहकर मुझे लगा कि मेरी बात का कुछ दूसरा अर्थ भी निकल सकता है।

जिमी मुस्कुराया। उसे शायद लगा कि मैंने जान-बूझकर बात इस तरह से कही है। मैंने तुरन्त आगे बात जोड़ दी, ''मेरा मतलब है कि यहाँ हर आदमी साल-भर आज के दिन की प्रतीक्षा करता है।''

''पर इस बार मेरा ख़याल है कि हम सब लोगों को निराश करने जा रहे हैं,'' उसने एक बार टटोलती नज़र से मुझे देख लिया। मुझे उसका स्वर ही नहीं, चेहरा भी काफ़ी गम्भीर लगा।

मैंने पल-भर प्रतीक्षा की कि शायद रोज़ अन्दर से निकलकर आ जाए, तो मेरे कहे शब्द उसके कानों में भी पड़ जाएँ। पर उधर से कोई आहट न पाकर मुझे जैसे समय से पहले ही अपनी बात कहनी पड़ी। ''तुम्हारा ख़याल कुछ भी हो, पर रोज़ को मंच पर देखना हर बार सब लोगों के लिए एक नया अनुभव होता है।''

''मैं समझता हूँ कि सबसे ज़्यादा वही इस बार तुम्हें निराश करेगी,'' उसने थोड़ा और गम्भीर होने की चेष्टा की जिससे मैं उसके शब्दों को ठीक उसी अर्थ में ले सकूँ।

''यह तुम किस वजह से कह रहे हो?''

''उसकी मनःस्थिति की वजह से। तुम कल ड्रेस रिहर्सल में नहीं थे। होते, तो यही बात तुम भी सोच रहे होते।''

''लेकिन...''

''मैं ठीक कह रहा हूँ। पर वह अभी आएगी, तो उससे इस विषय में बात मत करना। वह पहले से ही काफ़ी उदास है। मैं चाहता था, आज दिन में भी एक रिहर्सल कर लेते, पर वह उसके लिए राज़ी नहीं हुई।''

''तो सचमुच तुम्हारा ख़याल है कि...?''

उसने जबड़े कसे हुए सिर हिला दिया, ''मुझे लग रहा है कि यहाँ पर उसका यह आख़िरी अभिनय होगा। यह बात कुछ तसल्ली की भी है हालाँकि इसी वजह से मैं सोचता था कि...''

"मैं समझ नहीं सका।" उसकी तरफ़ देखता रहा।

"मेरे कांट्रैक्ट का एक साल यहाँ बाक़ी है," वह बोला, "लेकिन हो सकता है मुझे पहले ही उसे कैंसिल करके चले जाना पड़े।"

"क्यों?"

"क्योंकि...उसे यहाँ अब बिलकुल अच्छा नहीं लगता। मैं तो ख़ैर दिन-भर व्यस्त रहता हूँ पर उसके लिए बहुत मुश्किल हो जाता है।"

"पर मैंने तो सुन रखा है कि..."

"वह बात ठीक है। कांट्रैक्ट पूरा होने से पहले मैं यहाँ से जाऊँगा, तो मुझे लौटने का किराया नहीं मिलेगा। लेकिन रोज़ की तबीयत भी इस साल यहाँ काफ़ी ख़राब रही है। मैं नहीं चाहता कि जाने तक वह अपनी सेहत बिलकुल गँवा बैठे।"

बैरा अन्दर से चाय की ट्रे ले आया। रोज़ भी साथ ही आ गई। उसके चेहरे से लग रहा था कि वह मुश्किल से अपने को बाहर आने के लिए तैयार कर पाई है। मैंने उठकर अभिवादन किया, तो उसने मुस्कुराकर मेरा हालचाल पूछ लिया। फिर अपने हाथ से दो प्यालियों में चाय डालकर एक-एक प्याली हम दोनों की तरफ़ बढ़ा दी। "मुझे माफ़ करना, मैं इस वक़्त चाय नहीं पिऊँगी," उसने मुझसे कहा। "मैंने अभी दवाई ली है। उसके बाद मुझे चाय नहीं पीनी चाहिए।"

मुझे क्या कहना चाहिए, यह मैं तुरन्त नहीं सोच सका। उसने इतनी बात भी मुझसे पहली बार की थी। पर इससे पहले कि मैं कुछ कहता, जिमी उससे बोला, "मेरा ख़याल है तुम शो से पहले कुछ देर लेट रहो, तो अच्छा है। अगर डॉक्टर को बुलाने की ज़रूरत हो, तो..."

"नहीं, डॉक्टर को बुलाने की ज़रूरत नहीं है," रोज़ ने निश्चित स्वर में कहा। फिर मेरी तरफ़ देखकर बोली, "मुझे अफ़सोस है, मैं तुम लोगों के साथ बैठ नहीं सकूँगी। मेरे लिए इस वक़्त आराम करना ज़रूरी है।" और अन्दर चली गई।

"यह आज मुझसे भी ख़फ़ा है," जिमी ने उसके जाने के बाद उसके रूखे़ व्यवहार की व्याख्या करने की चेष्टा की।

"मुझे लगा कि वह काफ़ी थकी हुई है," मैंने कहा।

"थकी हुई तो है ही। यह जब से यहाँ आई है, तभी से यहाँ की ज़िन्दगी इसे रास नहीं आई। यहाँ रहकर इसकी थकान लगातार बढ़ती ही गई है।"

मैंने घड़ी पर नज़र डाल ली। वहाँ बैठे मुझे दस एक मिनट से ऊपर हो चुके थे। मैं जल्दी-जल्दी चाय के घूँट भरने लगा।

"ऐसी जल्दी नहीं है," जिमी मेरा इरादा भाँपकर बोला, "आज शो से पहले मैं भी कुछ देर आराम कर लेना चाहता हूँ।"

"इसीलिए मैं सोच रहा था कि..."

"मैं इस वक़्त बहुत आराम से हूँ। हाँ, तुम्हें कोई काम हो, तो..."

"मुझे कोई काम नहीं।"

"तो बैठो और पाँच मिनट। मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ।"

मैंने अपनी प्याली परे रख दी। उसका चेहरा अब भी उतना ही गम्भीर था। उसकी बात सुनने की प्रतीक्षा में हाथों की उँगलियाँ उलझाए मैं थोड़ा आगे को झुक गया।

उसने भी बात कहने से पहले अपनी प्याली की बाक़ी चाय पी डाली। फिर कहा, "स्कूल में जो नया परिवर्तन हो रहा है, उसका तुम्हें पता तो होगा ही।"

मैं सूने चेहरे से उसे देखता रहा।

"मैं उसी विषय में तुमसे कुछ जानना चाहता था।"

"तुम्हारा मतलब किस परिवर्तन से है, मैं समझ नहीं सका," मैंने कहा।

वह पल-भर तेज़ नज़र से मुझे भाँपता रहा कि मैं बनने की कोशिश तो नहीं कर रहा।

"तुम सचमुच नहीं जानते कि शिक्षा विभाग से स्कूल के सम्बन्ध तोड़कर इसे एक प्राइवेट स्कूल में बदला जा रहा है?"

"सचमुच?" मुझे हैरानी हुई। इस बात की भनक भी तब तक मेरे कान में नहीं पड़ी थी।

"और यह अभी से किया जा रहा है, छुट्टियाँ शुरू होने के पहले से ही। मेरा ख़याल था तुम्हें पता होगा।"

"मुझे बिलकुल पता नहीं था," मैंने कहा। पर मुझे लगा कि जिमी को मेरी बात पर विश्वास नहीं आया।

"इस बीच तुम्हारी शिक्षा विभाग के किसी व्यक्ति से भेंट नहीं हुई?" उसका इशारा किस व्यक्ति की ओर है, यह मेरे लिए स्पष्ट नहीं था।

मैंने सिर हिला दिया। "मैं इस बीच बहुत कम बाहर निकला हूँ।"

वह कुछ देर चुप रहा। जैसे यह सोचने के लिए कि इसके बाद उसे आगे बात करनी चाहिए या नहीं। "तुम इन दिनों किसी से मिलने या बात करने का इरादा भी नहीं रखते?" फिर उसने पूछा।

"कह नहीं सकता। पर फ़िलहाल मुझे नहीं लगता कि..."

"तो छोड़ो इस बात को। मैं ऐसे ही पूछ रहा था।"

"देखो, बुरा मानने की बात नहीं," मैंने कहा। "मुझे सचमुच इस चीज़ का पता नहीं था। हो सकता है इसीलिए किसी ने मुझसे ज़िक्र न किया हो कि अब मेरी इस बात में कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। या शायद..."

वह अविश्वास के साथ मुस्कुरा दिया, "मैं सिर्फ़ एक ही वजह से जानना चाहता था। ठीक स्थिति का पता चल जाने से मैं अपना कार्यक्रम आसानी से निश्चित कर

सकता हूँ। अगर सचमुच शिक्षा विभाग इसे एक प्राइवेट स्कूल में बदल जाने देगा, तो मैं...मेरा मतलब है कि रोज़ जैसा चाहती है, उसे नज़र में रखते हुए मैं...एक और साल यहाँ रहने की जगह इसी साल चले जाने की सोच सकता हूँ। मेरे सामने अपना ही नहीं, बच्चों का भी सवाल है—उनकी पढ़ाई-लिखाई का, उनके कैरियर का। ख़ैर जाना तो मुझे है ही...फिर भी...''

''तुम समझते हो सचमुच बहुत फ़र्क़ पड़ जाएगा इस चीज़ से?''

''स्कूल को न पड़े, मुझे तो पड़ ही सकता है। वह आदमी आज भी इतना कुछ ऐसा करता रहता है कि मुझे एक-एक दिन यहाँ काटना मुश्किल लगता है। उसके बाद तो वह कुछ भी कर सकता है। मुझे कहना नहीं चाहिए, लेकिन...तुम्हें पता है, रोज़ आज इतनी परेशान क्यों है?''

''तो क्या इसकी भी वजह...?''

''इसकी भी वजह वह आदमी है। हम लोग डेढ़ महीने से 'ब्लड वेडिंग' के रिहर्सल कर रहे हैं। मैंने उसे पहले से बता दिया था कि इस साल मैं कोई प्रहसन प्रस्तुत नहीं करना चाहता। रोज़ की बहुत दिनों से इच्छा थी कि हम कभी यह नाटक खेलें। हम लोग जब यहाँ आए थे, उससे पहले से ही यह बात उसके मन में थी। पर पहले भी यह सम्भव नहीं हुआ था और यहाँ आकर भी अब तक नहीं हो पाया था। मैंने इस साल इसे इसलिए भी चुना था कि जो कुछ हम लोग अब तक करते आए हैं, उससे अलग तरह की कोई चीज़ कर सकें। उस आदमी ने अगर नाटक पहले से नहीं पढ़ रखा था, तो यह क़सूर किसका है? उसे शुरू से पता था कि हम यह नाटक कर रहे हैं। पर नाटक उसे पसन्द नहीं है, यह बात कल उसने मुझसे कही है—ड्रेस रिहर्सल से पहले। बोला कि नाटक उसने अभी पढ़ा है—यह उस तरह का नाटक नहीं है जो स्कूल के लड़कों के बीच खेला जाए। रिहर्सल के बाद कुछ ऐसी ही बात उसने रोज़ से भी कह दी।''

''तो क्या...?''

''मैंने उससे कहा था कि वह चाहे, तो नाटक को अब भी कैंसिल किया जा सकता है। पर इसके लिए भी वह राज़ी नहीं हुआ। बोला कि नाटक तो अब होगा ही, हालाँकि उसे दुःख है कि हम लोगों ने एक ग़लत तरह का नाटक चुन लिया है। तुम सोच सकते हो कि आज की पूरी शाम में से गुज़रना मेरे लिए कितना मुश्किल हो रहा है। पहले मेहमानों के सांथ चाय है, फिर नाटक का डिनर। मैं कितना चाहता हूँ कि आज की पूरी शाम मैं बिस्तर में पड़े-पड़े काट दूँ जो कि वैसे मैं कभी नहीं चाहता। पर ठीक है...,'' कहता हुआ वह उठ खड़ा हुआ। ''वह शाम भी उसी तरह बीत जाएगी जैसे रोज़ की शाम बीतती है। कल सुबह हम इसका ज़िक्र बीते कल की शाम के रूप में कर रहे होंगे।''

उसका उठना मेरे लिए भी उठ जाने का इशारा था। दो लड़के उसकी स्टडी के बाहर आकर खड़े हो गए थे। उन्हें शायद उससे बात करनी थी। 'यह आदमी ऐसी मनःस्थिति में भी अपनी मेज़ इतने करीने से कैसे रख लेता है?' मैंने उसके पास से चलते हुए सोचा। जो शब्द उसने कहे, वे इतने औपचारिक थे कि उन्हें बोलते हुए अपनी ज़बान मुझे सूखती महसूस हुई। लड़कों के पास से गुज़रते हुए मैं ख़ामख़ाह मुस्कुरा दिया हालाँकि उन दोनों की आँखें मेरी तरफ़ नहीं थीं। बरामदे से उतरकर लान में आया, तो वहाँ रोज़ पर नज़र पड़ गई। वह आँखों पर बाँह रखे एक तरफ़ आरामकुर्सी पर लेटी थी। मुझे देखकर उसकी अधखुली आँखें पूरी मुँद गईं। मैं पल-भर के लिए रुका कि जाते-जाते फिर एक बार उससे उसकी तबीयत का हाल पूछ लूँ। पर उसकी बन्द आँखों से ज़रा भी प्रोत्साहन न पाकर मैं चुपचाप गेट से बाहर निकल आया।

शाम तक मैंने कुछ नहीं किया। मतलब, हुआ वह सब जो रोज़ होता था—घर जाना, चाय पीना, कमरे में टटोलना—मगर लगा यही कि कुछ नहीं किया। जब स्कूल की चाय पार्टी के लिए तैयार होने का वक़्त आया, तो एक जूते के तस्मे कसकर दूसरे के ढीले छोड़े चुपचाप बैठा रहा। मेरे सामने कोहली अपने ख़ास ढँग से कन्धे हिलाता सड़क से निकलकर गया। उसके दो-एक मिनट बाद मैंने गिरधारीलाल को चूहे की तरह झपटकर जाते देखा। मैं अपना हाथ ढीले तस्मे तक ले भी गया, मगर उसे कसने की जगह मैंने जूता उतार दिया। 'अब मैं इन सबसे बाहर हूँ,' मैंने मन में सोचा। 'अब स्कूल की पार्टियों में हिस्सा लेने या न लेने के लिए मैं किसी के सामने जवाबदेह नहीं हूँ।' उसके बाद भी दो-एक बार मन में आया कि कमरे में बैठकर उतरते अँधेरे की नहूसत ढोने की जगह लोगों के साथ चाय पीने में वक़्त ज़्यादा आसानी से कट सकता है। एक बार खिड़की के पास खड़े होकर यह अनुमान लगाने की चेष्टा भी की कि स्कूल के अहाते में चाय की लम्बी मेज़ों के आस-पास इस समय किस तरह की हलचल होगी, पर फिर से जूता पहनने के लिए अपने को फिर भी तैयार नहीं कर सका। 'उन सबको इसी तरह लग सकता है कि अब मैं अपने को किसी तरह स्कूल से जुड़ा हुआ महसूस नहीं करता,' इस तर्क से अपने चुपचाप बैठे रहने का समर्थन करके मैं अपने फटे मोज़े से बाहर निकले नाख़ून को हाथ से मलता रहा।

घर में कोई आवाज़ नहीं थी—यहाँ तक कि शारदा की खड़ाऊँ की खट्-खट् भी नहीं। सिर्फ़ बाहर से कभी हवा का धक्का बन्द खिड़कियों को थोड़ा हिला जाता था। लगता था कि हवा को अन्दर आने से रोकने के लिए चटखनियों को अपनी पूरी ताकत लगानी पड़ रही है। मुझे अपनी साँस में एक दबाव महसूस हो रहा था—जैसे अन्दर की कोई चटखनियाँ उस हवा के झटके के साथ भी लड़ रही थीं। उसी तरह

बैठे हुए और अपनी साँस आने-जाने को महसूस करते हुए एक क्षण आया जब मैं जैसे किसी चीज़ से डरकर सहसा उठ खड़ा हुआ। वह डर किस चीज़ का था? उस ख़ामोशी का? अपने अकेलेपन का? अपनी साँस में रुकाव आ जाने के ख़तरे का? या कि वहाँ होते हुए भी न होने, बीत चुकने के अहसास का? खड़े होकर मैंने कई लम्बी-लम्बी साँसें खींचीं। अपनी बाँहों को कसरत करने की तरह दो-चार बार झटक लिया। 'जब तक मैं यहाँ हूँ, तब तक मुझे यहाँ की चीज़ों से बाहर नहीं रहना चाहिए,' अपने से कहा और नाख़ून को फटे मोज़े के अन्दर समेटकर बिना हाथ से छुए जूता पहन लेने का संघर्ष करने लगा।

मगर ज़ीने से उतरते हुए लगा कि मैं अपने को नहीं, किसी और व्यक्ति को नीचे ले जा रहा हूँ। एक ऐसे व्यक्ति को जो बहुत दिन उस घर में रह चुकने के बाद फिर एक बार चोरी से वहाँ चला आया हो। सड़क पर आकर स्कूल की तरफ़ चलते हुए भी लगा कि मैं उस व्यक्ति की बाँह थामकर उसे ज़बर्दस्ती अपने साथ घसीट रहा हूँ। वह बार-बार रुक जाता है, मेरे साथ बहस करता है कि उसे नहीं जाना चाहिए और अपनी बाँह छुड़ा लेने की कोशिश करता है। मेरा मन करता है कि उसके साथ और संघर्ष न करके उसे वहीं छोड़ दूँ। मगर यह अहसास कि उसे छोड़ने का अर्थ है स्वयं भी रुक जाना मेरी ज़िद को बनाए रखता है। स्कूल के गेट के पास आकर वह व्यक्ति इस तरह अन्दर के लान पर नज़र डालता है जैसे कि बहुत पुराने परिचित चेहरों को वहाँ खोज रहा हो। जैसे कि उसे आशा हो कि उनमें से जो चेहरा नज़र आ जाएगा, वह उससे यही पूछेगा, "कैसे हो तुम? कहाँ थे इतने दिनों?" गेट के अन्दर पहुँचकर मुझे अपने पैर काफ़ी हल्के पड़ते लगे, जैसे कि पूरे वज़न से उस रास्ते पर चलने का अब मुझे अधिकार न हो। लान में अँधेरा था—परले सिरे पर जल रही एक बत्ती की वजह से धुँधला-धुँधला। ऊपर हॉल से कुछ आवाज़ें सुनाई दे रही थीं—आकाश में बसी किसी दूसरी दुनिया में चल रहे एक संवाद की तरह। नाटक शुरू हो चुका था। हॉल की सीढ़ियों के पास रुककर मैंने ऊपर देखा। हॉल के दरवाज़े से कुछ लोग चिपके खड़े थे। स्कूल के बैरे और चपरासी। मैं सीढ़ियाँ चढ़ने लगा, तो उस दूसरे व्यक्ति ने जैसे फिर से हठ शुरू कर दिया कि वह ऊपर नहीं जाएगा, नाटक नहीं देखेगा। मुझे झुँझलाहट हुई कि आधी सीढ़ियाँ चढ़कर नीचे उतरना, अब कितना भद्दा लगेगा। मैंने उसे फुसलाया, पर वह फिर भी नहीं माना, तो जैसे उसे घसीटकर साथ ले चला। बैरे और चपरासी मुझे देखकर थोड़ा-थोड़ा इस-उस तरफ़ को सरक गए। कुछ उसी तरह जैसे कोई कुर्सी या बक्सा ढोकर अन्दर ले जाया जाना होता, तो सरक जाते। हॉल में दाख़िल होकर देखा कि वहाँ बैठने की जगह नहीं है। कितने ही लोग वहाँ पहले दाएँ-बाएँ दीवारों के साथ खड़े थे। अँधेरे में पहचान सकना सम्भव नहीं था, फिर भी पीठों से मुझे लगा कि वे शायद स्कूल के लोग नहीं, चोरी

से घुस आए बाहर के व्यक्ति हैं। उनके खड़े होने का ढँग भी कुछ ऐसा ही था। कुछ देर रुककर इधर देखते रहने के बाद पीछे की कुनकुनाहट से मैंने महसूस किया कि मैं बैरों और चपरासियों को नाटक देखने में बाधा डाल रहा हूँ। मैं हटकर एक तरफ़ की दीवार के पास चला गया। मुझसे आगे खड़ी स्त्री ने एक बार घूमकर मेरी तरफ़ देख लिया। वह चपरासी फ़कीरे की बीवी काशनी थी जो कभी-कभी हमारे घर के पास घास काटती नज़र आ जाया करती थी। अँधेरे में उसकी आँखों में मुझे एक अजीब-सी चमक दिखाई दी। जैसे कि मेरे वहाँ आ खड़े होने से ही वह अन्तर समाप्त हो गया जिसे उसने तब तक मन में स्वीकार कर रखा था। मुझे ठीक से देखने की सुविधा देने के लिए वह थोड़ा सिमट भी गई।

मैंने अपना ध्यान मंच पर केन्द्रित करने की चेष्टा की। नाटक का वह दृश्य चल रहा था जहाँ दूल्हे की माँ दुलहिन के यहाँ आकर उससे बात करती है। दुलहिन की भूमिका में रोज़ काफ़ी आकर्षक लग रही थी। अपनी उम्र से काफ़ी छोटी भी। उसकी होनेवाली सास उससे पूछ रही थी, "तुम जानती हो बच्ची, कि विवाह का अर्थ क्या है?" उत्तर में "जानती हूँ," कहते हुए रोज़ के चेहरे पर जो भाव आया, वह कुछ वैसा ही था जैसा दोपहर बाद अपने घर के लान में आँखों पर बाँह रखे हुए उसके चेहरे पर देखा था। काशनी ने फिर एक बार पीछे देख लिया और मुझसे आँख मिलने पर हलके से मुस्कुरा दी। मैंने उस मुस्कुराहट से शरीर मैं कुछ उत्तेजना महसूस करते हुए एक बार पूरे हॉल में नज़र दौड़ाई। अँधेरा। अँधेरे में हलके-हलके हिलती आकृतियाँ। इधर-उधर मुड़ते सिर। फुसफुसाहट। सामने रोशनी का चौकोर फलक। वहाँ से आती आवाज़ें उस फुसफुसाहट को ढाँपती हुई। एक स्त्री का शरीर, मेरे शरीर से तीन-चार इंच के फ़ासले पर। उस शरीर की हलकी गन्ध, मैले कपड़ों की गन्ध में मिली हुई। काशनी आँखें मंच पर स्थिर किए जैसे अपना पैर खुजलाने के लिए झुक गई। अपना शरीर उसके शरीर से छू जाने से मैं थोड़ा पीछे हट गया। दूल्हा की माँ दुलहिन के पिता से पूछ रही थी, "तो हम लोग हर चीज़ पर सहमत हैं?" उस आदमी के 'हाँ, सहमत हैं,' कहने तक न जाने किस संकेत से दीवारों के साथ खड़े लोग पीछे दरवाज़े की तरफ़ सरकने लगे। एक-डेढ़ मिनट में ही मुझसे आगे खड़े सब लोग एक-एक करके मेरे पास से गुज़र गए। उनमें से कइयों को मैंने पहचाना--स्कूल का ग्वाला, नाई, अख़बारवाला, जमादार, जमादार की बीवी। काशनी भी उन लोगों के साथ ही बाहर चली गई। जो लोग दरवाज़े से सटकर नाटक देख रहे थे, उनमें से भी कोई अब वहाँ नहीं रहा। अंक समाप्त होने को था और बत्तियाँ जलने पर वे लोग वहाँ दिखाई नहीं देना चाहते थे। अँधेरी दीवार के साथ अपने को बिलकुल अकेला खड़ा पाकर मुझे अपना-आप बहुत बेतुका लगने लगा। महसूस होने लगा कि जिस व्यक्ति को मैं ज़बर्दस्ती अपने साथ अन्दर ले आया हूँ, वह अब मुझे

अपने को इस स्थिति में डालने के लिए कोस रहा है। वह चाहता है कि जैसे और लोग वक़्त रहते बाहर चले गए हैं, वैसे ही वह भी चला जाए। मगर मैं नहीं चाहता था कि उन लोगों को लगे कि मैं भी उनकी तरह चोरी से नाटक देख रहा था। पर मैं यह भी नहीं चाहता था कि बत्तियाँ जलने पर मैं अकेला लोगों को दीवार के पास खड़ा नज़र आऊँ। अपने शरीर का वज़न मुझे पैरों पर काफ़ी भारी महसूस हो रहा था। मंच पर रोशनी मद्धिम पड़ गई थी। दुलहिन की नौकरानी उससे पूछ रही थी, "तुमने रात को घोड़े की टापें सुनी थीं?" मैं जानता था कि अब एक-डेढ़ मिनट की बातचीत के बाद अंक समाप्त हो जाएगा। एक बार सोचा कि तब तक आगे की कुर्सियों की तरफ़ बढ़ जाऊँ। पर इस बार जैसे साथ के व्यक्ति ने मेरी बाँह थाम ली और मुझे बाहर की तरफ़ घसीटने लगा। जब हॉल में बत्तियाँ जलीं और अन्दर का शोर बाहर की तरफ़ बढ़ा, मैं सीढ़ियों से नीचे आकर चेपल की पगडंडी पर चल रहा था।

ठंड बहुत थी, फिर भी अन्दर की गरमी काफ़ी हद तक उस ठंड से बचाव कर रही थी। अपने होंठों पर जमी ताज़ा पपड़ियों पर हाथ फेरते हुए मैंने अपनी साँस पर एक गन्ध का असर महसूस किया—चेपल की दीवारों से उठती गन्ध का। वह गन्ध एक पुरानी इमारत के बुसे हुए गारे-चूने की गन्ध ही नहीं, उसके अन्दर बरसों की गई प्रार्थनाओं तथा दिए गए सर्मनों की गन्ध भी थी—शायद उन सब अनुभूतियों की भी जो वहाँ ख़ामोश बैठकर सर्मन सुनते लोगों के मन में रही थीं। चेपल से आगे खुली हवा में आकर मैंने नंगे आकाश को देखा। उससे अपना आप कुछ असुरक्षित भी लगा, मन को कुछ राहत भी मिली। लान पार करके मैं क्रिकेट पैविलियन की एक ठंडी बेंच पर जा बैठा। हथेलियाँ बेंच पर फैलाए घाटी के बड़े-से कटोरे में भरे अँधेरे को देखता रहा। कुछ देर बाद हॉल की तरफ़ से पहली, फिर दूसरी घंटी की आवाज़ सुनाई दी। सोचा कि नाटक आगे देखना हो, तो अभी उठकर चल देना चाहिए जिससे इस बार दीवार के साथ न खड़े होना पड़े। लेकिन उस दूसरे ने इस बार इस तरह मुझे रोके रखा कि तीसरी घंटी के बाद भी मैं वहीं बैठा रहा। 'मेरे वहाँ होने-न-होने से कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ेगा,' मैंने सोचा। 'किसी को पता भी नहीं चलेगा कि मैं वहाँ नहीं था।' यह सोचते हुए एक बार काशनी का चेहरा सामने तिर आया। उसकी आँखों की चमक में वैसा ही कुछ था जैसा नंगे आकाश में या घाटी के अँधेरे में। लगा कि वह शायद एकाध बार अपने पीछे खड़े व्यक्ति को फिर से वहाँ देख सकने की आशा में आँखें घुमाएगी। पर उसके बाद शायद उसके लिए भी उस व्यक्ति का अस्तित्व नहीं रह जाएगा। नाटक की चकाचौंध में, जिसका अर्थ उसकी समझ के बाहर था, वह क्षण, जबकि उसने जान-बूझकर पीछे के उस व्यक्ति से छू जाना था, उसकी चेतना से बुझ जाएगा।

कितनी बार चाहने पर भी कि डिनर शुरू होने से पहले मैं वहाँ से उठकर घर चला जाऊँ, मैं नाटक का तीसरा अंक समाप्त होने तक पूरा समय वहीं बैठा रहा। कारण था तेज़ भूख लग आना। शाम को कुछ खाया नहीं था और पार्टी की वजह से रात का खाना घर पर नहीं पहुँचना था। उस समय घर लौट जाने का अर्थ था पूरी रात भूखे रहकर काटना—सुबह के नाश्ते से बची हुई डबलरोटी भी घर पर नहीं थी कि उसके चार स्लाइस जाकर निगल लेता। मैंने वहाँ बैठे-बैठे सामने अँधेरे के मंच पर वह पूरा नाटक देख डाला। दुलहिन के घर में ब्याह का आयोजन, लेकिन उस आयोजन के बीच से दुलहिन का अपने प्रेमी के साथ भाग जाना। दूल्हा और उसके साथियों द्वारा उन दोनों का पीछा, मृत्यु का जाल, दूल्हा और प्रेमी दोनों की मृत्यु और मृत्यु की रेखा के इस ओर दुलहिन। नाटक के बीच में प्रतीक्षा करता रहा समय बीतने की, डिनर की टेबल पर पहुँचकर कुछ भी खा सकने की। साथ अपने पर कुढ़ता रहा कि क्यों एक दिन की, सिर्फ़ एक दिन की, भूख भी मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। क्या इस तरह की भूख के वक़्त, कोई भी व्यक्ति, अपनी कोई भी शर्तें मनवाकर जीने के लिए मुझे मजबूर नहीं कर सकता था?

नाटक का दूसरा अंक समाप्त हुआ। फिर घंटियाँ बजीं। तीसरा अंक समाप्त हुआ और कई आवाज़ें हॉल से नीचे आईं। चेपल की पगडंडी पर पैरों की आहट सुनकर मैं उठ खड़ा हुआ। कुछ देर के लिए पैविलियन से नीचे चला गया जिससे वहाँ मुझे कोई देखे नहीं। कुछ वक़्त ग्राउंड में टहलते हुए बिताया। फिर भी जब कामन रूम में पहुँचा, तो वहाँ अभी कोई नहीं आया था। साथ के कमरे में ख़ाली प्लेटें रखी थीं जिनके आस-पास छुरी-काँटे सजाए जा रहे थे।

मैं एक दरवाज़े से अन्दर जाकर दूसरे दरवाज़े से बाहर निकल आया। ऊपर राबर्टसन हाउस की डारमेटरी में थोड़ी हलचल थी, पर बरामदे में कोई नहीं था। वहाँ लोग घड़ी की सूइयों के हिसाब से डिनर के लिए न आएँ, ऐसा कभी नहीं होता था। मैं टहलता हुआ नोटिस बोर्ड के पास चला गया। दो-एक नए नोटिस थे, पर अँधेरे में आँखें गड़ाकर भी उन्हें नहीं पढ़ सका। लगा कि ज़रूर डिनर का वक़्त बदल दिया गया होता। अगर नोटिस नहीं लगा होगा, तो नाटक के बाद एनाउंसमेंट कर दिया गया होगा। बरामदे की सीढ़ियों पर आकर मैं कुछ देर वीराने में भटक गए आदमी की तरह खड़ा रहा। डिनर के कमरे में जाकर बैरों से पूछ सकता था, पर उस तरह अपने को मैं और भी अजनबी नहीं बनाना चाहता था। सीढ़ियों पर खड़े-खड़े कई बार मन में आया कि लोगों के आने से पहले गेट से निकलकर घर की तरफ़ चला जाऊँ, पर भूख ने उस ख़याल को हर बार मन से धकेल दिया। लेकिन लोगों का आना शुरू होने तक वहाँ भी खड़े नहीं रहा जा सकता था, इसलिए मैं टहलता हुआ फिर पैविलियन में चला गया। अपना होना उस समय मुझे अपने ही लिए एक बोझ

लग रहा था। जैसे मैं अपने-आपसे फ़ालतू पड़ गया था और समझ नहीं पा रहा था कि इस फ़ालतू आदमी का क्या करूँ। क्या ऐसा कोई तरीक़ा हो सकता था कि जिससे बिना वहाँ रुके उस आदमी की भूख मिटाकर उसे सुलाया जा सके? तरीक़ा एक ही था कि चढ़ाई चढ़कर माल पर चला जाए और वहाँ किसी रेस्तराँ में खाना खा लिया जाए। वहाँ पहुँचने तक अपने-अपने क्वार्टरों से आते लोगों से रास्ते में भेंट हो जाने की सम्भावना थी। सोचा कि अगर शोभा घर पर होती, तो अपने को इस समय के फ़ालतूपन से तो बचाया ही जा सकता था। बाद में रात-भर नींद चाहे न आती, पर एक वक़्त का खाना खा सकने के लिए वहाँ मँडराते रहने की ज़रूरत से तो निजात पाई जा सकती थी। मैंने नए सिरे से शोभा के नाम लिखे जानेवाले पत्र का मज़मून मन में बनाना शुरू किया। उस रात के बाद कई और मज़मून मन में बनाकर रद्द कर चुका था। हर मज़मून में लगता था कि कोई-न-कोई पक्ष छूट गया है या अधूरा रह गया है या ग़लत हो गया है। त्यागपत्र का मज़मून जितनी आसानी से बन गया था, उतनी आसानी से वह मज़मून नहीं बन पाता था। त्यागपत्र से पहले की अपनी अपेक्षाओं में अब नई अपेक्षाएँ त्यागपत्र की वजह से आ जुड़ी थीं। लिखना शुरू करने पर मज़मून अब भी इतने तक ही बन पाता था, 'प्रिय शोभा...'

कुछ ही देर में कामन रूम की तरफ़ जाते पैरों की आहटें सुनाई देने लगीं। एल्बर्ट और मॉली क्राउन मिसेज़ ज्याफ्रे से बात करते हुए बरामदा पार कर रहे थे। कोहली, लैरी और गिरधारीलाल साथ-साथ चेपल की पगडंडी से आ रहे थे। उनके पीछे कुछ फ़ासले पर दो स्त्रियाँ थीं—शारदा और गिरधारीलाल की बीवी रत्ना। नीचे ग्राउंड से अपनी तरफ़ आती एक आहट के कारण मैं पैविलियन से बाहर निकल आया। बॉनी हाल लगभग दौड़ती हुई ऊपर को आ रही थी। मुझे देखते ही वह रुककर हाँफने का अभिनय करने लगी। ''हलो,'' वह वहीं से बोली, ''पैविलियन में छिपे क्या कर रहे थे तुम अँधेरे में?''

''तुम्हारा इन्तज़ार कर रहा था,'' मैंने खोखली हँसी से अपनी स्थिति को ढाँपने की चेष्टा की।

''झूठ मत बोलो,'' बॉनी फिर अपनी उसी रफ़्तार से ऊपर तक आ गई। ''मुझे तो लगता है कि तुम किसी और के साथ थे यहाँ, जिसे तुमने पहले ही भेज दिया है।''

''और किसके साथ हो सकता था यहाँ!'' हम दोनों साथ-साथ चलने लगे।

''यह मैं कैसे कह सकती हूँ। तुम्हारे जैसे अकेले आदमी का कुछ भरोसा थोड़े ही है!''

वह पार्टी के लिए लम्बा कसा हुआ गाउन पहनकर आई थी जिसमें उसका छरहरा शरीर और भी दुबला लग रहा था। ठोढ़ी उठाकर बात करने के कारण उसकी सफ़ेद गरदन की नस बाहर को निकल रही थीं।

"मैं अकेला आदमी हूँ, यह तुमसे किसने कह दिया?" मैंने मुश्किल से अपनी आँखें उसकी गरदन से हटाकर कहा।

"तुम्हारा ख़याल है मुझे पता नहीं है कि तुम्हारी पत्नी आजकल यहाँ नहीं है?"

"उससे कुछ फ़र्क़ पड़ता है क्या?"

"क्यों नहीं पड़ता? तुम्हारी पत्नी यहाँ होती, तो तुम भी इस वक़्त और लोगों की तरह नाप-नापकर क़दम रखते अपने घर की तरफ़ से आ रहे होते।" फिर चुटकी लेती नज़र से एक बार मुझे देखकर वह हलके से हँस दी।

पार्कर और मिसेज़ पार्कर को दाईं तरफ़ से आते देखकर मैंने बातचीत की। "नाटक के बाद मैं घर नहीं गया। यहीं रुका रहा क्योंकि..."

"झूठ मत बोलो!" बॉनी ने झिड़कने की तरह अपना हाथ मेरे हाथ से टकरा दिया। मेरे शरीर में एक कँपकँपी दौड़ गई और मैंने फिर कुछ नहीं कहा। पार्कर और मिसेज़ पार्कर के पास आ जाने से हम चारों साथ-साथ कामन रूम की तरफ़ चलने लगे।

"तुम्हें नाटक कैसा लगा?" बॉनी ने मिसेज़ पार्कर से पूछा।

मिसेज़ पार्कर ने निढाल ढँग से एक साँस ली। "मुझे इतनी समझ ही कहाँ है?" वह बोली। "अच्छे और बुरे नाटक का फ़र्क़ मुझे पता ही नहीं चलता। मैं तो अब लोगों की बातचीत से जानूँगी कि नाटक कैसा हुआ है। तुम्हें कैसा लगा?"

"बेहूदा!" बॉनी बरामदे में पैर फिसलाकर चलने लगी। फिर तीनों के चेहरों पर नज़र डालकर उसने आहिस्ता से जोड़ दिया, "हालाँकि सबके बीच यह बात कहने से पहले मैं भी देख लूँगी कि और लोग क्या कह रहे हैं।"

कामन रूम तक पचास क़दम फिर हममें से किसी ने बात नहीं की। अन्दर जाने से पहले मिसेज़ पार्कर ने अपनी चाल काफ़ी धीमी कर दी। सबसे पहले बॉनी अन्दर गई, फिर पार्कर, फिर मैं। मिसेज़ पार्कर सबसे अन्त में इस तरह दाख़िल हुई जैसे कोई चीख़ पहले बाहर ढूँढ़ती रही हो और अब देखने आई हो कि वह चीज़ कहीं अन्दर तो नहीं है।

अन्दर काफ़ी लोग जमा थे। इसका मतलब था कि डिनर का समय सचमुच आधा घंटा आगे बढ़ा दिया गया था। पर मैंने पूछा किसी से नहीं। चुपचाप जाकर एक तरफ़ खड़ा हो गया। जितने लोग पहले से आए थे, वे भी एक-दूसरे से अलग छितराकर बैठे थे। बातचीत का जमाव सिर्फ़ एक ही जगह था—मिसेज़ ज्याफ़्रे के आसपास। वहाँ लारा, रूथ मोनिका, मॉली क्राउन, डायना और मिसेज़ एटकिन्सन हलके-फुलके ढँग से नाटक की चर्चा कर रही थीं। बॉनी भी सीधे उसी जमघट में चली गई। "मुझे पोशाकें बहुत पसन्द आईं," मिसेज़ ज्याफ़्रे कह रही थी, "लगता है उन्हें तैयार कराने में काफ़ी मेहनत की गई थी।" उसकी बात के गहरे अर्थ से

अन्य स्त्रियाँ अपनी मुस्कुराहटें दबाए एक-दूसरी की तरफ़ आँखों से इशारे करने लगीं। डायना और मिसेज़ एटकिन्सन नाटक में क्रमशः नौकरानी और दूल्हा की माँ का अभिनय करके आई थीं, इसलिए इस इशारेबाज़ी में वे औरों से अलग पड़ गई थीं। हाउस-मास्टर ब्रैंडल जिसने नाटक में दूल्हा का अभिनय किया था, सिर पर बाँहें रखे एक तरफ़ सोफ़े पर बैठा जैसे अब भी आख़िरी पर्दा गिरने की राह देख रहा था। कोहली और गिरधारीलाल साथ-साथ खड़े पूरे कमरे पर नज़र दौड़ा रहे थे जैसे कि तीसरे अंक के बाद अब नाटक का चौथा अंक उनके सामने शुरू हुआ हो जिसे उसी ख़ामोशी के साथ उन्हें पूरा देखना हो जिस ख़ामोशी के साथ उन्होंने पहले अंक देखे थे। उन दोनों की पत्नियाँ भी कुछ दूर उसी तरह साथ-साथ बैठी थीं—साड़ियों में ढँकी पुतलियों की तरह होंठ बन्द किए आँखें इधर-उधर हिलाती हुईं। चेरी घड़ी देखकर एक मिनट उस कमरे में जाता था जिसमें डिनर की टेबलें लगी थीं और दूसरे मिनट अपने कसे हुए कोट की सलवटें निकालता कामन रूम में चला आता था। लैरी इस कोशिश में कि वह कहीं खड़ा होकर किसी से बात कर सके, पूरे कमरे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम चुका था। जितने लोग अकेले खड़े थे, उन सबसे एक-एक बार आँख मिलाकर वह दो-दो, चार-चार शब्द कह चुका था। पर मेरे पास से गुज़रते हुए मुझे उसने जैसे देखा ही नहीं। कोहली और गिरधारीलाल ने भी मुझसे आँखें परे हटा लीं। चेरी ने ज़रूर एक बार मेरा कन्धा छू दिया—कुछ उसी तरह जैसे रास्ते में कोई रुकावट आ जाने पर वह हलके से उसे हटाकर निकल जाता। तभी मिस्टर और मिसेज़ व्हिसलर के आ जाने से जो थोड़ी-बहुत बातचीत चल रही थी, वह भी रुक गई। बैठे हुए लोग खड़े हो गए। टोनी व्हिसलर ने जैसे एक ही नज़र में देख लिया कि कौन लोग तब तक आ चुके हैं और कौन नहीं आए। फिर चेरी के पास जाकर उसने पूछ लिया, "सबकुछ तैयार है?"

"बिलकुल तैयार है सबकुछ," चेरी ने अपनी आदत के ख़िलाफ़ काफ़ी अदब के साथ कहा और रास्ता छोड़ने के लिए थोड़ा पीछे हट गया।

"मेरा ख़याल है सब लोग अभी नहीं आए," टोनी ने फिर एक बार चारों तरफ़ देख लिया।

"हम लोग हीरो और हीरोइन का इन्तज़ार कर रहे हैं," मिसेज़ ज्याफ़्रे मुस्कुराई।

टोनी ने होंठ काटते हुए अपनी घड़ी देखी और साथ के कमरे में दाख़िल हो गया, "खाने में किसी की वजह से देर नहीं की जा सकती," उसने कहा, "खाना हम लोग शुरू कर रहे हैं।"

सब लोग एक उतावली के साथ उस कमरे में दाख़िल हो गए जैसे कि जल्दी-से-जल्दी अन्दर पहुँचकर उन्हें अपने वहाँ हाज़िर होने का सबूत देना हो। चेरी अन्दर जाते हुए सबके हाथों में उनके सीट-नम्बरों की चिटें देता गया। सीटों का

बँटवारा हमेशा की तरह इस तरह से था कि एक-एक स्त्री के बाद एक-एक पुरुष बैठ सके। अपनी सीट ढूँढ़कर मैं उसके पास पहुँचा, तो देखा कि मुझे एक मेज़ के सिरे पर बैठना है। मेरे एक तरफ़ मिसेज़ ज्याफ्रे थी, दूसरी तरफ़ बॉनी हाल। ग्रेस के बाद सब लोग अपनी-अपनी जगह पर बैठ गए, तो सिर्फ़ दो ही सीटें ख़ाली रहीं। एक हमारी वाली मेज़ के दूसरे सिरे पर, दूसरी टोनी व्हिसलर वाली मेज़ पर उसके सामने। सूप सामने आ जाने पर मिसेज़ ज्याफ्रे उसमें चम्मच चलाती हुई आहिस्ता-से बोली, "मेरा ख़याल है उन लोगों ने आज डिनर का बायकाट कर दिया है।"

"आज के अभिनय के बाद उन्हें भूख नहीं रही होगी," बॉनी हँसी। अपना नेपकिन जाँघों पर फैलाते हुए उसका घुटना मेरे घुटने से आ छुआ।

मुझे लगा कि यह अनायास नहीं हुआ। बॉनी को अपने दुबले शरीर के लिए इतनी जगह की ज़रूरत नहीं थी कि उसका घुटना इतनी दूर तक फैल आता। मैंने अपना घुटना हटाया नहीं। सूप के हलके-हलके घूँट भरता इन्तज़ार करता रहा कि कहाँ तक उस घुटने का दबाव मेरे घुटने पर बढ़ता है। थोड़ी देर में वह घुटना परे सिमट गया। मैं जैसे एक झटका खाकर फिर बातचीत में ध्यान देने लगा। मिसेज़ ज्याफ्रे नाटक की चर्चा कर रही थी। उसका ख़याल था कि रोज़ ने आज जान-बूझकर इतना ख़राब अभिनय किया है क्योंकि वह जिमी पर यह साबित करना चाहती थी कि उसे स्कूल की ज़िन्दगी कितनी नागवार है। "उसे सभी कुछ नागवार है," वह कह रही थी, "यहाँ तक कि अपने पति के निर्देशन में अभिनय करना भी। वह अपने सामने स्कूल में किसी को कुछ समझती ही नहीं, जिमी को भी कुछ नहीं समझती। उसे लगता है, उसकी ज़िन्दगी जो लन्दन के वेस्ट एंड में बीतनी चाहिए थी—वहाँ के व्यावसायिक रंगमंच पर—वह यहाँ रहकर यूँ ही बर्बाद हो रही है। अपने मन में वह अपने को इतनी बड़ी एक्ट्रेस समझती है कि सिवाय लारेंस ओलिवियर के और किसी के साथ अभिनय करना उसे अपनी हतक जान पड़ती है। बेचारा जिमी! अगर उसे पहले से पता होता कि वह इतनी बड़ी कलाकार के साथ शादी कर रहा है, तो...।"

बॉनी का घुटना फिर मेरे घुटने से आ छुआ। मेरा नेपकिन टाँगों से गिरने को हो रहा था, उसे मैंने ठीक से फैला लिया। कमरे में चल रही बातचीत के छोटे-छोटे टुकड़े कानों से टकरा रहे थे। पीछे की मेज़ पर भी नाटक की ही चर्चा हो रही थी। एल्बर्ट नाटक के एक-एक दृश्य का विश्लेषण करता बता रहा था कि उसकी दृष्टि से उसे कैसे प्रस्तुत करना चाहिए था। साथ की मेज़ पर टोनी व्हिसलर के आस-पास बैठे लोग गम्भीर होकर इस बारे में अपने सुझाव दे रहे कि अगले साल किन-किन लड़कों को प्रीफ़ेक्ट बनाया जाना चाहिए। दूसरी तरफ़ की मेज़ पर पिछली शाम को खेले गए मैच की चर्चा हो रही थी। आवाज़ों से हटकर कुछ देर मेरा ध्यान चेहरों पर केन्द्रित रहा। सूप की प्लेट तक झुककर चम्मच मुँह में ले जाता कोहली का चेहरा,

कुर्सी की पीठ के सहारे पीछे को हटा-सा लैरी का चेहरा—चम्मच को अपनी तरफ़ लाते हाथ को जैसे अहसान के साथ देखता। चम्मच को हाथ में रोककर डरी हुई आँखों से इधर-उधर देखता मिसेज़ दारूवाला का चेहरा। दिनों की अनपच के कारण भूख न रहते हुए भी किसी तरह सूप को अन्दर उड़ेलता मॉली क्राउन का चेहरा। मेरा नेपकिन फिर नीचे को सरकने लगा, तो उसे सँभालने की चेष्टा में मेरे हाथ का चम्मच हिल गया जिससे सूप की कुछ बूँदें मेरी कमीज़ पर गिर गईं। "देखो-देखो, क्या कर रहे हो तुम?" कहते हुए बॉनी ने घुटने से मुझे ठोकर लगा दी। मैंने नेपकिन का एक सिरा पतलून की बेल्ट में खोंस लिया।

बैरा सामने से सूप की प्लेट हटा रहा था जब जिमी की आवाज़ से चौंककर मैंने पीछे देख लिया। "मुझे अफ़सोस है हमें आने में देर हो गई," रोज़ की बाँह थामे वह उसे अन्दर ला रहा था।

"रोज़ की तबीयत अचानक ख़राब हो गई थी। बहुत-बहुत अफ़सोस है मुझे।"

कमरे की बातचीत थोड़ी देर रुकी रही। सब लोगों का ध्यान उन दोनों की तरफ़ चला गया था। चेरी ने जल्दी से अपनी जगह से उठकर उन्हें उनकी सीटें दिखला दीं। हेडमास्टर के सामनेवाली सीट जिमी की थी। हमारी मेज़ के सिरे वाली रोज़ की।

रोज़ कुछ अस्थिर ढँग से अपनी सीट तक आई और किसी तरह अपने को सँभाले उस पर बैठ गई। कपड़े उसने बदल लिए थे, पर नाटक का मेकअप उतारकर अपना स्वाभाविक मेकअप नहीं किया था। जो पोशाक उसने पहनी थी, वह भी काफ़ी सादा थी। पहले पार्टियों में वह हर बार नई सजधज के साथ आती थी—जैसे कि एक पार्टी के बीच का पूरा समय इसकी तैयारी में ही बिताती हो। इस तरह अपने को सबसे अलग-थलग रखती हुई भी वह पार्टियों में सबके ध्यान का केन्द्र बनी रहती थी। यह उसकी आकर्षक पोशाक, चौंतीस-छब्बीस-चौंतीस के शारीरिक आँकड़ों तथा गहरी नीली आँखों के कारण ही नहीं, उस उपेक्षा-भाव के कारण भी होता था जिसके साथ वह व्हिसलर और दूसरे सब लोगों के पास से निकलकर जैसे हवा से 'गुड ईवनिंग' कहती दीवार-अँगीठी की तरफ़ बढ़ जाती थी। लोग एक-दूसरे से बात करने का बहाना करते भी देखते रहते थे कि वह कैसे अपने दस्ताने उतारकर बैग में रखती है और वहाँ से रूमाल निकालकर उससे अपनी ठोढ़ी और गालों को छूती है। जितनी देर पार्टी चलती रहती थी, उसके मुँह से सिवाय अर्धाक्षरी शब्दों के अक्सर कोई बात सुनाई नहीं देती थी। येस, नो, गुड, नाइस, ऑफुल। खाने की मेज़ पर जो लोग उसके दाएँ-बाएँ बैठे हों, उनके लिए ठीक से खाना खा सकना मुश्किल हो जाता था। आदमी अपनी तरफ़ से बात शुरू करे, तो उसकी तरफ़ से जवाब पाने का उसे विश्वास नहीं होता था। पर वह यह भी नहीं जानता था कि कब अचानक उसकी तरफ़ देखकर वह हौले से कह देगी, "माई गॉड! यह क्या मछली है?" ऐसे में वह आदमी

हड़बड़ाकर रह जाता था क्योंकि न तो रोज़ की कही बात होने से वह उसका खंडन कर पाता था, न टोनी व्हिसलर के दूर से सुनते कानों की पहुँच में उसका समर्थन। नाटक के बाद की रात को तो उसका ख़ामोशी का मुखौटा और भी सख़्त होता था। कोई भी उसके सामने उसके अभिनय की प्रशंसा करने लगता, तो वह एक कटे-छँटे 'थैंक्स' के साथ चेहरा दूसरी तरफ़ हटा लेती थी।

पर उस समय कुर्सी पर बैठते हुए उसने एक बार भरपूर नज़र से कमरे की पाँचों मेज़ों को देख लिया। कुछ इस तरह जैसे वह पार्टी का कमरा न होकर एक छोटा-सा हॉल हो जहाँ वह भाषण देने आई हो। जहाँ वह बैठी थी, वहाँ से जिमी की पीठ उसकी तरफ़ पड़ती थी, टोनी की आँखें। अपना नेपकिन गिलास से निकालकर उसने इस तरह झाड़ लिया जैसे उस पर काफ़ी गर्द जमी हो और उसे घुटनों पर फैलाकर कुहनियों के बल मेज़ पर झुक गई। ''हलो एवरीवन!'' उसने अपनी नीली पुतलियों को इधर-उधर चलाते हुए कहना शुरू किया, ''मेरे पति का कहना है कि मैंने आज नाटक में अच्छा अभिनय नहीं किया। क्या आप सबकी भी यही राय है कि मैंने अच्छा अभिनय नहीं किया?''

उसके आने के बाद से कमरे की बातचीत वैसे ही मद्धिम पड़ गई थी। उसके इस तरह बोलना शुरू करने पर वह और भी धीमी पड़ गई। बैरों ने इस बीच तली हुई मछली की प्लेटें सबके सामने रख दी थीं। ज़्यादातर लोग इस तरह छुरी-काँटे चलाने में व्यस्त हो गए जैसे मछली के टुकड़ों को काटना काफ़ी मेहनत का काम हो। मिसेज़ ज्याफ्रे ने एक बार गहरी नज़र से मुझे और बॉनी को देख लिया और हलके-से बुदबुदाई, ''मेरा ख़याल है यह पीकर आई है।''

बात बहुत आहिस्ता कही गई थी, फिर भी मेज़ के उस सिरे पर रोज़ के कानों तक वह पहुँच गई। रोज़ ने अपनी प्लेट से मछली का एक टुकड़ा काटकर काँटे पर लगा लिया और उसे हिलाती हुई मिसेज़ ज्याफ्रे की तरफ़ देखकर बोली, ''क्या कहा तुमने मिसेज़ ज्याफ्रे? मैं पीकर आई हूँ इस वक़्त? तुम ठीक कह रही हो। मेरे पति ने मुझसे अनुरोध किया था कि मुझे इस वक़्त थोड़ी-सी पी लेनी चाहिए। बल्कि उसने मुझे ज़बरदस्ती पीने के लिए मजबूर किया है। वैसे पार्टी में आने से पहले थोड़ी-सी पी लेना बुरी बात है क्या? तुम्हें पीने से इतना परहेज़ है, यह मैं नहीं जानती थी। बल्कि मेरा तो ख़याल था कि तुम्हें खुद इसका काफ़ी शौक़ है। तुमने तो अपनी काफ़ी ज़िन्दगी राजा-महाराजाओं के साथ काटी है। क्या वहाँ भी लोग यहाँ की तरह परहेज़ बरतते थे? ख़ैर, मैं इस बारे में कुछ नहीं कह सकती। मैंने आज तक किसी राजा-महाराजा को देखा तक नहीं है। अब शायद देख भी नहीं सकती क्योंकि राजा-महाराजा अब समाप्त हो गए हैं। फिर भी मैं मानती हूँ कि मुझे यहाँ पीकर नहीं आना चाहिए था। हम लोगों ने आज एक ट्रेजिक नाटक खेला है। उस ट्रेजेडी की भी

माँग थी कि यहाँ पीकर न आया जाए। ख़ैर, नाटक हमने कोई भी खेला होता, यहाँ की माँग यही होती। यह स्कूल एक धार्मिक संस्था है। धार्मिक संस्थाओं में इन चीज़ों की मनाही होनी ही चाहिए, पर ख़ैर, जितनी भी चीज़ों की हो सके, उतना ही अच्छा है। आदमी काम करे बस...सुबह से शाम, शाम से सुबह...और भुना हुआ गोश्त और तली हुई मछली खाकर सो रहे। हो सके, तो बग़ैर उसके सो रहे। मैं अपनी तरफ़ से चाहती भी यही थी। मगर अपने पति का मैं क्या करूँ जिसे यह बात समझ ही नहीं आई? बोला कि जिस तरह तुमने मंच पर दो घंटे निकाले हैं, उसी तरह एक घंटा पार्टी में भी निकाल दो। अभिनय करते हुए मैंने उससे कहा भी कि मैं इतना थकी हुई हूँ कि और अभिनय नहीं कर सकती। अगर तुम चाहते ही हो, तो कल नाटक का एक और शो रख लो। वहाँ मैं फिर अभिनय कर सकती हूँ। यह क्या कि दो महीने की तैयारी के बाद सिर्फ़ दो घंटे के अभिनय से बात समाप्त हो जाए। आदमी को इतना मौक़ा तो मिलना चाहिए कि जो बात वह आज के अभिनय में नहीं कर सका, वह कल के अभिनय में कर सके। पर वह मेरी पीठ थपथपाता रहा और कहता रहा कि सिर्फ़ एक घंटे की बात और है, सिर्फ़ एक घंटे की। मैंने उससे कहा भी कि आज मेरे लिए असम्भव है। वे दो घंटे ही इतने मुश्किल थे, एक घंटा और बिलकुल असम्भव है। पर जिमी का यह स्वभाव है कि वह बहुत-सी बातें एकसाथ सोचता है। अपना सम्मान, स्कूल का सम्मान, रुपया-पैसा, योजनाएँ, सही क़दम और इन सबके बीच अभिनय। बल्कि इन सबको लेकर अभिनय। यदि किसी को जीवन में बहुत अच्छा अभिनय देखना हो, निर्दोष अभिनय, तो उसे जिमी को देखना चाहिए। ज़िन्दगी का हर क़दम सही वक़्त पर और सही जगह पर। कभी अपना पार्ट भूलना नहीं, कभी ग़लत एंट्री नहीं लेना, और विंग में खड़े होकर हर दूसरे की क्यू का पूरा ध्यान रखना। हर चीज़ एकदम दुरुस्त, ठीक वैसे जैसे कि होनी चाहिए। मैं इसके लिए उसकी बहुत प्रशंसा करती हूँ। अपने पर लगाम रखने की उसमें अद्भुत शक्ति है। पर मेरे अन्दर वह शक्ति नहीं है। मैं दो घंटे के बाद एक घंटा भी उस तरह और नहीं चल सकती।'' फिर अपने काँटे पर लगा टुकड़ा मुँह में भरकर उसे चबाती हुई बोली, ''यह मछली काफ़ी अच्छी बनी है। मेरा ख़याल है हमें सिर्फ़ इस मछली की ही बात करनी चाहिए।''

उसकी बात रुकने के साथ ही कमरे में हल्की बुदबुदाहट शुरू हो गई। लोग इस तरह आपस में बात करने लगे जैसे रोज़ की बात किसी ने सुनी ही न हो। फिर भी बात करते हुए लोग एक-दूसरे से आँखें बचा रहे थे। जैसे हरएक को डर हो कि दूसरा उस विषय में बात न करने लगे। जिमी का चेहरा हमारी तरफ़ नहीं था, इसलिए उसे मैं नहीं देख सका। पर जो चेहरे सामने थे, उनमें टोनी व्हिसलर का चेहरा सबसे ज़्यादा फीका पड़ गया था। रोज़ अभी बोल ही रही थी जब उसने चेरी

को अपने पास बुलाकर उसके कान में कुछ कहा था जिसके बाद चेरी जल्दी से पीछे पैंट्री की तरफ़ निकल गया था। उसके लौटकर आने के साथ ही तीसरे कोर्स की प्लेटें आ गईं जिससे लोगों ने जल्दी-जल्दी सामने की प्लेटें ख़ाली करना शुरू कर दिया। पुलाव और मटन के तीसरे कोर्स के साथ ही फ्रूटक्रीम और कॉफी की भरी हुई प्यालियाँ भी रखी जाने लगीं। टोनी की मेज़ पर बातचीत फिर उसी विषय पर लौट आई थी कि अगले साल प्रीफ़ेक्ट कौन-कौन लड़के हो सकते हैं। जिन लड़कों के नाम सुझाए गए थे, उनके बारे में टोनी अपने विचार प्रकट कर रहा था। ''तुम्हारा क्या ख़याल है जिमी?'' उसके पूछने पर जिमी ने भी कम-से-कम शब्दों में अपनी राय बता देने की चेष्टा की। बहुत हलके स्वर में बोलने पर भी जिमी की आवाज़ उस समय मुझे हमेशा से भारी लगी। जैसे कि गले की जगह उसे छाती के अन्दर से बोलना पड़ रहा हो। टोनी ने माथे पर बल डाले हुए उसकी बात सुनी और एल्बर्ट से पूछने लगा। पर उसकी आँखों से लग रहा था कि उसका ध्यान अपनी या उनमें से किसी की बात में नहीं है। उसकी आँखें सामने के चेहरों पर फिसलती हुई बार-बार हमारी मेज़ की तरफ़ मुड़ आती थीं। पूरे कमरे में हमारी मेज़ पर सबसे ज़्यादा ख़ामोशी छाई थी। मिसेज़ ज्याफ्रे काँपते हाथों से खाना खा रही थी। रोज़ के जवाब में उसे जो कहना था, वह जैसे उसे खाने के साथ निगलना पड़ रहा था। बॉनी हाल की आँखें उसी तरह आस-पास भटक रही थीं जैसे हमेशा भटकती रहती थीं। उसके शब्द अनकहे रहकर होंठों को तरह-तरह की गोलाइयाँ दे रहे थे। जब रोज़ बात कर रही थी, तो उसके और मेरे बीच का खेल कुछ देर रुका रहा था। पर उसके बाद से हमारे घुटने इस तरह सट गए थे जैसे कि मुँह से कुछ बात न कह सकने के कारण ही हम आपसी दबाव से उस वातावरण पर टिप्पणी कर रहे हों। कुछ देर चुपचाप खाना खाते रहने के बाद रोज़ ने हल्की आवाज़ के साथ अपना छुरी-काँटा प्लेट में रख दिया और पीछे टेक लगाती बोली, ''क़ितने चुप हैं यहाँ पर सब लोग! मेरा ख़याल है मेरे बात करने की वजह से सब लोग इतने चुप हो गए हैं। पर चुप होने की क्या बात है? हम लोग किसी भी विषय पर बात कर सकते हैं। चेपल की बात कर सकते हैं। आनेवाली छुट्टियों की बात कर सकते हैं। एक-दूसरे को बता सकते हैं कि किस-किस पार्टी में कौन-कौन-सी चीज़ अच्छी बनी थी और कौन-कौन-सी ख़राब। तीन दिन पहले बर्फ़ गिरी थी। और कुछ नहीं, तो उसी की बात की जा सकती है। या मिसेज़ ज्याफ्रे हमें बता सकती है कि कुछ साल पहले के हिन्दुस्तान और आज के हिन्दुस्तान में क्या फ़र्क़ है। कौन-कौन-सी चीज़ें ऐसी हैं जो उन दिनों यहाँ थीं और आज नहीं रहीं। या...''

अपनी जाँघ पर ज़ोर से चिकोटी काट लिए जाने से मेरा ध्यान उसकी बात से हट गया। चिकोटी काटने वाले हाथ तक अपना हाथ ले जाने तक वह हाथ परे हट

गया। बॉनी ने नेपकिन हटाते हुए अपने घुटने भी समेट लिए थे। उसका निचला होंठ पहले से ज़्यादा गोल हो गया था और आँखें स्थिर भाव से टोनी व्हिसलर की मेज़ की तरफ़ देख रही थीं। मिसेज़ ज्याफ्रे एक चम्मच फ्रूटक्रीम खाकर जल्दी से कॉफी का घूँट भर रही थी। रोज़ की चल रही बात के बीच आस-पास हलकी हलचल का आभास पाकर मैंने भी टोनी की मेज़ की तरफ़ देख लिया। टोनी अपनी कुर्सी पीछे हटाकर खड़ा हो गया था। उसके चेहरे पर अब फीकेपन की जगह सुर्खी छाई थी, "फार वाट वी हैव रिसीव्ड..." उसने पथराई नज़र से सामने देखते हुए ग्रेस के शब्द कहे और कोट की ज़ेबों में हाथ डाले कमरे से निकल गया। बहुत-से लोग तब तक पुलाव और मटन का कोर्स ही पूरा नहीं खा पाए थे। फ्रूटक्रीम और कॉफ़ी की प्यालियाँ उनके सामने ज्यों-की-त्यों रखी थीं। डिनर बहुत जल्दी समाप्त हो जाएगा, यह तो सब सोच रहे थे। पर खाना इस तरह बीच में ही रह जाएगा, यह शायद किसी ने नहीं सोचा था।

एक-दूसरे से आँखें चुराते, फिर भी एक-दूसरे के चेहरे को देखने की कोशिश करते सब लोग कामन रूम में निकल आए। टोनी तब तक वहाँ से भी जा चुका था। ज़ेन दरवाज़े के पास खड़ी थी। पूरी भीड़ की तरफ़ देखकर मुस्कुराती आँखों से उसने 'गुडनाइट' कहा और इस भाव से कि 'मुझे जाना पड़ रहा है, क्या कर सकती हूँ?' बरामदे में निकल गई। जिमी रोज़ की बाँह थामे निकलकर कामन रूम में आया, तो उन्हें रास्ता देने के लिए लोग इधर-उधर हट गए। जिमी का चेहरा बहुत कसा हुआ था और आँखें जैसे सामने से रास्ता तराशती चल रही थीं। रोज़ उसके साथ क़दम मिलाकर चलती हुई भी जैसे अपने को घिसटने दे रही थी। पास से गुज़रते हुए मुझे उसका चेहरा जो वैसे बहुत सुन्दर लगा करता था, काफ़ी विकृत-सा लगा। गाढ़े मेकअप के नीचे से उभरती चेहरे की रेखाएँ ज़्यादा गहरी जान पड़ीं। ख़याल था कि वे लोग भी बिना किसी से बात किए चुपचाप वहाँ से चले जाएँगे। पर दरवाज़े तक पहुँचने से पहले ही रोज़ ने जिमी के हाथ से बाँह छुड़ाकर पीछे खड़े लोगों की तरफ़ मुँह कर लिया, "मुझे अफ़सोस है," वह बोली, "कि मेरी वजह से आप सब लोग आज भूखे रह गए हैं। पर यह दोष मेरा नहीं, मेरे पति का है। मैंने इससे कहा था कि मुझे घर पर अकेली छोड़ दो। पर इसका ख़याल था कि मैं पार्टी में शामिल न हुई, तो लोग जाने क्या सोचेंगे। जिमी का सबसे बड़ा दोष यही है कि यह बहुत भला आदमी है। लोगों की बहुत चिन्ता करता है। मेरी भी बहुत चिन्ता करता है। कोई चाहे कितनी कोशिश कर ले, इसका चिन्ता करना नहीं छुड़ा सकता। यही वजह है जो आप सब लोगों को आज आधा खाना खाकर उठ जाना पड़ा है। पर मैं समझती हूँ इसके बाद कभी आपको ऐसी स्थिति का सामना नहीं करना पड़ेगा। क्योंकि आज के बाद कम-से-कम आज के बाद...मेरा ख़याल है जिमी चिन्ता करना छोड़ देगा।" और वह जिमी की तरफ़ मुड़ गई, "क्यों डियर, मैं ठीक कह रही हूँ न? अब तो

तुम्हारा भी यही ख़याल है न कि हर समय हर चीज़ की चिन्ता करते रहने से कुछ भी नहीं होता? तुम देख ही रहे हो न कि मैं..."

"हम लोग घर चल रहे हैं," जिमी ने फिर से उसकी बाँह पकड़ते हुए कहा और उसे अपने साथ बाहर ले चला। चलते-चलते हम सबकी तरफ़ देखकर वह बोला, "शुक्रिया! आज का इतना लम्बा नाटक देखने के लिए। शुक्रिया और गुड नाइट।"

"गुड नाइट!' रोज़ ने भी अपना दूसरा हाथ हिला दिया। "मेरी तरफ़ से भी शुक्रिया।"

उनके चले जाने के बाद कुछ क्षण लोग इस तरह खड़े रहे जैसे कि हरएक के अन्दर का कोई तार फ़्यूज़ हो गया हो जिसे जोड़ने के बाद ही वह वहाँ से जा सकता हो। सबसे पहले मिसेज़ ज्याफ्रे ने अपना तार जोड़ा और अपने स्कार्फ को कन्धे पर सँभालती बोली, "काफ़ी दिलचस्प रही आज की शाम...कुल मिलाकर नहीं रही काफ़ी दिलचस्प?" मॉली उसकी बात में हिस्सेदार न होने के लिए उससे परे हट गई। एल्बर्ट ने एक चुभती नज़र उस पर डालकर सिगरेट सुलगा लिया। "रात काफ़ी ठंडी थी," डायना अपने खुश्क चेहरे पर ऊपर से मुस्कुराहट चिपकाए बोली, "इससे कुछ तो गरमी इसमें आ ही गई है। नहीं?" कहकर उसने कई लोगों की तरफ़ देखा। पर न तो कोई मुस्कुराया, न ही किसी ने हामी भरी। इससे अव्यवस्थित होकर वह जैसे अपने को छिपाने के लिए भीड़ के दूसरे हिस्से में चली गई। कुछ लोग जो दरवाज़े के पास पहुँच गए थे, हल्की आवाज़ में 'गुड नाइट, गुड नाइट' कहकर बाहर निकलते जा रहे थे। पीछे के लोग जैसे क्यू में थे कि कब वहाँ तक पहुँचें और कब वे शब्द कहकर वहाँ से निकलें। एल्बर्ट और मॉली के वहाँ रहते मिसेज़ ज्याफ्रे फिर कुछ नहीं बोली। लेकिन उन लोगों के जाते ही उसने अपनी तेज़ आँखों से बाक़ी लोगों को भाँपते हुए कहा, "मेरा ख़याल है नाटक के इस हिस्से की वह काफ़ी अच्छी तरह रिहर्सल करके आई थी। हेडमास्टर के मुँह पर जो कुछ वैसे नहीं कहा जा सकता था, उसे कहने का इससे अच्छा और क्या तरीक़ा हो सकता था? और जिमी का पोज़ नहीं देखा आप लोगों ने? पर एक ही ग़लती रह गई इसमें। नाटक का स्क्रिप्ट उतना अच्छा तैयार नहीं कर पाए ये लोग। पर उसके लिए शायद काफ़ी समय नहीं था।"

मिसेज़ ज्याफ्रे की बात का भी किसी ने समर्थन नहीं क़िया। मुँह में कुछ बुदबुदाकर लोग उसके पास से इधर-उधर को छितरा गए। मैं सबसे अलग मैगज़ीनों वाली मेज़ के पास खड़ा था। बॉनी कमरे के दूसरे सिरे से तीन-चार बार मेरी तरफ़ देख चुकी थी। जब मिसेज़ ज्याफ्रे अपनी बात में अकेली पड़कर स्कार्फ समेटती बाहर को चली, तो वह जैसे एक मैगज़ीन चुनने के लिए मेरी तरफ़ बढ़ आई। कुछ देर मैगज़ीनों को उठाती-रखती रही। फिर आहिस्ता-से बोली, "मैं किसी दिन तुमसे कुछ समय लेना चाहती हूँ। एक-डेढ़ घंटा। मैं इस साल हिन्दी के स्पेशल पर्चे में बैठ रही

हूँ। उसके लिए तुमसे कुछ सहायता लेनी है। तुम कल या परसों कोई समय दे सकते हो मुझे?''

मैंने उसे जल्दी से बता दिया कि कल से मेरी दिन-भर स्कूल में ड्यूटी है। वह किसी भी समय मुझसे बात करके तय कर ले। मेरे पास से हटते हुए बॉनी ने जिस नज़र से मुझे देखा, उसकी कचोट जाँघ पर काटी गई चिकोटी से कम नहीं थी। एक बड़ा ग्रुप उस समय बाहर जा रहा था। वह पाँव फिसलाती जाकर उसमें शामिल हो गई। कुछ ही देर में सिर्फ़ हम पाँच-सात आदमी कमरे में रह गए—ज्वार उतर जाने पर यहाँ-वहाँ उभर आई चट्टानों-जैसे। कोहली जो बग़लों में हाथ दबाए लैरी की ओट में खड़ा था, दूर से मेरी तरफ़ आँखें हिलाकर मुस्कुराया, ''चलना नहीं है?'' उसने पूछा।

''चलो,'' मैंने कहा और उसकी तरफ़ बढ़ गया। लैरी और दो-एक और लोगों को कमरे में छोड़कर हम लोग निकल आए। लैरी ने अब भी मुझसे आँखें नहीं मिलाईं। व्यस्त भाव से दूसरे आदमी से बात पर आ करता रहा।

''क्या बात कर रही थी वह?'' हम लोग गेट से निकलकर सड़क पर आ गए, तो कोहली ने मुझसे पूछा।

''कौन?'' मैंने उसका मतलब समझकर भी अनजान बने रहना चाहा।

''वही...मिस हाल?''

''वह हिन्दी के पर्चे में बैठ रही है। उसी के बारे में बात कर रही थी।''

कोहली हँस दिया। वही सतही हँसी जिससे वह अपने भोंडेपन को ढाँपने का प्रयत्न करता था। ''ज़रा बचकर रहना उससे,'' वह बोला। ''यह न हो कि तुमसे सबक लेने-लेने में ही...''

''मिसेज़ कोहली तुमसे पहले ही चली गई?'' मैंने बात बदलने की कोशिश की।

''उसे मैंने गिरधारी और उसकी बीवी के साथ भेज दिया था। कहा था कि घर जाकर कुछ थोड़ा-बहुत खाने के लिए बना ले। नहीं तो भूख के मारे रात-भर नींद नहीं आएगी।''

उसके मुँह से भूख की बात मुझे हास्यास्पद लगी। उसी तरह जैसे उसके मुँह से सुनी कोई भी बात लगा करती थी। भूख मेरी भी बाक़ी थी, पर मैं उसकी बात भुलाए रहना चाहता था। पर कोहली की बात से अपनी अंतड़ियों में फिर उसी तरह उसका एहसास हो आया जैसे पार्टी से पहले हो रहा था। जो थोड़ा-बहुत खाया था, उससे जैसे उतनी देर के लिए ही भूख को बहलाया जा सका था। कुछ क़दम हम चुप रहकर चलते रहे। फिर वह बोला, ''तुम्हें प्रीफ़ेक्ट जसवन्त के क़िस्से का पता है?''

मैंने सोचा, अच्छा हुआ उसने उन चीज़ों का ज़िक्र नहीं छेड़ दिया जिन्हें हम बिना खाए मेज़ पर छोड़ आए थे। साधारणतया उससे आशा यही की जा सकती थी। जो

कुछ ज़बान से छूने से बच गया था, उसका ज़िक्र ज़बान पर लाकर ही वह कुछ सन्तोष प्राप्त कर सकता था। पर उस समय शायद वह खाने से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण किसी बात के विषय में सोच रहा था।

"किस क़िस्से का?" मैंने पूछा और खाने की मेज़ को दिमाग़ से निकाल देने की कोशिश की।

"तुम्हें पता नहीं वह स्कूल से निकाला जाने को था?" वह बोला। "प्रीफ़ेक्ट होने की वजह से किसी तरह मुश्किल से बच पाया है?"

"पर बात क्या थी?"

"बात यही थी...तुम्हारी मिस हाल। इसने अपने पीछे लगा लिया था उसे।"

"सच?"

"और नहीं तो झूठ? बाद में एक रात उसे इसके क्वार्टर का दरवाज़ा खटखटाते देख लिया गया, तो खुद ही इसने उसकी शिकायत भी कर दी।"

मेरा हाथ जो जाँघ पर चिकोटी के दर्द को सहला रहा था, अब शराफत से पीछे हट गया। कोहली की जगह और कोई होता तो मैं इस बारे में ज़्यादा जानने की कोशिश करता। पर उस आदमी के सामने इस चीज़ में दिलचस्पी ज़ाहिर करना उसे घंटे-भर की बातचीत के लिए उकसाना था। "मुझे पता नहीं था," मैंने कहा और विषय बदलने के लिए बात को स्वयं ही खाने पर ले आया। "आज तो मेरा ख़याल है, सभी लोग आधी भूख लिए हुए उठे हैं। तुमने अच्छा किया जो खाना घर पर बनवा लिया। मैं भी सोच रहा हूँ ऊपर माल पर जाकर कुछ खा लूँ।"

मैं जानता था इससे वह ख़ामोश हो रहेगा। किसी से अपने यहाँ खाने के लिए कहना उसके जीवन-दर्शन में शामिल नहीं था। उसने फ्र-फ्र करते हुए अपने कोट के कॉलर समेट लिए। "इस स्कूल में पता नहीं क्या-क्या होने को है," कुछ वक़्फ़े के बाद उसने कहा।

"क्यों?"

"ऐसे ही। लगता है यहाँ पर सबकुछ उलट-पलट होनेवाला है। उस उलट-पलट में किसकी नौकरी रहेगी, किसकी नहीं, पता नहीं।"

"पर यह तुम किस वजह से कह रहे हो?"

"वजह का तुम्हें पता नहीं है?" उसने शिकायत की नज़र से मुझे देख लिया। "लोग तो कहते हैं कि तुम्हें सब पता है, इसीलिए तुमने पहले से ही अपना दूसरा इन्तज़ाम कर लिया है।"

मैं रूखे ढँग से हँस दिया। उसने अपने कोट के कॉलर और भी मिला लिए। जैसे कि मेरी हँसी से उस पर किसी तरह का वार हो सकता हो। "तुम हँस किसलिए रहे हो?" उसने पूछा।

मैं और भी हँस दिया। "हँसी आ रही है, इसलिए हँस रहा हूँ।"

"पर हँसी आने की वजह?"

"वजह कुछ भी नहीं। ऐसे ही आ रही है।"

उसने एक उसाँस भरी और तेज़ चलने लगा। हम लोग उस दोराहे पर पहुँच गए जहाँ से एक रास्ता ऊपर माल को जाता था। वहाँ उससे अलग होने के लिए मैंने उसका हाथ दबाया, तो वह बोला, "ठीक है। तुम्हें यहाँ रहना नहीं है, इसलिए तुम्हें यहाँ की किसी चीज़ से मतलब भी क्या है? जिन्हें रहना है, वे अपने-आप भुगतेंगे जो कुछ भुगतना होगा।"

उसने इन्तज़ार किया कि शायद मैं जवाब में कुछ कहने के लिए रुकूँ। पर मुझे उसके साथ वहाँ तक आने में ही इतनी चिढ़ हो रही थी कि उसका हाथ एक बार छोड़ने के बाद मैंने उसकी तरफ़ देखा तक नहीं। इस तरह ऊपर की सड़क पर चल दिया जैसे उसकी कही बात मेरे कानों में पड़ी ही न हो। ऊपर पहले मोड़ पर आकर मैंने नीचे घर की तरफ़ देखा। एक छोटा-सा आदमी अँधेरे में रास्ता टटोलता घर की पगडंडी से नीचे उतर रहा था। उससे हटकर मेरा ध्यान ऊपर चिमनी की तरफ़ चला गया जहाँ से उठता धुआँ उस आदमी की भूख का उपचार कर रहा था। थप्-थप्-थप्–पगडंडी से उतरकर उस आदमी का ज़ीने की तरफ़ बढ़ना भी मुझे हास्यास्पद लगा। फिर और आगे की चढ़ाई चढ़ते हुए मेरी नज़र माल की मुँडेर पर चली गई। वहाँ कोई नहीं था। फिर भी जैसे वहाँ खड़े किसी आदमी की नज़र से मैंने अपने को देखा। एक वैसा ही छोटा-सा आदमी, उतना ही बेबस, तीखी चढ़ाई पर पैर घसीटता हुआ। उस आदमी की नज़र से अपने को देखते हुए मुझे इतनी उलझन होने लगी कि कुछ रास्ता मैं आँखें मूँदकर चलता रहा। पर आँखें खोलने पर अपने को फिर उसी उपहासास्पद स्थिति में पाया, तो उस दर्शक को वहाँ से हटाने के लिए हाँफता हुआ मुँडेर की तरफ़ बढ़ने लगा।

## सड़क

शनिवार था। मेरी ड्यूटी का आख़िरी दिन। सुबह से मैं अपने को विश्वास दिला रहा था कि दिन पूरा होने के साथ मैं उस ज़िन्दगी से लगभग कट चुका हूँगा। छुट्टियाँ शुरू होने तक सिर्फ़ एक ही काम रहेगा...एक फ़ालतू आदमी की तरह दिन-भर कामन

रूम में बैठे रहना और रिपोर्टें भरना। उस काम में रिपोर्टों का उतना महत्त्व नहीं था जितना अलग-अलग तरह के वाक्य बना सकने का। जिससे लगे कि हर लड़के की रिपोर्ट बिलकुल उसी की है–हर दूसरे से अलग तरह की। उस काम में सिर्फ़ पहले साल मुझे दिक्क़त पड़ी थी। उसके बाद बहुत आसान हो गया था क्योंकि एक साल के लिए सोचे गए वाक्य ज़रा-सी हेर-फेर के साथ हर अगले साल इस्तेमाल किए जा सकते थे। 'लड़का काफ़ी समझदार है लेकिन मेहनत नहीं करता'...'काम सन्तोषजनक है हालाँकि योग्यता इसमें और ज़्यादा कर सकने की है।'...'जानकारी ठीक है, पर भाषा पर इसे मेहनत करनी चाहिए।' इत्यादि। पहली कुछ रिपोर्टों में तो यह ध्यान भी रहता था कि वे किन लड़कों के बारे में लिखी जा रही हैं, पर बाद में बिना कुछ भी सोचे ऐसे-ऐसे वाक्य जल्दी घसीटे जाने लगते थे। छह-आठ रिपोर्टों के बाद सिर्फ़ इतना देख लिया जाता था कि जल्दी में कोई दो रिपोर्टें एक-सी तो नहीं हो गईं। आख़िरी कुछ रिपोर्टों तक पहुँचकर जब हाथ बिलकुल सुन्न होने लगते थे, तब एक-एक शब्द से काम चलाया जाने लगता था। 'अच्छा'...'सन्तोषजनक'...'होनहार'।

मैंने सोच रखा था कि इस बार सब रिपोर्टें एक-एक शब्द की ही लिखूँगा जिससे एकाध दिन में वह पूरा काम निपट जाए। अपने को वहाँ से स्वतन्त्र महसूस करने के रास्ते में यही एक रुकावट बाक़ी थी जिसे कम-से-कम समय देकर मैं छुट्टियाँ शुरू होने से पहले ही अपने को उस ज़िन्दगी से बाहर कर लेना चाहता था।

ड्यूटी शाम के आठ बजे तक थी। लड़कों का डिनर पूरा होने तक। साढ़े आठ बजे अपर रिज पर सेवाय में बॉनी से मिलने की बात थी। बात उसी ने तय की थी उस रात के बाद अगले दिन लॉन में भेंट होने पर। एकदम चलते-चलते। "शनिवार की शाम को ख़ाली हो तुम?" उसने सीधे पूछ लिया था। "आठ बजे के बाद," मैंने कहा था, "आठ बजे तक मेरी ड्यूटी है।" उसने पल-भर सोचकर अपने दिमाग़ में हिसाब लगाया था। "मैं शनिवार को पूरा दिन ख़ाली हूँ। दोपहर को लंच के वक़्त से ही बाहर निकल जाऊँगी।...ख़ैर, तुम ड्यूटी के बाद मुझे मिल सकते हो...साढ़े आठ बजे...सेवाय में। वक़्त से पहुँच जाना, मैं इन्तज़ार नहीं करूँगी।"

उसके बाद भी दो-एक बार हम आमने-सामने पड़े थे, पर दोनों में से किसी ने कोई बात नहीं की थी। इस तरह पास से निकल गए थे जैसे आपस में बातचीत का कोई सिलसिला ही न हो। इस पर जेम्स ने एक बार फब्ती भी कस दी थी, "तुमसे आजकल आँख नहीं मिलाती, क्या बात है?" "और जो इतने लोग हैं आँख मिलाने को" मैं खोखले स्वर में हँस दिया था। इस पर जेम्स मुस्कुराता हुआ सिर हिलाने लगा था। "यह तुम ठीक कहते हो। इस औरत के पूरे शरीर में आँखें लग जाएँ, तो भी इसे पूरी नहीं पड़ेंगी।" पर उसके स्वर में कुछ तसल्ली आ गई थी कि उसकी तरह मैं भी उन लोगों में से हूँ जिनसे वह आँखें नहीं मिलाती।

दिन-भर स्कूल में चक्कर काटते हुए मैं शाम को सेवाय में पहुँचने की बात सोच रहा था। इसलिए भी कि एक और बात जो अन्दर से छील रही थी, उसे मैं भुलाए रखना चाहता था। पिछली शाम को शोभा का दूसरा पत्र आया था। लिखा था, मेरा पत्र न आने से उसे बहुत परेशानी का सामना करना पड़ रहा है। उससे रोज़ पूछा जाता है कि पत्र आने में इतनी देर क्यों हुई है। "बाऊजी दिन में तीन-तीन बार खुद नीचे लैटर-बाक्स देखने जाते हैं। वापस आकर मुझसे कुछ कहते तो नहीं, पर उनकी आँखों से लगता है, वे इस बात को लेकर जाने क्या सोचते रहते हैं। मेरे मन में कई बार आता है कि उन्हें सबकुछ बता दूँ। पर अपने को इसलिए रोक जाती हूँ कि उसके बाद इस घर में भी और रह सकना शायद मेरे लिए असम्भव हो जाएगा। पिछली कुछ रातों से मुझे बिलकुल नींद नहीं आई। सोचती रहती हूँ कि अपनी ज़िन्दगी का मैंने क्या कर लिया है। अपने को कोसती हूँ कि क्यों मैं पहले से ही यहाँ नहीं रही...क्यों उन दिनों इस घर को छोड़कर पिताजी के पास जा रहने की बात मैंने तय की? मैं यहाँ से न गई होती, तुमसे न मिली होती, तो जिस दुख में ज़िन्दगी कट रही थी, उस दुख का ही मान मन में बना रहता। पर अब तो जीने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है—न साधन, न सम्बन्ध, न मान। तुम्हारे साथ अपने को छोड़कर मैंने हर चीज़ से अपने को वंचित कर लिया है। कभी मैं अपने को दोष नहीं देती हूँ कि शायद मैं इस लायक़ रही ही नहीं थी कि किसी और से कुछ पा सकूँ या उसे कुछ दे सकूँ। पर जितना अपने को जानती हूँ, उससे इस पर विश्वास नहीं होता। इसके बाद कहने को इतना ही रह जाता है कि एक ऐसे आदमी के साथ मैंने अपनी ज़िन्दगी को उलझ जाने दिया है जिसके पास मुझे दे सकने के लिए कुछ नहीं था, किसी को भी दे सकने के लिए कुछ नहीं था। कभी तुमने सोचा है कि तुम अपनी जगह कितने स्वार्थी, कितने दम्भी और कितने हठी आदमी हो? क्या तुम्हारे जैसे आदमी को कभी किसी भी लड़की की ज़िन्दगी को अपने साथ उलझाना चाहिए था? क्या इतने साल अकेले रहकर तुम्हें यह पता नहीं चला था कि अकेलेपन की ज़िन्दगी ही तुम्हारे लिए एकमात्र ज़िन्दगी हो सकती है? मैं पहले एक घर जला चुकी थी, इसीलिए यह नहीं मानती कि दूसरा घर मैं नहीं जला सकती थी। मुझे घर की ज़िन्दगी के बग़ैर अपना-आप बहुत अधूरा लगता था, इसलिए मैंने निश्चय के साथ यह क़दम उठाया था। मगर तुम्हारे पास मुझे देने के लिए घर नहीं था। था सिर्फ़ अपना-आप, बिना घर-बार के, बिना घर-बार की कल्पना के, जिसे एक चुनौती की तरह मेरे सामने रखकर तुम एक हठ के साथ अपनी जगह पैर जमाए खड़े हो गए थे। क्या तुम्हें नहीं लगता कि तुम्हारा यह रवैया कितना तर्कहीन, न्यायहीन और दुराग्रहपूर्ण रहा है? मैं तुम्हारे साथ बिताए दिनों की बात सोचती हूँ, तो मन एकदम बौखला जाता है। लगता है कि उस ज़िन्दगी से बाहर यहाँ रहकर ख़ाली वक़्त बिताने में भी अपने से उबकाई

आती है। क्या तुम्हीं वह आदमी नहीं हो जिसने मेरे लिए जीने का कोई मतलब नहीं रहने दिया? कितना बड़ा व्यंग्य है कि ऐसे आदमी से अपने को अलगाकर सुखी होने की जगह मैं रात-दिन एक छटपटाहट अन्दर महसूस करती रहती हूँ? उसका पत्र न आने से निश्चिन्त न होकर ख़ुद उसे फिर से पत्र लिखने के लिए मजबूर पाती हूँ?...तुम मुझे स्पष्ट लिखो। छुट्टियाँ होने पर तुम एक दिन के लिए भी यहाँ नहीं आना चाहते, तो यह बात इन लोगों को अभी से जान लेनी चाहिए। इससे शायद मेरे लिए भी आसान हो जाएगा कि मैं इनके बीच या इनसे बाहर अपने आगे के कार्यक्रम की रूपरेखा बना सकूँ। इन लोगों के कई बार कहने पर भी मैंने आज तक जालन्धर पत्र नहीं लिखा। और चाहे मैं जो भी करूँ, लौटकर पिताजी के पास नहीं जाऊँगी। यह बात बिलकुल निश्चित है।...तुम्हारी ओर से एक ही पंक्ति काफ़ी होगी। तुम्हारा विचार छुट्टियों में भी वहीं रहने का है, कहीं और जाने का है या...?"

एक इनलैंड में ऊपर-नीचे के सब कोने भरकर उसने पत्र लिखा था। पहले मैं उसे बिना खोले ज़ेब में डाले रहा था। फिर खोलकर और यहाँ-वहाँ से दो-चार पंक्तियाँ पढ़कर उसे रख लिया था। पूरा पत्र रात को सोने से पहले पढ़ा था। पढ़कर महसूस किया था जैसे शोभा वहाँ से जाकर भी गई न हो। उन दिनों की तरह की सोफ़ा-चेयर पर बैठकर खिड़की के शीशे को ताक रही हो। मैं कुछ देर वही बेबसी मन में लिए कमरे में टहलता रहा था। जैसे कि एक दीवार से दूसरी दीवार तक जाने और लौटने के बीच शोभा की आँखों का भाव कुछ बदल सकता हो, तनाव कुछ कम हो सकता हो। सोफ़ा-चेयर के सामने खड़े होकर मैंने जैसे शोभा को उसकी लिखी एक-एक बात का उत्तर भी दिया था। क्या यह वह निश्चित रूप से कह सकती थी कि अपने पहले पति की मृत्यु को उसने मृत्यु के रूप में सहा था? उससे अपने अन्दर की किसी मानसिक स्थिति के लिए निस्तार का अनुभव नहीं किया था? उसे यह नहीं लगा था कि उस आदमी में जो कुछ उसे स्वीकार नहीं था, उससे इस बहाने उसे छुटकारा मिल गया है? मुझमें सबसे ग़लत क्या यही नहीं था कि उस आदमी को काफ़ी सही कर दिया था? क्या दूसरी बार दूसरे आदमी के साथ उसके ज़िन्दगी शुरू करने के पीछे यही भावना नहीं थी कि शायद इस बार पहले से ज़्यादा 'अपनी-सी' ज़िन्दगी जी पाएगी? मुझे मेरे इस रूप में स्वीकार न कर पाना क्या मेरे पैर जमाकर खड़े रहने के कारण ही था या इस कारण भी कि वह जिस ढँग से अपना पैर जमाकर रहना चाहती थी, उसके लिए उसे जगह नहीं मिल पाई थी—न मेरी ज़िन्दगी में आने से पहले, न उसके बाद? अब भी क्या वह अपने पहले पति के घर में रहकर वहाँ के लोगों से, अपने पिता से और मुझसे सिर्फ़ अपना पैर जमाकर अपने ढँग से जी सकने का तीनतरफा संघर्ष नहीं कर रही थी? अपने-आपके जिस हठ के साथ वह मेरे यहाँ रही थी और एक दिन मेरे पास से चली गई थी, उसके पीछे क्या कुछ भी तर्कहीन,

न्यायहीन और दुराग्रहपूर्ण नहीं था? और अब भी क्या सचमुच वह इस दुख में जी रही थी कि मैंने उसके लिए अपनी ज़िन्दगी को सह सकना असम्भव बना दिया है या कि सिर्फ़ इस कोशिश में कि जिस घर में इस समय रह रही है, वहाँ अपने होने के लिए अपना और इन लोगों का समर्थन प्राप्त कर सके? मेरे यहाँ आकर उसने मेरे साथ दोनों का एक घर बनाने की कोशिश की थी, या अपने लिए अपनी तरह का घर बनाने के लिए मुझे एक साधन बनाने की?

शोभा उत्तर देने के लिए वहाँ नहीं थी, इसलिए मैं हर तरह से अपनी भड़ास उस पर निकाल सका था। वह भी शायद मुझसे दूर होने के कारण ही इतना सब लिख पाई थी। एक-दूसरे के सामने होने पर हम लोग इतनी बात कभी न कर पाते। चुपचाप एक-दूसरे की तरफ़ देखते रहते या उपेक्षा से आँखें फेरकर सो जाने की कोशिश करते। मैंने इनलैंड सामने रखे हुए फिर एक बार कोशिश की थी कि जो कुछ मन में है, उसे पत्र में लिख दूँ। कम-से-कम इतना पता तो उसे दे दूँ कि छुट्टियाँ शुरू होने के बाद से मैं नौकरी में नहीं हूँ और नहीं जानता कि उसके बाद मेरा अपना कार्यक्रम क्या होगा। पर हुआ वही था जो हर बार होता था। ख़ाली काग़ज़ पर कुछ लकीरें और बस। जिन दो समस्याओं का हल मैंने एकसाथ ढूँढ़ना चाहा था, उन्हें एक क्रम दे लेने से ही जैसे सब गड़बड़ हो गया था। मुझे त्यागपत्र लिखने के साथ ही शोभा के नाम पत्र भी लिखना चाहिए था। दोनों चीज़ों को आगे-पीछे रखने से पहली चीज़ दूसरी के लिए परिस्थिति बन गई थी। मैं सारी रात बार-बार उठकर ग़ुसलख़ाने में जाता रहा; नींद न आने के कारण। तब मुझे शारदा से सहानुभूति भी हुई। उसकी रात भी शायद ऐसी ही मानसिक स्थिति में बीतती थी। उधर कोहली खर्राटे भर रहा था और हम दोनों बारी-बारी से अपने-अपने ग़ुसलख़ाने की बत्ती जला-बुझा रहे थे।

सुबह सोचा था कि एक बार स्कूल के काम से फ़ारिग़ हो जाऊँ, फिर इत्मीनान से सोचूँगा कि शोभा को क्या लिखना चाहिए। उसकी चिट्ठी की बात दिमाग़ में उभरने लगी थी, तो मैं शाम को सेवाय में बॉनी से मिलने की बात सोचने लगता था। बाद दोपहर एक बार मन में आया कि बॉनी के क्वार्टर का एक चक्कर लगा आऊँ। शाम की बात पक्की करने के लिए नहीं, फ़क़त इसलिए कि कोई मुझे वहाँ जाते देख ले। अगर टोनी व्हिसलर तक वह बात पहुँच जाती तो वहाँ रहने के बाक़ी दिन उसकी कुलबुलाहट देखने में मज़ा आता। क्योंकि वह कुछ भी कर सकने की स्थिति में न होता। न मुझे बुलाकर चेतावनी देने की, न स्कूल छोड़ने का नोटिस देने की और न ही स्टाफ़ की मीटिंग बुलाकर उसमें भाषण देने की। जब प्रीफ़ेक्ट जसवन्त को बेंत पड़ रहे थे, तब मुझे उसके कारण का पता होता, तो ज़रूर एक बार उसकी तरफ़ आँख दबाकर उसका हौसला बढ़ाने की कोशिश करता। बॉनी के क्वार्टर में जाने की बात जसवन्त की वजह से ही मेरे दिमाग़ में आई थी। मगर पैवीलियन तक जाते-जाते याद हो आया

कि आज उसका पूरा दिन ख़ाली है और उसे लंच से पहले ही बाहर निकल जाना था। इससे मुझे निराशा हुई, पर शाम को बॉनी से मिलने की उत्सुकता इससे और बढ़ गई। सुबह से शाम के साढ़े आठ बजे तक उसने जाने किससे कहाँ-कहाँ मिलने की बात तय कर रखी थी। ड्यूटी के राउंड लगाता हुआ मैं यह भी देखने की कोशिश करता रहा कि प्रीफ़ेक्ट जसवन्त स्कूल में है या नहीं। तीन बजे तक उसे न देखकर मुझे विश्वास होने लगा कि वह नहीं है। खुशी भी हुई। पर चाय के बाद उसे टेनिस कोर्ट में खेलते देखकर खुशी जाती रही। यह जानने का कोई उपाय नहीं था कि वह सुबह से ही स्कूल में था या कुछ देर पहले बाहर से लौटकर आया था।

शाम तक काफ़ी थकान महसूस होने लगी। शायद इसलिए कि आख़िरी ड्यूटी की ऊब और दिनों की ऊब से कहीं ज़्यादा थी। मैं अपने को मुश्किल से उस वक़्त की तरफ़ धकेल रहा था जब घंटी की आवाज़ के साथ मुझे हमेशा के लिए बरामदों में चक्कर काटने की मजबूरी से छुट्टी पा जानी थी। उस बीच मॉली क्राउन मुझसे एक सूची पर हस्ताक्षर कराने आई, तो मैंने बिना ठीक से पढ़े चुपचाप हस्ताक्षर कर दिए। सूची उस सामान की थी जो स्कूल की तरफ़ से मेरे क्वार्टर के लिए दिया गया था। सोफ़ा-चेयर्ज़, पर्दे, कुर्सियाँ, पलंग और न जाने क्या-क्या। वह इतने बढ़िया काग़ज़ पर और इतने अच्छे ढँग से टाइप की गई थी कि उससे उन चीज़ों की असलियत का कुछ भी अन्दाज़ा नहीं हो सकता था। हस्ताक्षर करते हुए मैंने सोचा कि उन सब चीज़ों के फ़ोटो भी यहाँ साथ लगाए जाने चाहिए थे। पर उनसे भी बहुत कम अन्दाज़ा हो सकता था। उन कुर्सियों-पर्दों की सही तसदीक़ उन्हीं पर हस्ताक्षर करके की जा सकती थी, पर उस सूची पर हस्ताक्षर करना उसी तरह की भरती थी जैसे बिना क्लास लिए स्कूल में हाज़िर रहकर रजिस्टर में हाज़िरी लगाना। मैंने चुपचाप हस्ताक्षर कर दिए। काग़ज़ मॉली क्राउन को लौटाते हुए मुस्कुरा दिया। 'यह इस तरह मुस्कुराने की आख़िरी बारी है', मन में सोचा, 'इसके बाद फिर कभी इसे काग़ज़ लौटाते हुए इस तरह मुस्कुराना नहीं होगा।'

"लिस्ट तुमने देख ली है?" मॉली ने अपनी तरफ़ से पक्की कार्यवाही करने के लिए पूछ लिया।

मैंने सिर हिला दिया।

"इसलिए कह रही हूँ कि तुम्हारे जाने से पहले एक दिन इन सब चीज़ों की चेकिंग करनी होगी।"

"किसी भी दिन जब तुम्हें फ़ुरसत हो, मुझे बता देना," मैंने कहा।

"दो-एक घंटे का काम होगा," मॉली के झाँइयों-लदे चेहरे पर जिम्मेदारी की कालिख उभर आई।

"किसी भी शाम को जब तुम्हें फुरसत हो," मैंने फिर दोहरा दिया।

"मैं तुमसे तय कर लूँगी," वह बोली, "कुल इकासी आइटम हैं।"

"कितने?" मुझे आश्चर्य हुआ। स्कूल की तरफ़ से मेरे क्वार्टर में दी गई गली-सड़ी चीज़ों की संख्या इतनी बड़ी है, मुझे मालूम नहीं था।

"इकासी।" वह पढ़कर गिनाने लगी कि नग कितने हैं, लैम्पमेड कितने और पायदान कितने।

"ठीक है।" मैंने उसे बीच में टोक दिया, "उस दिन वहीं गिन लेंगे।"

"तुम एक कापी अपने पास रख लो ताकि मेरे आने से पहले..."

"नहीं-नहीं।" मैंने जल्दी से कहा, "उसी दिन सब देख लेंगे। कापी मुझसे खो जाएगी।"

मॉली ने काग़ज़ समेट लिए। कुछ इस तरह होंठ हिलाकर कि मैं अपना भला नहीं चाहता, तो उसे क्या पड़ी है जो ख़ामख़ाह मुझे मजबूर करे, "मैंने इसलिए कह रही थी कि सब चाज़ों की क़ीमतें भी लिस्ट में दी हुई हैं।" उसने फिर भी आख़िरी कोशिश कर देखने की तरह कहा, "अगर कोई चीज़ गुम हो गई, तो..."

"वह भी उसी दिन देख लेंगे," मैंने उसी तरह कहा, "जिन चीज़ों के पैसे कटने होंगे, उनके बारे में पहले से जान रखने से क्या फ़ायदा है?"

मॉली क्राउन के पीले दाँत उघड़ आए। टूटे-टूटे घुन-खाए-से। निचले जबड़े के आधे हिस्से समेत। मुझे एल्बर्ट पर तरस आया कि उसे हफ़्ते-पखवारे में एक बार उन दाँतों को होंठों से छूना पड़ता होगा। मॉली शायद इसी वजह से बहुत कम खुलकर मुस्कुराती थी। कहीं पढ़ा था कि मोनालीज़ा की दबी-दबी मुस्कुराहट का वास्तविक रहस्य था उसके मैले दाँत। मॉली के साथ भी शायद ऐसा ही था। वह अपने चेहरे की झाँइयों को भी किसी तरह ढक सकती, तो शायद सुन्दर नज़र आती। काग़ज़ों को अच्छी तरह तहाए हुए वह मेरे पास से चल दी, तो मैं कुछ दूर तक उसके नाटे शरीर की तेज़ चाल को देखता रहा। वह उन स्त्रियों में थी जो ज़िन्दगी-भर किसी चीज़ के पीछे लगी रहकर कुछ-न-कुछ हासिल कर ही लेती हैं। पर वह कुछ क्या था जो इस स्त्री को हासिल करना था? एल्बर्ट और मिसेज़ ज्याफ्रे से अलग उसे शायद किसी और ही चीज़ की खोज थी। पर किस चीज़ की?

साढ़े सात बजे जब लड़के खाना खा रहे थे और मैं डाइनिंग हॉल में चक्कर काटता हुआ सिर्फ़ आधा घंटा और उस तरह बिताने की मजबूरी से लड़ रहा था, तब दो-एक बैरों ने मुझे इशारे से पैंट्री के अन्दर बुला लिया। "साहब, एक बात पूछें?" कुछ क्षण एक-दूसरे की तरफ़ देखने के बाद उनमें से एक ने कहा, "क्या यह सच है कि हेडमास्टर की यहाँ से बदली हो रही है?"

"बदली नहीं," दूसरे ने उसकी बात में संशोधन किया, "सुना है इसे हटाकर इसकी जगह दूसरा हेडमास्टर लाया जा रहा है। क्या यह बात सच है?"

वे सब इस तरह मुझे देख रहे थे जैसे मेरे हाँ या न कहने पर कुछ निर्भर करता हो—जैसे इससे उनमें से हरएक को अपनी ज़िन्दगी का रास्ता खुल जाने का उपाय नज़र आ रहा हो।

"मुझे पता नहीं," मैंने सिर हिलाया जैसे उन्हें यह सूचना देते मुझे खेद हो रहा हो। "मैंने ऐसा कुछ नहीं सुना।"

"तो इसका मतलब है कि...?"

मैं आगे बात सुनने की प्रतीक्षा करता रहा।

"... कि आपके केस का अभी फ़ैसला नहीं हुआ।"

मैं मुस्कुरा दिया। "मेरे केस का फ़ैसला हो गया है," मैंने कहा, "मैं यहाँ से जा रहा हूँ।"

उन सबके चेहरों पर सहानुभूति की छाया आ गई। साथ एक उदासी जैसे कि जिस बाज़ी पर उन्होंने दाँव लगा रखा था, वह हार गई हो। "आख़िरी फ़ैसला हो गया है?" उनमें से एक ने अपनी निराशा से लड़ते हुए पूछ लिया।

"हाँ, बिलकुल आख़िरी फ़ैसला," कहकर कुछ देर फ़ालतू पड़ा-सा मैं उनके बीच खड़ा रहा, फिर वापस डाइनिंग हॉल में निकल आया। सर्विस रुकी रहने से डाइनिंग हॉल में काफ़ी शोर हो रहा था। ड्यूटी मास्टर के रहने से लड़के अपनी जगहों से उठकर इधर-उधर जा रहे थे। मुझे देखते ही वे दौड़कर अपनी जगहों पर पहुँच गए। "ख़ामोश!" मैंने चिल्लाकर कहा और पास की मेज़ पर तीन-चार बार हाथ मार दिया। हॉल में बिलकुल ख़ामोशी छा गई। मैंने घड़ी में वक़्त देखा। पन्द्रह मिनट और मेरी आवाज़ का उस तरह असर हो सकता था। ज़्यादातर लड़के यह जानते थे। शायद इसलिए वे एक-दूसरे की तरफ़ देखते हुए मुस्कुरा रहे थे। मेरे मन में आया कि एक बार उसी तरह ज़ोर से चिल्लाऊँ, "मुस्कुराओ नहीं।" पर इस ख़याल से कि आदेश का पालन न हुआ, तो ख़ामख़ाह मन छोटा होगा, मैंने आँखें बाहर की तरफ़ घुमा लीं। सर्विस फिर से शुरू हो गई थी। एक-डेढ़ मिनट के अन्दर खाना पहले की तरह खाया जाने लगा। अपनी-अपनी प्लेट में पुडिंग लेने की कोशिश में लड़के यह भूल गए कि अभी-अभी जो ड्यूटी मास्टर इतने ज़ोर से चिल्लाया था, आज के बाद उसके चिल्लाने की आवाज़ वहाँ कभी सुनाई नहीं देगी।

आठ बजने में पाँच मिनट थे। कुछ मेज़ों पर खाना खाया जा चुका था, कुछ पर अभी खाया जा रहा था। मेरे मन में आया कि मैं चाहूँ, तो इन आख़िरी पाँच मिनटों के अपने अधिकार का उपयोग कर सकता हूँ—जिन लोगों ने अभी पूरा नहीं खाया, उन्हें और खाने से रोक सकता हूँ। सिर्फ़ पाँच मिनट पहले ग्रेस कहकर मैं उन्हें और अपने को उस समय अपने वहाँ होने का पूरा एहसास करा सकता हूँ। सोचकर

तय करने का समय नहीं था, इसलिए मैंने तुरन्त निश्चय कर डाला। मेरे मुँह से ग्रेस के शब्द निकलते ही सब खाना खाते हाथ रुक गए। कुछ एक ने आश्चर्य के साथ मेरी तरफ़ देख लिया। हाउस-प्रीफ़ेक्ट अपने-अपने हाउस के लड़कों के साथ बाहर निकलने लगे। निकलते हुए कुछ लड़कों की आँखों में शिकायत थी, कुछ की आँखों में ग़ुस्सा। मगर मैं बाँहें गाउन में समेटे उदासीन भाव से खड़ा हॉल को ख़ाली होते देखता रहा। मन में कहीं मुझे यह भी लग रहा था कि इस तरह दूसरों का खाना छुड़वाकर मैंने उन सब दिनों का बदला ले लिया है जब मुझे वहाँ खाने की मेज़ से भूखे उठ जाना पड़ा था। थोड़ी देर में सब लड़कों के चले जाने पर मैंने आस-पास देखा : इस ख़याल से कि शायद बैरों में से कोई मेरे इस कारनामे पर चुस्की लेने के लिए मेरे पास आए। पर पूरे हॉल में कोई भी नहीं था। बैरों को खाना समाप्त होते ही प्लेटें उठानी चाहिए थीं, पर वे सब पैंट्री के अन्दर चले गए थे। वहाँ से सुनाई देती आवाज़ों का मतलब लगा सकना मुश्किल था। पर मुझे लगा कि मेरी हिमाकत में साझीदार न होने के लिए ही शायद वे सब अलग जा खड़े हुए हैं। मैं कुछ देर जूठी प्लेटों के बीच अपने अकेलेपन में कुण्ठित-सा खड़ा रहा। फिर जैसे यह ज़ाहिर न होने देने के लिए कि मैं उस स्थिति से कुण्ठित हूँ, धीरे-धीरे जमाकर पाँव रखता बरामदे में निकला आया।

बरामदे में अपने जूते की आवाज़। ठक्-ठक्-ठक् जैसे कि जिस आदमी से आँखें बचाकर मैं हॉल से बाहर आया था, उसने मेरा पीछा नहीं छोड़ा था। उससे बचने के लिए बरामदा पार करके किसी और जगह पहुँच जाना ज़रूरी था। एक बस्ती और दूसरी बस्ती के बीच का अँधेरा रास्ता लाँघने की तरह चमकते बरामदे का वह टुकड़ा लाँघकर मैं कॉमन रूम में आ गया। वहाँ मिसेज़ दारूवाला अकेली एक कोने में बैठी कुछ सोच रही थी। मुझे देखते ही उसने अपना सोचनेवाला चेहरा उतारकर अच्छा-सा चुस्त-दुरुस्त चेहरा लगा लिया। ''हलो!'' उसने चहकने की तरह कहा, ''क्या हाल हैं तुम्हारे आज शाम?''

मुझे ध्यान था कि साढ़े आठ बजे अपर रिज पर पहुँचने के लिए मुझे वहाँ रुकना नहीं चाहिए। पर अपनी टाँगों में जो कँपकँपी महसूस हो रही थी, उसकी वजह से मैंने दो-चार मिनट बैठ जाना ठीक समझा। ''ठीक है,'' मैंने अपने गाउन के दोनों सिरे गीध के पंखों की तरह सोफ़े पर फैलाकर बैठते हुए कहा, ''बल्कि कहना चाहिए बहुत अच्छे हैं क्योंकि यहाँ ड्यूटी देने की यह मेरी आख़िरी शाम थी।''

''तो इसका मतलब है, आज से तुम बिलकुल आज़ाद हो। सच, कितने खुशनसीब हो तुम!''

''हाँ...एक तरह से हूँ ही।'' मैंने बाँहें समेटकर अपने अन्दर वह खुशी महसूस करने की कोशिश की जो उस समय मुझे महसूस होनी चाहिए थी। पर उसकी जगह

जो चीज़ महसूस हुई, वह थी एक तरह की नमी जो सारे शरीर को लिज़लिज़ा रही थी। टाँगों की कँपकँपी पर क़ाबू पाने के लिए मैंने दोनों घुटने साथ मिला लिए।

"फिर तुम्हारा चेहरा ऐसे उतरा-सा क्यों हो रहा है? इससे तो लगता है कि..."

"क्या लगता है?"

"लगता है कि...बुरा तो नहीं मानोगे?"

"नहीं।"

"लगता है...कि या तो तुम किसी चीज़ से परेशान हो, या तुम्हें किसी चीज़ को लेकर अफ़सोस हो रहा है।"

"ऐसा बिलकुल नहीं है," मैंने जल्दी से अपने चेहरे की नसों को ढीला करके अपना भाव बदलने की चेष्टा की। यह पाकर कि होंठ काफ़ी सूख रहे हैं, उन्हें भी थोड़ा गीला कर लिया। "सिर्फ़ थकान है दिन-भर की। ज़रूरत महसूस हो रही है कि कुछ देर घर जाकर आराम कर लूँ, पर साढ़े आठ बजे पहुँचना है एक जगह।"

पर वह बिना विश्वास किए मुझे देखती रही। उसका पूरा शरीर कुर्सी पर आगे को बढ़ आया था। शायद हमदर्दी की वजह से। अपने मोटे-मोटे कोट में वह रोज़ से ज़्यादा ठिगनी लग रही थी। "तुमसे एक बात पूछूँ?" उसके हाथों की उँगलियाँ उलझ गईं और चेहरा थोड़ा सुर्ख़ हो गया।

मैंने 'हाँ, पूछो' के ढँग से आँखें हिला दीं।

"तुम्हारी पत्नी आजकल कहाँ है?"

मेरे चेहरे की नसें फिर कस गईं, "ख़ुर्जा।" मैंने कड़वी चीज़ निगलने की तरह कहा।

"ख़ुर्जा में उसकी पहली ससुराल है न?"

मैंने सिर हिला दिया।

"वह वहाँ क्यों गई हुई है इतने दिनों से?"

"उन लोगों ने बुला भेजा था।" मैं गाउन समेटकर उठने के लिए तैयार हो गया।

"तो तुम यहाँ से पहले उसी के पास जाओगे या...?"

"मैं उसके पत्र का इन्तज़ार कर रहा हूँ। उसके बाद ही अपना कार्यक्रम बना सकूँगा।" मेरे उठने के साथ ही वह भी उठ खड़ी हुई। कोट की ज़ेबों में हाथ डाले। "मुझे कहना नहीं चाहिए," टोहती आँखों से मुझे देखती वह पास आ गई। "पर मुझे लगता है कि तुमने नौकरी छोड़कर अच्छा नहीं किया।"

"क्यों?"

"मुझे लगता है ऐसा। मन हममें से हरएक का करता है नौकरी छोड़ देने का, पर सचमुच नौकरी छोड़ देने से..."

"क्या होता है?"

उसने एक उसाँस भर ली, ''यह तुम्हें भी पता है। हरएक को पता है। इसलिए...''

मैंने गाउन उतारकर गोल कर लिया। ''साढ़े आठ बजे पहुँचना है।'' मैंने कहा, ''आठ दस यहीं हो रहे हैं। सोचता हूँ अपना गाउन यहीं छोड़ जाऊँ। सुबह ले लूँगा।'' और मैंने हाथ का गोला पास की कुर्सी पर सरका दिया।

''अच्छा, एक बात बताओ,'' वह सोचती आँखों से सामने देखती फिर भी रुकी रही, ''तुम्हारा ख़याल है आदमी लिखकर जी सकता है?''

''पता नहीं। क्यों?''

''मैं कुछ थोड़ा-बहुत लिखती रहती हूँ कभी-कभी । मन में आता है कि अगर उसी से कुछ आमदनी हो सके...डेढ़-दो सौ तक भी...तो... तुम जानते हो मैं बिलकुल अकेली हूँ अब। इतने में मैं अपना गुज़ारा चला सकती हूँ।''

वह मुझसे इतनी छोटी थी कि उसके बिखरे बालों का मेरी ठोढ़ी से भी सीधा कोण नहीं बनता था। बात करने के लिए उसे गरदन उठाकर मेरी तरफ़ देखना पड़ रहा था। जिन दिनों मैं स्कूल में आया ही था, उन दिनों वह मुझे ख़ासी सुन्दर लगा करती थी। तब तक उसका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था। सम्बन्ध-विच्छेद के बाद से मुझे उसके चेहरे की सभी लकीरें साफ़ नज़र आने लगी थीं क्योंकि मैं बिना उसकी उम्र के साल गिने उसकी तरफ़ देख ही नहीं पाता था। मुझे उसके शरीर का हर ढका-अनढका हिस्सा सैंतीस साल का लगता था हालाँकि उदार नज़र से देखने पर अब भी वह काफ़ी आकर्षक कही जा सकती थी। उसके गालों के ऊपरी हिस्से काफ़ी चिकने थे—पारसी पीलेपन की जगह देसी गोरापन लिए। अगर वह नीचे से अपना चेहरा ढककर सिर्फ़ आँखें और ऊपर का हिस्सा बाहर निकाले रहती, तो अपनी उम्र से कई साल छोटी नज़र आती।

पर वह मुझे पूरे सैंतीस की लग रही थी, इसलिए कि उसकी बातें भी ख़ासी बेतुकी जान पड़ रही थीं। मैं खुशनसीब हूँ जो मैंने नौकरी छोड़ दी, मैंने नौकरी छोड़कर अच्छा नहीं किया, मैं सीधा अपनी पत्नी के पास जाऊँगा या कहाँ जाऊँगा, वह लिखकर जी सके, तो ख़ुद भी नौकरी छोड़ दे—उसे शायद पता नहीं था कि वह एक के बाद एक क्या बात किए जा रही है। ''मुझे इस बारे में बिलकुल पता नहीं है।'' मैंने अपने को उससे झाड़ लेने की तरह कहा, ''तुम्हें किसी ऐसे आदमी से बात करनी चाहिए जो इस विषय में जानकारी रखता हो।''

उसकी आँखें और भी उदास हो गईं। ''मैंने पहले भी पूछा है कई लोगों से। पर यहाँ ऐसा कोई ऐसा आदमी है ही नहीं।''

यह उसने ऐसे कहा जैसे मैं ही आख़िरी आदमी था जिससे वह पूछ सकती थी और मेरे एक या दूसरी तरह का उत्तर दे देने के बाद उसे फिर किसी से नहीं पूछना

था। इससे मुझे अपना क़द कुछ और भी ऊँचा लगा और मैंने ज़िम्मेदार आदमी की तरह कहा, ''मैं जानता नहीं, फिर भी मेरा ख़याल है लिखने से इतना कमा लेना बहुत मुश्किल है यहाँ।'' साफ़ कहना चाहा, 'ख़ास तौर से तुम्हारे लिए,' पर उतना अंश मन में ही काट दिया।

हम लोग बरामदे में निकल आए थे। वह कोशिश करके मेरे साथ क़दम मिलाती चल रही थी। ''तुम ठीक कहते हो,'' वह सिर हिलाकर बोली, ''मेरा खुद भी यही ख़याल है। मैंने अब तक जो तीन-चार चीज़ें छपने के लिए भेजी हैं, वे किसी ने छापी ही नहीं। इसके लिए कोई ख़ास गुण होता है शायद जो मुझे नहीं आता।'' और हम लोग कुछ क़दम चुपचाप चलते रहे। जिस निष्कर्ष पर वह पहुँचना चाहती थी और पहले कई बार पहुँच चुकी थी, उस पर फिर से पहुँचकर यह काफ़ी सन्तुष्ट हो गई थी। बरामदे से नीचे आकर मैं रुक गया ताकि वहाँ से उससे अलहदा हुआ जा सके।

''अच्छा, देखो,...'' वह फिर भी उस अध्याय को मन में खुला रखती बोली, ''मैं और सोचूँगी अभी। अब नहीं, तो हो सकता है दो-एक साल बाद तय कर सकूँ कुछ।''

मैंने जबड़े कसे हुए सिर हिला दिया।

''तुम माल पर जा रहे हो?''

मैंने फिर उसी तरह सिर हिला दिया।

''जाना तो मुझे भी था माल पर लेकिन...''

''मुझे जल्दी जाना है,'' मैंने कहा, ''इसलिए...''

''तुम्हारी डेट है किसी के साथ?''

मैं टालने की हँसी हँस दिया। ''हो सकता है। कम-से-कम अपने साथ तो है ही।''

उसकी आँखों में हल्की चमक आ गई, जैसे कि मन में उस सम्बन्ध में अनुमान लगाते हुए वह किसी चीज़ का आभास पा गई हो। ''आज शनिवार की रात है। बहुत-से लोग बाहर गए होंगे।'' उसके स्वर में स्पर्धा भी थी, चेतावनी भी।

''ठीक है,'' मैंने कहा। ''उन बहुत-से लोगों में एक मैं भी रहूँगा।'' वह और बात न करने लगे, इसलिए मैं विदा लेने का गम्भीर भाव चेहरे पर ले आया। वह फिर भी रुकी रही, तो एक कसी हुई 'गुड नाइट' उसकी तरफ़ उछालकर गेट की तरफ़ चल दिया। गेट पार करते हुए देखा कि वह लौटकर बरामदे से होती हुई फिर कॉमन रूम की तरफ़ जा रही है। अपने क्वार्टर में लौटने से पहले शायद एकाध बार और उसे किसी से पुष्टि लेनी थी कि लिखकर जी सकना मुश्किल है, इसलिए...

जिस वक़्त मैं माल पर पहुँचा, आठ पचीस हो चुके थे। तेज़-तेज़ चढ़ाई चढ़ने से दम फूल रहा था। वहाँ से अपर रिज तक कम-से-कम पन्द्रह मिनट का रास्ता तो

था ही। मन में सड़क की नीचाइयों, ऊँचाइयों और रास्ते की इमारतों की गिनती करता मैं उसी रफ़्तार से आगे चलता गया। सेंट कोलम्बस तक पहुँचते-पहुँचते यह हालत हो गई कि घुटने आगे चलने से जवाब देने लगे। उससे कुछ आगे फ्रूट मार्केट के पास आकर मैंने बहुत आहिस्ता चलना शुरू कर दिया और नावल्टी के मोड़ से जो सीढ़ियाँ अपर रिज को जाती थीं, उनके नीचे पहुँचकर बिलकुल रुक गया। ऊपर सेवाय में बजते बैंड की आवाज़ सुनाई दे रही थी। उस आवाज़ की ताल-लय मेरे शरीर की ताल-लय से बिलकुल अलग थी। मैंने मन-ही-मन सीढ़ियों की गिनती की। सौ-सवा सौ से कम सीढ़ियाँ नहीं थीं। वक़्त साढ़े आठ से पाँच-छह मिनट ऊपर हो चुका था। मैं घूमकर सड़क के रास्ते ऊपर तक जा सकता था, पर उसमें कम-से-कम दस मिनट और लगने की सम्भावना थी। बॉनी ने कहा था कि वह इन्तज़ार नहीं करेगी। हो सकता था कि वह अब तक उठकर चल दी हो। मैंने फिर सीढ़ियों को देखा। पर चढ़ने की हिम्मत नहीं हुई। आख़िर मैंने यह ख़याल ही छोड़ दिया कि मुझे ऊपर जाना या किसी से मिलना है। कुछ देर सुस्ताने के बाद आहिस्ता-आहिस्ता टहलता हुआ सड़क पर ही आगे को चल दिया। 'मुझे जल्दी किस चीज़ की है?' अपने से कहा। 'घंटा-भर एक लड़की के साथ बैठकर चाय या कॉफ़ी पी लेने से क्या किसी चीज़ में फ़र्क़ पड़ सकता है?'

पैरों में पसीना आ रहा था; बाहर से बर्फ़ानी सर्दी के बावजूद। मोज़े इस तरह पैरों से चिपक गए थे कि मन हो रहा था कहीं बैठकर जूते-मोज़े कहीं उतार दूँ। सड़क पर घिसटता अपने-आप काफ़ी बेहूदा लग रहा था। अगर किसी ने कुछ देर पहले मुझे सड़क पर लगभग दौड़ते देखा होता और अब इस तरह घिसटते देखता, तो उसे हँसी आए बिना न रहती पर मुझे हँसी की जगह ग़ुस्सा आ रहा था। उस दिन एक लड़की ने जाँघ पर चिकोटी काट दी, इसलिए आज उससे मिलने के लिए इतनी भाग-दौड़ करना क्यों ज़रूरी हो गया था? क्यों मैं पहले से ही आराम से चलकर आने की बात नहीं सोच सका था? पर ग़ुस्सा इतने तक ही था। वह इस बात को लेकर भी नहीं था कि मैं डिनर के बाद इधर के दरवाज़े से सीधा बाहर आने की जगह कॉमन रूम की तरफ़ क्यों चला गया? वहाँ दो मिनट सोफ़े पर पसर रहने की बात मैंने क्यों सोची? मिसेज़ दारूवाला जब बात करने लगी थी, तो उसके लिए वहाँ रुके रहना भी मैंने क्यों ज़रूरी समझा?

सुबह से सोच रहा था कि शाम को आठ बजे के बाद से अपने को बिलकुल स्वतन्त्र महसूस कर सकूँगा। सुबह से ही नहीं कई दिनों से सोच रहा था। लेकिन यह क्या बन्दिश थी कि तब से अब तक भी लगातार मैं बाहर की लगामों और चाबुकों से ही चल रहा था? डाइनिंग हॉल छोड़ने से पहले तक स्वतन्त्रता का वह क्षण बहुत पास नज़र आ रहा था। पर बरामदे में निकलने के बाद से ही जैसे वह

कहीं खो गया था और अब अपनी पिंडलियों की अकड़न ठीक करते हुए चलने में मुझे अपने अन्दर उसका कहीं आभास ही नहीं हो रहा था। मैंने घाटी में उगे पेड़ों, आस-पास चलते लोगों और सामने नज़र आते साइन-बोर्डों पर नज़र डालते हुए जैसे ज़बर्दस्ती अपने को विश्वास दिलाने की चेष्टा की कि मैं अब सचमुच स्वतन्त्र हूँ–यह निश्चय कर लेने के बाद कि वक़्त पर सेवाय में पहुँचना मेरे लिए बिलकुल ज़रूरी नहीं है, मैंने उस खोए हुए क्षण को हवा के अन्दर दबोच लिया है। पर राधूमल-साधूमल के बाहर स्कूल के कुछ लोगों को खड़े देखकर उनसे बचने की कोशिश में वह विश्वास फिर शिथिल पड़ने लगा। शोभा का दूसरा पत्र जिसे मोड़कर ज़ेब में रखा था, अब भी ज़ेब में ही था। 'इस पत्र का उत्तर कब दूँगा?' इस ख़याल ने अन्दर से कौंचकर उस विश्वास को और भी बिखरा दिया। अपर रिज के मोड़ पर आकर मैं इस तरह खड़ा हो गया जैसे कि अपने को बहुत बड़ा धोखा दे लेने के बाद अब मेरी समझ में न आ रहा हो कि अपने को उसकी ज़िम्मेदारी से कैसे बचाऊँ।

स्कूल के जो लोग राधूमल-साधूमल के बाहर खड़े थे–पादरी बेन्सन, डायना और रूथ एटकिन्सन–वे भी अब उसी मोड़ की तरफ़ आ रहे थे। उन्होंने शायद अपने पास से गुज़रते हुए भी मुझे देखा था, अब भी देख लिया था। मैं कुछ इस भाव से जैसे कि वे मेरे किसी पुरानी नौकरी के सहयोगी हों, जिन्हें मैं अब ठीक से पहचानता भी नहीं, पतलून की ज़ेबों में हाथ डाले सेवाय की तरफ़ चल दिया। शोभा की चिट्ठी पतलून में खटक रही थी। उसे निकालकर कोट की ज़ेब में रख लिया–सेवाय के पास पहुँचकर उड़ती नज़र से नीचे देखा–जैसे सिर्फ़ माल से गुज़रती भीड़ का जायज़ा लेने के लिए। वे लोग अख़बार एजेंसी के बाहर रुक गए थे। शायद वे भी मुझसे उतना ही बचना चाह रहे थे जितना मैं उनसे। पादरी बेन्सन का दुबला चेहरा क्षमा-याचना के भाव से सबकी तरफ़ देख रहा था–अख़बारवाले की तरफ़ भी। गिरजे में हर रोज़ ईश्वर से क्षमा माँगते-माँगते उसका हमेशा का हुलिया ही ऐसा हो गया था। शायद आईने के सामने खड़े होने पर वह अपने अक्स को भी उसी नज़र से देखता था। अपनी ऊँचाई से उसे देखते हुए मुझे उससे सहानुभूति हुई। उन महिलाओं की वजह से भी जो उसके साथ थीं। 'ईश्वर इसे क्षमा करो,...' मेरे मन में प्रार्थना के शब्द उभर आए। सेवाय में बैंड उसी तरह बज रहा था। दूर सेंट कोलम्बस की घड़ी में आठ पचास हो चुके थे। 'बॉनी अब तक ज़रूर चली गई होगी,' मैंने सेवाय के पूरे शीशे के दरवाज़ों की तरफ़ देखते हुए सोचा और जैसे यही मेरे अन्दर जाकर देख लेने की वजह हो, एक व्यस्त आदमी की तरह गरदन उठाए रेस्तराँ के हॉल में पहुँच गया।

लेकिन बॉनी वहीं थी। हॉल के एक कोने में घाटी की तरफ़ खुलती खिड़की के पास अलग-अलग बैठी। पीठ मेरी तरफ़ थी, इसलिए मुझे अन्दर आते उसने नहीं देखा। मैं चाहता, तो बिना उसे पता चलने दिए वापस बाहर निकल आ सकता था।

पर मैं सीधा उसकी तरफ़ बढ़ गया। शनिवार की शाम होने के कारण। मुझे बैंडवालों पर तरस आया जो ख़ाली सीटों के सामने ख़ामख़ाह अपनी साँस फुला रहे थे। मैंने बॉनी के पास पहुँचकर इस तरह 'हलो' कहा जैसे अचानक वहाँ आकर उसे बैठे देख लिया हो, वह काफ़ी नाराज़ लग रही थी। मुझे देखकर उसने हल्के-से आँखें झपक लीं और अपने बियर के गिलास को हाथों में घुमाती रही।

"अफ़सोस है मुझे देर हो गई," मैंने बैठते हुए कहा, "तुम वक़्त पर आ गई थीं?"

उसने फिर आँखें झपक लीं।

"आज मेरी ड्यूटी का आख़िरी दिन था," मुझे लगा कि इस बहाने मैं अपने देर से आने की व्याख्या कर सकता हूँ।

"मुझे पता है," वह जल्दी से बात काटने के ढँग से बोली।

"इसीलिए..."

उसकी आँखों का भाव सहसा बदल गया। मैं बात करते-करते रुक गया क्योंकि मुझे लगा कि वह मेरी बात के बीच में ही हँसने जा रही है।

वह कुछ देर प्रतीक्षा करती रही, फिर मुस्कुरा दी।

"तुम मुस्कुरा किस बात पर रही हो?" मैंने अपने को छोटा महसूस करते हुए पूछा।

"बस ऐसे ही।"

"फिर भी...?"

वह और खुलकर मुस्कुरा दी। साथ उसने खिड़की से नीचे की तरफ़ इशारा कर दिया।

"वहाँ क्या है?" मैंने पूछा।

"सड़क," वह बोली "नज़र आ रही है न?"

"हाँ... लेकिन..."

"मुझे यहाँ से नज़र आ रही थी। मैंने काफ़ी देर पहले तुम्हें आते देख लिया था। जब तुम सीढ़ियों से ऊपर देख रहे थे तो मैं यहाँ खिड़की के पास खड़ी थी।"

वह हँस दी। मेरे कान सुर्ख़ हो रहे थे, फिर भी मैंने उसकी हँसी में साथ दे दिया।

"स्कूल में मुझे देर हो गई थी," मैंने दोनों बातों को जोड़ने की कोशिश की। "इसलिए दौड़ते हुए इतना रास्ता आने में साँस फूल गई थी।"

"तुम्हें पता नहीं है तुम कैसे लग रहे थे," वह बोली। "पहले मैंने सोचा था तुम्हें बताऊँगी नहीं। पर अब सोचा कि क्यों तुम्हें झूठ बोलकर और भद्दा पड़ने दूँ।"

वह अपनी मुस्कुराहट को ढँकने के लिए घूँट भरने लगी। मैंने जैसे ज़्यादा आराम से बैठने के लिए कुर्सी का रुख़ थोड़ा बदल लिया।

"मेरा ख़याल था तुम अब तक चली गई होगी," कुछ देर अपनी सकपकाहट से लड़ते रहने के बाद मैंने कहा।

"तुम्हें देख न लिया होता, तो ज़रूर चली जाती," वह बोली। "मैं कभी किसी के इन्तज़ार में इतनी देर नहीं बैठती।"

बैंड रुक गया था। बीच के सोफ़े से उठकर कुछ लोग बाहर जा रहे थे। हमसे दो मेज़ें छोड़कर बैठा एक अकेला युवक एकटक हमारी तरफ़ देख रहा था। शायद बॉनी को अकेली बैठी देखकर वह वहाँ आ बैठा था और अब यह भाँपने की कोशिश कर रहा था कि वह मेरा इन्तज़ार कर रही थी या मैं ऐसे ही उसके पास आ बैठा हूँ।

"अब क्या प्रोग्राम है?" मैंने बॉनी से पूछा। "यहीं बैठना है या...?"

"बाहर चलेंगे," वह बैरे को बिल लाने का इशारा करती बोली। "इतनी देर से यहाँ बैठे-बैठे मुझे उलझन हो रही है।"

"बाहर कहाँ?"

"कहीं भी। इतनी लम्बी सड़क है। उसी पर चलते रह सकते हैं।"

"सिर्फ़ चलते रहने का ही मन है या कहीं चलकर बैठना भी है?"

"पता नहीं," वह गिलास ख़ाली करके अस्थिर भाव से इधर-उधर देखने लगी। "पहले यहाँ से तो बाहर निकला जाए।"

मैंने बिल अदा कर दिया। बैरे के प्लेट हटाने के साथ ही वह उठ खड़ी हुई। "आओ, चलें।" और वह दरवाज़े की तरफ़ बढ़ गई। बैरे को जो पैसे लौटाकर लाने थे, वे सब मुझे ज़बर्दस्ती टिप के लिए छोड़ देने पड़े। मैं बाहर निकलने तक देखता रहा कि बैरे की नज़र मेरी तरफ़ मुड़े तो सवा दो रुपए टिप देने के बदले मैं उससे सलाम तो ले लूँ। लेकिन वह जैसे जान-बूझकर काउंटर पर ही रुका रहा। उस युवक की आँखें अलबत्ता दरवाज़े तक हमारा पीछा करती रहीं।

"अब?" बाहर आकर मैंने पूछा।

वह कुछ देर बिना कुछ कहे इधर-उधर आँखें दौड़ाती रही। शायद मन में वह भी यही बात सोच रही थी।

"किस तरफ़ को चलें?" मैंने फिर पूछ लिया।

"स्कूल की सड़क छोड़कर और किसी भी तरफ़ को।"

"त्रिशूली की तरफ़?"

"चलो।"

"लेकिन उस रास्ते में बैठने की कोई जगह नहीं मिलेगी—सिवाय एक हवाघर के।"

"न सही। बैठकर करना भी क्या है?"

"तुम्हें भूख नहीं लगी है?"

"नहीं। तुम्हें लगी है?"

भूख मुझे लगी थी। पर मैं यह भी सोच रहा था कि कहीं और बैठकर बीस-तीस रुपए ख़र्च करने से बचा जा सके, तो अच्छा ही है। "कुछ ख़ास नहीं," मैंने कहा। "एक वक़्त बिना खाए भी चल सकता है।" कहते हुए उस रात की याद हो आई जब भूख की वजह से ही पार्टी के लिए रुका रहा था। उस रात भी अगर मुझे किसी खिड़की से उस हॉल में देख लिया होता...!

"तो ठीक है," उसने कहा। "त्रिशूली की तरफ़ ही चलते हैं।"

'सवा नौ!' मैंने सेंट कोलम्बस की घड़ी में देखकर सोचा। 'अगर हम लोग दो घंटे भी घूमते रहें, तो सवा ग्यारह तक घर पहुँचकर मैं स्कूल से आया खाना खा सकता हूँ।'

हम लोग अपर रिज पार करके लोअर माल की तरफ़ उतरने लगे।

बॉनी सधी चाल से चल रही थी। जैसे मुझे सड़क पर ख़स्ता हालत में देख लेने के बाद उसे तनकर चलने का अधिकार हासिल हो गया हो। मैं फिर मन में रास्ते की मंज़िलें गिन रहा था। चल इस तरह से रहा था जैसे मेरे शरीर को एक फ़ीते से बाँधकर खींचा जा रहा हो। लोअर माल तक हम लोगों की चाल काफ़ी तेज़ रही। ढलान की वजह से। वहाँ पहुँचकर धीमी पड़ गई। सड़क बिलकुल सुनसान नहीं थी। चौथाई किलोमीटर तक दोनों तरफ़ घर होने से इक्का-दुक्का लोग आ-जा रहे थे। फिर भी इतनी तसल्ली थी कि हम लोग एक ऐसे इलाक़े में हैं जहाँ किसी परिचित के मिलने की सम्भावना नहीं है।

"कुछ बात करो," बॉनी कुछ उकताए-से स्वर में बोली। "तुम इस तरह गुमसुम क्यों चल रहे हो?"

मुझे काफ़ी देर से लग रहा था कि मुझे कोई बात करनी चाहिए। जब हम लोग लोअर माल के रास्ते में थे, तभी से। पर तब मैं लोअर माल पर पहुँचने की राह देख रहा था, अब आबाद हिस्से के गुज़र जाने की। "तुम भी तो गुमसुम चल रही हो," मैंने कहा। "मैंने सोचा तुम्हारा मन शायद सिर्फ़ टहलने को ही है, बात करने को नहीं।"

वह कुछ क्षण चुप रहकर चलती रही, बीच-बीच में रास्ते के काल्पनिक रोड़े-पत्थरों को ठोकरें लगाती। फिर बोली, "मुझे लग रहा है मैंने तुम्हें ख़ामख़ाह बाहर बुला लिया है। मुझे बुलाना नहीं चाहिए था।"

"तो इसमें क्या है?" मैंने उसकी बात से छिलकर कहा। "थोड़ी दूर से एक पगडंडी ऊपर को जाती है। उस रास्ते वापस चला जा सकता है।"

"मेरा मतलब यह नहीं था," वह आग्रह के साथ मेरी बात को काटती बोली। "मेरा मतलब था कि..."

"क्या मतलब था?"

"पता नहीं। तुम कोई बात क्यों नहीं करते? कोई भी बात करो।"

उसके स्वर में एक अस्थिरता थी जिसने मेरे मन की बन्दिश को थोड़ा खोल दिया। "तुम एकाएक काफ़ी बेचैन नज़र आने लगी हो," मैंने कहा।

"मैं आज सुबह से ही काफ़ी बेचैनी महसूस कर रही थी," वह बोली। "मैं चाहती थी कोई मुझसे देर तक बात करे—लम्बी बात। पर सारा दिन ऐसी ही छुटपुट बातों में बीत गया है। जैसे और हर दिन बीतता है।"

"तुम समझती हो किसी के साथ लम्बी बात करने से कुछ फ़र्क़ पड़ सकता था?"

"पता नहीं," उसने चलते-चलते घूमकर आस-पास और पीछे देख लिया। "यह भी पता नहीं कि मैं बात ही करना चाहती थी या और कुछ चाहती थी।"

"और कुछ यानी?" मेरा ध्यान उसकी गरदन की तरफ़ चला गया। उसकी गरदन इतनी पतली थी कि उसे दो उँगलियों से अपनी तरफ़ मोड़ा जा सकता था।

"मुझे कुछ भी पता नहीं," वह उतावली के साथ पहले से तेज़ चलने लगी। "सच, मुझे लग रहा है कि मैंने ख़ामख़ाह ही तुम्हें बाहर बुला लिया है।"

"मैंने तुमसे पहले ही कहा है कि..." पर इस बार मैं उसकी बात से छिला नहीं।

"नहीं, नहीं," वह उसी तरह ज़ोर देकर बोली। "वापस मैं नहीं चलना चाहती। वह हवाघर कितनी दूर है जिसकी तुम बात कर रहे थे?"

"ज़्यादा दूर नहीं है। आधा मील...ज़्यादा-से-ज़्यादा एक किलोमीटर। तुम पहले इधर कभी नहीं आईं?"

"नहीं। इसीलिए सोचा कि यह रास्ता भी देख लिया जाए।"

तीन-चार लड़कियाँ चहकती हुई सामने से आ रही थीं। उनके पास से गुज़रने तक हम लोग चुप रहे। बॉनी ने एक बार घूमकर उन्हें पीछ की तरफ़ से भी देख लिया। फिर जैसे अपने दिमाग़ से किसी चीज़ को झाड़ते हँस दी।

"हँस किस बात पर रही हो?" मैं थोड़ा अचकचा गया।

"किसी बात पर नहीं। या समझ लो बहुत-सी बातों पर। मैं इन लड़कियों को देखकर सोच रही थी कि..."

"क्या?"

"कि कितना फ़र्क़ होता है आदमी की एक जगह की ज़िन्दगी और दूसरी जगह की ज़िन्दगी में। ये लड़कियाँ जैसी सड़क पर हैं, वैसी घर मैं जाकर नहीं रहेंगी। जैसी घर में होंगी, वैसी किसी अकेले कोने में जा खड़ी होने पर नहीं रहेंगी। इनमें से हरएक के मन में न जाने कितना कुछ है जिसे वह अकेली ही जानती है। अगर मैं सिर्फ़ अपने को ही ले लूँ, तो न जाने कितना कुछ है मेरे अन्दर जिसे मेरे सिवा कभी कोई नहीं जानेगा।"

"जैसे?"

वह फिर हँस दी। "तुम्हारा ख़याल है, तुम्हें मैं बता दूँगी?"

आगे सड़क का कुछ हिस्सा भीगा हुआ था। शायद धूप न पड़ने से पिघलनेवाली बर्फ़ के कारण। चप्-चप् करते उस हिस्से को पार करते हुए मैंने उसका हाथ थामने के लिए अपना हाथ बढ़ा दिया। पर उसने अपना हाथ मेरे हाथ में देने की जगह ज़ेब में डाल लिया।

"अपना हाथ मुझे दे दो," मैंने हठ के साथ कहा।

"चलते चलो," वह बोली। "अभी काफ़ी वक़्त है इसके लिए।"

"पर अगर मैं कहूँ कि..."

"बिना हाथ पकड़े चलोगे ही नहीं? तो लो पकड़ लो हाथ," कहते हुए उसने अपना हाथ मेरे हाथ में दे दिया। मैंने अपनी बात रखने के लिए उसका हाथ पकड़ तो लिया, पर अपने को उससे बड़ा महसूस नहीं कर सका। ऐसे लगने लगा जैसे किसी का निर्जीव-सा एहसान अपने हाथ में लिए चल रहा हूँ।

वह कुछ गुनगुनाने लगी। पर अचानक चुप हो गई।

"हमने इस सड़क पर आकर अच्छा नहीं किया," मैंने कहा।

"क्यों?"

"किसी ऐसी जगह चलते जहाँ ख़ूब रोशनी होती। या ऐसी जगह... ।"

"जहाँ बिलकुल अँधेरा होता?"

"मैंने नहीं सोचा था कि तुम मुझे ऐसी मनःस्थिति में मिलोगी।"

"तो क्या सोचा था?"

मैंने उसकी तरफ़ देखा। उसकी आँखें उपहास कर रही थीं। मैंने उसका हाथ छोड़ दिया।

"हाथ छोड़ क्यों दिया?" वह बोली।

"ऐसे ही।"

"तुम लौट चलना चाहते हो?"

"नहीं।"

"तो इस तरह मुँह लटकाकर मत चलो," कहते हुए उसने फिर अपना हाथ मेरे हाथ में दे दिया। इस बार काफ़ी देर हमारे हाथ आपस में कसे रहे।

"कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं बहुत ख़तरनाक लड़की हूँ," वह मेरे हाथ से खेलती हुई बोली।

"क्यों?"

"तुम्हें नहीं लगता? उस रात पार्टी में मैंने तुम्हारे साथ जो शरारत की थी, उसके बाद भी?"

''उस रात तो नहीं लगा था, पर...''

''आज लग रहा है?''

"हाँ, आज सचमुच लग रहा है,'' कहते हुए मेरी आवाज़ कुछ बदल गई। हम लोग सड़क का मोड़ मुड़ रहे थे। आबादीवाला हिस्सा पीछे छूट गया था। मैंने उसका हाथ छोड़कर उसे बाँहों में ले लेने की कोशिश की। पर वह मेरी एक बाँह हाथ में लेकर अपने को पीछे को कसे रही।

''क्या बात है?'' मैं फिर ओछा पड़ गया।

''अभी चलते चलो!'' उसका कसाव कम नहीं हुआ।

''तुम नहीं चाहतीं?''

''मैं पहले तुमसे बात करना चाहती हूँ,'' उसने मेरी दोनों बाँहें हटा दीं।

मैं पल-भर उसकी आँखों में देखता रहा। अब उनमें उपहास नहीं था। ''बात तो कभी भी की जा सकती है, कहीं भी।'' मैंने अपने चोट खाए अहं को सहलाते हुए कहा।

''यह ग़लत है,'' वह बोली, ''बात तो शायद ही कभी की जा सकती है। हाँ, यह खेल कभी भी खेला जा सकता है। कहीं भी। किसी के साथ भी।''

''तुम सचमुच ऐसा समझती हो?''

''तुम नहीं समझते?''

पल-भर पहले जब वह बाँहों में थी, तो वह मेरे लिए सिर्फ़ एक शरीर रह गई थी। उस शरीर की उठान को अपने साथ भींच लेने की आकांक्षा के सिवा कोई भाव मन में नहीं रहा था। पर अब उस शरीर की जगह दिख रहा था एक लम्बा कोट, कोट पर रखा एक चेहरा और चेहरे में जड़ी दो आँखें जो एक चुनौती लिए मुझे देख रही थीं।

हम लोग चुपचाप आगे चलने लगे। एक-दूसरे से थोड़ा फ़ासला बनाए रहकर। उसी तरह हम उस पगडंडी से आगे निकल आए जहाँ से ऊपर अपर माल पर जाया जा सकता था। वह बिलकुल घाटी की मुँडेर के साथ-साथ चल रही थी। सिर तिरछा किए उधर के किसी गाँव की हल्की रोशनियों को देखती। मैं सर्द हवा की चुभन चेहरे पर महसूस करता पहाड़ी की तरफ़ चल रहा था। सड़क को बीच से काटते जिस्त के निशानों की लकीरें ताकता।

''तुम्हें अफ़सोस हो रहा है मेरे साथ आने के लिए?'' एक मोड़ के पास रुककर मुँडेर पर कुहनी रखे वह मेरी तरफ़ मुड़ गई। उसके रुकने से मुझे भी रुक जाना पड़ा। लेकिन मैं अपनी तरफ़ ही रहा। उसके पास नहीं गया। ''मेरा ख़याल है हमें चलते रहना चाहिए,'' मैंने कहा।

''बताओ, तुम्हें अफ़सोस हो रहा है?''

''इसमें अफ़सोस की क्या बात है?'' मैंने नाराज़ आदमी की तरह कहा, ''काफ़ी अच्छा लग रहा है टहलना। मुझे तो शौक़ भी है इसका। शाम को खाना खाने के बाद अक्सर टहलने निकल जाता हूँ।'' कहते हुए मुझे अपने टिफ़िन कैरियर का ध्यान हो आया। सोचा उसे खोलने पर जाने क्या-क्या उसमें से निकलेगा। और जो निकलेगा वह निगलने लायक़ होगा भी या नहीं।

''तुम क्या सोचकर आए होगे, मैं जानती हूँ,'' वह बोली, ''इसलिए तुम्हें इस तरह निराशा हो रही है। मेरा तौर-तरीक़ा ही ऐसा है कि हर आदमी उस तरह की बात सोचने लगता है। लेकिन मैं अपने को दोष नहीं देती। मुझे अच्छा लगता है इस तरह की होना।''

उसने बाँहें मुँडेर पर फैला ली थीं। मुझे लगा कि लकड़ी ज़रा भी कच्ची हुई, तो बोझ पड़ने से टूट जाएगी। वह जिस तरह खड़ी थी, उससे लग रहा था जैसे उसे अब आगे चलना ही न हो। 'बनने की कोशिश कर रही है लड़की,' मैंने सोचा और जैसे मजबूरी में जिस्त की लकीर लाँघकर उसके पास चला गया, ''इस तरह मत खड़ी होओ,'' मैंने कहा। ''कहीं ऐसा न हो कि...''

''नीचे खड्ड में जा गिरूँ?'' उसने हँसते हुए अपना बोझ सँभाल लिया। ''नहीं, गिरूँगी नहीं। मौत से मुझे बहुत डर लगता है। लेकिन बिना चोट खाए अगर गिरने के सुख का अनुभव किया जा सके, तो मुझे बहुत अच्छा लगेगा।''

उसकी आँखें ऐसे हो गई थीं जैसे उसने कोई बहुत बड़ी बात कह दी हो। मुझसे वह इसके उत्तर में कुछ सुनने की आशा भी कर रही थी। शब्दों के बदले में शब्द। यही शायद उसकी नज़र में 'बात' करना था। मैंने अपने दिमाग़ के डब्बे को हिलाया कि कोई तो बात उससे कहनी ही चाहिए। लेकिन डब्बा बिलकुल जाम हो रहा था।

मेरी चुप्पी से थोड़ा और ऊँचे उठकर उसने मेरी बाँह हाथ में ले ली और आगे चलने लगी। थोड़ी देर के लिए उसे फिर से काल्पनिक रोड़े-पत्थरों को ठोकरें लगाने का शौक़ चर्रा आया। हवा में एक लम्बी ठोकर लगा लेने के बाद वह बोली, ''तुमसे तुम्हारे बारे में कुछ पूछूँ?''

मैंने उदासीन भाव से हामी भर दी।

''तुम्हारी पत्नी तुम्हारे साथ क्यों नहीं रहती?''

मुझे लग गया था कि वह कोई ऐसा ही सवाल पूछेगी। जैसे मुझमें सब लोगों की दिलचस्पी सिर्फ़ दो ही कारणों से थी—मेरी पत्नी के मुझसे अलग रहने के कारण और मेरे स्कूल से त्यागपत्र दे देने के कारण। मिसेज़ दारूवाला ने भी कुछ देर पहले यही दो बातें की थीं। और लोग भी इसी दायरे में रहकर बात करते थे। सबको टालमटोल के उत्तर देते हुए मैं अन्दर से बहुत उलझ जाता था। उस तरह के उत्तरों से मैं इतना तंग पड़ चुका था कि उस समय फिर वैसा ही कुछ कहने की बात ने

मुझे अन्दर से मितला दिया। अकेली सड़क, खुली घाटी और पत्ता चलने की तरह बात करती वह लड़की—इस सबसे मुझे उकसाहट हुई कि आडम्बर का वह लबादा कम-से-कम उस समय के लिए तो उतार ही दूँ। यह भी लगा कि शायद यही एक तरीक़ा है जिससे मैं उसकी ऊँचे-से-ऊँचे उठते जाने की कोशिश को कुछ हद तक बेकार कर सकता हूँ। ड्यूटी समाप्त होने से अब तक अपने अन्दर जिस स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं कर पाया था, उसका कुछ विश्वास भी इस तरह अपने को दिला सकता था। ''इसलिए कि वह रहना नहीं चाहती,'' मैंने उसके चेहरे पर अपने शब्दों का प्रभाव देखते हुए कहा, ''और इसलिए भी कि मैं भी उसके साथ नहीं रहना चाहता।''

उसके चेहरे के भाव में अन्तर नहीं आया। उसके लिए जैसे यह उतनी ही स्वाभाविक बात थी जितना किसी का यह कहना कि फ़लाँ चीज़ इसलिए नहीं खाता कि उसका स्वाद उसे अच्छा नहीं लगता। ''तुम्हें हैरानी हुई है?'' फिर भी मैंने पूछ लिया।

''नहीं,'' वह बोली, ''हैरानी मुझे बहुत कम बातों से होती है। फिर इसमें तो हैरानी की ऐसी कोई बात नहीं है।''

''नहीं है?''

''नहीं। मुझे हैरानी होती अगर तुम इसकी बजाय कोई और वजह बताते।... लेकिन नहीं। हैरानी मुझे फिर भी न होती। क्योंकि मैं उस पर विश्वास न करती,'' कहते हुए वह गरदन उठाकर हँस दी।

''तुम कहना चाहती हो कि तुम पहले से ही ऐसा सोचती थीं?''

''मैं ही क्या, मेरा ख़याल है सभी लोग ऐसा सोचते होंगे। यह इसलिए नहीं कि तुम लोगों के अलग रहने से ऐसा अनुमान किया जा सकता है। बल्कि इसलिए कि जो लोग स्वयं अलग रहने का साहस नहीं कर पाते, वे इसका बहुत अच्छी तरह अनुमान लगा सकते हैं। स्कूल में ज़्यादातर लोग ऐसे ही हैं। बल्कि सच कहा जाए, तो सभी ऐसे हैं।''

''तुम सबके बारे में कैसे कह सकती हो?'' मैंने इस तरह उसकी तरफ़ देख लिया जैसे कि एक हल्की-सी दरार खुल जाने से अब मुझे उसके अन्दर झाँककर देख लेने का मौक़ा मिल गया हो, और इससे पहले कि दरार फिर बन्द हो जाए, मुझे उसका लाभ उठा लेना हो।

''मैं कह सकती हूँ क्योंकि मैं प्रायः सभी को जानती हूँ,'' वह मेरी नज़र को भाँपती बोली। फिर पल-भर चुप रहने के बाद उसने कहा, ''तुम्हें ईर्ष्या तो नहीं हो रही?''

''किस बात से?''

"इसी बात से कि मैं सब लोगों के बारे में इतने अधिकार के साथ बात कर सकती हूँ?"

"नहीं, ईर्ष्या मुझे नहीं हो रही। उलटे..."

"... तसल्ली मिल रही है कि और सब लोग भी तुम्हारी जैसी ही स्थिति में हैं?... बल्कि उससे भी बदतर स्थिति में क्योंकि उनमें तुम्हारी तरह स्थिति को स्वीकार करके चलने का साहस नहीं है?"

"मेरे लिए न इसमें ईर्ष्या की कोई बात है, न तसल्ली की। मुझे दूसरे लोगों में कोई दिलचस्पी ही नहीं है।"

"सचमुच नहीं है?" उसका निचला होंठ थोड़ा सिकुड़ गया।

"आदमी को अपने से फ़ुरसत मिले, तो वह दूसरों में दिलचस्पी ले। मुझे लगता है कि मुझे कभी अपने से फ़ुरसत ही नहीं मिल पाती।"

"तो इसका मतलब यह लिया जाए कि इस समय भी तुम..."

मैंने उसकी तरफ़ देखा। सोचा कि इस तरह तो न जाने कब तक बात करते रहा जा सकता है। बिना मतलब एक वाक्य से दूसरे वाक्य तक सफ़र करते हुए। यह केवल समय बिताना था—उस चीज़ को जो मिलने की बात तय करते समय शायद दोनों के मन में थी, लगातार स्थगित करते जाना। वह ऐसा शायद जान-बूझकर ही कर रही थी। मेरे अन्दर उतावली बढ़ाने के लिए। मैं इस बीच कई बार मन में खीझ चुका था। कई बार उससे उबरकर अपने में अकेला पड़ चुका था। कई बार सोच चुका था कि उससे साफ़-साफ़ पूछ लूँ कि वह कब तक इस तरह मछली और काँटे की स्थिति बनाए रखना चाहती है। कितनी ही बार उसके दुबले शरीर का आकर्षण मेरे मन से मिट गया था। परन्तु अकेली सड़क और पेड़ों की सरसराहट के बीच मैं बार-बार उस मुक़ाम पर लौट आया था जहाँ आगे के कुछ क्षणों को और देख लेने की बात मन के दूसरे हर भाव पर छा जाती थी। आगे का रास्ता ज़्यादा दूर तक नज़र नहीं आ रहा था। पहाड़ी की करवट और पेड़ों के झुरमुटों के बीच सड़क की मुँडेर बीस-तीस क़दम के बाद अँधेरे में खो गई-सी लग रही थी। 'अब काफ़ी हो चुका यह सब,' यह सोचने के साथ मैं जैसे एक निर्णायक स्थिति पर पहुँचने के लिए रुक गया। वह मुझसे दो-तीन क़दम आगे जाकर रुकी।

"मैं जानती हूँ, तुमने मेरे सवाल का जवाब क्यों नहीं दिया।" वह बोली। "पर तुम रुक क्यों गए?"

"तुम एक बात जानती हो, तो दूसरी भी जानती ही होगी," मैंने कुछ रूखे स्वर में कहा।

वह पल-भर स्थिर आँखों से मुझे देखती रही। जो मैं कहना चाहता था, वह बिना कहे उसने जान लिया है, यह उसकी आँखों में स्पष्ट था। पर इस बार वह हँसी या

मुस्कुराई नहीं। लौटकर मेरे पास आ गई और मेरी बाँह हाथ में लेकर चलती हुई बोली, ''तुम्हें लग रहा है कि मैं तुम्हारे धीरज की परीक्षा ले रही हूँ? लेकिन ऐसा नहीं है।''

''जो भी है।'' मैंने कहा, ''मुझे मान लेना चाहिए कि मेरे अन्दर इस तरह बात करते रहने की और हिम्मत नहीं है। मुझे थकान महसूस हो रही है।''

''थकान या ऊब?''

''कुछ भी समझ लो?''

''तुम चाहते हो कि...''

''मैं कुछ भी नहीं चाहता।...या सिर्फ़ इतना ही चाहता हूँ कि...''

''हम लोग चुपचाप लौट चलें?''

मैंने नीम-रज़ामन्दी से सिर हिला दिया। वह हल्के से आँखें मूँदे पल-भर कुछ सोचती रही। ''कुछ देर चलकर हवाघर में बैठने का तुम्हारा मन नहीं है?''

''नहीं।''

''यहाँ पास से कोई शार्ट-कट है स्कूल के लिए?''

''थोड़ा आगे से है। हवाघर के सामने से।''

''तो चलो, उसी रास्ते से चलते हैं। तुम्हें भूख भी लग आई होगी।''

''तुम्हें नहीं लगी?''

''कह नहीं सकती। कई बार मुझे पता नहीं चलता। जब तक खाना सामने नहीं आता, तब तक लगता रहता है कि बिलकुल भूख नहीं है। पर सामने आते ही ज़ोर की भूख लग आती है।''

''मेरे साथ बिलकुल इससे उलटा होता है। जब तक खाना नज़र नहीं आता, अंतड़ियाँ भूख से कुलबुलाती रहती हैं। पर खाने पर नज़र पड़ते ही उससे मन हट जाता है। स्कूल के खाने के साथ तो ख़ासतौर से ऐसा होता है।''

''तो कहीं इसी वजह से तो तुम नौकरी छोड़कर नहीं जा रहे?'' उसकी स्वाभाविक हँसी फिर लौट आई। हँसने पर उसका चेहरा फिर मुझे काफ़ी सुन्दर लगा।

''इस वजह से नहीं, तो समझ लो इसी से मिलती-जुलती किसी वजह से।'' हम लोगों की आँखें कुछ देर मिली रहीं। मेरी बाँह पर उसके हाथ की पकड़ कस गई। ''चलो, मैं तुम्हारे यहाँ चलकर तुम्हें खाने के लिए कुछ बना दूँगी।''

''तुम चलोगी?...मेरे क्वार्टर में?... इस वक़्त?'' मेरी आवाज़ ज़रा काँप गई।

''क्यों, तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा।''

''मुझे अच्छा लगने की बात नहीं। लेकिन तुम जानती हो कि मेरा क्वार्टर बिलकुल अकेला नहीं है। कोहली और गिरधारीलाल उसी घर में साथ रहते हैं।''

"वे लोग अब तक सो गए होंगे।" वह बोली, "और जागते भी हों, तो मैं परवाह नहीं करती। उनमें से किसी का हौसला नहीं होगा कि मेरे ख़िलाफ़ जाकर शिकायत कर सके।...तुम परवाह करते हो?"

"मैं स्कूल छोड़कर जा रहा हूँ इसलिए मुझे तो कोई फ़र्क़ ही नहीं पड़ता।"

"पर तुम्हारी आवाज़ से लगता है कि तुम्हें फ़र्क़ पड़ता है।"

"यह तुम शायद अपनी बात से बचने के लिए कह रही हो।"

"तुम मुझे नहीं जानते, जानते होते, तो ऐसा न कहते। अगर तुम्हारे मन में सचमुच कोई रुकावट नहीं है, तो हम सीधे यहाँ से चल सकते हैं। स्कूल से जो खाना आया होगा, उसी को मैं तुम्हें ठीक से पका दूँगी। जैसे रोज़ अपने लिए पकाती हूँ। उसके बाद कहोगे, तो तुम्हारे सुबह के कपड़े भी निकालकर रख दूँगी। तुम्हारे बटन-अटन भी लगा दूँगी। जैसा कि तुम्हारी पत्नी यहाँ होती, तो तुम्हारे लिए करती।...तुम्हें अच्छा लगेगा अगर एक रात मैं तुम्हारे लिए यह सब कर दूँ?"

"हाँ, पता नहीं। कह नहीं सकता।"

"क्यों?"

"यह भी नहीं कह सकता।"

"तो इसका मतलब क्या यही नहीं कि तुम अब भी लोगों की परवाह करते हो! नौकरी छोड़कर भी इस चीज़ से उबर नहीं पाए!"

"हो सकता है। पर मुझे ऐसा नहीं लगता।"

"तो फिर संकोच क्यों है तुम्हें?"

"मैं शायद ठीक से समझा नहीं सकूँगा। यूँ बेकार भी है कोशिश करना। जहाँ तक उस घर का सवाल है...वहाँ की हर चीज़ का... उसके साथ बहुत कुछ जुड़ा है बीते दिनों का...इसलिए उस सबके बीच जाकर... ।"

वह रुक गई। मुझे भी रुक जाना पड़ा। "तो क्या...?" वह मेरी आँखों में कुछ पढ़ने की कोशिश करती सीधी नज़र से मुझे देखती रही।

"मेरा ख़याल है वहाँ चलकर मुझे काफ़ी अस्थिरता महसूस होगी। यहाँ खुली हवा में चलते जैसा महसूस हो रहा है, वैसा वहाँ महसूस नहीं होगा।"

"मैं तुमसे कुछ और पूछ रही थी," वह पल-भर का अन्तर देकर बोली, "तुम्हारे नौकरी छोड़ने की असल वजह कहीं... ।"

हमारे हाथ आपस में कस गए। मैंने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया। एक खड़खड़ाती जीप ढलान का मोड़ मुड़कर हमारी तरफ़ आ रही थी। उसकी रोशनियों से आँखें चुँधिया रही थीं, इसलिए मैंने कोशिश की कि हम लोग जल्दी से सड़क के एक तरफ़ हो जाएँ। पर हमने जितना ही बचने की कोशिश की, जीप उतना ही हमारे ऊपर को आकर पास से निकली। एक क्षण के लिए तो लगा कि ड्राइवर जान-बूझकर

हमें नीचे कुचलने जा रहा है। जीप निकल गई, तो हम अचकचाए-से पीछे से उसे देखते रहे।

"कोई हम लोगों का परिचित था क्या?" बॉनी ने पूछा।

"पता नहीं।"

"तुम्हें नहीं लगा कि उसने जान-बूझकर हमें डराने की कोशिश की है?"

"हाँ, लगा तो कुछ ऐसा ही है। हो सकता है पिए हुए हो वह।"

"या इस वक़्त अकेले ड्राइव करने से चिढ़ा हुआ हो। हम दो को साथ-साथ सड़क पर देखकर खार खा गया हो। या वैसे ही मूड में आ गया हो। एक पल के लिए तो मुझे लगा था कि बस..."

"इस बात को दिमाग़ से निकाल दें। हम लोग क्या बात कर रहे थे?"

"हाँ, क्या बात कर रहे थे हम लोग?" वह अपने को सहेजने की कोशिश करती बोली, "तुम कुछ कह रहे थे शायद।"

"मैं? नहीं तो।"

"तो मैं कुछ कह रही थी क्या? क्या कह रही थी?"

मैंने सोचने की कोशिश की। पर तुरन्त बात के उस फ़ीते को जोड़ नहीं पाया जिसे जीप के पहिये काट गए थे। मेरी टाँगें काँप रही थीं। बॉनी भी मुश्किल से अपनी कँपकँपी को सँभाले थी।

"छोड़ो उस बात को," मैंने कहा, "जो भी कह रही थीं, वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था।"

"मेरे ईश्वर!" बॉनी ने उँगलियाँ माथे पर रख लीं।

"क्यों, क्या हुआ?"

"कुछ नहीं, मैं उस क्षण की ही बात सोच रही हूँ। अगर कुछ इंचों का फ़र्क़ न रहता।"

"आगे चलें क्या?"

"अभी नहीं।"

मैंने उसके हाथ अपने हाथों में लेने चाहे, तो उसकी बाँहें उठकर मेरे कन्धों पर आ गईं। बाँहों में भींच लेने पर उसके शरीर का दुबलापन मुझे और ज़्यादा महसूस हुआ। पर वह दुबलापन चुभनेवाला दुबलापन नहीं, मांस की नरमाई लिए दुबलापन था। दो नन्हें-नन्हें चूज़े मेरी छाती से गरदन सटाए जल्दी-जल्दी साँस ले रहे थे। उनके रेशों का लचीलापन मेरी सख़्त हड्डियों से दबकर भी कम नहीं हुआ था। मेरे होंठ बॉनी के होंठों पर दबकर जैसे एक ग़ार में अपने लिए पनाह ढूँढ़ रहे थे। मेरा एक हाथ उसके कन्धे पर कसा था और दूसरा उसके शरीर की उभरी रेखाओं को नाप रहा था।

''फ़र्ज़ करो हम लोग कुचल गए होते,'' साँस लेने का मौक़ा मिलने पर उसने और भी साथ सटते हुए फुसफुसाकर कहा।

''तो भी कुछ इसी तरह सड़क पर पड़े होते...।''

उसने कुछ और कहना चाहा, पर कहने के लिए उसके होंठ ख़ाली नहीं रहे। उसकी पीठ से सरकता मेरा हाथ उसकी गरदन पर आ गया। ''ओह!'' मेरे दाँतों से चिहुँककर उसने चेहरा पीछे हटा लिया।

''तो तुम चलना चाहोगी इस वक़्त मेरे साथ मेरे यहाँ?'' मैंने उसका चेहरा फिर अपने पास करना चाहा। पर वह अपने को पीछे कसे रही। ''अब नहीं,'' उसने जैसे एक निश्चय के साथ कहा और कोशिश करके अपने को मुझसे अलग कर लिया।

''क्यों?''

वह चुपचाप चलने लगी। अपनी बात का उत्तर न मिलने से खिसियाना पड़कर मैं भी कुछ देर के लिए चुप हो गया। दूर से एक और जीप की खड़खड़ाहट सुनकर हम दोनों सड़क पर अलग-अलग तरफ़ को हट गए। उस जीप में कई लोग थे। तीन या चार जोड़ी युवक और युवतियाँ ठसाठस भरे हुए। उन लोगों की मिली-जुली हँसी की आवाज़ एक झपाटे के साथ हमारे बीच से निकल गई।

हम लोग तिरछे कोणों से चलते हुए फिर पास आ गए। ''तुमने मेरी बात का उत्तर नहीं दिया,'' मैंने कहा।

''तुम्हारेवाला हवाघर वह सामने नहीं है?'' उसने जैसे मेरी बात न सुनकर कुछ दूर आगे इशारा करते हुए पूछ लिया।

''हाँ, वही है वह हवाघर।''

''कुछ देर वहाँ बैठ लें? बस ज़रा-सी देर?''

''जैसा तुम चाहो।''

हवाघर सड़क के मोड़ पर था। घाटी की तरफ़ न होकर पहाड़ी की तरफ़। कुछ ऊँचाई पर। वहाँ पहुँचकर वह मेरे साथ एक ही बेंच पर नहीं बैठी। साथ ही आड़ी बेंच पर बैठ गई। ''तुमने जो बात कही थी, वह ठीक थी।'' बेंच की पीठ पर बाँहें फैलाते हुए उसने कहा। ''मुझे अचानक फिर उसका ख़याल हो आया है।''

''किस बात का?''

''उसी बात का जो कुछ देर पहले तुमने कही थी। अपने क्वार्टर में न चलने की।''

''पर वह बात तो मैंने...''

उसने मेरा हाथ दबाकर मुझे चुप कर दिया। ''देखो मनोज,'' वह गहराई से कुछ सोचने की तरह आँखें झपकती बोली, ''कुछ बातें होती हैं, बहुत छोटी-छोटी, जिन्हें आदमी समझने की कभी कोशिश भी नहीं करता। पर वे छोटी-छोटी बातें ही ज़िन्दगी में ज़्यादा माने रखती हैं। बहुत-सी बड़ी लगने वाली बातों से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होती हैं।''

उसकी उँगलियाँ बहुत ही पतली थीं। मैंने कई बार उसकी पाँचों उँगलियों को एक-एक करके मसला। फिर उसका हाथ छूट जाने दिया।

''जो बात तुमने कही थी, उसका शायद उतना ही अर्थ नहीं है जितना तुम मुझे समझाना चाहते थे।'' वह कहती रही। ''उससे कहीं ज़्यादा अर्थ मेरी समझ में आ रहा है। मैं एक बात अपने बारे में तुमसे स्पष्ट कह देना चाहूँगी। तुम जानते ही हो कि स्कूल में मेरा नाम ख़ासा बदनाम है। पर मैं कभी उसकी परवाह नहीं करती। यह इसलिए नहीं कि उसमें कुछ सच्चाई नहीं है, बल्कि सच कहूँ, तो इसलिए कि उसमें काफ़ी कुछ सच्चाई है। मुझे इस बात का खब्त रहा है कि हर आदमी को थोड़ा खरोंचकर देखूँ कि उसकी अन्दरूनी सूरत बाहर की सूरत से कहाँ तक मेल खाती है। तुम मुझसे स्टाफ़ के किसी भी आदमी के बारे में पूछ लो। मैं तुम्हें बता सकती हूँ कि अपने अन्दर से वह आदमी उस आदमी से कितना अलग है जिसे तुम रोज़ कॉमन रूम में मिलते हो। टोनी व्हिसलर से लेकर डायना तक कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है—बुधवानी, कोहली, गिरधारीलाल और ऐसे ही दो-तीन लोगों को छोड़कर—जिनके साथ मैंने घंटों अकेले में बातें नहीं कीं या जिसे मैंने उसके अन्दर की सीवनों की तरफ़ से नहीं देखा। हर आदमी ने अपने-आप मुझे देख लेने दिया हो, ऐसा नहीं। आदमी जब अकेला होता है, तो वह भी एक वैसा ही चेहरा चढ़ाए रखने की कोशिश करता है जैसा लोगों के बीच चढ़ाए रखता है। सिर्फ़ वह चेहरे से काफ़ी अलग होता है। उस आदमी की असलियत का अन्दाज़ा उस दूसरे चेहरे से नहीं, पहले का चेहरा हटाकर यह नया चेहरा लगाने की प्रक्रिया से लगाया जा सकता है। जब कोई मुझसे कहता है कि वह मुझसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहता, तो शायद वह सबसे ज़्यादा छिपाने की कोशिश कर रहा होता है। पर एक कोशिश और दूसरी कोशिश के बीच वह सीवन कहीं सामने पड़ जाती है जिसे वह दोनों तरह से ढके रहना चाहता है।''

वह काफ़ी गम्भीर हो गई थी, हालाँकि उसके नुकीले चेहरे के साथ उस तरह की गम्भीरता का सम्बन्ध जोड़ना मुश्किल था। वह अपने जिस ख़ब्त की बात कर रही थी, मुझे उसमें ज़्यादा दिलचस्पी नहीं थी। वह कितने लोगों के साथ कितना-कितना समय बिता चुकी है और इससे उसने क्या-क्या निष्कर्ष निकाले हैं, इस सबकी जानकारी से ज़्यादा दिलचस्प मुझे उसकी जानकारी देने की कोशिश लग रही थी। बात उसने जहाँ से शुरू की थी, उसके साथ आगे की बात का कोई सीधा सम्बन्ध मुझे नज़र नहीं आ रहा था।

''तुम खुद ही कह रही थीं न कि सब लोगों की ज़िन्दगियाँ अन्दर से एक-सी हैं,'' मैंने कहा। ''हाँ, तो थोड़ी-बहुत हेर-फेर हो सकती है। मैं नहीं समझता कि बार-बार एक ही बात को जानने के लिए तुम्हें इतना तरद्दुद उठाने की ज़रूरत थी?''

"एक-सी होने पर भी कितनी अलग-अलग तरह से एक-सी होती हैं, यह जान सकना अपने में उतनी छोटी बात नहीं है," वह थोड़ा चमककर बोली। "जिन लोगों के साथ तुम दिन-रात काम करते हो, उनमें से हरएक के बारे में कुछ ऐसा भी है, अनजाना, जिसे जानकर तुम्हें सचमुच आश्चर्य हो सकता है। उदाहरण के लिए टोनी व्हिसलर को ले सकते हो। जानते हो क्या चीज़ है जो उस आदमी को ऐसा बनाए रखती है जैसा कि वह है? उसकी नपुंसकता। वह ज़ेन से छुटकारा चाहता हुआ भी उसकी नकेल में रहता है, क्योंकि उसे डर लगता है कि कहीं यह बात बाहर लोगों पर प्रकट न हो जाए। इसी तरह रोज़ ब्राइट है। उसे कम उम्र के लड़कों के साथ वक़्त बिताने का शौक़ है। यही बात है जो उसके पति को एक मशीन के पुर्ज़े की तरह हर वक़्त काम करते रहने के लिए मजबूर करती है। यह जानकारी मुझे उन दोनों में से किसी से नहीं, उनके हाउस के एक प्रीफ़ेक्ट जसवन्त से मिली है। चेरी और लारा ने वैसे तो प्रेम-विवाह किया है, पर उसकी असल वजह मिसेज़ दारूवाला है जो उन दिनों चेरी के साथ अपने सम्बन्ध को लेकर बड़ी-बड़ी घोषणाएँ करने लगी थी। मॉली क्राउन मिसेज़ ज़्याफ़्रे की अपनी बेटी न होकर बनाई हुई बेटी है–जिस महाराजा के यहाँ यह गवर्नेस थी, उससे रुपया वसूल करने के लिए यह गर्भवती होने का स्वाँग भरकर विदेश चली गई थी और वहाँ से लौटकर यहीं किसी से इसने इस लड़की को हथिया लिया था। इसी तरह पादरी बैटलिंग के कँवारे रहने का असली कारण यह है कि..."

यह बात करते-करते रुक गई। मेरे होंठों पर उभरती मुस्कुराहट को उसने देख लिया था। पल-भर ठेस-खाई नज़र से मुझे देखती रहकर बोली, "तुम्हें शायद सचमुच दिलचस्पी नहीं है। अच्छा हटाओ। उन लोगों की मैं और बात नहीं करूँगी। मैं जो कहना चाहती थी, वह यह है कि किसी भी आदमी को उसके घर की दीवारों के अन्दर देखो–वह किसी-न-किसी रूप में ज़रूर उन दीवारों की अपेक्षाओं से बँधा होगा। वह अगर अपने से बाहर उमड़ता या हाथ-पैर पटकता है, तो भी उन सीमाओं से जकड़ी रहकर। दीवारों की अपनी ही एक नैतिकता होती है। उनके बीच रहकर आदमी या तो चुपचाप उस नैतिकता का पालन करता है, या उसके प्रति एक ख़ामोश विद्रोह–और विद्रोह की ख़ामोशी भी उस नैतिकता के दबाव की स्वीकृति ही है। उस दबाव से आदमी अपने को मुक्त अनुभव कर सकता है केवल वहाँ जहाँ किसी भी तरह की दीवारें न हों–एक ऐसी ही अकेली खुली सड़क पर, हवा और आकाश के घेरे में। अगर इस समय यहाँ की जगह हम लोग तुम्हारे कमरे में होते, तो क्या मैं इतने खुलेपन से तुमसे बात कर सकती? वहाँ या तो दबे स्वर में हम तुम्हारी पत्नी के विषय में बात कर रहे होते, या पड़ोसियों के अस्तित्व को नकारने के लिए गुपचुप प्यार। मेरी दिलचस्पी एक और आदमी के अन्दरूनी व्यवहार को देखने में होती और

तुम्हारी...शायद एक और लड़की के साथ रात गुज़ार लेने-भर में। पर तुम्हें शायद मुझसे निराशा ही होती क्योंकि मेरे अन्दर तुम्हें वह प्रतिक्रिया न मिलती जिसकी तुम मुझसे अपेक्षा रखते।''

वह फिर कुछ देर के लिए ख़ामोश हो रही। अपनी बाँहें समेटकर उसने गोदी में रख ली थीं। लकड़ी की बेंच पर उसका पूरा शरीर बहुत सिमटा-सिमटा-सा लग रहा था। जैसे कि अपनी सब गोलाइयाँ खोकर वह काफ़ी सपाट हो गया हो। उसे देखते हुए, और दिमाग़ में उसकी कही बात की झनझनाहट महसूस करते हुए, मैं उस स्थिति से अपने को काफ़ी दूर निकल आया महसूस कर रहा था जिसमें कुछ देर पहले उसके साथ चला था। क्या यही सब मुझसे कहने के लिए उसने आज की शाम साथ बिताने का प्रस्ताव किया था? या कि मैं ही अपने व्यवहार और बातचीत से उसे उस मनःस्थिति में ले आया था?

''तुम्हें शायद बुरा लग रहा है कि मैं एकाएक इस तरह बात क्यों करने लगी,'' वह अपने उड़ते बालों पर हाथ फेरती बोली। ''पर शायद यह सब मैं तुमसे उतना नहीं जितना अपने से कहना चाह रही हूँ। मैं अपने लिए भी बहुत बार महसूस करती हूँ कि मैं हमेशा उस तरह खुलकर अपने को स्वीकार नहीं कर पाती जिस तरह कि करना चाहती हूँ। जहाँ तक शरीर की नैतिकता का सम्बन्ध है, उसे लेकर मेरे मन में कभी कोई कुंठा नहीं रही। जब सत्रह साल की थी, तभी से। मैं तुम्हारे सामने यह भी स्वीकार कर सकती हूँ कि कई-एक लोगों के साथ मेरा शारीरिक सम्बन्ध रहा ही है, हालाँकि हरएक के साथ एक-सा नहीं। इन दिनों तुममें कुछ ज़्यादा दिलचस्पी लेने का कारण तुम्हारा यहाँ अकेले होना भी था और यह भी कि तुम अब स्कूल छोड़कर जा रहे हो। दिन में सोचा था कि कुछ देर टहलने के बाद तुम मुझे अपने साथ घर चलने के लिए कहोगे और मैं चलकर तुमसे प्यार करती हुई तुम्हारी पत्नी का ज़िक्र छेड़-छेड़कर तुम्हें थोड़ा खिझाऊँगी। मुझे अच्छा लगता है प्यार करते समय साथ के आदमी का खिझाना। इससे उस आदमी को कैसा लग रहा है, यह मैं नहीं सोचती। पर हर आदमी के साथ अन्त में मेरी अनबन हो जाती है। ऐसा शायद मेरी ही वजह से होता है या मैं जानबूझकर होने देती हूँ क्योंकि मैं किसी के साथ भावनात्मक उलझन में नहीं पड़ना चाहती। दो-एक बार अगर वैसी उलझन महसूस हुई है, तो मैंने कोशिश से अपने को उससे मुक्त कर लिया है। मैं इसे एक विशेष परिस्थिति में रो पड़ने जैसी ही कमज़ोरी समझती हूँ जो कि मेरी सम्मान-भावना को ठेस पहुँचाती है। ऐसी कमज़ोरी अपने में देखकर मैं अपने को बहुत छोटी महसूस करती हूँ! मैं नहीं चाहती कि किसी भी आदमी का मुझ पर इतना अधिकार हो कि मैं उसके बिना जी ही न सकूँ। ग़लतफ़हमी में मत पड़ना...तुम्हें लेकर इस तरह की किसी कमज़ोरी का तो सवाल ही नहीं है क्योंकि तुमसे मेरा परिचय ही कितना है? दूसरे मैं नहीं

समझती कि तुम्हारे जैसा आदमी किसी भी लड़की के मन में वैसी उलझन पैदा कर सकता है। इसका भी मतलब ग़लत मत लेना, पर मैं अपने इन दो घंटों के अनुभव से कह सकती हूँ कि तुम बने ही कुछ दूसरी तरह के हो। अपनी पत्नी से तुम्हारी क्यों नहीं पट सकी, इसका भी कुछ-कुछ अनुमान मैं लगा सकती हूँ। फिर भी न जाने क्यों कुछ देर से मेरा मन कुछ और-सा हो रहा है। मैं कई बार खुद नहीं समझ पाती कि मैं दरअसल चाहती क्या हूँ। किसी एक आदमी के साथ घर बसाकर रहने की बात से मुझे शुरू से ही चिढ़ रही है। इन कुछ सालों में जो कुछ देखा है, उससे वह चिढ़ और बढ़ गई है। पर कई बार यह भी लगता है कि मेरा मन जो इतना भटकता है, उसका वास्तविक कारण मेरा अकेलापन ही है। नहीं तो क्यों मैं एक तरफ़ दूसरों में इतनी दिलचस्पी लेती और दूसरी तरफ़ उनका उपहास उड़ाती रहती हूँ? क्या मेरी वास्तविकता यही नहीं है कि मैं अपनी छटपटाहट को कुरेदने में ढूँढ़ती हूँ?'' और कुछ देर वह गरदन उठाए हवाघर की छत को देखती रही। फिर आँखें नीचे लाकर बोली, ''मैं यह भी नहीं समझ पा रही कि तुमसे यह सब मैं क्यों कह रही हूँ? क्या इसलिए कि तुम मेरे लिए और लोगों से थोड़े ज़्यादा अजनबी हो...और क्योंकि अब तुम यहाँ से जा रहे हो, इसलिए मेरी कही बातें भी तुम्हारे साथ ही चली जाएँगी? हर समय आस-पास दिखाई देकर तुम मुझे उनकी याद नहीं दिला सकोगे?...पर मुझे अफ़सोस है,'' उसका भाव सहसा बदल गया और उसका हाथ फिर मेरे हाथ की तरफ़ बढ़ आया! ''तुम ऐसी बातें सुनने के लिए मेरे साथ नहीं आए थे। तुम चाहो, तो हम लोग अब भी तुम्हारे यहाँ चल सकते हैं। घर के अन्दर पहुँचकर हो सकता है हम दोनों बिलकुल दूसरी तरह महसूस करें।''

उसने मेरा हाथ अच्छी तरह दबा दिया। कुछ पल प्रतीक्षा करने के बाद कि शायद वह कुछ और कहे, मैंने उठने की तैयारी करते हुए आहिस्ता-से कहा, ''मेरा ख़याल है यहाँ से तो चला ही जाए अब।''

वह एक झटके के साथ उठ खड़ी हुई। जैसे उसे पहले से ही इस बात के कहे जाने की आशा रही हो। ''किधर से चलोगे?'' सीढ़ियों की तरफ़ बढ़ते हुए उसने पूछा। ''सड़क से या बीच के छोटे रास्ते से?''

''बीच के रास्ते से चलते हैं,'' मैंने कहा। ''सड़क का रास्ता काफ़ी लम्बा पड़ेगा।''

''ठीक है,'' वह सँभाल-सँभालकर सीढ़ियों पर पैर रखती बोली। ''लम्बे रास्ते से गए, तो न जाने और क्या-क्या कहकर तुम्हें परेशान करती रहूँ!''

पगडंडी पर आकर हम लोग घिरे हुए देवदारों के नीचे चलने लगे। सारी पगडंडी पर भीगे हुए सड़े पत्ते और टूटे हुए बीज बिखरे थे। आस-पास झाड़ियों के झुरमुट थे, ऊपर छितराई डालें। बीच-बीच में पाँव बर्फ़ के चूते-पिघलते लोंदों पर पड़ जाते।

अपने पैरों की आवाज़ के सिवा कहीं कोई आहट नहीं थी। हवा के अतिरिक्त दबाव महसूस हो रहा था केवल अपनी साँसों का। एक मिली-जुली गन्ध थी—ज़मीन की, पेड़ों की, अपने आपकी। कुछ रास्ता चल आने के बाद उसने अपनी बाँह मेरी बाँह में उलझा ली। "तुम्हें मुझसे काफ़ी निराशा हुई है आज। नहीं?"

उसे जाने क्या लग रहा था कि मैं क्या सोच रहा हूँ। पर मेरे दिमाग़ में सिवाय उस रास्ते को नापकर सड़क तक पहुँचने के और कोई विचार नहीं था। या कई-एक विचार थे, आपस में गुँथे हुए, जिनमें कोई एक विचार स्पष्ट नहीं था। मुझे अच्छा लगता अगर वह और बात न करती और बाक़ी रास्ता हम लोग चुपचाप तय कर लेते।

"मैं कुछ दूसरी ही बात सोच रहा था," मैंने बात को उस प्रकरण से हटा लेने के लिए कहा।

"क्या बात?"

"जितना कुछ इतने दिनों में अपने आस-पास बिखेरा है, उस सबको समेटने की। पता नहीं कितनी चीज़ें हैं जो इस बीच जमा हो गई हैं। समझ नहीं पा रहा कि उन सबका क्या करना चाहिए। दो-तीन सौ किताबें, कितनी ही क्रॉकरी है और भी जाने क्या-क्या सामान है ज़िन्दगी ढोने का।"

वह कुछ देर चुप रही; अपनी बाँह में उलझी मेरी बाँह की प्रतिक्रियाओं से मेरे भाव का अनुमान लगाती। फिर बोली, "क्यों नहीं अपनी पत्नी को तार देकर बुला लेते? वह आकर सब समेट देगी।"

"इस समय उसका ज़िक्र करना बहुत ज़रूरी था क्या?" मैंने हल्की झुँझलाहट से अपने अन्दर के रुकाव को थोड़ा बह जाने दिया। बर्फ़ का एक लोंदा रास्ता रोके था, उसे मैंने जूते की नोक से छितरा दिया।

"मैं तुम्हें छेड़ने के लिए नहीं कह रही," वह बोली। "मेरा मतलब था कि...तुम उसके साथ रहो या उसके बग़ैर, स्थितियों में क्या ज़्यादा अन्तर आ सकता है?"

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया। चुपचाप चलता रहा।

"क्या तुम नहीं मानते कि कुछ चीज़ों का कोई हल नहीं होता?" वह फिर बोली। "इसलिए कुछ स्थितियों को ज्यों-का-त्यों रहने देना भी उतना ही बुरा या अच्छा है जितना उनसे छुटकारा पा लेना?"

मैं फिर भी होंठ सिकोड़कर चुप रहा, तो उसने मेरा आशय भाँपकर उस बात को वहीं छोड़ दिया। कुछ देर अपनी उँगलियों से मेरी बाँह को हल्के सहलाते रहने के बाद कहा, "अकेले सारा सामान समेट लोगे अपना?"

"देखूँगा एकाध दिन में कि क्या कर पाता हूँ। बहुत-सी चीज़ें हैं जिन्हें अपने साथ नहीं ले जा सकता। उन्हें यहीं किसी को दे दूँगा। या ऐसे ही फेंक दूँगा।"

"पर यहाँ से जा कहाँ रहे हो? तुम्हारे रंग-ढंग से इतना तो झलकता ही है कि सीधे अपनी पत्नी के पास तुम नहीं जाओगे।"

"कह नहीं सकता। यह सोचना मैंने आख़िरी दिन पर टाल रखा है। हो सकता है एक बार चला ही जाऊँ उससे मिलने। यह भी हो सकता है कि कुछ दिन दिल्ली एक दोस्त के पास रह जाऊँ। उसने बहुत दिनों से कह रखा है। एक ख़याल कलकत्ता-शिलांग जाने का भी है। उस तरफ़ कभी गया नहीं, इसलिए सोचता हूँ कि क्यों न पहले कुछ दिन उस इलाक़े में जाकर घूम लिया जाए!"

आगे पगडंडी काफ़ी ऊबड़खाबड़ थी। कई जगह इतनी ख़स्ता कि लगता था पैर रखते ही नीचे धँस जाएगी। मैं पहले एक ही बार उस रास्ते से गुज़रा था। पर तब मई का महीना था और समय दिन का था इसलिए दिक्क़त नहीं हुई थी। उस समय अँधेरे में अपने अलावा उसे भी सँभालकर ले चलना अपने में ही एक काम था। कई जगह लगा कि उतने ख़राब रास्ते से हमें नहीं आना चाहिए था। पर उसने शिकायत नहीं की। चुपचाप मेरी बाँह पर अपनी बाँह का भार दिए चलती रही। बातचीत का विषय भी इससे बदल गया। वह ऐसे बीहड़ रास्तों से कब-कब गुज़री है। मैं कौन-कौन से पहाड़ों पर गया हूँ। किस जगह के लोग किस तरह से रहते हैं। कौन-से ऐसे स्थान हैं जहाँ एक बार आदमी को ज़रूर जाना चाहिए। हम दोनों जानते थे कि वह सारी बातचीत उस रास्ते को लाँघ जाने का बहाना-मात्र है। पर ज्यों-ज्यों रास्ता कट रहा था, हम दोनों साथ होते और आपस में बात करते हुए भी धीरे-धीरे एक-दूसरे से अलग होते जा रहे थे—अन्दर से केवल अपने-अपने में व्यस्त।

जहाँ पगडंडी सड़क से मिलती थी, वहाँ पहुँचने से थोड़ा पहले उसने मेरी बाँह दबाकर मुझे रोक लिया। पल-भर सीधी नज़र से मुझे देखती रही, फिर बोली, "तुम अब भी चाहोगे मैं तुम्हारे साथ तुम्हारे क्वार्टर में चलूँ, कुछ देर के लिए?"

"तुम्हारा मन हो तो चलो," मैंने कहा। "मुझे अपनी तरफ़ से कुछ नहीं कहना है।"

"मैं जानती हूँ तुम्हें कैसा लग रहा है," उसके हाथ मेरे कन्धों पर आ गए। "मैंने वहाँ बैठकर तुमसे जो बातें की हैं, उसके बाद मुझे शायद तुमसे पूछना भी नहीं चाहिए। पर कहीं तुम यह तो नहीं सोचोगे कि..."

"क्या?"

"कि मैंने जान-बूझकर..."

"कम-से-कम यह बात नहीं सोचूँगा।"

मेरी बाँहें अपने गिर्द न कसने से उसने मेरे कन्धों को एक बार हाथों में भींचकर छोड़ दिया। "घर जाकर खाने का क्या करोगे?" सड़क की तरफ़ चलते हुए उसने पूछा।

"वही जो रोज़ करता हूँ। थोड़ा गरम करके खा लूँगा।"

मेरे स्वर की उदासीनता से वह कुछ मुरझा गई। "मुझे पता नहीं क्या हो गया था आज," उसने आँखें झपकते हुए कहा। "ऐसा हमेशा नहीं होता; मैं बल्कि अपने पर मान किया करती हूँ कि मैं हमेशा खुश रह सकती हूँ और दूसरों को खुश रख सकती हूँ।"

"उस बात को जाने दो अब। कल सुबह स्कूल में मुलाक़ात होगी।"

सड़क पर आकर उसने फिर मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया। "देखो मुझे सचमुच अफसोस है आज के लिए।"

"कुछ समय साथ बीत गया, यही क्या काफ़ी नहीं है?" पर अपना स्वर मुझे स्वयं बेढंगा लगा।

"मुझे फिर भी अफ़सोस है..."

"किस बात का?"

"वह तुम भी जानते हो। मैं नहीं सोचती थी कि मेरे वह सब कहने से तुम इतने गुमसुम हो जाओगे।"

"तुम्हारी किसी बात से मैं गुमसुम नहीं हुआ। मुझे ऐसे ही कभी-कभी दौरा पड़ जाता है इस तरह का।"

"मैं जानती हूँ कि मैं वह सब न कहती, तो तुम्हें कम-से-कम आज की शाम इस तरह का दौरा हरगिज़ न पड़ता।"

मैंने जैसे आश्वासन देने के लिए उसकी बाँह को थपथपा दिया। "तुम ख़ामख़ाह परेशान हो रही हो। उस तरह की सचमुच कोई बात नहीं है।"

एक हल्का अन्तराल ख़ामोशी का। फिर उसका हाथ मेरी गरदन पर आ गया। "अच्छा, गुड नाइट।"

उसका शरीर काफ़ी साथ सट आने से मैंने उसे हल्के से चूम लिया। "गुड नाइट।"

वह चल दी, तो कुछ देर वहीं रुका मैं उसके कोट की हिलती सलवटों को दूर जाते देखता रहा। फिर अपने घर की तरफ़ चल दिया। पक्की सड़क के बाद कच्ची सड़क, फिर घर की पगडंडी। उस पगडंडी की तरफ़ बढ़ते हुए तीन बातें दिमाग़ में उभर रही थीं—डब्बे में बन्द बदज़ायका खाना, शाम को उसी रास्ते घिसटकर ऊपर को जाता अपना-आप और अपने में स्वतन्त्र महसूस कर सकने का वह दूर झिलमिलाता क्षण जो आकर भी अब तक नहीं आया था। मेरा माथा जकड़ गया था, सिर दर्द कर रहा था और लग रहा था कि जिस्म की हरारत भी कुछ-कुछ बढ़ गई है।

# दरवाज़े

रात से पहले की ख़ामोशी शाम गहराने के बाद की। झुटपुटे में रचा-बसा एक डर–न जाने किस चीज़ का। काफ़ी देर खिड़की के पास खड़ा रहने के बाद मैं कमरे में हट आया। बाहर सबकुछ अँधेरे से पहले के सुरमईपन में डूब गया था। जो धुँधला आभास बाक़ी था, उसे बिलकुल मिटते देखने का मन नहीं हुआ। वह मेरी आख़िरी रात थी वहाँ। एक सुबह और दोपहर और बीतनी थी और मुझे उस घर को ख़ाली करके चले जाना था।

अपना सामान मैंने आधा छाँट लिया था, काफ़ी देर पहले। जो कुछ छाँटने को बाक़ी था, उस पर लाचारी की नज़र डालकर हर बार उसे और बाद के लिए टाल दिया था। कितना कुछ था जो शोभा के आने से पहले का छँटना रहता था–जिसे अपने कँवारेपन के दिनों से कभी बाद के लिए टालता रहा था। वे ढेरों पत्र जिन्हें कभी छाँटकर फ़ाइलों में लगाने की बात सोचता था। तसवीरें जिनका कभी कोई एलबम नहीं बना सका था। कितनी ही चीज़ें थीं जो 'घर की सम्पत्ति थीं'–अर्थात् उस घर की जिससे मेरा सम्बन्ध वहाँ पैदा होने के नाते था। माँ और पिता के गुज़रने के बाद वह सबकुछ मौसी के यहाँ धरोहर के रूप में रखा रहा था। वे उस बार आई थीं, तो एक-एक चीज़ गिनकर सबकुछ मुझे सौंप गई थीं। एक बड़ा ट्रंक जिसमें पुराने ज़माने के बरतनों से लेकर आधे कढ़े मेज़पोशों तक दसियों तरह का सामान भरा था। मौसी जब सब चीज़ें मुझे गिना रही थीं, तो मैं उन्हें गिनने की जगह उनके वापस ट्रंक में बन्द होने की राह देख रहा था। वे बार-बार कहती थीं कि वे दोनों लड़कियों को साथ लेकर मेरे पास पहाड़ की सैर के लिए नहीं आईं, मेरी अमानत सुरक्षित रूप से मेरे पास पहुँचाने के लिए ही आई हैं। मुझे कुछ हद तक इस पर विश्वास भी था क्योंकि अपना पुराना मकान बेच देने के बाद उनके पास फ़ालतू चीज़ें रखने के लिए जगह नहीं रही थी। बेचारी राजो मौसी! वह सामान जिसकी क़ीमत कुल मिलाकर दो सौ रुपया भी नहीं थी, वह चौदह साल मेरे पैर जमने के इन्तज़ार में भरत की तरह अपनी रखवाली में रखे रही थीं। उसके बाद तीन आदमियों के आने-जाने का डेढ़ सौ रुपया भाड़ा भरके उसे मेरे पास पहुँचाने आई थीं। मुझे उनमें से किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है, मेरे यह लिखने का उन पर कुछ असर नहीं हुआ था। वे सब चीज़ें उनकी बहन जिस तरह सौंप गई थी, उसी तरह, ज्यों-का-त्यों, उन्हें मेरे सुपुर्द कर देना उनका नैतिक कर्तव्य था। अपने लिए वह उनमें से एक कपड़े का टुकड़ा भी नहीं रख सकती थीं। बाद में एक बार और शोभा ने उस ट्रंक को खोलकर उसमें झाँका-भर था। शोभा ने तो पुराने सामान की गन्ध से ही नाक-भौं सिकोड़ ली थी। मैं कोशिश करके आँखों में थोड़ी भावना ले आया था जो ज़्यादा शोभा को चिढ़ाने

के लिए ही थी। उसके बाद फिर कभी उसे खोलने की नौबत नहीं आई थी। वह ट्रंक अछूत की तरह ग़ुसलख़ाने में एक तरफ़ पड़ा मैले कपड़े जमा करने की मेज़ का काम देता रहा था। सुबह उसे खोलकर मैंने उसका सब सामान बाहर फैला दिया था। एक चाय-सेट को छोड़कर और कुछ भी नहीं था जिसे काम में लाया जा सकता—पर वह जापानी चाय-सेट भी, जिसकी दूधदानी का हत्था टूट गया था, मेरे लिए एक समस्या बन रहा था। उस सेट के अलावा शोभा के दिनों की भी बहुत-सी प्लेटें-प्यालियाँ थीं जिन पर इस बीच धूल की परतें जम गई थीं। छः नए गिलास जो शोभा किन्हीं ख़ास-ख़ास अवसरों पर इस्तेमाल करने के लिए लाई थी, बिना एक बार भी इस्तेमाल हुए फूस की कतरनों समेत एक गत्ते के डब्बे में बन्द थे। शोभा जिस दिन ज़रा खुश होती थी, या ज़्यादा परेशान होती थी, उस दिन कुछ-न-कुछ नया ख़रीद लाती थी। इसी तरह का उसका ख़रीदा एक आबनूस का टेबल-लैम्प था जिसमें एक बार भी बल्ब नहीं लगा था। एक पूरा सेट डाइनिंग टेबल पर बिछाने की चटाइयों का था जिनके लिए डाइनिंग टेबल ख़रीदने की योजना बनने के दूसरे ही दिन रद्द हो गई थी क्योंकि बीच की रात को मुझे 'चपर्-चपर्' की आवाज़ के साथ खाना खाते देखकर उसे उस विचार से ही वितृष्णा हो गई थी। कुछ चीज़ें थीं जो शोभा के जाने के बाद मैं अकेले जी सकने के गुमान में ख़रीद लाया था। बिजली की केतली, इस्तरी, स्टोव, टोस्टर और फ्राइंग पैन। उनमें से स्टोव को छोड़कर और किसी चीज़ का प्लग लगाने तक का मुझे उत्साह नहीं हुआ था।

जो आधा काम तब तक किया था वह था कपड़े-किताबें छाँट लेने का। बहुत-से कपड़े ऐसे थे जो या तो छोटे हो गए थे या कहीं-न-कहीं से फट रहे थे। उन्हें अलग करके काम-लायक़ कपड़ों को एक बक्से में बन्द कर लिया था। जूता एक भी काम का नहीं था। पर जिस एक के तस्मे ठीक थे, उसे पहनकर बाक़ी को ग़ुसलख़ाने के पीछे की गैलरी में डाल आया था जिससे जमादार को उन्हें ले जाने के लिए मुझसे पूछना न पड़े। किताबों में से जो फट गई थीं, उन्हें छोड़कर बाक़ी को एक बण्डल में बाँध लिया था हालाँकि जो छोड़ दी थीं, उनमें से भी कुछेक तब तक पढ़ी नहीं जा सकी थीं।

खट्, खटर्-खटर्-खट...शारदा अपने कमरे में टहल रही थी। जानबूझकर पाँव घसीटती हुई। या शायद सचमुच उससे ठीक से चला नहीं जा रहा था। मुझे लग रहा था जैसे वह आवाज़ ज़्यादा मुझे सुनाने के लिए ही हो। थोड़ी देर पहले जो उधर से उसकी 'उँह-उँह ओह-ओह' सुनाई दे रही थी, उसका भी मुझे कुछ वैसा ही मतलब लग रहा था। अपने आस-पास के सामान को लेकर मैं जिस हताश स्थिति में था, उसमें कोई मुझे देखे नहीं, इसलिए मैंने अपनी चटखनी अन्दर से लगा रखी थी। फिर भी चीज़ों के उठाने, रखने, घसीटने-पटकने की आवाज़ें इधर से उधर जा रही थीं।

जब भी मेरे कमरे में कुछ ज़्यादा ऊँची आवाज़ होती, उधर की 'उँह-उँह, ओह-ओह' पहले से बढ़ जाती। पहले कुछ देर जैसे वह आवाज़ कम्बल से ढँकी रही थी, फिर कम्बल से बाहर आ गई थी। जब मैं खिड़की के पास चला गया, तो वह आवाज़ मद्धिम पड़ते-पड़ते बिलकुल रुक गई। कुछ देर बाद दबे-दबे रोने की आवाज़ आने लगी जिससे मुझे लगा जैसे स्याही में डूबता बाहर का पूरा दृश्यपट ही हल्के-हल्के कराह रहा हो। मेरे खिड़की से हटने तक उस आवाज़ की जगह इस 'खट्-खटर्, खटर्-खट्' ने ले ली थी।

शारदा अपने कमरे में अकेली थी। उसके अकेली होने पर इस तरह की आवाज़ें उस कमरे से बहुत कम सुनाई देती थीं। पर दोपहर को उसमें और कोहली में जो झगड़ा हुआ था, यह उसकी शिकायत थी जिसे कोहली के वापस घर आने तक चलते रहना था। बात मामूली-सी थी। पर शायद उतनी मामूली नहीं भी थी। कोहली के स्कूल में पूरे दिन की ड्यूटी थी—आख़िरी ड्यूटी—जिसके कारण रात के साढ़े आठ, नौ तक उसके घर लौटने की सम्भावना नहीं थी। पर एक बजे लड़कों को दोपहर का खाना खिलाकर वह न जाने किस वजह से थोड़ी देर के लिए घर चला आया था। मैंने अपने कपड़ों को कीलों से उतारना शुरू ही किया था जब उधर ताबड़तोड़ शारदा की पिटाई होने लगी थी। पिटाई उसकी कोहली पहले भी करता था, पर वक़्त देखकर। रात को सबके सो जाने के बाद। मेरी तरफ़ से भी निश्चिन्त होकर कि या तो मैं घर पर नहीं हूँ, या उस वक़्त तक मेरे जगे होने की सम्भावना नहीं है। हाथ भी इतने ज़ोर से नहीं लगाता था कि वह चीख़कर अड़ोस-पड़ोस को जगा दे। फिर भी गिरधारीलाल की बीवी को इसका पता चल ही जाता था और वह हैरानी से मुझसे पूछती थी, "आप साथ के कमरे में सोते हैं, आपको पता नहीं चलता?" मुझे अगर पता चलता भी था, तो मैं यह जानकारी अपने तक पहुँचाने का श्रेय उसी को दे देता था। इससे अपनी नज़र में उसका महत्त्व काफ़ी बढ़ जाता था जिससे वह मेरी ज़्यादा क़द्र करती थी। पर कोहली से हममें से कोई भी इस विषय में बात नहीं करता था। हमें पता था कि शारदा के आने के बाद से उनकी ज़िन्दगी का हिसाब कई तरह से गड़बड़ाया रहता है। और तो और, बेचारे की उम्र तक का हिसाब और कुछ ठीक नहीं रहा था। मैट्रिक्युलेशन सर्टिफ़िकेट के हिसाब से उसकी उम्र तैंतालीस साल की थी, पर अब वह शारदा की उम्र उन्नीस साल बताकर उसका और अपना फ़र्क़ चौदह साल का बताता था। बीच के दस साल क्या हुए, यह पूछकर उसका मन ख़राब करना ठीक नहीं लगता था। यूँ शारदा की शक्ल भी ऐसी ही थी कि उसकी उम्र का सही अन्दाज़ा नहीं होता था। वह उन्नीस की भी हो सकती थी और उनतीस की भी। बहरहाल उन्नीस और तैंतालीस के बीच कहीं दस साल का घपला था। इसके अलावा भी कई तरह का घपला था। कोहली के पुराने सूट नए सिरे से कटने और रँगने के

बाद बहुत जल्दी यहाँ-वहाँ से चिन्दी होने लगे थे। फिर भी शुरू के दिनों में कोहली ने शारदा को बहुत सँभाला था। खाना बनाने के लिए घर में नौकर रख लिया था और शारदा को नई साड़ी पहनाकर रोज़ शाम को साथ घुमाने ले जाता था हालाँकि शारदा सड़क पर उससे हटकर चलना ही पसन्द करती थी। रात को भी कोहली देर-देर तक उसकी वजह से जगा रहता था क्योंकि शारदा को बत्ती बुझी रहने पर अँधेरे से डर लगता था और जली रहने पर नींद नहीं आती थी। वह रात को कितनी-कितनी बार उठकर ग़ुसलख़ाने में जाती थी जिसके लिए हर बार कोहली को खुद उठकर बत्ती जलानी पड़ती थी। अँधेरे में शारदा पलंग से नीचे पाँव तक नहीं रख पाती थी। उसे लगता था कि कमरे में कोई चल-फिर रहा है जो उसके पलंग से उतरते ही उसे दबोच लेगा। बत्ती जल जाने पर वह आदमी न जाने कहाँ जा छिपता था। पर अँधेरे में न सिर्फ़ शारदा को उसके पैरों की आवाज़ सुनाई देती थी, वह उसे चलते-फिरते देख भी सकती थी। कोहली के यह समझाने का कुछ असर नहीं होता था कि कमरे की चटखनी अन्दर से बन्द है, इसलिए कोई बाहर से वहाँ नहीं आ सकता। शारदा फिर भी कहती रहती थी, ''मैंने उसे अभी अपनी आँखों से देखा है। गले में लाल रंग की कमीज़ थी और नीचे काले रंग की पैंट। बत्ती जलने से पहले वह वहाँ दरवाज़े के पास खड़ा था।'' धीरे-धीरे कोहली ने बहस करना छोड़ दिया था। रात को अधजगा रहने से उन दिनों उसे क्लास में नींद आने लगती थी। लोग मज़ाक करते थे, ''क्या बात है कोहली? नई शादी की है, इसका यह मतलब तो नहीं कि रात-रात भर सोओ नहीं। अगर इतना ही प्यार है, तो महीने, दो महीने की छुट्टी लेकर उसे कहीं बाहर ले जाओ।'' इस पर कोहली के चेहरे के दो रंग हो जाते थे। ऊपर से वह हँसने की कोशिश करता था, पर साथ उसकी आँखें नीचे को झुकी जाती थीं। वह बहुत गम्भीर होकर अलग-अलग से हरएक से कहता था, ''मुझे आजकल इन्सोम्निया की शिकायत है : एलोपैथिक की दवाई मुझे रास नहीं आती। छुट्टियों में नीचे जाकर होमियोपैथिक इलाज करूँगा।'' पर इस बात को लेकर दूसरी तरह से टिप्पणी होने लगी थी। वह जब भी किसी को अकेला, ख़ामोश और उदास नज़र आता, तो हल्के-से आँख दबाकर उससे पूछ लिया जाता, ''तुम्हारा होमियोपैथिक इलाज कब से शुरू हो रहा है, कोहली?'' आख़िर हारकर उसने यह कहना भी छोड़ दिया था। जब उसकी ज़्यादा खिंचाई की जाने लगती, तो आँखें छत की तरफ़ उठाए वह चुपचाप खाँसकर रह जाता था।

कुछ महीने इस तरह निकाल लेने के बाद अपने इस दूसरे विवाहित जीवन के दूसरे दौर में कोहली के पुरुषत्व ने विद्रोह करना शुरू कर दिया था। उसने ताक़ीद कर दी थी कि रात-भर कमरे की बत्ती बुझाई नहीं जाएगी। शारदा के साथ घूमने जाना बन्द कर दिया था। नौकर को निकाल दिया था। और गाली-गलौज से शुरुआत

करके थप्पड़ के इस्तेमाल तक उतर आया था। इनमें से जिस चीज़ ने शारदा को सबसे ज़्यादा तक़लीफ़ पहुँचाई थी, वह था नौकर का निकाल दिया जाना। इससे उसका एकमात्र सुख—दोपहर को बिस्तर में लेटे हुए भूपतसिंह को आवाज़ देकर खाना वहीं मँगवा लेना—उससे छिन गया था। जब कोहली ने उससे शादी की थी, तो अपनी आमदनी का हिसाब, मकान, खाना, ट्यूशनें और यूनिवर्सिटी के पर्चे, सब गिनकर बताया था। अपनी बैंक की पासबुक भी दिखाई थी जिसमें दस हज़ार रुपए जमा था। पर उससे खटपट बढ़ने के बाद वह चिल्लाकर कहने लगा था, "दो सौ रुपए तनख़ाह में मैं नौकर नहीं रख सकता। आसपास और किसके यहाँ है नौकर? इतनी तनख़ाह में रोटी का ही गुज़ारा नहीं होता, नौकर कौन रख सकता है?" इधर इसमें एक और वाक्य जुड़ने लगा था, "पता नहीं यह नौकरी भी रहती है या नहीं!"

भूपतसिंह आदमी भी कुछ अजीब तरह का था। शरीर दुबला-पतला, पर चेहरा काफ़ी चौड़ा। आँखें ख़ामोश शत्रुता के भाव से हरएक को देखती हुईं। सुबह से लेकर रात तक काम करता हुआ भी काफ़ी सुस्त। काम से फ़ुरसत मिलते ही ज़ीने में बिछकर पड़ जानेवाला। न डाँट-डपट का कोई असर, न प्रशंसा का। कड़ी-से-कड़ी सर्दी में भी गला छाती तक खुला। वह जब तक कोहली के पास था, मैंने कभी उसे बात करते नहीं सुना। न घर में, न घर से बाहर। नौकरी छूटने के बाद भी वह वहीं आस-पास मँडराता नज़र आ जाता था। या तो उसे दूसरी नौकरी मिली नहीं थी, या उसने की ही नहीं थी। कोहली को वह सड़क पर कहीं खड़ा मिल जाता, तो कोहली की भौंहें तन जातीं। भूपतसिंह कोहली को देखकर भी न देखता। आस-पास की झाड़ियों-टहनियों में आँखें उलझाए रहता। कोहली ऐसे जबड़े सख़्त किए उसके पास से गुज़रता था जैसे बस चले, तो उठाकर खड्ड में फेंक दे। पर भूपतसिंह शायद गला उघाड़े ही इसलिए रहता था कि दूसरे को उसकी सख़्त हड्डी का अन्दाज़ा हो जाए। कोहली उसे देखकर बिना मुँह खोले बड़बड़ाता पास से निकल जाता था।

उस दिन दोपहर को लड़ाई भूपतसिंह की वजह से ही हुई थी। कोहली को घर आने पर वह अपने कमरे में बैठा दिखाई दे गया था। ग़नीमत थी कि शारदा उस वक़्त ग़ुसलख़ाने में थी और कोहली को एकाध सवाल पूछने के बाद चुपचाप उसे बाहर कर देने का मौक़ा मिल गया था। भूपतसिंह फिर से अपने को उस नौकरी पर बहाल कराने आया था ताकि छुट्टियों में उनके साथ नीचे जा सके—उसने कहा भी कि दस रुपए कम तनख़ाह पर बीबीजी ने उसे रखने की हामी भर दी है—पर कोहली ने सीधे उसे ज़ीने का रास्ता दिखा दिया। भूपतसिंह के जाने के बाद शारदा बहुत देर तक ग़ुसलख़ाने से नहीं निकली। अब निकली, तो कोहली उस पर गरजने के लिए तैयार बैठा था। 'यह आदमी क्या कर रहा था यहाँ?' से शुरू करके पन्द्रह-बीस मिनट में ही उसने वह तमाशा खड़ा कर दिया कि नीचे से रत्ना को बीच-बचाव के लिए

आना पड़ा। कोहली को ड्यूटी के लिए वापस स्कूल जाना होता, तो शायद बखेड़ा ज़्यादा देर चलता। रत्ना ने किसी तरह उसे ज़ीने से नीचे तक पहुँचा दिया जहाँ से गिरधारीलाल उसे सँभालकर साथ ले गया।

खट्-खटर्, खट्र... उधर से शारदा फ़र्श को काट रही थी, इधर से मैं—पलंगों को एक तरफ़ घसीटकर सब चीज़ों को कमरे के बीचोबीच लाकर पटकता हुआ। दोनों तरफ़ के दरवाज़े बन्द रहने पर भी जैसे हम लोगों में एक तरह की बातचीत चल रही थी। वह अपनी 'खटर्-खट्र' से मेरा ध्यान अपनी तरफ़ दिलाना चाहती थी और मैं अपनी धम-धपक से उस पर प्रकट करना चाहता था कि मेरी अपनी ही उलझन इतनी है कि मेरे पास और किसी के लिए समय नहीं है। सब चीज़ों को एक ज़गह जमा कर लेने का ख़ब्त मुझे क्यों सवार हुआ था, कह नहीं सकता। उससे चीज़ें व्यवस्थित होने की जगह और भी उलझती जा रही थीं। जगह इतनी नहीं थी कि उन्हें अलग-अलग हिस्सों में बाँटकर रखा जा सकता। जहाँ पहले वे दस अलग-अलग समस्याओं की शक्ल में थीं, वहाँ अब एक ही बड़ी-सी समस्या का रूप धारण कर रही थीं। फिर भी ज्यों-ज्यों अम्बार बड़ा हो रहा था, मुझे लग रहा था जैसे कोई चीज़ मेरे लिए आसान होती जा रही हो। मुझे अगर उन सब चीज़ों से अपने को मुक्त करना था, तो अब एक ही झटके में कर सकता था। बरामदे से कमरे और कमरे से ग़ुसलख़ाने में जाते हुए दस बार सोचने की ज़रूरत नहीं थी कि किस चीज़ का क्या करना चाहिए।

अलमोनियम के उन फूलदानों को, जो शोभा ने शादी से चार-पाँच दिन पहले मुझे ख़रीदकर दिए थे और जिनकी बाद में हम दोनों में से किसी को याद नहीं रही थी, उस ढेर में रखते हुए मैंने साथ के कमरे की चटखनी खुलने और खड़ाऊँ की खटर्-खट्र के अपने दरवाज़े तक आने की आवाज़ सुनी। कुछ पल दोनों तरफ़ प्रतीक्षा की ख़ामोशी रही। फिर शारदा ने हल्के से दरवाज़ा खटखटा दिया। मैंने मुँह और आँखें सिकोड़कर अपनी झुँझलाहट को थोड़ा कम किया और दरवाज़ा खोल दिया। शारदा बहुत बिखरे ढँग से बाहर खड़ी थी। साड़ी पेटीकोट से तीन-तीन इंच ऊँची। सिर के बाल जैसे धुनकी से धुने गए। ब्लाउज़, ब्रेसियर और शरीर—तीनों का कसाव अलग-अलग। आँखें एक आक्रोश से भरकर अपने हाल पर रहम खाती हुईं। ''कहिए,'' मैंने बहुत शिष्टता के साथ कहा। ऐसे जैसे दोपहर की घटना का मुझे बिलकुल पता ही न हो।

''क्या बजा है अब?'' उसने पल-भर सीधे मुझे देखते रहने के बाद एक नज़र अन्दर के सामान पर डाल ली।

''सात बीस। नहीं, उन्नीस,'' मैंने घड़ी में देखते हुए इस तरह कहा जैसे एकाध मिनट के फ़र्क़ पर किसी चीज़ का बनना-बिगड़ना निर्भर हो।

"इनकी ड्यूटी कितने बजे तक रहेगी?"

"आठ बजे तक। लेकिन लौटने में साढ़े आठ, नौ बज सकते हैं।"

वह पल-भर रुकी रही। शायद कुछ और कहना या पूछना चाहती थी। पर मेरे ठंडे लहज़े को देखकर वह बात ज़बान पर नहीं ला पाई। आहिस्ता से आँखें झपककर अपने कमरे की तरफ़ मुड़ गई। मैंने इस बार दरवाज़ा भिड़ाकर चटखनी नहीं लगाई। अपने सामान के पास आकर इस तरह खड़ा हो गया जैसे वह सब भी शारदा के अस्तव्यस्त व्यक्तित्व-जैसा ही कुछ हो, जिससे शिष्टतापूर्वक दो शब्द कहकर अपने को उससे अलग किया जा सकता हो।

आध-पौन घंटा और उसी तरह बीत गया। उन सब चीज़ों से अलग हटकर उनके बारे में सोचते हुए। क्या यह उचित था कि उन्हें वहीं बैरों-चपरासियों में बाँट दिया जाए? या कि बड़े बक्से में जितना सामान आ सके, उसे पार्सल से शोभा के पास भेज देना ज़्यादा ठीक था? इतना निश्चित था कि अपने लिए मुझे उससे ज़्यादा सामान नहीं रखना था जितना जहाँ कहीं भी साथ ले जाया जा सके। अपने आगे के कार्यक्रम के बारे में बहुत तरह से सोचकर भी मैं इससे ज़्यादा कुछ तय नहीं कर पाया था कि जब तक स्कूल से मिले पैसे साथ देंगे, तब तक मुझे किसी एक जगह नहीं रहना है—उस शुरुआत से पहले एक बार शोभा से मिल लेना चाहिए या नहीं, इसका कुछ निश्चय नहीं कर पाया था। एक बात मन में आती थी कि सामान शोभा के सुपुर्द करने के बहाने एक बार वहाँ जाया जा सकता है। इससे उसे इस बात की शिकायत नहीं रहेगी कि मैंने अपने निर्णय के सम्बन्ध में उससे एक बार बात भी नहीं की! पर वहाँ जाने में सबसे बड़ी बाधा थी उस घर के लोग जिनके सामने चेहरा बनाए रखने के लिए किसी दूसरी तरह की शुरुआत में उलझ जाना पड़ सकता था। 'मुझे जिन चीज़ों से अपने को मुक्त करना है, वे बाद में किसके पास रहती हैं, या उनका क्या होता है, इसकी चिन्ता मैं क्यों कर रहा हूँ?' मैंने अपने से कहा और कुछ क्षणों के लिए जैसे सचमुच उस सबसे उबर लिया। परन्तु कमरा पार करते हुए फिर अपने को उन सब चीज़ों से घिरे हुए पाया—फिर से उसी चिन्ता से परेशान कि आख़िर उस सबके बारे में अन्तिम निर्णय क्या रहा—उसे शोभा के पास भेज देने का, साथ ले जाने का, लोगों में बाँट देने का, या उसी तरह वहीं पड़ा छोड़ जाने का?

अँधेरा हो जाने से बाहर का दृश्यपट बिलकुल बुझ गया था। दोनों सोफ़ा-चेयर्स जिन पर शोभा और मैं आमने-सामने बैठा करते थे, ख़ाली पड़े एक-दूसरे को तक रहे थे। मेज़ मैंने साफ़ कर दी थी। सिवाय स्याही के कुछ निशानों के मेरे वहाँ बीते दिनों का कुछ भी आभास उससे नहीं मिलता था। वह उस समय उतनी ही ख़स्ता और नंगी थी जितनी उस दिन जिस दिन पहली बार वहाँ आने पर मॉली क्राउन ने कमरे का सामान मुझे दिखाया था। मैं यह भी नहीं कह सकता था कि वे निशान

मेरे ही दिनों के थे। उनमें से कुछेक पहले के भी हो सकते थे। ''हम इसे पेंट करा देंगे,'' पहले दिन मॉली क्राउन ने कहा था। पर तब से अब तक उसके पेंट होने की नौबत नहीं आई थी। 'मेरे बाद में आनेवाले आदमी से भी शायद वह यही कहेगी' मैंने सोचा। 'और वह भी कुछ साल मेरी तरह एक आशा और भरोसे में काट देगा।'

करने को बहुत कुछ था, फिर भी मुझे कुछ भी करने को नहीं सूझ रहा था। खाने का डब्बा स्कूल में आ गया था। पर ज़्यादा-से-ज़्यादा देर मन को उससे परे रखकर मैं उसके प्रति अपनी उपेक्षा प्रकट कर लेना चाहता था। 'आज आख़िरी बार होगी जब मैं यह सड़ा हुआ खाना खाऊँगा,'' इस दिलासे से मैंने स्टोव पर उसे गरम क़रने का इरादा भी छोड़ दिया था। 'जाते हुए इसकी असलियत को याद रखने के लिए इसे ठंडा ही खाना चाहिए,' यह जैसे मैंने अपने से नहीं, खाने के उस डब्बे से कहा था जो क्षमा-याचना की स्थिति में एक तरफ़ पड़ा अपनी और स्कूल की तरफ़ से मेरे सामने लज्जित हो रहा था।

खट्-खट्-खट्...दरवाज़े पर फिर से दस्तक सुनकर मैंने किवाड़ खोल दिए। इस बार भी शारदा ही थी। ''अभी नौ नहीं बजे?'' उसने मुझे देखकर कुछ सकपकाहट के साथ पूछ लिया।

''नहीं। अभी आठ दस हुए हैं।''

''कुल आठ दस?'' उसे जैसे मेरी घड़ी पर विश्वास नहीं आया।

''मेरी घड़ी में एकाध मिनट से ज़्यादा का फ़र्क़ नहीं हो सकता।''

वह इस बार आँखें झपककर लौटी नहीं; उसी तरह खड़ी रही।

''आज ड्यूटी का आख़िरी दिन है, इसलिए हो सकता है कोहली को लौटने में थोड़ा और समय लग जाए,'' कुछ पल प्रतीक्षा करने के बाद मैंने फिर कहा।

उसके चेहरे पर निराशा का भाव नहीं आया। उसने जैसे आँखों से कहना चाहा कि यह बात वह पहले से जानती है।

''आप घर बिलकुल ख़ाली करके जा रहे हैं?'' थोड़े और वक़्फ़े के बाद वह बात को दूसरे विषय पर ले आई।

मैंने आँखें झपककर सिर हिला दिया।

''सारा सामान साथ ले जाएँगे?''

''कुछ ले जाऊँगा, कुछ यहीं छोड़ जाऊँगा।''

''यहाँ क्यों छोड़ जाएँगे?''

मुझे कुछ अटपटा लगा। इतनी बात उसने मुझसे कभी नहीं की थी। ''बहुत-सी चीज़ें हैं जिनकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी,'' मैंने बात को छोटा करने के लिए कहा।

''मैं तो सोच रही हूँ कि अपना सारा सामान ले जाऊँगी,'' कहते हुए जैसे मेरे सामान पर ठीक से नज़र डालने के लिए वह दहलीज़ लाँघ आई।

मैंने जान-बूझकर उसकी बात का वह मतलब नहीं लिया। कहा, "कोहली ने तो ऐसा कुछ नहीं बताया।"

"उन्हें भी अभी पता नहीं है," वह कमरे में इस तरह नज़र दौड़ाती बोली जैसे यहाँ की हर चीज़ की अपने घर की चीज़ों से तुलना कर रही हो। "मैं अब आने पर उन्हें बताऊँगी। मैं इस आदमी के साथ और नहीं रह सकती।"

उसकी आँखें मुझसे मिल गईं। मेरी प्रतिक्रिया जानने के लिए, या वैसे ही। कुछ और ही तरह की थीं उसकी आँखें। जैसे शीशे की बनी। अपनी चमक के बावजूद निर्जीव। मैं अपने सामान की तरफ़ देखता हुआ चेहरे पर व्यस्त भाव ले आया। उस भाव का अर्थ यह भी था कि मुझे इससे कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि तुम उस आदमी के साथ ज़िन्दगी-भर रहती हो या आज ही उसे छोड़कर चली जाती हो। मेरे लिए इससे, बल्कि तुम्हारे समूचे अस्तित्व से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण यह चीज़ है कि मुझे सोने से पहले क्या-क्या करना और क्या-क्या समेटना है। इसलिए तुम्हारा इस वक़्त यहाँ होना मेरे लिए एक ख़ामख़ाह की उलझन है, जिसे टालने के लिए मुझे जल्दी से सोचना है कि मुझे क्या ऐसा सोचना चाहिए जिससे तुम बिना ज़्यादा सवाल किए अपने कमरे में वापिस चली जाओ। पर सामान से मुझे पहले ही इतनी घिन हो रही थी कि ज़्यादा देर मैं उन चीज़ों पर आँखें नहीं टिकाए रह सका। मेरी आँखें फिर उसकी तरफ़ मुड़ीं तो वह उसी तरह मुझे देख रही थी। चेहरे पर वही ढीला भाव जो उसके लेसदार पेटीकोट और उखड़ी हुकों वाले ब्लाउज़ में था। नाम के लिए उसने कन्धे पर शाल ले रखा था पर वह इस तरह अलग से झूल रहा था जैसे कन्धा एक खूँटी हो जो उसे लटका रखने के काम आती हो। ब्लाउज़ यूँ तो सफ़ेद था, पर गले से लेकर नीचे तक खुलने वाले पूरे हिस्से पर मैल की लकीरें थीं—वैसी ही लकीर अन्दर से दिखाई देते ब्रेसियर के सिरों पर भी थी। लगता था कि वह स्त्री न तो हफ़्ता-हफ़्ता भर नहाती है और न ही अन्दर के कपड़े बदलती है। ब्रेसियर में कसे, फिर भी ठीक से न कस पाए, मांस-पिंडों की खुश्की भी इस चीज़ की साक्षी थी। 'कोहली ने दिन में इसे बुरी तरह पीट दिया था, उसके बाद तो कम-से-कम एक बार इसे नहा ही लेना चाहिए था,' मैंने सोचा। पर उसके लिए शायद हर चीज़ नहाने से बचने का बहाना बन जाती थी।

"आप जाकर बहनजी से मिलें, तो उन्हें भी बता दीजिएगा," वह मुझसे उत्तर न पाकर बोली, "उनसे तो मैं पहले भी कहा करती थी, मेरा इस आदमी के साथ गुज़ारा नहीं है। मेरे माँ-बाप ने पता नहीं क्या देखकर मुझे इसके साथ ब्याह दिया। यह भी कोई आदमी है जिसके साथ एक लड़की ज़िन्दगी काट सके! मेरी अभी उम्र ही क्या है! जब शादी हुई, तब मैं पूरे उन्नीस की भी नहीं थी। मेरे माँ-बाप ने इतने दिन दौड़धूप करके मेरे लिए ढूँढ़ा भी तो यह आदमी! मुझे उन पर तरस आता है

कि अब नए सिरे से उन्हें मेरे लिए सबकुछ करना पड़ेगा। बेचारों ने पहले ही गरीबी में मुश्किल से ब्याह का ख़र्च उठाया था। अब दूसरी बार पता नहीं कहाँ से जुगाड़ करेंगे। पर मैंने सोच लिया है। मुझे चाहे सारी उम्र कँवारी रहना पड़े, मैं इस आदमी के साथ और एक दिन भी नहीं रहूँगी। इसीलिए अपना सारा सामान मैं साथ ले जा रही हूँ। बिलकुल नया सामान है सारा। यहाँ इसके पास मैं किसलिए छोड़ जाऊँ? मुझे तो फिर भी कोई-न-कोई मिल ही जाएगा, इसे कोई मेहरी-चमारी भी नहीं मिलने की घर बसाने को। घर उसका बस सकता है जो और कुछ न हो, आदमी तो हो। यह तो आदमी ही नहीं है। इसका घर क्या बसेगा?''

वह बात करती हुई अपने गले की हड्डी को सहला रही थी। उसके नाख़ून बड़े-बड़े थे—बग़ैर किसी कोशिश या तराश के बढ़े हुए। उँगलियाँ पूरे शरीर की तरह गठी हुईं और बेतरतीब। मुझे कोहली पर ग़ुस्सा आ रहा था। उसे उस औरत से शादी करना क्यों इतना ज़रूरी लगा था? और लगा ही था, तो क्या आज के दिन ही उसे उसकी पिटाई करनी थी जिससे मेरे जाने से पहले मेरे कमरे में आकर वह मुझे अपने बेढंगेपन से दो-चार होने का यह नायाब मौक़ा बख़्श दे?

''मेरा ख़याल है आपको अभी कुछ देर आराम करना चाहिए,'' मैंने कहा। ''और जो भी फ़ैसला करना हो, ठीक से सोच-समझकर करना चाहिए ताकि...''

''मैंने सब सोच-समझ लिया है जी,'' अब उसकी उँगलियाँ उसी हिस्से को खुजलाने लगीं। ''इतने दिन इसके साथ रह लेने के बाद भी अभी सोचना-समझना बाक़ी है? आप अगर देखें न कैसे इसने मेरी हड्डी-पसली एक की हैं आज, तो आप ज़बान पर भी न लाएँ यह बात।''

''ख़ैर, आप ज़्यादा जानती हैं आपके लिए क्या ठीक है...'' मुझे डर लगा कि कहीं वह सचमुच ही मुझे अपनी हड्डी-पसली न दिखाने लगे। ''...मैं तो आपसे इसलिए कह रहा था कि...''

''मुझे पता है आप किसलिए कह रहे हैं,'' उसके स्वर में और आत्मीयता भर आई। ''आप मेरा भला चाहते हैं और भला चाहनेवाला हर आदमी यही कहेगा कि अगर किसी तरह निभ सकती हो, तो एक औरत को निभा लेनी चाहिए। मैं ख़ुद शोभा बहनजी से यही कहा करती थी। मैं कहती थी कि भाई साहब में और कितनी बुराइयाँ हों, कम-से-कम वे अपनी औरत पर हाथ तो नहीं उठाते। एक औरत और सबकुछ सह सकती है जी, पर मार खाना कभी बरदाश्त नहीं कर सकती। आजकल कोई ज़माना है मार खाने का? हम आजकल की औरतें हैं, उस ज़माने की नहीं जब मरद लोग चादर डालकर उन्हें पीट लिया करते थे। उस ज़माने में तो किसी औरत की दूसरी शादी हो ही नहीं सकती थी। पर आजकल तो औरत भी चाहे, तो दूसरी शादी कर सकती है। सरकार ने इसके लिए कानून ऐसे ही नहीं बनाया। शोभा

बहनजी की मैं इस बात के लिए तारीफ़ करती थी। उन्होंने बिलकुल नए ज़माने की बनकर दिखा दिया था। मैं इस आदमी से कितनी बार कह चुकी हूँ कि शोभा बहनजी को देखो और आज के ज़माने को समझो। यह पहलेवाला ज़माना नहीं है।''

मैं नहीं सोच पा रहा था कि घिसी चप्पल, फटे पैरों और स्याह टखनोंवाली उस आजकल के ज़माने की औरत को उसके पति के लौटने से पहले उसके कमरे में वापस भेजने के लिए मुझे क्या करना चाहिए। मैं इतना रूखा भी नहीं होना चाहता था कि उसका ग़ुबार कोहली की जगह मेरे ऊपर निकलने लगे। वह जिस तरह खड़ी थी, उससे लगता था कि तुरन्त वापस दहलीज़ लाँघने का उसका कोई इरादा नहीं है। वह बात कोहली के और अपने सम्बन्ध को लेकर कर रही थी, पर नज़र उसकी मेरे साथ-साथ कमरे के फ़र्श पर बिखरी एक-एक चीज़ का जायज़ा ले रही थी। वह शायद मन में उन चीज़ों की क़ीमतों का अन्दाज़ा लगा रही थी। और सोच रही थी कि अगर सचमुच मैं कुछ चीज़ें वहाँ छोड़ जाना चाहता हूँ, तो वे चीज़ें कौन-सी हो सकती हैं। जिन चीज़ों से उसकी आँखें बार-बार टकराती थीं, वे थीं टोस्टर, केतली, इस्तरी और उसी तरह का दूसरा सामान जो उसकी दूसरी शादी के दहेज में काम आ सकता था। चीज़ों से हटकर उसकी आँखें मेरे चेहरे पर आ टिकती थीं, तो कुछ वैसी ही रुचि उसकी मुझे अपने में नज़र आने लगती थी।

''साढ़े आठ हो गए हैं,'' मैंने जैसे उसे समय की चेतावनी देते हुए कहा, ''कोहली अब आता ही होगा। मुझे भी जल्दी से यह काम पूरा करके कुछ देर के लिए बाहर जाना है। कई लोग हैं जिनसे मिलना है।'' यूँ मिलना मुझे किसी से नहीं था। बाहर जाने का भी मेरा कोई इरादा नहीं था।

''आप बताइए, क्या-क्या काम है,'' वह बोली, ''मैं आपकी कुछ मदद करा देती हूँ। शोभा बहनजी यहाँ होतीं, तो आपको अपने हाथों से कुछ भी न करना पड़ता। हम दोनों मिलकर सब कर देतीं।'

''नहीं, मदद से होने का काम नहीं है,'' मेरी अस्थिरता बढ़ने लगी। "सबसे बड़ा काम तो काग़ज़ों को छाँटने का है। वह सिर्फ़ मैं ही कर सकता हूँ।''

''काम तो यहाँ कितना ही नज़र आ रहा है,'' वह सामान के गिर्द घूमती बोली, ''कितनी ही चीज़ें शोभा बहनजी ने उधर ग़ुसलख़ाने में भर रखी थीं। पता नहीं उनका आपको पता भी है या नहीं,'' और वह इतमीनान से चलती ग़ुसलख़ाने में पहुँच गई। मैंने मन में पहले से ज़्यादा कुढ़कर एक सिगरेट सुलगा लिया।

''यहाँ कितना कुछ बिखरा पड़ा है,'' ग़ुसलख़ाने से उसकी आवाज़ आई। ''यह सन्दल सोप की टिकिया आप ऐसे ही फेंक जाएँगे?''

उसका ढँग आवाज़ देकर उधर बुलाने का था। मुझे कोफ़्त हुई कि क्यों नहीं मैंने सन्दल सोप की टिकिया भी उधर से इधर ला रखी। कुछ देर इन्तज़ार करने के

बाद वह फिर वहीं से बोली, ''यह आईना भी पड़ा है एक। यह आपका है या स्कूल का है?''

''कुछ सामान उधर पड़ा है, मुझे मालूम है,'' मैंने धुएँ में अपनी झुँझलाहट निकालते हुए कहा। ''उसे मुझे अभी बाद में देखना है।''

मैं दो-एक क़दम ग़ुसलख़ाने की तरफ़ बढ़ गया, पर दरवाज़े से आगे नहीं गया। वह सन्दल सोप की टिकिया हाथ में लिए आईने में अपने को देख रही थी। सन्तुष्ट होकर कि आईने में उसका रूप वैसा ही नज़र आता है जैसा कि आना चाहिए, उसने एक उड़ती नज़र मुझ पर डाली– एक पुरुष की साहसहीनता का उपहास उड़ाती स्त्री की नज़र। फिर बाहर को आती बोली, ''कितनी क़ीमती-क़ीमती चीज़ें फेंक रखी हैं आपने इधर-उधर। घर की चीज़ों की क़द्र दरअसल औरतों को ही होती है। मरदों को तो किसी चीज़ की क़द्र होती ही नहीं।'' और वह दोनों चीज़ें मेरी तरफ़ बढ़ाती मुस्कुरा दी। ''इन्हें कहाँ रख दूँ?''

''यहीं कहीं रख दीजिए,'' मैंने कहा, ''या अगर उधर काम में आ सकती हों, तो...''

''ना बाबा!'' वह जैसे अपराध से बचने के लिए सिर हिलाती बोली। ''मैं किसी की कोई चीज़ नहीं लेती। शोभा बहनजी को पता चले, तो वे मन में क्या सोचेंगी?''

''उन्हें पता चले, तभी न वे सोचेंगी?''

वह फिर मुस्कुरा दी। ''आप क्या उन्हें बताएँगे नहीं? वे पूछेंगी नहीं आपसे कि फ़लाँ चीज़ कहाँ गई, या आपने किसे दे दी?''

वह जाने दाँतों पर मिस्सी मलती थी या क्या–उसके दाँतों की दरारें काली हो रही थीं। दाँतों के अन्दर से ज़बान की नोक मुस्कुराने पर बाहर झाँक जाती थी।

''काम में आ सकती हों, तो सचमुच रख लीजिए,'' मैंने कहा। ''यहाँ बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जो...''

''ना बाबा!'' वह फिर उसी तरह बोली। ''शोभा बहनजी से तो मैं माँगकर ले भी सकती थी। पर उनके पीछे से उनकी कोई चीज़ मुझे नहीं लेनी है। कल को आप लोग कभी घूमने के लिए ही यहाँ आएँ और शोभा बहनजी देखें कि उनकी कोई चीज़ मेरे पास पड़ी है, तो वे मन में न जाने इसका क्या मतलब निकालेंगी?'' और अपनी मुस्कुराहट को होंठों में ही दबाए उसने कहा, ''अच्छा, आप लोग कभी मिलने के लिए तो आया करेंगे न?''

पर इससे पहले कि मैं जवाब देता, ज़ीने पर कोहली के पैरों की आवाज़ सुनाई दे गई। वह इससे थोड़ा सकपका गई–साथ उसे ध्यान हो आया कि कुछ देर पहले वह हमेशा के लिए उस घर से जाने की बात कह रही थी। ''शोभा बहनजी से मेरी नमस्ते कह दीजिएगा,'' वह जल्दी से दोनों चीज़ें रखकर बाहर निकलती बोली। ''पता नहीं

फिर कभी उनसे मुलाक़ात होगी या नहीं। मैं पता नहीं इसके बाद कहाँ रहूँ, आप लोग कहाँ रहें...मेरी नमस्ते ज़रूर कह दीजिएगा।''

कोहली ऊपर पहुँच गया था। वह उसके सामने से निकलकर अपने कमरे में चली गई। कोहली ने एक हारी-सी नज़र मुझ पर डालकर उसे अन्दर जाते देखा और गदले पानी में चुपचाप गोता लगा जाने की तरह उसके पीछे जाकर अन्दर से चटखनी लगा ली।

मैंने भी वही किया—उसी तरह अपने कमरे की चटखनी लगा ली। सोचा, 'अच्छा है कोहली ने मुझसे बात नहीं की, नहीं तो मैं ख़ामख़ाह उसके सामने कुछ अव्यवस्थित महसूस करता और वह भी शायद कुछ ज़्यादा ही शक अपने मन में लेकर जाता। कुछ देर मैंने सुनने की कोशिश की कि शायद उधर फिर से उनका लड़ाई-झगड़ा शुरू हो। पर वहाँ ऐसी ख़ामोशी छाई थी जैसे उन दोनों ने अन्दर जाते ही अपनी-अपनी जगह साँस रोककर बैठे रहने का समझौता कर लिया हो। अगर मैंने अपनी आँखों से उन्हें अन्दर जाते न देखा होता, तो मुझे लगता कि उस पोर्शन में उस समय कोई है ही नहीं। इससे अपने फ़र्श पर चलते हुए मुझे अपने पैरों की आवाज़ कुछ ज़्यादा ही ऊँची—बल्कि कुछ हद तक डरावनी—महसूस होने लगी। मैं कोशिश करके हल्के पैरों चलता बरामदे में आ गया।

मेरा सिगरेट बिना पिए झड़-झड़कर उँगलियाँ जलाने को आ रहा था। उसे फ़र्श पर गिराकर मैंने पैर से मसल दिया। मन को फिर एक बार तैयार करना चाहा कि बिखरे सामान का कुछ कर सकूँ। पर हाथों में उसके लिए उत्साह नहीं ला सका। वह सब सामने होते हुए भी जैसे मेरे लिए एक ऐसा अतीत था जिसे समेटने का तरद्दुद मुझसे नहीं बन पड़ रहा था। मन कह रहा था कि यदि किसी तरह उस सबको समेट भी लिया जाए तो क्या उसे साथ ढोने का उत्साह मैं अपने में ला पाऊँगा?

'सिर्फ़ एक रात बीच में है,' मैंने सोचा। 'तभी तक इन सब चीज़ों से किसी-न-किसी रूप में जुड़े होने की मजबूरी है। कल एक बार यहाँ से निकल जाने के बाद इनके सम्बन्ध में सोचने की मजबूरी भी नहीं रहेगी। मुझे तब तक कुछ करना है, तो यही कि बीच का समय किसी तरह निकाल देना है।'

मैंने बरामदे में आकर कुर्सियों को एक तरफ़ घसीट दिया ताकि वहाँ पलंग बिछाने की जगह हो जाए। कमरे में पलंग बिछाने के लिए उन सब चीज़ों को नए सिरे से इधर-उधर हटाना पड़ता। पलंग की मैली नेवाड़ पर पड़े दाग बरामदे की सिमटी हुई रोशनी में ज़्यादा भोंडे और घिनौने लगे। मैट्रेस, चादर, तकिया और रज़ाई पलंग पर पटककर मैंने उन दागों को ढक दिया। टिफिन-कैरियर खोलकर जल्दी-जल्दी ठंडा खाना निगल लिया—जैसे कि वह एक जेल के अन्दर अपनी सज़ा के आख़िरी दिन का खाना हो। उसके बाद बिस्तर को ठीक किया और ज़बर्दस्ती नींद लाने के लिए बत्तियाँ गुल करके लेट गया।

पर नींद नहीं आई। इस करवट, उस करवट, सीधे, उलटे, किसी भी तरह नहीं। लग रहा था जैसे वह अतीत जिसे पीछे कमरे में छोड़कर मैंने बीच का दरवाज़ा बन्द कर लिया है, वह मेरी ही तरह उस तरफ़ करवटें बदल रहा हो। बार-बार मुझे एहसास करा रहा हो कि मेरी कोशिश के बावजूद वह मुझसे कटा नहीं है। वह वहाँ है—उतना ही सजीव, निश्चित और प्रताड़नामय। जिस कमरे में उसे बन्द कर दिया गया है, वह कमरा मेरे अन्दर आ समाया है और किवाड़ भिड़ा लेने या चटखनी लगा लेने से मैं अपने को उससे मुक्त नहीं कर सकता।

न जाने कितना समय नींद लाने की कोशिश में निकल गया। नींद की टिकियाँ पास में नहीं थीं, नहीं तो उन्हीं के सहारे सो जाने की कोशिश करता। बहुत पहले एक बार एक शीशी लाकर रखी थी। कर्नल बत्रा के मना करने के बावजूद। उसमें से एक टिकिया एक बार खाई भी थी पर बाद में वह शीशी घर में दिखाई ही नहीं दी। शायद शोभा ने उठाकर कहीं रख दी थी, या फेंक दी थी। यह शायद उसने इसलिए किया हो कि शीशी के बाहर मोटे लाल अक्षरों में छपा था—ज़हर। शोभा ऐसी चीज़ों से बहुत डरती थी जिनमें जान ले लेने की क्षमता हो—बिच्छू-साँप से लेकर गैस के स्टोव तक। इसीलिए वह कोयले जला-जलाकर हाथ काले करती रहती थी। उस समय भी जैसे वह उन्हीं काले हाथों से मेरे अन्दर के कमरे में रखी एक-एक चीज़ को उठाकर देख रही थी। मैं खिड़की के शीशे पर आँखें गड़ाए अपना ध्यान झरने की आवाज़ पर केन्द्रित करने की कोशिश कर रहा था। पर उस आवाज़ से ज़्यादा ध्यान खींच रही थी वह ख़ामोशी जो दरवाज़े की दरारों से सटी पीछे कमरे की मुरदा हलचल का आभास दे रही थी। ज़रा देर आँख मूँदते ही लगने लगता था कि शोभा ने वह आईना अपने हाथ में उठा लिया है जिसमें थोड़ी देर पहले शारदा अपना चेहरा देख रही थी। उसे रखकर वह पलंग की नेवाड़ कसने लगी है। डाइनिंग टेबल की चटाइयों को खोलकर देखने लगी है। सिर्फ़ ब्लाउज़-पेटीकोट में बड़े-बड़े कोयलों को तोड़कर उनके टुकड़े करने लगी है। तब मैं आँखें खोलकर फिर सामने के अँधेरे को देखता। लगता कि झरने की आवाज़ के साथ-साथ पानी के रास्ते मैं खड्ड में उतरा जा रहा हूँ। मेरे पीछे-पीछे बॉनी अपने कोट में सिमटी चल रही है। वह पीछे से आवाज़ देकर मुझे रोकना चाहती है। कहना चाहती है कि ज़रा-सा पाँव फिसल जाने से मैं खड्ड में गिरकर चूर-चूर हो सकता हूँ। पर मुझे लौटकर उसी रास्ते चढ़ाई चढ़ने के विचार से ही दहशत होती है। मैं विश्वास किए रहना चाहता हूँ कि खड्ड का वह रास्ता ही आगे चलकर सीधी सड़क में बदल जाएगा। फिर सहसा मैं चौंक जाता। कमरे में कोई खटका न होने पर भी लगता जैसे वहाँ खटका हुआ हो। आभास होने लगता कि ग़ुसलख़ाने के पीछे की सीढ़ी से शारदा कमरे में चली आई है। कोहली को बाहर रखकर उसने अन्दर की चटखनी लगा ली है और कमरे की एक-एक चीज़

को उठाकर देख रही है। परख रही है कि वह उसके किसी काम आ सकती है या नहीं। चीज़ों को रखते-उठाते हुए उसकी आँखें किसी और चीज़ को भी खोज रही हैं और उसी खोज में उसने अपनी आँखें दरवाज़े की दरार से सटा ली हैं। मैं तब तीन-चार तरह से करवट बदलकर उस सबको दिमाग़ से झटकने की कोशिश करता। अपने सिर को हल्के-हल्के तकिये पर पटकता कि क्या किसी भी तरह मुझे नींद नहीं आ सकती?

दो-तीन-चार हल्के-हल्के सफ़ेद चकत्ते खिड़की के शीशे पर आ जमने से लगा कि बाहर फिर बर्फ़ गिरने लगी है। शाम तक बर्फ़ के आसार नहीं थे, इसलिए थोड़ा आश्चर्य भी हुआ। कोशिश करके देखने से हवा में उड़ते हल्के-हल्के फाहों की झलक भी दिख गई। 'चलो, जाने से पहले एक बर्फ़ और देख ली,' इस ख़याल में मैंने अपने मन को रुझा लेना चाहा। बर्फ़ बहुत हल्की थी। फिर भी अँधेरा उन छोटे-छोटे रेशों की उड़ान से भरा-भरा लग रहा था। सड़क की ख़ामोशी टूट गई थी। उस पर कोई एक या दो व्यक्ति जल्दी-जल्दी चलकर जा रहे थे—शायद बर्फ़ से बचकर जल्दी से घर पहुँचने के लिए। 'शायद चेरी और लारा होंगे,' मैंने सोचा। 'आज भी खाने के बाद रोज़ की तरह सैर करने निकले होंगे।' पर तभी लगा कि आवाज़ उनके क्वार्टर की तरफ़ न जाकर बिलकुल दूसरी तरफ़ जा रही है। मैंने ध्यान हटा लिया।

खिड़कियों पर बर्फ़ के अलावा सीलन भी फैल गई थी—मेरे आस-पास की हवा भी सीलन से भारी होने लगी थी। दो-एक बार सीलन की ख़ुशबू अपने अन्दर खींचने के बाद मैंने फिर अपने को तकिये पर ढीला छोड़ दिया। अँधेरे और ख़ामोशी में छिपी वही हलचल फिर से शुरू हो गई। शोभा—बिस्तर में करवट बदलती, कॉलिक से कराहती और कर्नल बत्रा की दवाई लेने से इनकार करती। शारदा—ब्लाउज़ की हुकें खोलकर अपने हाथों से आज़माती कि उसका शरीर अब तक कितना युवा है। कोहली—अधनींदी आँखों से ब्लेकबोर्ड पर बड़ी-बड़ी रक़मों का जोड़ करता। कॉमन रूम से गुज़रते पैर—बर्फ़ के गीलेपन की छाप छोड़ते। टोनी व्हिसलर—कोट की जेबों में हाथ डाले ग्रेस के शब्द कहता। चेरी और लैरी—कॉमन रूम में अलग-अलग खिड़कियों के पास खड़े। मिसेज़ ज्याफ्रे—आधा मेकअप किए अपनी आई-ब्रो पेंसिल ढूँढ़ती। जिनी ब्राइट—नोटिस बोर्ड पर नोटिस पिन करता। रोज़ ब्राइट—माथे पर त्यौरी डाले मंच से ग्रीन रूम में आती। पादरी बेन्सन—छड़ी हाथ में लिए अकेला सड़क पर घूमता। मिसेज़ दारूवाला—कई तरह की कास्मेटिक्स की शीशियाँ लिए माल से उतरकर आती। मॉली क्राउन—भरी हुई खाने की मेज़ पर बैठकर चावल का एक-एक दाना चुगती। बॉनी हाल—बर्फ़ के गोले बना-बनाकर घाटी में उछालती। ज़ेन व्हिसलर...

मैं बिस्तर में बैठ गया। लगा कि लेटे रहने से इस निरन्तर चलते परिदृश्य से नहीं बचा जा सकता। नीचे फ़र्श पर पाँव रखने से फ़र्श काफ़ी ठंडा लगा। साथ ऐसा आभास हुआ जैसे दरवाज़े के उस तरफ़ कमरे में कोई कराह रहा हो। आवाज़ इतनी सजीव थी कि उसे अपने दिमाग़ी फ़ितूर का हिस्सा नहीं माना जा सकता था। मैंने कुछ देर रुककर टोह ली। मन में हल्का-सा डर भी आ समाया। आवाज़ बीच में कुछ देर रुकी रही। पर यह विश्वास होने तक कि वह शायद भ्रम ही हो, फिर से सुनाई देने लगी। मैंने दरवाज़ा खोलकर जल्दी से कमरा पार किया और बत्ती जला दी। बटन की तरफ़ जाते हुए केतली पैर से टकराकर उलट गई थी। रोशनी होने पर वही सामने हिलती नज़र आई। बाक़ी चीज़ें उसी जड़ता में यहाँ-वहाँ पड़ी थीं जिसमें बत्ती बुझाने से पहले उन्हें छोड़ा था। पर 'हाय-हाय की मरी-सी आवाज़' अब सुनाई दे रही थी। वह आवाज़ कोहली की थी—साथ के पोर्शन में।

मैं कुछ देर जड़-सा खड़ा उस आवाज़ को सुनता रहा। आवाज़ काफ़ी हलकी थी। फिर भी बाहर गिरती बर्फ़ के सन्नाटे में वह आस-पास के पूरे वातावरण को कुरेदती-सी महसूस होती थी। जैसे उसकी चारदीवारी में जितना कुछ था, उस सबके अन्दर से वह आवाज़ निकल रही हो—मेरे समेत। मेरी टाँगें कुछ-कुछ काँप रही थीं—न जाने सर्दी से, या बत्ती जलाने से पहले के डर की वजह से। खुश्क गला, पपड़ियाए होंठ, जलती आँखें, पर शरीर फिर भी सुन्न। मैंने घड़ी में वक़्त देखा—कुल सवा दस। आश्चर्य हुआ कि इतना कम वक़्त कैसे हुआ है—घड़ी कहीं रुक तो नहीं गई? उसे कानों के पास लाकर उसकी आवाज़ सुनी—टिक्-टिक्-टिक्। साथ ही अपने दिल की धड़कन भी महसूस की। वे दोनों आवाज़ें जैसे एक ही थीं—एक-दूसरी की प्रतिध्वनियाँ। घड़ी की सूइयाँ जैसे मेरी धड़कनों के हिसाब से आगे बढ़ रही थीं—एक-एक सैकेंड। टिक्-टिक्-टिक्। मैंने घड़ी को कलाई से उतारकर चाबी दी और फिर से लगा लिया। कोहली की आवाज़ अब पहले से और हलकी पड़ गई थी।

मुझे लगने लगा जैसे वह आवाज़ हलकी पड़ते-पड़ते धीरे-धीरे बिलकुल ख़ामोश हुई जा रही हो—हमेशा के लिए। अपनी पिंडलियों की ठंडक मुझे घुटनों से होकर जाँघों में फैलती महसूस हुई। लगा जैसे कि मैं अपने और बाहर किसी चीज़ के निरन्तर चुकते जाने का साक्षी हूँ—धीरे-धीरे, टिक्-टिक्-टिक्, एक-एक कराह के साथ वह चीज़ अपने अन्त की ओर बढ़ रही है। अगर उस प्रक्रिया को रोकने के लिए कुछ किया नहीं जाता, तो कुछ ही देर में उसे रोक सकने की सम्भावना ही नहीं रह जाएगी। मैंने एक असहाय-सी नज़र कमरे में बिखरी चीज़ों पर डाली। क्या कुछ ऐसा किया जा सकता था जिससे उस बिखराव को एक व्यवस्था में बदला जा सके? या उस अव्यवस्थित स्थिति से छुटकारा पाया जा सके? अन्दर कहीं एक आवेश था—उन सब चीज़ों को एक-एक बार ठोकर लगाकर परे हटा देने का, परन्तु उस आवेश की तह

में थी एक निष्क्रिय उदासीनता जिसके कारण एक उँगली तक हिलाने से वितृष्णा हो रही थी। 'सुबह के बाद सब ठीक हो जाएगा' मैंने अपने को आश्वासन देना चाहा। 'यह जितनी भी घुटन है, इस घर को छोड़ देने तक ही है। इसके बाद एक नई और अनजानी ज़िन्दगी की खोज अपने-आप हर चीज़ में एक गति ले आएगी–एक ऐसी गति जो इस तरह के अवरोध के लिए अवसर ही नहीं रहने देगी।''

मैंने बत्ती बुझा दी। कोहली की आवाज़ सचमुच रुक गई थी। मैंने प्रतीक्षा की कि वह आवाज़ फिर से शुरू हो, तो मैं अपने बिस्तर की तरफ़ लौटूँ। पर काफ़ी देर कान लगाए रहने पर भी वह आवाज़ फिर सुनाई नहीं दी, तो अपना उस तरह अँधेरे कमरे में बन्द होना मेरे अन्दर एक वास्तविक डर का रूप लेने लगा। लगने लगा कि सुबह तक कहीं ऐसा कुछ न हो जाए जिससे दरवाज़े का अन्दर से बन्द होना दूसरों के लिए उस स्थिति को सुलझाने, या कम-से-कम जान सकने में, बाधा बन जाए। मैंने एक बार फिर से बत्ती जलाकर दरवाज़े की चटखनी खोल दी। फिर दोबारा बटन बन्द किया और रास्ते में बिखरी चीज़ों से पाँव बचाता एक चोर की तरह अपने बिस्तर में लौट आया।

बर्फ़ तब तक पहले से तेज़ हो गई थी।

सुबह मैं काफ़ी देर से उठा। नींद देर से नहीं खुली–नींद तो रात-भर ठीक से आई ही नहीं थी–अधनींदी जड़ता के ख़ुमार ने देर तक बिस्तर से निकलने नहीं दिया। बर्फ़ानी मौसम ने समय का अनुमान भी ठीक से नहीं होने दिया। खिड़की के काँचों पर फैलती पथरीली सफ़ेदी उठने के क्षण को टालते जाने में सहायता करती रही। साथ अपने अन्दर का यह विचार कि उन काँचों को देखते हुए जागने की वह आख़िरी सुबह है।

साथ के पोर्शन में काफ़ी पहले से हलचल शुरू हो गई थी। कुर्सियों के घिसटने की आवाज़ें, शारदा के चलने की खटर्-खटर् और कोहली के नाश्ता करने की त्वाप्-त्वाप्-त्वाप्। शारदा और कोहली की बातचीत के टुकड़े सुनाई दे जाते थे, उनसे भी लगता था कि घर के उस पोर्शन में ज़िन्दगी अपनी पहले की सतह पर लौट आई है। दोनों में से ज़्यादा बात शारदा ही कर रही थी–वहाँ से साथ-साथ चलने की तैयारी के सिलसिले में। कोहली की 'ठीक है, ठीक है, जैसे ठीक समझती हो, कर लो,' में एक तरह का आत्मसमर्पण भी था और किसी अवांछित घटना से अपने को बचा लेने का सन्तोष भी। एक तीसरा व्यक्ति जो उन दो के साथ सामान बँधवाने में सहायता कर रहा था, वह था भूपतसिंह। सुबह के साथ शायद उसे फिर से नौकरी पर बहाल कर दिया गया था।

उठने के बाद अपनी तैयारी पूरी कर लेने में मुझे देर नहीं लगी। एक बार निर्णय कर लेने के बाद कि सामान को तीन तरह से अलग करना है, सबकुछ जैसे

अपने-आप होता गया। एक हिस्सा था साथ ले जाने का। दूसरो दो बक्सों में बन्द करके गिरधारीलाल के पास छोड़ जाने का। तीसरा वहीं बैरों-चपरासियों में बाँट देने का। किसी भी चीज़ को लेकर मैंने ज़्यादा नहीं सोचा। उठाया, देखा और तय कर दिया कि उसे किस हिस्से में जाना है। मुझे स्वयं आश्चर्य हुआ कि उठने के पैंतालीस मिनट के अन्दर वह सारा काम, जो हफ़्तों से मुझे एक मुसीबत नज़र आ रहा था, कैसे पूरा हो गया। अब सिवाय बिस्तरबन्द के कुछ भी बाँधना शेष नहीं था। जो दो-चार ज़रूरत की चीज़ें बाहर थीं, उन्हें चलते वक़्त साथ डाल लेना था, बस।

नाश्ता आया रखा था। उसे भी उसी तरह निगल लिया जैसे रात का खाना निगला था। उसके बाद जैसे हर चीज़ से फ़ारिग़ होकर कुछ देर कुर्सी पर सुस्ता लिया। सामने स्कूल की सड़क से कुछ रिक्शा और सामान-लदे कुली निकलकर जा रहे थे। जो लोग सुबह की गाड़ी से जाने को थे, उन्होंने शायद रात में ही अपनी तैयारी कर ली थी। बर्फ़ की सफ़ेदी को लाँघते पहियों और पैरों को कुछ देर देखते रहने के बाद जैसे अपनी तैयारी के आख़िरी मरहले को पार करने के लिए मैं उठ खड़ा हुआ। जल्दी से शेव करके सिर-मुँह धो लिया और सफ़र के कपड़े पहनकर चलने से कई घंटे पहले ही अपने को चलने की मनःस्थिति में ले आया।

एक खालीपन अब भी था। परन्तु वह खालीपन एक अन्तराल था जिसे कई तरह से भरा जा सकता था--कमरे में टहलकर या बाहर बर्फ़ में घूमकर। वैसे कुछ देर के लिए एक बार स्कूल भी जाना था। वहाँ से अपना चैक लेना था। गिरधारीलाल से कहना भी था कि कुछ सामान उसके यहाँ पड़ा रहेगा। हममें से कोई भी जब कभी आकर ले जाएगा। मुझे पता था, गिरधारीलाल इनकार नहीं करेगा। किसी भी तरह का इनकार उसके स्वभाव में था ही नहीं। उसके लिए अपेक्षित साहस उसमें नहीं था! वह उन व्यक्तियों में से था जिनकी भलमनसाहत उनमें किसी तरह का साहस नहीं रहने देती। अपनी इस साहसहीनता के कारण ही वह स्कूल में सबका हितचिन्तक बना रहता था। इसीलिए अपने घर की चारदीवारी के अन्दर वह सबसे दुखी आदमियों में से था। उसकी भलमनसाहत का नाजायज़ फ़ायदा सभी लोग उठाते थे। मैं भी पहले कई बार उठा चुका था। इसलिए जाते-जाते एक बार और उठा लेने में मुझे संकोच का अनुभव नहीं हो रहा था। उसका छोटा-सा कमरा जो पहले ही सामान से लदा रहता था। 'हमारे यहाँ सामान बहुत ज़्यादा है न?' रत्ना कमरा छोटा होने की बात न कहकर अक्सर इसी चीज़ पर ज़ोर दिया करती थी। मेरे दो बक्सों से कितना घिचपिच हो जाएगा, यह सोचकर मुझे उस पर तरस भी आ रहा था। वह बेचारा तो इसी ख़याल से हामी भर देने को था कि शायद दो-एक महीने के अन्दर वह सामान उसके यहाँ से उठा लिया जाएगा। अगर उसे मेरे मन की वास्तविक स्थिति का पता चल जाता कि सामान को निपटाने का और कोई तरीक़ा न सूझने से ही मैंने उसे

बक्सों में भरकर वहाँ छोड़ जाने की बात सोची है, और कि मेरे मन में कहीं यह बात भी है कि शायद उसे कभी वहाँ से उठाने की नौबत ही न आए, तो सम्भव था कि वह एक बार मेरे हित में मुझे सलाह दे देता कि मैं उसे बुक कराके साथ ले जाऊँ। पर वह बात उस पर प्रकट करने का मेरा क़तई इरादा नहीं था। उसे बेवक़ूफ़ बनाकर सब लोग उससे अपना काम निकालते रहते थे। यह भाग्य उसने स्वयं अपने लिए चुना था, इसलिए मेरे मन में कोई द्वन्द्व नहीं था। 'दो-एक साल पड़ा रहेगा सामान उसके यहाँ, तो शायद वह खुद ही उसे फिंकवा दे, या अपने इस्तेमाल में ले आए,' यह सोचकर मैंने बाद की स्थिति का समाधान कर लिया था। वैसे एक डर यह भी था कि वह भी कहीं राजो मौसी की तरह एक दिन दोनों बक्से (और अपना पूरा परिवार) लिए किसी दूर के शहर में मेरी अमानत लौटाने न आ पहुँचे। 'यह उलझन उसकी होगी, मेरी नहीं,' इस विचार से मैंने भविष्य की उस सम्भावना को भी दिमाग़ से स्पंज कर दिया था।

सामान की समस्या को सुलझा लेने के बाद से अपना-आप मुझे काफ़ी हलका महसूस हो रहा था। मेरे पाँव अब एक ऐसी अनिश्चित स्थिति की दहलीज़ तक पहुँच गए थे जिससे आगे उस अनिश्चितता को अपने-आप निश्चितता और वास्तविकता में बदल जाना था। मैं कुछ देर सीटी बजाता कमरे की एक दीवार से दूसरी दीवार तक चक्कर काटता रहा। कुछ देर खिड़की से बाहर झाँकता हुआ उसके चौखटे पर ताल देता रहा। समय धीरे-धीरे बीत रहा था। लेकिन मुझे उसके जल्दी बीतने की उतावली नंहीं थी। मैं पहली बार–जो कि वैसे आख़िरी बार भी थी–अपने को उन दीवारों के घेरे में उतना हलका महसूस कर रहा था। जैसे वहाँ रहते पहली बार मैं मैं था–मनोज सक्सेना। (जैसे कि इस नाम का अपना कोई अर्थ हो)–जो कि शिवचन्द नरूला या किसी और का रूपान्तर-मात्र नहीं था। अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से मैं अपने को एकसाथ मुक्त महसूस कर रहा था। अब फ़र्श की दरी या दरवाज़ों के पर्दों पर पड़ी न किसी और छाप से मुझे वास्ता था, न अपनी छाप से। इतने दिन वहाँ रह चुकने के बाद मैंने अपने को फिर से कोरा कर लिया था।

कुछ देर बाद कमरा बन्द करके ज़ीने पर आया, तो कोहली से मुलाक़ात हो गई। वह नीचे स्टोर से पुरानी रस्सियाँ लेकर आ रहा था। हर साल छुट्टियों में इस्तेमाल करने के बाद वह उन्हें फिर वहीं बन्द कर देता था। "बहुत खुश नज़र आ रहे हो!" उसने खिसियानी मुस्कुराहट से अपने चेहरे की नहूसत छिपाते हुए कुछ ईर्ष्या के साथ कहा। "बीवी के पास जा रहे हो, इसलिए?"

मैंने मुँह से कुछ नहीं कहा। बाईं आँख दबाकर उसकी बात का उत्तर दे दिया और झपाटे से नीचे उतर आया। बाहर सब तरफ़ बर्फ़ की सफ़ेदी फैली नज़र आ

रही थी। रात में बर्फ़ चार-चार इंच से ज़्यादा गिरी लगती थी। ऊपर सड़क पर पहुँचकर पीछे पगडंडी पर अपने पैरों के निशानों को देखा—सामने उन पहियों और पैरों के निशानों को जो सड़क से गुज़रकर जा चुके थे। बर्फ़-ढके रास्ते में खुभे-खुभे स्याह निशान बर्फ़ से ज़्यादा ठंडे और उदास लग रहे थे। 'थोड़ी देर में वे सब निशान पिघल जाएँगे,' यह सोचकर मुझे सिहरन हुई। पर अपनी मनःस्थिति बदलने न देने के लिए मैं उसी तरह सीटी बजाता कच्ची बर्फ़ को रौंदने लगा।

सड़क के तीसरे मोड़ पर काशनी से भेंट हो गई। वह वहाँ अकेली खड़ी थी—नीचे घाटी की तरफ़ झुककर न जाने क्या देखने की कोशिश करती। मुझे देखकर वह मुस्कुरा दी थी। जैसे साथ-साथ खड़े होने के बाद से एक अनकहा सम्बन्ध हमारे बीच स्थापित हो गया हो। उसकी आँखों में भी हर बार एक अतिरिक्त उत्सुकता नज़र आई थी—और एक प्रतीक्षा जैसे कि उसे मेरे कुछ कहने की आशा हो। इसीलिए पास से गुज़रने के बाद मेरी आँखें पीछे उसकी तरफ़ घूम जाती थीं—और तब वह भी कुछ उसी तरह पीछे देखती मिलती थी। मैं उस समय भी हर बार की तरह उसके पास से निकल जाता, पर उसके एक क़दम अपनी तरफ़ बढ़ आने से मेरी चाल धीमी पड़ गई। "कैसे खड़ी हो यहाँ?" मैंने जैसे बार-बार अपनी ज़बान पर दोहराया हुआ प्रश्न पूछ लिया।

"ऐसे ही खड़ी थी," वह बोली। "देख रही थी कि नीचे कहीं घास हो, तो जाकर छील लूँ।"

उसने जिस तरह कहा, वह एक स्वर अजनबी का होकर भी बिलकुल अजनबीपन का नहीं था। उसकी आँखों में फिर वही चमक भी आ गई थी जो मुझे अपने को बाँधती-सी लगी। वह सुडौल शरीर की काफ़ी सुन्दर स्त्री थी। दो साल पहले उसे देखते थे, तो बिलकुल लड़की-सी लगा करती थी। तब उसके चेहरे पर वे हलकी झाइयाँ नहीं थीं जो इधर कुछ महीनों से झलकने लगी थीं।

"अब तो स्कूल में तीन महीने छुट्टियाँ रहेंगी," मैंने कहा। "फ़कीरा भी इस काम में तुम्हारा हाथ बँटा दिया करेगा।"

"वह क्या हाथ बँटाएगा, जी! घर बैठा हुक्का गुड़गुड़ाता रहा करेगा।" उसकी आँखों ने जतला दिया कि वह जानती है मैं ख़ामख़ाह यह बात कह रहा हूँ। "और फिर व्हिसलर साब की कोठी पर उसकी ड्यूटी भी रहेगी। व्हिसलर साब तो छुट्टियों में यहीं रहेंगे। नहीं?"

"हाँ, यहीं रहेंगे।" मैंने कहा। "हर साल यहीं रहते हैं।"

"हाँ, पार साल यहीं थे। उससे परले साल भी थे। पर इस साल का पक्का पता नहीं। कोई कहता है जेनी मेम साब उन्हें नौकरी छुड़वाकर अपने साथ विलायत ले जा रही है। कोई कहता है चेरी साब और जीफ़री मेम साब ने मिलकर कोई साज़िश

की है जिससे उन्हें छोड़कर जाना पड़ रहा है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। आपको तो पता होगा।''

''मुझे कुछ भी पता नहीं है,'' मैंने कहा। ''मेरा ख़याल तो यही है कि फ़िलहाल वे छोड़कर कहीं नहीं जा रहे। लोग ऐसे ही बातें उड़ाते रहते हैं।''

उसके चेहरे से लगा कि उसे मेरी बात पर विश्वास नहीं आया। ''विसलर साब बहुत अच्छे आदमी हैं,'' वह भाँपती नज़र से मुझे देखती बोली। ''वे चले गए तो दूसरा कोई हेडमास्टर पता नहीं कैसा आएगा। विसलर साब ड्यूटी सख़्त लेते हैं, पर जिस आदमी का काम हो, उसी से। पहला हेडमास्टर काम में ढील बहुत देता था, पर समझता था कि एक आदमी को चपरासी लगाया है, तो उसके सारे घर को ही चाकर रख लिया है अपने यहाँ। आज विशनू को भेज देना, आज काशनी को भेज देना। आदमी भी वह बस ऐसा ही था। उसकी ड्यूटी दो सो दो ही, उसके यहाँ आने-जानेवाले मेहमानों की भी ड्यूटी दो। मैंने तो परमात्मा का शुक्र किया था जब वह गया था यहाँ से।'' फिर पल-भर मुझ पर आँखें गड़ाए रहने के बाद उसने कहा, ''कुछ लोग तो यह भी कहते हैं जी, कि आप ही ने बड़े अफ़सरों से कह-कहाकर...।''

मैं हँस दिया, तो वह जैसे ज़रूरत से ज़्यादा बात कर जाने के डर से चुप हो गई। ध्यान से देखती रही कि उसने कुछ ऐसा तो नहीं कह दिया जिसका कुछ ग़लत नतीजा भुगतना पड़े। ''तुमसे यह किसी ने नहीं कहा कि मैंने खुद ही अपनी छुट्टी कर ली है यहाँ से?'' मैंने आश्वासन देते स्वर में कहा।

''हाँ, यह भी सुना है,'' वह बोली। ''मेरा घरवाला तो यही कहता है कि तनख़्वाह कमती मिलने से आपने नौकरी छोड़ दी है। पर दूसरे लोग और भी बातें कहते हैं। आप क्या सचमुच छोड़कर जा रहे हैं?''

''हाँ, यह आज मेरा आख़री दिन है यहाँ।'' मुझे लग रहा था कि मेरे अन्दर फिर कोई चीज़ मुरझाई जा रही है। जो हलकापन लेकर घर से चला था, वह उतना रास्ता भी साथ नहीं आया था, ''अभी स्कूल से लौटने के बाद मैं चला जाऊँगा यहाँ से।''

''अगले साल लौटकर नहीं आएँगे?''

''नहीं।''

उसके होंठ दब गए। किसी तरह की निराशा से नहीं, सहज स्वीकृति के भाव से। उस मुद्रा में उसका धीरे-धीरे साँस लेना मुझे बहुत आकर्षक लगा।

''सामान बाँधने के लिए आदमी की ज़रूरत तो नहीं आपको?'' उसने पूछा।

''नहीं। सामान सब बँध गया है। बस अब उठवाना है और चल देना है।'' कहते हुए मैंने सोचा कि जो सामान मैंने बाँटने के लिए अलग कर रखा है, क्यों न वह अकेली उसी को देकर उससे छुटकारा पा जाऊँ? उससे दस आदमियों के घर पर आने का झंझट भी बचेगा और किसे क्या दिया जाए, यह सोचने की उलझन भी नहीं

रहेगी। ''कुछ चीज़ें जो साथ नहीं ले जा रहा, वे बाहर पड़ी हैं। फ़कीरा अगर ख़ाली हो, तो उससे कहना डेढ़-दो घंटे में किसी वक़्त आकर ले जाए—तीन बजे से पहले। तीन बजे तक मैं निकल जाऊँगा।''

उसने सिर हिला दिया। उसी सहजता से। ''कह दूँगी उससे, वह नहीं ख़ाली होगा, तो मैं आकर ले जाऊँगी।''

उसके पास से आगे आकर मैं तब भी अपने को मुड़कर देखने से नहीं रोक सका। पर वह उस समय नहीं देख रही थी। मेरे आगे आने के साथ ही वह पहले की तरह फिर घाटी में झाँककर देखने में व्यस्त हो गई थी।

स्कूल में मुझे ज़्यादा समय नहीं लगा। चेक तैयार था। जिन काग़ज़ों पर हस्ताक्षर करने थे, वे भी तैयार थे। गिरधारीलाल ने समझाने की कोशिश की कि किस चीज़ के कितने पैसे काटे गए हैं। ''जो भी हिसाब बना है, ठीक है,'' कहकर मैंने चेक ज़ेब में डाल लिया। मैंने बक्से रखने की बात उससे कही तो गिरधारीलाल थोड़ा भावुक हो गया। जैसे कि उसे अपना इतना निजी मानने के लिए वह मेरे प्रति आभारी हो। ''और भी कोई काम हो, तो मुझे जाकर लिख देना। जब भी यहाँ आओ, मेरे पास ही ठहरना।'' उसका कहने का ढंग ऐसा था जैसे मुझे अपने यहाँ ठहरने का निमन्त्रण देकर वह काफ़ी साहस का काम कर रहा हो : ''बीच-बीच में चिट्ठी ज़रूर डाल दिया करना।''

दफ़्तर से निकलकर एक बार सोचा कि जिन-जिन लोगों के क्वार्टर पास में हैं, उनसे जाकर मिल आऊँ। पर यह सोचकर टाल दिया कि औरों से भी उस तरह की बातें सुनने से बचे रहना ही अच्छा है। लौटते हुए आख़िरी बार कॉमन रूम में जाकर अपने ख़ाली पिजन-होल को देख लिया जैसे कि उस सारी इमारत में बस उतना ही हिस्सा, नौ-गुना-नौ इंच का, मेरा अपना था। उसके नीचे मेरे नाम का अधफटा काग़ज़ चिपका था। वह जितना उखड़ सका, उखाड़ दिया। जितना नहीं उखड़ा, उतने को नाख़ून से कुरेद दिया। लौटते हुए बरामदे में जेम्स दिखाई दे गया। ''तैयारी हो गई जाने की?'' के सिवा उसने कुछ नहीं पूछा। जिस तरह पाँव पटकता वह पास से निकल गया उससे लगा जैसे उसे किसी छिपी हुई चीज़ का सूराग लग गया हो जिसे वह जल्दी से जाकर झपट लेना चाहता हो।

ग्राउंड से गुज़रते हुए मैंने एक नज़र उस पूरे फैलाव पर डाल ली। बर्फ़, इमारत के पत्थर, चार-चार, आठ-आठ की टोलियों में ग्राउंड पार करते लड़के। गिरजाघर, टेनिस कोर्ट और हॉल की सीढ़ियाँ। पेविलियन की ख़ाली बेंचें, लान-मोअर और घिसटकर चलती मिसेज़ पार्कर। मुझे देखकर मिसेज़ पार्कर का रुख़ दूसरी तरफ़ हो गया। मुझे लगा जैसे वह सारा दृश्यपट बर्फ़ का बना हो जिसे बस अब थोड़ी ही देर में पिघलकर बह जाना हो। उस सबकुछ समेत जो उस समय वहाँ नहीं भी दिखाई

दे रहा था। मैं आहिस्ता-आहिस्ता चलता हुआ गेट से बाहर आ गया—जैसे उस दृश्यपट के साथ पिघलने से बचा अकेला व्यक्ति।

फिर वही बर्फ़ से ढकी सड़क, वही पैरों और पहियों के निशान, वही मैं, पर मन पर एक झीना पर्दा उदासी का उतर आया था। मेरा इस बार उस सड़क से लौटना सचमुच आख़िरी बार लौटना था। एक-एक क़दम के साथ जैसे पीछे की सड़क मेरे लिए मरती जा रही थी, और सड़क के लिए मैं। मुझे एकसाथ दो तरह का अनुभव हो रहा था—बीत चुकने का और बीतने के स्थान से आगे देख सकने का। अपने को यह विश्वास दिलाने के लिए मुझे प्रयत्न करना पड़ रहा था कि पहला अनुभव अस्थायी है—केवल उन्हीं कुछ क्षणों तक सीमित—जबकि दूसरा इसके बाद एक अनिश्चित समय तक वैसा ही बना रहने को है। लौटकर घर के ज़ीने से चढ़ा, तो खाने का डब्बा फिर कमरे के बाहर रखा था। इस बार उसे देखकर मन हुआ कि उसे बाहर से ही उठाकर फेंक दूँ। उसे देखना ऐसे ही था जैसे बीते हुए से आगे आकर सहसा फिर अपने को उसके सामने पाना। एक उसाँस के साथ मैंने कमरा खोला। ''बस अब दो घंटे और इस तरह महसूस हो सकता है,'' अपने से कहा और गाड़ी के इन्तज़ार में प्लेटफ़ार्म की बेंच पर बैठने की तरह अन्दर कुर्सी में जा धँसा।

अब मन समय की रफ़्तार से उदासीन नहीं था। लग रहा था कि उस घर में, या वहाँ से बाहर, कभी समय उतना धीरे-धीरे नहीं बीता। कलाई की घड़ी में सैकेंड की सूई इतनी मरियल चाल से घूमती लग रही थी कि मन होता था डायल खोलकर उसे उँगली से घुमाने लगूँ। साथ के पोर्शन में कोहली की तैयारी पूरी हो चुकी थी। उसके कुली सामान ढोकर नीचे ले जा रहे थे। उसे तीन बजे की गाड़ी से जाना था, इसलिए वह काफ़ी हड़बड़ाहट में था। शारदा से फिर भी वह बहुत मुलायम ढँग से बात कर रहा था। जितना ग़ुस्सा था, वह सब कुलियों पर निकाले ले रहा था। मैंने तीन आदमियों के लिए कहा था, तो तुम पाँच आदमी क्यों आए हो? मैं पैसे तीन आदमियों के ही दूँगा, तुम चाहे और भी दो को साथ ले आओ। एक-एक आदमी एक-एक चीज़ उठा रहा है! तुम लोग समझते हो कि हमारे पास हराम का पैसा है?''

खट्-खट्...थप्-थप्...त्वाप्-त्वाप्...हुई आः। सामान उतर गया। ताला लग गया। कोहली और शारदा की आवाज़ भी ज़ीने से उतर गई। मैंने शुक्र किया कि जाते हुए उन लोगों ने मेरा दरवाज़ा खटखटाकर कुछ कहने की ज़रूरत न समझी। ऊपर की पूरी ख़ाली मंज़िल पर अब मैं बिलकुल अकेला था—अपनी ख़ामोशी और अस्थिरता का अकेला साक्षी।

कमरे में आने के बाद से उदासी का झीना पर्दा धीरे-धीरे गहरा होता गया था। जैसे मेरे अन्दर का कोई अंश ढहकर बैठता जा रहा था जिसे मैं उठाए रखने की कोशिश कर रहा था। 'मुझे अब क्यों ऐसा लग रहा है? इसकी तो कोई वजह ही

नहीं है?' बार-बार अपने से यह कहते हुए मुझे झुँझलाहट हो रही थी। 'मुझे इस समय सुबह से ज़्यादा हलका महसूस करना चाहिए था। पर मैं तो अपने को सुबह जितना भी हलका महसूस नहीं कर पा रहा!'

एक बार मन में आया कि क्यों न कुछ देर पहले ही सामान उठवाकर वहाँ से चल दूँ। शाम की बस से जाने का निश्चय इसीलिए तो किया था कि नीचे पहुँचकर बड़ी लाइन का सफ़र शुरू होने से पहले अपने को ज़्यादा सोचने का समय न दूँ। नीचे तक छोटी पहाड़ी गाड़ी में जाने से अपने को इसलिए बचाया था कि आगे कहाँ का टिकट लेना है, इस समस्या का सामना करने से और कुछ समय बचा रहा जा सके। तीन दिन पहले बुधवानी ने जब सीट के लिए पूछा था, तब उससे कह दिया था कि मैं एक दोस्त की प्राइवेट गाड़ी में नीचे तक जा रहा हूँ। उसे शायद लगा था कि पैसे की बचत के लिए ऐसा कर रहा हूँ। पर मन में मेरा कार्यक्रम था कि स्टेशन की विदाइयों से अपने को बचाकर चुपचाप शाम की बस पकड़ ली जाए। नीचे उस समय पहुँचा जाए जब आगे की गाड़ी लगभग चलने को हो। पहला सफ़र कहाँ तक का होगा, यह निर्णय उस आख़िरी क्षण पर ही छोड़ दिया जाए जब टिकटघर की खिड़की के सामने खड़े होकर टिकट-बाबू को पैसे देने होंगे। पर वही द्वन्द्व जिसके लिए तब अपने को समय नहीं देना चाहा था, अब चुपचाप कमरे में बैठकर घड़ी देखते हुए मन में उभर रहा था–'मुझे यहाँ से आख़िर जाना कहाँ है?'

दो बजे तक का समय किसी तरह निकाल लेने के बाद उस असमंजस को टालते हुए वहाँ और बैठे रहना लगभग असम्भव हो गया। 'मुझे यहाँ बन्द होकर बैठने की वजह से ही इतनी अस्थिरता महसूस हो रही है,' मैंने अपने से कहा, 'एक बार सड़क पर पहुँच जाने के बाद ऐसा महसूस नहीं होगा।' पर कुलियों से तीन, पौने तीन बजे आने को कह रखा था। इसलिए तब तक वहाँ से निकल चलना सम्भव ही नहीं था। मैं मन में न सिर्फ़ उनके आने की प्रतीक्षा कर रहा था, बल्कि साथ ही फ़कीरे या काशनी के आने की भी क्योंकि मॉली क्राउन से कह रखा था कि साढ़े तीन बजे क्वार्टर उसे बिलकुल ख़ाली मिलेगा। चाहता था कि उसके आने पर वहाँ के फ़र्श उसे उतने ही साफ़ मिलें जितने उस दिन जिस दिन पहली बार मुझे वह क्वार्टर दिखलाया गया था।

दो बजे के ज़रा ही देर बाद पीछे जमादारवाली सीढ़ी पर ऊपर आते क़दमों की आहट सुनाई दी। मैंने जल्दी से जाकर उधर का दरवाज़ा खोल दिया। काशनी टूटे हुए मर्दाना जूते पहने बाहर खड़ी थी। ''तुम आई हो?'' मैंने इस तरह उससे पूछा जैसे उसके आने का विकल्प मेरे दिमाग़ में रहा ही न हो।

''मेरा आदमी साब की कोठी पर है।'' वह जानी-पहचानी जगह पर आने की तरह अन्दर दाख़िल होती बोली, ''उसे आने में देर लग जाती, इसलिए मैं आप ही आ गई हूँ।''

वह कमरे में आकर एक तरफ़ खड़ी हो गई। उन चीज़ों की तरफ़ उसने देखा भी नहीं जो मैंने छाँटकर अलग कर रखी थीं। ख़ामोश आँखों से मुझे देखती जैसे किसी चीज़ की प्रतीक्षा करती रही।

''ये सब चीज़ें हैं।'' कुछ क्षणों के भौंडे विराम के बाद मैंने कहा।

उसने उड़ती नज़र से उन सब चीज़ों को देख लिया। उसके बाद भी कुछ क्षण उसी तरह खड़ी रही। फिर कुछ ऐसे भाव से जैसे घर बुलाकर मैंने उसका अनादर कर दिया हो, दो-दो चीज़ों को उठाकर बाहर ले जाने लगी। बिना किसी उत्सुकता या आग्रह के। छाँटते समय मुझे प्यालियाँ, डस्टर और नाड़े उतने बेकार नहीं लगे थे जितने उस समय लगे। उसका उन्हें उठाना मेरा एहसान लेने की तरह नहीं, मुझ पर एहसान करने की तरह था। निर्विकार भाव से अन्दर का ढेर बाहर पहुँचाकर वह फिर मेरे सामने आ खड़ी हुई। ''अब जाऊँ?'' उसने कुछ इस तरह पूछा जैसे कि उसे अब भी कहीं लग रहा हो कि मैंने सिर्फ़ इतने काम के लिए उसे नहीं बुलाया हो सकता।

कमरे में उसके आने के बाद से ही हरी घास की-सी एक हलकी गन्ध भर गई थी। वह शायद तब से घास छीलती रहकर आई थी। मैंने उसके शरीर का आकर्षण पहले भी बहुत बार महसूस किया था। पर उस समय वह आकर्षण एक चुनौती की तरह सामने था। उसके पूरे हाव-भाव से यह स्पष्ट था कि वह किसी भी क्षण मेरे अपनी ओर बढ़ आने की प्रतीक्षा में है। पर साथ उसमें एक उपेक्षा भी थी—कि कोई भी पुरुष उसके लिए इतना बड़ा नहीं है कि उसके साथ शारीरिक घनिष्ठता को वह बहुत महत्त्व दे।

''और कोई काम तो नहीं है?'' कुछ देर चुप रहने के बाद उसने फिर पूछ लिया।

''और कोई काम...'' मैं कुछ अव्यवस्थित भाव से अपने आस-पास देखने लगा—निश्चय कर सकने से पहले थोड़ा समय लेने के लिए। पूरा घर अकेला था। मैं दिन-दहाड़े वहाँ कुछ भी करता, उसका कोई साक्षी नहीं था। जिस मनःस्थिति में उसके आने से पहले था, उसका कुछ उपचार भी शायद इससे हो सकता था। वहाँ से चलने से पहले कुछ ऐसा करना जिसे कर सकने में पहले बाधा महसूस होती, उस पूरे वातावरण के प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट करने का एक उपाय भी हो सकता था। एक ही झटके में मैं स्कूल से, शोभा से और आस-पास की सब चीज़ों से एक तरह का प्रतिशोध ले लेने का एक सुख प्राप्त कर सकता था। 'क्यों नहीं?' मेरा मन अन्दर से मुझे धकेल रहा था। 'तुम ऐसा क्यों नहीं कर सकते?' पर मेरी आँखें उसके मैले कपड़ों के भीतर एक और मैलेपन की आशंका से ठहरी हुई थीं।

''अच्छा, तो चल रही हूँ मैं...'' वह कुछ अधीरता के साथ बोली। वह मुझे सोचने के लिए उतना समय देने के लिए तैयार नहीं थी। यह शायद उसे अपना अपमान लग रहा था।

मैं निश्चय फिर भी नहीं कर पाया। ''ठीक है,'' मैंने अटकते स्वर में कहा, ''फ़कीरे से कह देना, मैं उसे याद कर रहा था।''

वह तिरस्कृत होकर तिरस्कृत करते ढंग से सिर हिलाकर चुपचाप बाहर को चल दी। ठप्-ठप्-ठप्-ठप्...उसके फटे जूते की आवाज़ ग़ुसलख़ाने से बाहर पहुँच गई।

'तुम डरपोक हो,' मेरा मन अन्दर से मुझे लानत दे रहा था। 'अगर तुम्हारे मन में की बाधाएँ इसी तरह बनी रहेंगी, तो तुम क्या कभी भी अपने को मुक्त महसूस कर पाओगे?'

मैं भी ग़ुसलख़ाने से होकर बाहर गैलरी में आ गया। वह पीठ मेरी तरफ़ किए चीज़ों को समेट रही थी। मेरे बाहर आ जाने पर भी वह उसी तरह काम में लगी रही, जैसे कि मेरे आने का उसे पता ही न चला है। मुझे लग रहा था कि निर्णय के लिए अब ज़रा भी समय मेरे पास नहीं है। एक बार वह सीढ़ी से उतर गई, तो निर्णय अपने-आप ही हो जाएगा—दूसरी तरह से। मैंने जैसे अन्दर से अपने को चाबुक मारना शुरू किया। 'क्यों तुम चुपचाप खड़े इस क्षण को यूँ ही बीत जाने दे रहे हो? अगर तुम कुछ भी करते हो, या उससे तुम पर कुछ भी असर होता है, तो तुम उसके लिए किसके प्रति उत्तरदायी हो? क्यों बिना परिणाम की बात सोचे अपने सामने के क्षण को स्वीकार करने का साहस तुममें नहीं है? क्यों तुम अपने अन्दर की सारी रुकावटों को तोड़ने की पूरी तैयारी करके भी अब तक इस तरह उनसे घिरे हुए हो?'

वह सामान अपने पटके में बाँधकर खड़ी हो गई। चलते हुए एक बार उसने मेरी तरफ़ देख लिया—ऐसी नज़र से जैसे जिस व्यक्ति को उसने अन्दर छोड़ा था, उसकी जगह मैं कोई और ही अजनबी व्यक्ति होऊँ। वह सीढ़ी पर पाँव रखने जा रही थी, इसलिए अधिक सोचने का समय नहीं था। ''सुनो,'' मैंने सहसा निश्चय करके उसे पीछे से आवाज़ दे दी।

वह रुक गई। उसकी आँखों में कुछ वैसी ही चमक भर गई थी जैसी उस दिन हॉल के अन्दर देखी थी।

''एक मिनट अन्दर आना ज़रा...'' कहकर मैं जल्दी से कमरे में आ गया। वह तुरन्त मेरे पीछे नहीं आई, जैसे अपनी जगह पर खड़ी कुछ सोचती रही। फिर सामान की गठरी गैलरी में छोड़कर ग़ुसलख़ाने में आ खड़ी हुई।

''यहाँ आओ, अन्दर।''

वह अन्दर आ गई। मैंने सहसा उसे अपने साथ सटा लेने की कोशिश की, तो वह इस तरह सट आई जैसे कि वह रूई और कपड़े की बनी एक पुतली हो—बिना किसी तरह के विरोध या प्रयत्न के मैंने छह-आठ बार उसके होंठों, गालों और गरदन को चूम लिया। फिर भी उसमें जान नहीं आई। वह जिस तरह चुपचाप अपने को मेरी बाँहों में छोड़े थी, उससे लग रहा था कि उसके लिए इस सबका कोई विशेष

अर्थ ही नहीं है—वह उसी निर्जीव भाव से उस सारी प्रक्रिया में से गुज़रकर चुपचाप अपनी गठरी उठा लेगी और ठप्-ठप्—बिना पीछे देखे सीढ़ी से उतर जाएगी।

उसके शरीर की जो गन्ध पास से महसूस हो रही थी, वह उसकी उपस्थिति की गन्ध से काफ़ी अलग थी। मैल और पीसने की वह गन्ध, उसके उस विशेष भाव के कारण, मेरा भी उत्साह ठंडा किए दे रही थी। फिर भी उस हद तक आगे बढ़ आने के बाद अब अपने को पीछे हटा लेना सम्भव नहीं लग रहा था। उस तरह उसकी आँखों में पराजित होने की स्थिति में मैं अपने को नहीं देखना चाहता था। मैंने आहिस्ता से उससे फ़र्श पर बैठ जाने को कहा, तो वह चुपचाप बैठ गई। लेटने को कहा, तो उसने लेटकर आँखें मूँद लीं।

इस तरह तो कुछ भी सम्भव नहीं है, मुझे लगा। इसे कम-से-कम अपनी आँखें तो खुली रखनी चाहिए। "सुनो..." मैंने हलके से उसे हिला दिया।

उसने आँखें खोल लीं। सिवाय हलकी बेसब्री के उनमें और कोई भाव नहीं था।

"तुम...ठीक-ठाक तो हो न?" यह सवाल, जिससे तब भी मैं अन्दर-ही-अन्दर लड़ रहा था, सहसा मेरी ज़बान पर आ गया। उसके निश्चेष्ट भाव, चेहरे की झाइयों और बाँहों तथा पिंडलियों की रूखी चमड़ी ने जैसे इसके लिए मौक़ा दे दिया। वह कई क्षण एकटक मुझे देखती रही। उस नज़र से पहली बार लगा जैसे उसके अन्दर कोई चीज़ जाग गई हो। उसके होंठ पल-भर सिकुड़े रहने के बाद हलकी घृणा की मुस्कुराहट से फैल गए। साँस पहले से तेज़ चलने लगी। उसने आहिस्ता से सिर हिला दिया। फिर जैसे और स्पष्ट करने के लिए धीमी आवाज़ में कहा, "नहीं।"

मेरी बाँहें जो उसके आधे शरीर को एक गठरी की तरह साथ सटाए थीं, सहसा परे सरक आने को हुईं। पर मैं चेष्टा से उन्हें उसी स्थिति में रखे रहा। कुछ क्षण हम चुप रहकर जैसे एक-दूसरे को तोलते रहे। "तबीयत ख़राब है तुम्हारी?" मैंने अपने भाव को स्वर से ढकने की चेष्टा की। पर ढीली पड़ती बाँहों ने उसे और भी स्पष्ट कर दिया।

उसका शरीर कुछ हिला—अपने को मुझसे अलगा लेने की चेष्टा में। मेरी बात का उत्तर उसने सिर्फ़ पलकें झपककर दिया।

हम दोनों जान गए थे कि वह प्रकरण अब अपनी समाप्ति पर है। फिर भी अपने को पूरी तरह अलगा लेने से पहले अभी बीच की कुछ मंज़िलें तय की जानी थीं।

"कोई ख़ास बात है या..." मेरे हाथ उसके शरीर से हटने को हुए, तो साथ ही उसके भी हाथ उन्हें हटाने के लिए उठ आए। अपने कपड़े ठीक करती वह सँभलकर बैठ गई। उसके होंठों पर वही मुस्कुराहट फिर उभर आई थी। मैं अपनी बात का उत्तर पाने के लिए उसे देख रहा था। पर वह जैसे अपनी मुस्कुराहट से उत्तर दे चुकी थी। "ख़ास बात क्या होनी है?" फ़र्श से छिली अपनी कुहनी पर आँखें टिकाए वह

बोली, ''कुछ दिन पहले छोटा ऑपरेशन हुआ था मेरा। अभी पूरी तरह ठीक नहीं हुई।''

''छोटा ऑपरेशन, यानी...''

वह उसी तरह अपनी कुहनी को देखती रही। ''समझते नहीं आप?'' और उसकी मुस्कुराहट कुछ अधिक स्पष्ट होकर फैल गई। मुझे लगा कि मेरी बनियान के अन्दर कुछ नमी उभर आई है–बासी पानी की सतह पर हलकी काई की तरह। उसकी बात जैसे सीधे खाल के मुसामों में जा धँसी थी। उसके चेहरे पर उपहास का-सा भाव था। शायद उसी के कारण उन कुछ क्षणों के लिए वह मुझे ख़ासी बदसूरत लगी।

''तुमने पहले क्यों नहीं बता दिया?'' मेरे स्वर में तुरशी भर आई–एक जूनियर मास्टर और चपरासी की बीवी के भेद को फिर से स्थापित करती। ओछा पड़ने की खीझ मन में लिए मैं उठकर गला साफ़ करने खिड़की के पास चला गया।

''आप पूछते तो बता देती,'' मेरे लहज़े से अप्रभावित वह अवहेलना के स्वर में बोली, ''मैंने तो आप ही की वजह से नहीं बताया।''

''मेरी वजह से?''

''आप लोगों का कुछ पता थोड़े ही न होता है? कोई बता देने को अच्छा समझते हैं, कोई न बताने को।''

मैं कुछ देर बिना कुछ कहे खिड़की पर झुका रहा। ख़याल था कि इसके बाद शायद वह अपने-आप उठकर चली जाएगी। टप्-टप्-टप् बर्फ़ की बूँदें छज्जे से टपक रही थीं। सामने देवदार के पत्तों पर जमी बर्फ़ हवा से नीचे छितरा रही थी। हिश्छाप... छत पर फैली बर्फ़ की चादर का एक बड़ा-सा टुकड़ा टूटकर नीचे आ गिरा। गिरने के साथ वह इस तरह चूरा हुआ कि बर्फ़ की अपनी शक्ल रह ही नहीं गई।

''मैं जाऊँ अब?''

मुझे फिर पीछे देखना पड़ा। वह उसी तरह बैठी थी। आँखों से कुछ टटोलती और प्रतीक्षा करती। उसका पूछने का ढंग ऐसा था जैसे कह रही हो कि वह जाने लगे तो मैं फिर से वापस नहीं बुलाऊँगा? मैंने चुपचाप सिर हिला दिया। वह मुँह में हलके से कुछ बड़बड़ाती हुई उठ खड़ी हुई।

''क्या कहा है तुमने?'' मैंने उमड़ते गुस्से के साथ पूछ लिया।

''कुछ नहीं...कहना क्या है अब?'' और वह ग़ुसलख़ाने की तरफ़ बढ़ गई। फिर दहलीज़ के उस तरफ़ से बोली, ''जाकर बीबीजी से मेरी नमस्ते कह देना।'' साथ उसने जिस नज़र से मुझे देखा, उसमें सान पर घिसे चाकू की-सी काट थी। ठप्-ठप्-ठप्...उसके जूते की आवाज़ गैलरी से होकर सीढ़ी पर पहुँच गई।

मैं और भी कई मिनट खिड़की के पास बाहर देखता रहा। छज्जे से टपकती बूँदें–मोम की बूँदों की तरह बड़ी-बड़ी। टप्-टप्-टप्। नीचे झाड़ियों में से गुज़रकर जाती

वह। हवा को थपकियाँ देती देवदार की बाँहें। ख़ाली सड़क। रौंदी हुई बर्फ़। ऊपर माल को जाता लहरिया रास्ता। सिर उठाकर देखने पर माल की मुँडेर। सबकुछ रोज़ की तरह ख़ाली। निःस्तब्ध।

हाथ फैलाकर छज्जे से टपकती बूँदों को मैं हथेली पर लेने लगा। तत्-तत्-तत्...। मोटर-स्टैंड का वेटिंग रूम। बिस्तरों, बक्सों, गठरियों, स्त्रियों, पुरुषों तथा बच्चों से लदा। दमघोंटती बदबू—फ़र्श, बेंचों, दीवारों, पेट्रोल का धुआँ छोड़ती गाड़ियों, कीचड़ हुए बर्फ़ के लोंदों, गैस के मरीज़ यात्रियों और रुके हुए पनालों की। भाग-दौड़—सामान यहाँ से वहाँ रखवाते, धक्कम-धक्के में टिकट ख़रीदते, झगड़ते और गालियाँ बकते मुसाफिरों की; नीचे से आती गाड़ियों के पीछे दौड़ते, अपने-अपने टोकन खिड़कियों से अन्दर पहुँचाते और एक-दूसरे से मार-पीट करते कुलियों की; तथा उस सबके बीच सुबह के अख़बार, बासी फल, और धूल-खाई मिठाइयाँ बेचते फेरीवालों की। पचीस आदमियों के बीच गुत्थमगुत्था होकर किसी तरह टिकट तो मैं ले आया था, पर सत्रह सौ इकावन नम्बर की बस जिससे सफ़र करना था, अभी नीचे से आई नहीं थी। मैं हर दो-चार मिनट बाद बाहर आकर घिचपिच खड़ी बसों के नम्बर पढ़ता था, नीचे से आ रही हर बस की आगे-पीछे की नम्बर-प्लेटें देखता था और उस खिंचते-कसते गुंझल से बचने के लिए वेटिंग हॉल की सुरक्षित चौहद्दी में लौट आता था। वह सारा वातावरण ही जैसे एक छटपटाहट का था—हर चीज़ के वहाँ से निकल भागने की झटपटाहट का और न निकल पाने की मजबूरी का। हर चीज़ हर दूसरी चीज़ से उलझकर उसके और अपने रास्ते में रुकावट बनी थी। रास्ते में कुछ जगह लैंड-स्लाइड होने की वजह से उधर की गाड़ियाँ लेट आ रही थीं। इधर की गाड़ियाँ उनके बैरियर पार करने की प्रतीक्षा में रुकी थीं। पूरा मोटर-स्टैंड एक ऐसे इंजन की तरह घरघरा रहा था जिसका एक्सीलेटर जाम हो गया हो।

एक बुड्ढा आदमी था जो कई बार उधर से इधर और इधर से उधर सड़क पार कर चुका था। एक जीप थी जो पार्किंग के लिए जगह की तलाश में कभी दाएँ जाती थी, कभी बाएँ। स्टैंड के बीचोबीच सन्तरों की एक टोकरी किसी बस के पहिये से कुचल गई थी और कई छोटी-बड़ी—हर उम्र के लोग मलीदा होने से बचे सन्तरों पर इधर-उधर से झपट रहे थे। मैं आठवीं या दसवीं बार वेटिंग रूम की सड़ाँध से बचने के लिए फिर बाहर निकल आया था। एक बेबसी की नज़र सड़क पर डालता हुआ सोच रहा था कि क्या यह सम्भव होगा कि समय से नीचे पहुँचकर मैं आज कहीं की भी गाड़ी पकड़ सकूँ!

एक तरफ़ बदबू से सिर फटने को आ रहा था और दूसरी तरफ़ अंतड़ियों में भूख की कुलबुलाहट महसूस होने लगी थी। चलते समय रास्ते की जो योजना दिमाग़ में थी, वह सब गड़बड़ा गई थी। सोचा था, साढ़े पाँच बजे अधरास्ते के उस छोटे-से

होटल में चाय पिऊँगा जिसका बुड्ढा मालिक हर आनेवाले की ख़ातिरदारी के लिए स्वयं खड़ा रहता था। हर बार सफ़र करते हुए मन में आशंका रहती थी कि इस बार शायद वह वहाँ नहीं मिलेगा। पर उसे देख लेने पर एक आश्वासन-सा महसूस होता था कि इतना समय बीत जाने पर भी सबकुछ अभी उसी तरह है—कि उस बीच जो कुछ हुआ है, उसके होने से किसी चीज़ में कोई अन्तर नहीं आया। वह बुड्ढा सरदार जैसे एक सिग्नल था जिसके डाउन होने के बाद ही ज़िन्दगी की पटरियाँ कोई वास्तविक रुख़ बदल सकती थीं। वैसा ही एक और सिग्नल था बैरा रामजस—नीचे के स्टेशन की कैंटीन का—जो साल-भर बाद वहाँ जा बैठने पर भी उसी परिचय की मुस्कुराहट के साथ मेज़ साफ़ करता था और खाना खाने से पहले झुककर पूछ लेता था, "वही आप वाला आर्डर?" और सिर हिला देने पर अपनी याददाश्त के प्रमाण के तौर पर सूप से लेकर कॉफ़ी तक एक-एक चीज़ लाकर सामने रखने लगता था। सोचा था, साढ़े आठ बजे वहाँ पहुँचकर खाना खा रहा हूँगा—रामजस को बता रहा हूँगा कि इसके बाद शायद काफ़ी दिनों तक मेरा इस तरफ़ आना न हो। पर छह बजने को थे और अभी यही पता नहीं था कि वहाँ से चलने में कितना समय और लगेगा। ग़नीमत थी कि कुलियों के साथ सामान भेज देने के बाद स्कूल के डब्बे में से थोड़ा-बहुत खाना हलक से नीचे उतार लिया था। खाना उतना ही गन्दा और उबकाने वाला था जितना रोज़ होता था। बल्कि उससे कुछ ज़्यादा ही, या शायद उस समय मुझे लगा वैसा था। पर साढ़े पाँच बजे तक अपने को भूख से सुरक्षित रखने के लिए, जैसे अपने से आँख चुराते हुए, उससे थोड़ा-बहुत पेट भर लिया था। अब ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, अपने को शरमसार करता यह विचार मन में जाग रहा था कि जितना खाया था, उससे कुछ ज़्यादा क्यों नहीं खा लिया जिससे कि वह सुरक्षा कुछ देर और बनी रहती—कम-से-कम प्रतीक्षा का यह समय तो निकल ही जाता।

मुचड़ा हुआ टिकट हाथ में था। बस का नम्बर देखने के लिए उसे बार-बार ज़ेब से निकाल लेता था। जितनी देर हो चुकी थी, उसी से लग रहा था कि चाय की जगह शायद खाना अधरास्ते के होटल में खाना पड़े और नीचे पहुँचने पर रामजस से सिर्फ़ एक प्याली चाय पी लेने का भी मौक़ा न मिले। एक ख़याल यह भी था कि खाने के वक़्त अधरास्ते का बुड्ढा सरदार भी अपनी जगह पर न मिला, तो यात्रा की शुरुआत से ही पटरी बदल जाने का एहसास न होने लगे—लगने लगे कि आगे का सबकुछ होने के अर्थ में कितना भी अनिश्चित क्यों न हो, न होने के अर्थ में उसका रूप अब निश्चित है...।

टिकट को सिगरेट की तरह गोल करके हाथों में मलता हुआ मैं सड़क के उस तरफ़ ढलान के घरों और उनसे आगे दाईं तरफ़ रेलवे शेड की छत को देखता रहा। छत पर बन्दरों की एक टोली अड्डा जमाए थी। पन्द्रह-बीस बन्दर थे—छोटे-बड़े और

मँझोले—जो छत के कंगूरों पर टहलते हुए आस-पास की पूरी स्थिति का निरीक्षण कर रहे थे। वे शायद किसी एक तरफ़ धावा बोलने से पहले अपनी योजना निश्चित कर लेना चाहते थे। शेड के अन्दर से आता इंजन का धुआँ उनकी योजना को अपनी तरफ़ से एक दिशा दे रहा था। शायद यह वही इंजन था जिसे स्कूल-पार्टी की आख़िरी गाड़ी ले जानी थी—उस पार्टी की जो एक रात नीचे के स्टेशन पर काटकर आगे जाने को थी। पादरी बेन्सन, बॉनी हाल, बुधवानी और कई लोगों की सीटें उस गाड़ी में बुक थीं। उस समय तक शायद वे सब स्टेशन पर आ चुके थे और इंजन के शेड से आने की प्रतीक्षा में पटरियों पर आँखें गड़ाए थे। मैं अब भी हाथ का टिकट फाड़कर उन लोगों के साथ उस गाड़ी में जा सकता था। बुधवानी बता रहा था कि उस गाड़ी में तेरह सीटें ख़ाली बची हैं। लेकिन उन लोगों के बीच जाना फिर से उसी घेरे में लौटना था जिससे इतनी बेसब्री से अपने को बाहर निकालकर लाया था। एक बार स्कूल की सड़क पार कर आने के बाद से जिन चेहरों को मन से बुझा देना चाह रहा था, नए सिरे से उन्हें अपने आस-पास उभार लेने का अर्थ हो सकता था फिर से उनकी अपेक्षाओं के अनुसार निर्धारित होने लगना—उसी तरह बातें करना, सोचना, कुढ़ना और शायद बुधवानी के विनम्र सुझाव के अनुसार सीधे ख़ुर्जा तक का टिकट ले लेना। मैंने अपना ध्यान ज़बर्दस्ती शेड की छत से हटाया और फिर अपने आस-पास देखने लगा। हताश भाव से पनाले के किनारे बैठकर बीड़ियाँ फूँकते कुली। एक बस के नीचे लेटकर उसका साइलेंसर ठीक करता मिस्तरी। भीख के लिए हाथ फैलाए एक बुढ़िया और तीन बच्चे। सफ़र में मितली से बचने की गोलियाँ बेचता एक दवाईफ़रोश। एक घिनौनापन था जो उस पूरे वातावरण से मुझ पर घिरा आ रहा था। पर वास्तव में वह घिनौनापन क्या उस वातावरण में ही था? मुझे लगा कि चलने के समय तक जिस शिद्‌दत से मैं इस सफ़र की शुरुआत चाह रहा था, अब उसी शिद्‌दत से कुछ और चाह रहा हूँ। पर वह कुछ और क्या था?

सुना कि सत्रह सौ इकावन नम्बर की बस ख़राब होकर बैरियर के पास रुकी है। अभी एक-डेढ़ घंटा और लगेगा उसे ठीक होकर आने में। उतने समय के लिए सफ़र की शुरुआत की और स्थगित हो जाना मुझे उस समय अच्छा ही लगा। मैं एक बार फिर लौटकर वेटिंग रूम की चौहद्‌दी में गया, पर दस-बीस सेकेंड से ज़्यादा वहाँ नहीं रुक सका। वहाँ रखे अपने सामान को इस नज़र से देखा जैसे उसे भी ख़ामख़ाह साथ ढोकर ले आया हूँ। सामान जैसी ही चिढ़ अपने-आपसे भी हुई—कि क्यों मैं इस व्यक्ति को भी हर जगह साथ ढोने के लिए विवश हूँ जो हर तरह से स्वतन्त्र होने के लिए छटपटाता हुआ भी हर दो घंटे में भूख की बात सोचने और उसका उपाय करने के लिए कुछ भी कूड़ा-कचड़ा पेट में भरने लगता है? इस बार वेटिंग रूम से बाहर आना जैसे सामान और उस व्यक्ति दोनों से अपने को अलगा लेने की कोशिश

करना था जैसे कि दोनों को वहीं छोड़कर मुझे चुपचाप सड़क पर आगे कहीं को चल देना था।

मोटर-स्टैंड पर अँधेरा उतर रहा था। शेड के नीचे से इंजन फफ्-फफ्-फफ् धुआँ छोड़ता प्लेटफ़ार्म की तरफ़ चला गया था। सत्रह सौ इकावन के प्रायः सभी मुसाफ़िर जो कुछ देर पहले एक-दूसरे से उस बस के विषय में पूछ रहे थे, अब इधर-उधर छितरा गए थे। मुझे रात को नीचे पहुँचकर कहीं की भी गाड़ी मिल सकेगी, इसकी अब सम्भावना नहीं रही थी। आस-पास गाड़ियों, आदमियों और ढोए जानेवाले सामान की कुलबुलाहट तनाव के एक शिखर पर पहुँचकर जैसे वहीं ठहर गई थी। जाम होकर घरघराता इंजन अब सिर्फ़ घरघरा रहा था—जाम को तोड़कर आगे बढ़ने की कोशिश उसके अन्दर से जवाब दे गई थी। मैंने पास से गुज़रते एक फलवाले को रोककर उससे दो बासी सेब ख़रीद लिए और सत्रह सौ इकावन के टिकट को एक हाथ में मसलता कचर-कचर सेब खाने लगा।

# अन्तराल

*शालीन उर्फ़ शैली के लिए*

एयर-कंडिशनिंग प्लांट के रुक जाने से सारी इमारत चलते-चलते ठहर गई। कुमार ने घड़ी में वक़्त देखा और सामने के काग़जों का पुलंदा उठाकर ट्रे में डाल दिया। शरीर और मन की थकन गवाह थी कि काम का दिन पूरा हो चुका था हालाँकि दिन का काम अभी बहुत बाक़ी था। कोई दिन ऐसा नहीं आता था जिस दिन दिन के सब काम पूरे हो जाएँ। हर आज आनेवाले कल के लिए काम की कुछ-न-कुछ विरासत छोड़ जाता था।

कुरसी से उठा, तो रीढ़ की हड्डी रोज़ की तरह अकड़ गई थी। कनपटियाँ और पपोटे दर्द कर रहे थे। सिर पर जैसे मोटे काग़ज का खोल चढ़ा था। उसने कई बार पलकें झपकीं कि शायद इस कसरत से ही आँखों में कुछ ताज़गी लौट आए। फिर जंग-खाई मशीन-सा केबिन से बाहर निकल आया।

बाहर आकर फिर एक बार उसने घड़ी में देख लिया। पाँच सत्रह। श्यामा से साढ़े पाँच बजे मिलने की बात थी। टी सेंटर में। वह जगह उसने जान-बूझकर चुनी थी। वहाँ ज़्यादा लोग नहीं आते थे। भरी शाम में भी कई बार एक पूरा कोना ख़ाली मिल जाता था। कितनी ही बार उस हॉल में उसने बिलकुल अकेले बैठकर चाय पी थी। जब भी इर्द-गिर्द से अपने को काट लेने का मन होता था, उस जगह चला जाता था। चाय पीकर फ़िल्म देखने के बहाने काफ़ी-काफ़ी देर वहाँ के ऑडिटोरियम में बैठा रहता था। जब किन्हीं लोगों से मिलना होता था, तो उन्हें वह दूसरी-दूसरी जगहों पर बुलाता था। आज पहली बार थी जब उसने किसी से टी सेंटर में मिलने की बात तय की थी, और पहली ही बार उसका मन उस जगह के साथ वक़्त की पाबन्दी की बात जोड़ रहा था।

लिफ़्टमैन ने दूर से सलाम किया। पर वह बिना उसकी तरफ़ देखे ज़ीने के रास्ते नीचे उतरने लगा। उसे लग रहा था जैसे वह कोई बोझ कंधों पर लेकर चल रहा हो। कंधों पर नहीं, सिर पर। वज़न सिर पर ही महसूस हो रहा था। पता नहीं क्यों यह वज़न हर वक़्त बना रहता था। अपना-आप कभी पूरी तरह हल्का हो ही नहीं पाता था।

और भी लोग ज़ीने के रास्ते आ-जा रहे थे। उसे हैरानी हुई। वह तो ख़ैर अपनी बदहवासी में लिफ़्ट से आगे बढ़ आया था और एक बार बढ़ आने पर लौटकर लिफ़्टमैन की आईने-जैसी स्थिर आँखों का सामना नहीं करना चाहता था। पर और इतने लोगों को क्या हुआ था कि लिफ़्ट न लेकर ज़ीने पर अपने पाँव थका रहे थे।

चाबी से चलते खिलौने की तरह लगातार धीमी पड़ती चाल से वह चार मंज़िल उतर आया। पहली मंज़िल पर पहुँचकर सामने दो परिचित चेहरे दिखाई दे गए। उसकी स्टेनो रूबी और स्वतन्त्र पार्टी का नीलकान्त पटेल। अभी कुछ देर पहले नीलकान्त उसकी केबिन में था। हर दूसरे-चौथे दिन आकर वह घंटा-घंटा-भर वहाँ बैठा रहता था। बातें काफ़ी उल्टी-सीधी करता था, पर स्वर बहुत गम्भीर होता था। वह नीलकान्त की सूरत देखते ही अपने को उतनी देर की बोरियत के लिए तैयार कर लेता था। 'हूँ हूँ' का ताल देकर पेपरवेट घुमाता हुआ उसके हिलते होंठों का प्रदर्शन पूरा हो जाने देता था। पेपरवेट अगर हाथ में नहीं होता था, तो नीलकान्त के उठने तक रद्दी की टोकरी काग़ज़ की गेंदों से भर जाती थी। उसके अन्दर की लकीरें, दायरे और तिकोन उस कुढ़न के ग्राफ होते थे जिसे वह चेहरे की कोमलता से ढके रहता था।

रूबी ने उसे देखकर भी नहीं देखा। पर नीलकान्त मुसकराता हुआ उसकी तरफ़ बढ़ आया। कैंटीन में भीड़ होने से उन्हें बैठने की जगह नहीं मिली थी। कुमार के होंठों पर भी हल्की मुसकराहट आ गई। तो उस आदमी के वहाँ आने की असल वजह यही होती थी कि पाँच बजने पर रूबी को कैंटीन में लाकर उसके साथ चाय पी सके? केबिन में चाय पीने से वह इसीलिए इन्कार कर देता था? पर एक लड़की के साथ चाय पीने के लिए नीलकान्त भाई ने जगह भी चुनी, तो कौन-सी! क्या रूबी उससे नहीं कह सकती थी कि साथ चाय पीने के लिए इससे ग़लत जगह और नहीं हो सकती? पर शायद वह सोचती हो कि विरोधी दल में होने से बेचारा इससे ज़्यादा एफ़ोर्ड नहीं कर सकेगा। फिर यह भी सम्भव था कि मेज़बान रूबी हो और जगह उसी की चुनी हो। या मेज़बान नीलकान्त ही हो, पर बात चाय पिलाने की न होकर पार्टी का प्रोग्राम समझाने की हो।

'रात को ठीक से सोए नहीं क्या?' नीलकान्त के होंठ उतना नहीं मुसकराते थे जितना उसकी आँखें। साथ वह रहस्यपूर्ण ढंग से होंठों पर ज़बान फेरता जाता था। 'आँखें काफ़ी सुर्ख़ लग रही हैं।'

'तब तो तुमने नहीं कहा जब मेरे पास केबिन में बैठे थे।'

'केबिन की रोशनी में आँखों के रंग का पता ही नहीं चलता। वहाँ तो सभी रंग एक-से नज़र आते हैं।'

नीलकान्त ने विदा लेने के लिए हाथ आगे बढ़ा दिया था। कुमार दो उँगलियाँ उसके हाथ से छुआकर आगे चल दिया। नीलकान्त से वह ठीक से हाथ कभी नहीं मिलाता था क्योंकि वह आदमी अपना हाथ मुरदा-सा दूसरे के हाथ में दे देता था जिसे पकड़ने से हिलाकर छोड़ने तक की पूरी कोशिश दूसरे को ही करनी होती थी और हाथ मिलाने के काफ़ी देर बाद तक एक छिपकली को छू लेने की-सी बेचैनी महसूस होती रहती थी।

नीचे पहुँचने तक पाँच बाईस हो गए थे। यह सोचकर कि इस वक़्त टैक्सी आसानी से नहीं मिलेगी, टी सेंटर तक पैदल जाना ही बेहतर होगा, वह जल्दी-जल्दी कॉरिडोर पार करने लगा।

बाहर फुटपाथ पर आकर कुमार को लगा जैसे फ़्लोरा फ़ाउंटेन की जगह वह किसी और ही चौराहे पर निकल आया हो।

शाम शाम होती है और उसका अपना एक रंग, एक व्यक्तित्व होता है, यह बात इन कुछ सालों में भूलती-सी जा रही थी। अनुभव के सीमान्त पर समय के दो नाम रह गए थे—दिन और रात। और दो ही रूप—केबिन के ट्यूब की रोशनी और सड़क के हंडों की रोशनी। दोनों के बीच का अन्तराल एक ऐसा झुटपुटा था जो सिर्फ़ उन्हें आपस में जोड़ता था। घर और दफ़्तर के बीच इलैक्ट्रिक ट्रेन के सफ़र की तरह। सामने सड़क पर फैली एक सुर्ख़ बादल की छाया, यह एक बेगाना-सा अनुभव था। उस रंगत में घिरे तेज़ ट्रैफ़िक के जोखिम में से होकर उसने फ़्लोरा की मूर्तिवाले घेरे को पार किया और फिर एक बार उसी जोखिम में से गुज़रकर तार-घर के फुटपाथ पर आ गया। पर उतनी ही देर में आसपास का रंग पहले जैसा नहीं रहा। दाईं तरफ़ पुरानी किताबों के स्टाल पर एक किताब ने उसका ध्यान खींचा। पर बिना उसे देखने के लिए रुके, भीड़ के जिस बहाव के साथ सड़क पार की थी, उसी के साथ वह आगे बढ़ता गया।

पर मन उसका अपने पैरों के साथ नहीं था। उसके अन्दर की ज़रूरत टी सेंटर पहुँचने से पहले कहीं अकेले बैठने की थी। क्या आज तीन साल बाद श्यामा से मिलने पर वह उससे उस व्यक्ति के रूप में बात कर सकेगा जिसे वह उन दिनों जानती थी? या खुद भी उसके साथ परिचय की उन दिनों की कड़ियों में आज की मुलाक़ात को आगे की एक और स्वाभाविक कड़ी के रूप में जोड़ सकेगा? घंटाभर पहले फ़ोन पर तो वह उसकी आवाज़ ही नहीं पहचान पाया था। इसीलिए कुछ पूछ लिया था, 'कौन बोल रही हैं?' इस पर थोड़ी देर उधर ख़ामोशी रही तो, उसे लगा कि किसी का ग़लत नम्बर मिल गया है। वह रिसीवर रखने ही जा रहा था कि आवाज़ फिर सुनाई दे गई। 'पहचाना नहीं? इस बीच मेरी आवाज़ इतनी बदल गई है या तुम्हारे कानों को ही आदत नहीं रही?' इस बार भी वह आवाज़ नहीं, बोलने का लहज़ा ही पहचान सका था। 'तुम, यहाँ? बम्बई में?' वह हड़बड़ी में बोल गया था। 'मुझे तो यकीन ही नहीं आ रहा।' श्यामा उधर से हँस दी थी—वही उदास हँसी जो एकसाथ उसे बेगाना और बहुत आत्मीय बना देती थी। 'सचमुच हैरानी हो रही है तुम्हें? पर तब तो कहा करते थे कि कभी किसी चीज़ से हैरानी होती ही नहीं तुम्हें।' तब... इस शब्द में अतीत की ऐसी गंध थी कि वह अन्दर से थोड़ा झुरझुरा गया था। उसे

लगा था कि समय के किसी दूसरे बिन्दु पर खड़ा वह एक और व्यक्ति भी है जिसके विचारों, अनुभूतियों और शब्दों की पूरी ज़िम्मेदारी उस पर है। फ़ोन पर वह लम्बी बात नहीं करना चाहता था। रूबी और दो-एक और व्यक्ति सामने बैठे थे। शुक्र था कि नीलकान्त तब तक उठकर चला गया था, वरना सबसे पहले उसी की जिरह का सामना करना पड़ता। उस आदमी के लिए शब्द स्वतन्त्र का अर्थ राजनीतिक दृष्टि से जितना सीमित था, दूसरे के व्यक्तिगत मामलों में दखल देने के लिहाज़ से वह उसके माने उतनी ही दूर तक ले जाता था। 'ये सब बातें मिलने पर होंगी', उसने जल्दी से समाप्त करने के लिए कहा था। 'यह बताओ कि साढ़े पाँच बजे तुम ख़ाली हो या नहीं? अगर ख़ाली हो तो उस वक़्त हम लोग...।' श्यामा उसके स्वर को भाँप गई थी। 'मैं तो ख़ाली ही ख़ाली हूँ। किसी भी वक़्त आ सकती हूँ। हाँ, तुम अपना देख लो। तुम्हारे लहज़े से मुझे लग रहा है कि तुम्हें शायद फुरसत नहीं है।' अपने स्वर की असावधानी के लिए उसे खेद हुआ था। किसी तरह बात को सँभालते हुए उसने कहा था, 'ऐसा क्यों कह रही हो? पाँच बजे दफ़्तर से उठूँगा, इसलिए साढ़े पाँच कहा है। पाँच बजे तक यहाँ...।' 'बहुत काम है', श्यामा फिर उसी तरह हँस दी थी। 'इस शहर में जब से आई हूँ, ये शब्द बार-बार कानों से टकरा जाते हैं। यहाँ शायद ऐसा कोई आदमी नहीं है जिसे हर वक़्त बहुत काम न हो। सिवाय मेरे। पर अब तो अपने को लेकर भी मुझे सन्देह होने लगा है।' इस पर वह भी हँस दिया था, एक बेमतलब हँसी, कि बात किसी तरह आगे निकल जाए। फिर जल्दी से उसने टी सेंटर में मिलने की बात तय कर ली थी। बात करके रिसीवर रखा, तो केबिन में पल-भर की ख़ामोशी भी उसे काफ़ी लम्बी लगी। उसे तुरन्त याद नहीं आया कि सामने बैठे लोगों से वह किस विषय में बात कर रहा था। फिर भी वह चेहरे पर सोचता-सा भाव ले आया जैसे कि बातचीत का सूत्र उससे छूटा न हो और टेलिफ़ोन की बातचीत उस महत्त्वपूर्ण प्रसंग में एक अनावश्यक बाधा रही हो...।

अचानक उसने पाया कि भीड़ उससे पीछे छूट गई है। क्रॉसिंग पर बत्ती का लाल रंग देखे बग़ैर वह सड़क के बीचोंबीच आ पहुँचा था। उसने दौड़कर सड़क पार कर ली। अगर पाँच सैकेंड की भी देर हो जाती, तो वह तेज़ी से आती एक शिवरलेट के नीचे दब गया होता। उस गाड़ी का मॉडल इतना नया था कि उसे देखने और उसके खतरे को समझने के बीच समय का सन्तुलन वह बड़ी मुश्किल से रख पाया था। सड़क की एक-तिहाई और दो-तिहाई के बीच तेज़ ट्रैफ़िक में अपने को घिरे पाकर इस तरह दौड़ना, ऐसा कई बार उसके साथ हो जाता था। जैसे कि दुर्घटना की तरफ़ बढ़ना और उससे भागना, ये दोनों चीज़ें एक-साथ उसके अस्तित्व में शामिल थीं।

चर्चगेट के पास वह सुरंग में उतरा, तो उसकी टाँगें काँप रही थीं। सुरंग की तंग गोलाई और बदली आवाज़ों का दबाव महसूस करता वह बहुत आहिस्ता चलकर ऊपर

आया। बाहर आते ही उसे एक ठंडी-सी सिहरन महसूस हुई। जैसे अभी-अभी वह अपने वर्तमान के सुरक्षित ग़ार में था और अब अचानक वहाँ से गुज़रे कल के चुनौती-भरे मुहाने पर निकल आया था।

चर्चगेट स्टेशन से एक डबल-फ़ास्ट गाड़ी छूटनेवाली थी। भीड़ पहले से कहीं तेज़ चाल पकड़कर उस तरफ़ बढ़ रही थी। अपने मन के एक हिस्से से वह भी भीड़ के साथ था, पर दूसरा हिस्सा ज़बर्दस्ती उसे भीड़ से अलग करके सामने की तरफ़ ले जा रहा था। ह्विसल देकर गाड़ी प्लेटफ़ार्म से सरकने लगी, तो निराशा की एक हल्की लहर उसके शरीर में दौड़ गई। गाड़ी के चलने के साथ ही जैसे एक विकल्प उसके हाथ से छूट गया था। मगर तभी दूसरी अनुभूति उसे सन्तोष की हुई, क्योंकि उस गाड़ी के चलते-न-चलते दूसरी डबल-फ़ास्ट गाड़ी के संकेत चमकने लगे।

सामने के फुटपाथ पर पहुँचते ही एक छोकरे ने वहाँ खड़ी टैक्सी का दरवाज़ा उसके लिए खोल दिया। 'टैक्सी साहब? उसने जवाब नहीं दिया, तो छोकरे ने मुँह बिचकाकर दरवाज़ा ज़ोर से बंद कर दिया। बस स्टाप पर लम्बा क्यू था। एक ख़ाली बस तभी आकर रुकी थी। क्यू में खड़े सब लोग उसमें समा जाने की आशा लिए एक अधीर ठहराव के साथ धीरे-धीरे आगे को चल रहे थे। जो लड़की क्यू में सबसे पीछे थी, उसके शरीर की तराश इतनी आकर्षक थी कि उसकी तरफ़ आँखें मुड़ी रहने से वह सामने से आते उस व्यक्ति को नहीं देख पाया जिसने अचानक उसे दोनों बाँहों से दबोच लिया। 'देखकर चलो दोस्त, सामने से भी लोग आ रहे हैं।' पी. एन. पन्त, जो हर शाम चर्चगेट के फुटपाथों पर एक भूत की तरह मँडराता रहता था, हमेशा की तरह उस वक़्त भी शायद वह किसी साथ बैठ सकनेवाले व्यक्ति की तलाश में था।

'कैसे हाल हैं? कुमार ने ज़बर्दस्ती की मुसकराहट के साथ कहा और आहिस्ता-से अपनी बाँहें छुड़ा लीं।

'मेरे हाल?' पन्त उसके ठंडे लहज़े से निरुत्साह हो गया। 'मेरे क्या हाल होंगे? तुम अपने बताओ।'

'मेरे हाल ठीक हैं।'

'खुशकिस्मत आदमी हो,' कहता हुआ पन्त उसका कंधा दबाकर उसी आकस्मिकता से आगे बढ़ गया जिससे उसके पास रुका था। वह पन्त की आँखों की हताशा, वितृष्णा और शिकायत की छाप मन में लिए टी. सेंटर के अहाते में दाखिल हो गया। आसपास बादल की छाया तब तक काफ़ी गहरी हो गई थी और हल्की-हल्की ठंडक उँगलियों के पोरों पर सरसराने लगी थी।

टी सेंटर के अन्दर खासी भीड़ थी जैसी कि अक्सर नहीं होती थी। दफ़्तरों से उठकर आए अकेले आदमी। अकेली औरतें। दो-एक बॉस-सेक्रेटरी-नुमा जोड़े। अपने काग़ज़ों

में खोया एक लेखक-शक्ल विद्यार्थी। सफ़ेद कोट पहने तीन-चार दलाल-सूरत गुजराती। पर किसी कोने में ऐसी कोई लड़की नहीं थी जिसे देखकर श्यामा का भ्रम हो सकता।

लड़की! श्यामा उससे कुल तीन साल छोटी भी नहीं थी और वह अब चौंतीस का होने जा रहा था। फिर भी उसके बारे में वह सोच रहा था एक लड़की के रूप में। क्या अपने को यह विश्वास दिलाने के लिए कि वह भी अभी एक लड़का ही है—अपनी तनी नसों, थकी आँखों और दर्द करती रीढ़ के बावजूद? और उन दिनों भी और चाहे जो आकर्षण रहा हो श्यामा में, एक लड़की-सी तो वह तब भी नहीं लगती थी।

बैठते हुए उसने सामने दीवार-घड़ी पर नज़र डाल ली। पाँच पैंतीस। श्यामा ने जिस तरह फ़ोन पर बात की थी, उससे तो लगता था कि वह साढ़े पाँच से पहले ही पहुँच जाएगी। 'वक्त से पहुँच जाना,' उसने कहा था। 'यह न हो कि मुझे अजनबी लोगों के बीच बैठकर इंतज़ार करना पड़े।' तो क्या वह इंतज़ार से बचने के लिए जान-बूझकर देर कर रही थी, या देर से आकर देखना चाहती थी कि पहले से वहाँ आकर बैठे हुए उसे उसकी आँखों में कैसा भाव नज़र आता है? और जब वह अंदर दाखिल होगी, तो उसे क्या एक बदले हुए चेहरे की तलाश होगी या तीन साल पहले के उसी चेहरे की जिसे आखिरी बार उसने रेलवे प्लेटफ़ार्म पर अपनी ओर बढ़ने के साथ-साथ दूर हटते देखा था।

कुमार ने बैठने के लिए जो जगह चुनी थी, वह दरवाज़े के ठीक सामने थी। उसे अफ़सोस हुआ कि वह खंभे की ओट में कोने की ख़ाली टेबल की तरफ़ क्यों नहीं बढ़ गया। इस तरह तो लगता था कि वह बहुत उत्सुकता से इंतज़ार कर रहा है और नहीं चाहता कि अन्दर आने के आद श्यामा को उसे ढूँढ़ने में ज़रा भी कठिनाई हो। पर इससे पहले कि वह वहाँ से उठकर दूसरी सीट की तरफ़ जाता, वेटर आर्डर लेने के लिए चला आया। कुहनियाँ मेज़ पर टिकाए उसने अकेले आए व्यक्ति की तरह आर्डर दे दिया, 'नीलगिरि चाय। ख़ूब गरम।'

नीलगिरि चाय उसे पसन्द नहीं थी। फिर भी ज़ायका बदलने के लिए वह कभी-कभी मँगवा लिया करता था। वेटर चला गया, तो उसने ज़ेब से एक पुरानी चिट्ठी निकाल ली। जाने कब से वह चिट्ठी ऐसे ही ज़ेब में पड़ी थी। उसका जवाब देना ज़रूरी नहीं, था, फिर भी फैसला न कर सकने के कारण वह हर बार देखने के बाद उसे फिर ज़ेब में डाल लेता था। कपड़े बदलने पर ज़ेब के बाक़ी सामान के साथ वह भी नई ज़ेब में पहुँच जाती थी। कई बार उसने चाहा था कि एक पंक्ति घसीटकर उसका निपटारा कर दे, या वैसे ही उसे फाड़कर फेंक दे। पर जो चीज़ एक बार सोचने की लम्बी प्रक्रिया में चली जाती थी, उसका निर्णय कर लेना आसान नहीं रह जाता था। वह चिट्ठी एक साधारण इनलैंड, भी उसी प्रक्रिया से जुड़कर खस्ता से और

खस्ता होती जा रही थी और वह इतना तक नहीं कर पाता था कि उसे ज़ेब से निकालकर डिक्टेशन की ट्रे में ही डाल दे।

चिट्ठी को उसने सामने मेज़ पर फैला लिया। एक अपरिचित व्यक्ति। पंचमढ़ी के अस्पताल में तपेदिक का मरीज़। वह अपने परिवार के लिए कुछ मासिक सहायता चाहता था। सहायता कर सकने की स्थिति में वह नहीं था, पर उत्तर न देने की बात से भी उसे मन में कुछ असुविधा महसूस होती थी। चिट्ठी के शब्दों को पढ़ते हुए उस व्यक्ति का कल्पित चेहरा उसके सामने आ जाता था और वह जैसे उसके सिरहाने बैठकर उसे अपनी सफ़ाई देने लगता था।

इनलैंड के कई बार पढ़े हुए शब्दों को वह फिर एक बार पढ़ गया। एकाध मिनट पंचमढ़ी में उस व्यक्ति के साथ बिताकर उसने वह टूटता काग़ज़ फिर पहले की तरह सँभालकर रख लिया। पाँच चालीस हो चुके थे। पाँच पैंतालीस तक तो श्यामा को आ ही जाना चाहिए था। अगर तब तक भी न आई तो...।

हर बार दरवाज़ा खुलने पर कई नए लोग अन्दर आ जाते थे। आसपास भीड़ बढ़ती जा रही थी। उसे आश्चर्य हो रहा था कि आज इतने ज़्यादा लोगों ने अपने लिए वह जगह क्यों चुनी है। जिस तरह से लोग बैठे थे, उससे यह भी नहीं लगता था कि वहाँ किसी पार्टी का आयोजन हो। पर अगले रेले में जो लोग आए, उसमें से दो आदमी बिना पूछे उसके सामने की कुर्सियों पर आ बैठे, तो उनके भीगे सिरों को देखकर उसे कारण का अनुमान हो गया।

वेटर उसके सामने ट्रे रख गया था। वह अपने लिए चाय बनाने लगा।

'यह मानसून से पहले की बारिश बहुत परेशान करती है,' सामने बैठे व्यक्तियों में से एक ने उसकी तरफ़ दोस्ती का हाथ बढ़ाने की चेष्टा की।

कुमार ने कुछ जवाब नहीं दिया। इस तरह अपनी आँखें दूसरी तरफ़ हटा लीं जैसे कि उस आदमी के वहाँ होने को अपनी स्वीकृति ही न देना चाहता हो। हॉल में इतने लोग भर गए थे कि उसे सन्देह होने लगा कि कहीं ऐसा न हो श्यामा भीड़ के किसी रेले के साथ अन्दर आ गई हो और उसे न देख पाने के कारण किसी दूसरी जगह बैठ गई हो। पर पूरे हॉल में नई आई स्त्रियाँ केवल दो ही थीं। दोनों पारसी। दोनों के चेहरे इस तरह मुरझाए हुए थे जैसे कि अभी-अभी उनकी ज़ेबें काटी गई हों। एक स्त्री और थी, दरवाज़े के पास। ढीले-ढाले फ्रॉक में झुकी-झुकी-सी एंग्लो-इंडियन बुढ़िया जिसकी आँखें उसके चेहरे से आगे आकर बैठने की जगह तलाश रही थीं।

छह बजने में पाँच मिनट...कम-से-कम आज के लिए वे सब सम्भावनाएँ समाप्त हो रही थीं जो श्यामा के आने पर पैदा हो सकती थीं। उसने चाय की दूसरी प्याली भी बना ली और छोटे घूँटों से बड़े घूँटों पर पहुँचकर उसे जल्दी से ख़ाली कर दिया। पाँच सत्तावन। उसने सोचा वह पूरे छह बजे तक इंतज़ार करके उठ जाएगा। लेकिन

तीन मिनट और रुके रहने की मजबूरी भी किसलिए थी? तीस मिनट का इंतज़ार सत्ताईस मिनट के इंतज़ार से ज़्यादा मुकम्मिल क्योंकर था?

उसने वेटर को बुलाकर बिल अदा कर दिया। फिर भी तब तक वहाँ से नहीं उठा जब तक सामने मिनट की सूई ठीक बारह पर नहीं पहुँच गई। बाहर बारिश हो रही है और वह सीधा निकलकर सड़क पर नहीं जा सकता, इसका ध्यान उसे बरामदे में पहुँच जाने के बाद आया।

बारिश की वजह से बरामदे में बहुत-से लोग जमा थे। रोज़ बम्बई की सड़कों पर नज़र आनेवाले वही ख़ास तरह के चेहरे। बाहर आने से पहले जो हल्की-सी आशा मन में थी, उन सबसे कुछ अधिक परिचित या अधिक अपरिचित एक चेहरे को वहाँ देखने की, वह दरवाज़ा लाँघने के साथ ही समाप्त हो गई थी। हवा की नमी और भीड़ की गरमी एकसाथ महसूस करता वह बरामदे के सिरे पर आ गया। आसपास प्रायः सभी लोगों की नज़रें घड़ियों और बरसती बूँदों के बीच एक-एक मिनट का हिसाब कर रही थीं। उसने एक बार दोनों तरफ़ के फुटपाथों पर दूर तक देख लिया। कितना अच्छा होता अगर पी. एन. पन्त उसे इस वक़्त कहीं नज़र आ जाता! उस आदमी की एक विशेष उपयोगिता थी जिसका उसे स्वयं पता नहीं था। उसके चेहरे की मुरदनी, आँखों की कड़ुआहट और पूरे व्यक्तित्व की पस्ती के सामने दूसरा ख़ामख़ाह अपने को बेहतर महसूस करने लगता था। कुछ विशेष मनःस्थितियों में पी. एन. पन्त का साथ वह चाहकर ढूँढ़ता था। शहर की टंकी से फ्लश होकर वह आदमी नाली के रास्ते लगातार नीचे को बहा जा रहा था, लेकिन यह ज़िद उसमें ज्यों-की-त्यों थी कि कोई-न-कोई तरीका ज़रूर होना चाहिए जिससे फिर से उसी नाली के रास्ते ऊपर को जाया जा सके। उसकी यह ज़िद ही कभी-कभी उसमें एक आकर्षण भर देती थी—शायद उसके अपने से बहुत अलग होने के कारण, या बहुत अलग न होने के कारण।

फुटपाथ लगभग ख़ाली थे, हालाँकि पानी से चमचमाती सड़क ट्रैफ़िक से बुरी तरह घिरी थी। कई-कई रंगों की गाड़ियाँ उसके अन्दर और बाहर दोनों तरफ़ चलती नज़र आ रही थीं। सिंगल-डेकर डबल-डेकर लग रही थीं, डबल-डेकर दोहरी डबल-डेकर। चौराहे की बत्ती लाल रहने पर सड़क के अन्दर रंगीन ढाँचों का कार्निवाल उमगने लगता जो बत्ती हरी होते ही एक झटके से छितरा जाता। बूँदों के फैलाव में वह सारा दृश्य जैसे एक पारदर्शक ढकने से ढका था—अपनी सारी हलचल के साथ उसमें क़ैद।

छह पाँच। छह दस। छह पंद्रह। आखिर उसके लिए असम्भव हो गया। एक इंतज़ार से निकल आने के बाद अब अनगिनत मिनट वह इस दूसरे इंतज़ार में खड़ा नहीं रह सकता था। जैसे अब जितना भी समय बीत रहा था, वह श्यामा के न आने के सामने उत्तरोत्तर हीन हो रहा था। वह बरामदे से एक सीढ़ी नीचे उतर आया और कुछ देर वहाँ रुका रहा। ऊपर से टपकती और ज़मीन से टकराकर उड़ती बूँदें उसे

भिगोती रहीं। फिर सहसा, जैसे अन्दर से हरा सिग्नल मिल जाने से, वह अहाता पार करके फ़ुटपाथ पर पहुँच गया। पर उतना चलने में ही सिर इस तरह भीग गया कि सामने खड़ी एक टैक्सी का दरवाज़ा खोलकर वह सीधा उसमें दाखिल हो गया।

टी सेंटर से चर्चगेट, कुछ गिने हुए क़दमों का रास्ता था जिसके लिए उसने टैक्सी ले ली थी। स्टेशन के बाहर उस आदमी को पैसे देते हुए उसने गौर से उसके चेहरे को देख लिया। पर उस आदमी को ज़रा भी हैरानी नहीं हुई थी। पैसे ज़ेब में डालकर उसने मीटर ऊपर उठाया और किसी और के इशारा करने पर फिर नीचे गिरा दिया। जैसेकि उसका दिमाग़ सिवाय टैक्सी-मीटर के कुछ हो ही नहीं। हिंदसों के हिसाब को छोड़कर और हर चीज़ से बेलाग।

गीले फ़ुटपाथ पर जमा-जमाकर पाँव रखता कुमार स्टेशन के अहाते में आ गया। सामने फ़ास्ट गाड़ी के संकेत चमकते देखकर और सब विचार पीछे चले गए। ज़ेब में पास को छूकर वह गाड़ी की तरफ़ दौड़ने लगा। उसे कहीं लग रहा था कि चाहे जितना तेज़ दौड़ ले, वह गाड़ी उसे नहीं मिलेगी। इसलिए उसे निराशा हुई जब उसके ठीक से बैठ जाने के बाद भी गाड़ी कुछ देर नहीं हिली।

गाड़ी में ज़्यादा लोग नहीं थे। बारिश के बावजूद। या शायद बारिश की वजह से। उसे अच्छा लगता अगर ठसाठस भीड़ में खड़े होकर उस समय उसे सफ़र करना पड़ता। धक्के खाते खड़े रहने का संघर्ष ही उतनी देर के लिए मन को उलझाए रखता। मगर अब आराम से खिड़की के पास बैठे हुए उसे अपना-आप भी गाड़ी की तरह ख़ाली लग रहा था। जैसे सिर्फ़ एक ही विचार था उसके अन्दर जो उस खालीपन में पसरकर उसके साथ सफ़र करने जा रहा था...आज श्यामा का फ़ोन आने के बाद उससे मिलने की बात को उसने इतना महत्त्व क्यों दिया? और अब, पौन घंटा इंतज़ार करके चल देने के बाद भी, उसके न आने की बात को इतना महत्त्व क्यों दे रहा था?

मैरीन लाइन्ज़ स्टेशन पर काफ़ी लोग डब्बे में आ गए जिससे आसपास की सभी सीटें रुक गईं। भीगी बरसाती पहने एक लड़की उसके पास की दस इंच ख़ाली जगह में घुसड़ आई। सारी भीड़ में वह अकेली ही थी जो घर से ख़राब मौसम के लिए तैयार होकर निकली थी। हरी बरसाती से फिसलती हुई पारे जैसी बूँदें धीरे-धीरे नीचे की तरफ़ रास्ता बना रही थीं। बीच में कोई बूँद समुद्र के पास पहुँची नदी की तरह रफ़्तार पकड़कर उसकी पतलून पर आ गिरती। लड़की उससे बहुत सटकर बैठी थी, फिर भी उसका स्पर्श उसे स्त्री-शरीर का स्पर्श न लगकर सिर्फ़ गीले रबड़ का स्पर्श लग रहा था। लड़की इस ओर से बिलकुल उदासीन थी कि उसके कारण साथ बैठे लोगों को क्या असुविधा हो रही है। उसने बरसाती के अन्दर से एक किताब निकाल ली थी और उसे रबड़ के उभार का सहारा देकर पढ़ने में लीन हो गई थी।

गाड़ी के फिर से रफ़्तार पकड़ने तक कुमार खिड़की से बाहर देखने लगा और कुछ ही क्षणों में रबड़ की बरसाती और उससे टपकती बूँदों की बात भूल गया। सामने आकाश में छितराए बादल थे जो धीरे-धीरे अपने ही अँधेरे में गुम होते जा रहे थे। बादलों को काटते बिजली के तार थे और उन्हें काटती खिड़की की सलाखें। समुद्र पीछे छूट गया। आसमान में उठे होर्डिंग्ज़ की लम्बी क़तार भी पीछे रह गई। बीच-बीच में यहाँ-वहाँ कुछ इमारतें उभर आतीं—पानी की मार से धुँधली पड़ी तसवीरों जैसी। किसी क्षण बिजली की चमक से आकाश में थोड़ी जान आती, फिर वातावरण उसी तरह निर्जीव हो रहता। बारिश अब भी रुकी नहीं थी। हल्की-हल्की बूँदें पड़ रही थीं। पर कुछ देर पहले जिस ज़ोम से पानी उतरा था, उसका उनसे आभास भी नहीं होता था।

एक सलाख पर कुहनी का वज़न दिए वह बाहर देखता रहा। जैसे कि कुछ हो जिसे चमकती पटरियों और तेज़ गुज़रती गाड़ियों के बीच से उसे खोज लेना हो। ऐसा कुछ जिसे कई बार समझना चाहकर, समझने के नज़दीक पहुँचकर भी वह आज तक समझ नहीं पाया था और अब पटरियों, तारों और सलाखों की एक-दूसरी को काटती लकीरों के अन्दर से फिर एक बार समझने की कोशिश कर लेना चाहता था। वह कुछ वहीं कहीं था। उदास शाम और झिलमिल बूँदों में घुला-मिला। लोहे की ठंडक और वातावरण की गन्ध में रचा-बसा। उसके अपने अन्दर भी वह था और उस हवा में भी जो ठंडे फाहों से आँखों को छू रही थी। बिजली के तारों के उस तरफ़, बादलों की ओट में, न जाने कितना कुछ डूबा था—कितनी ऐसी शामें जिनमें उसने अपने को इसी तरह अस्थिर पाया था; हवा के अन्दर से किसी चीज़ को पकड़ लेने, समझ लेने की कोशिश में बेचैन। पर वह कोशिश आख़िर सिर्फ़ कोशिश रह जाती थी; एक गहरी उदासी और थकन तक ले जानेवाली कोशिश।

उस छोटे-से कस्बाती शहर में शामें बहुत लम्बी होती थीं। शायद इसलिए भी कि कॉलेज में आखिरी पीरियड पढ़ा चुकने के बाद दोपहर से ही शाम शुरू हो जाती थी। ज़िंदगी इतनी एकतार थी कि किसी नए व्यक्ति से परिचय होना भी एक घटना की तरह लगता था।

उनके एक दोस्त के यहाँ पार्टी थी। अक्सर मिलनेवाले वही पंद्रह-बीस लोग थे जिन्हें उसने खाने पर बुला रखा था। एक और दोस्त सुभाष की नई-नई शादी हुई थी, उस खुशी में। यूँ बिना अवसर के भी वे लोग दो-तीन सप्ताह में एक बार किसी-न-किसी के यहाँ चाय या खाने पर मिल लिया करते थे। लम्बी शामों की ऊब से मन पर जो काई जम जाती थी, उसे छितराने में इससे थोड़ी सहायता मिलती थी। तीन-चार घंटे साथ रहकर वे लोग ताश खेलते। एक-दूसरे की पत्नी से कल्पित प्रेम-सम्बन्ध की घोषणा करके ठहाके लगाते। कभी दो-चार रुपए की हार-जीत पर आपस में झगड़ भी लेते। फिर खाना खाने और सुर-बेसुर में गाए ग़ज़लों-गीतों पर वाह-वाह करने के बाद अपने-अपने घर लौट जाते।

उस दिन की पार्टी में वह ज़रा देर से पहुँचा था। उसे देखते ही कई लोग एकसाथ उससे कुछ-न-कुछ कहने लगे थे। परिचित चेहरों के जमघट में दो चेहरे उसके लिए नए थे। सुभाष की पत्नी कमल और सत्ताईस-अट्ठाईस साल की एक युवती जो टमाटर-जूस का गिलास हाथ में लिए अजनबी-सी एक तरफ़ बैठी थी। एकसाथ उठती बहुत-सी आवाज़ों के शोर में उस युवती ने हल्के-से आँखें उठाकर एक बार उसे देखा, फिर इस तरह गिलास को होंठों से छू लिया जैसे शोर के कारण उसे काफ़ी निराशा हुई हो। पर इससे पहले कि वह बैठ पाता, शिवालिक कॉलेज के प्रोफ़ेसर मलहोत्रा उसका हाथ पंजे में कसे उसे उस युवती के पास ले गए। 'लो मिल लो इससे। यही आदमी है जिससे तुम्हें मिलाने लाया हूँ। प्रोफ़ेसर कुमार, अध्यक्ष दर्शन विभाग, नित्यानंद कॉलेज। सुनने में लगता है कोई अच्छा-खासा बुजुर्ग आदमी होगा। लेकिन सिफ़ारिश का ज़माना है, देख लो कैसे-कैसे लोग हेड ऑफ़ द डिपार्टमेंट लगा दिए जाते हैं। तुम्हारी बदकिस्मती है कि तुम्हें किसी तजुरबेकार आदमी से पढ़ने का मौका नहीं मिलेगा। इस देहाती विद्वान् से ही काम चलाना पड़ेगा।' और अपनी बलग़मी हँसी हँसते हुए उन्होंने दूसरी तरफ़ से परिचय दिया था, 'मेरी छोटी साली, श्यामा। मंडी के एक हाई स्कूल में हेड मिस्ट्रेस है। फ़िलासफ़ी में एम.ए. करना चाहती है मगर

नौकरी छोड़ नहीं सकती, इसलिए कॉलेज में एडमिशन लेकर पढ़ना इसके लिए सम्भव नहीं है। मेरे कहने से कुछ दिनों की छुट्टी लेकर चली आई है। तुमसे अगर थोड़ी-बहुत गाइडेंस मिल जाएगी, तो इस साल फ़ार्म भर देगी। अपना नाम रखने के लिए जो थोड़ा-बहुत आता हो, इसे बता देना। जो न आता हो, गोल कर देना।' और अपनी तरफ़ से उस विषय में निश्चिंत होकर वे अपने कॉलेज की मिस रोहतगी के पास चले गए और आनेवाले सीनेट के इलेक्शन की बात करने लगे।

वही सब बातें हुई थीं जो हर बार इस तरह की पार्टियों में हुआ करती थीं। उसी तरह शब्दों पर शब्दों के पत्ते चलकर ठहाके लगाए जाते रहे थे। उनके बीच नई होते हुए भी कमल नयों की तरह व्यवहार नहीं कर रही थी। पर श्यामा बीच-बीच में मुसकराने की चेष्टा करने पर भी पार्टी का हिस्सा नहीं बन पाई थी। उसे देखकर लगता था वह बड़ी मुश्किल से वहाँ समय बिता रही है। खाने के समय उसका सोच-सोचकर एक-एक कौर निगलना और इस तरह प्लेट को नीचे रखना—जैसेकि एक छोटे-से बच्चे को गोद से उतार रही हो—औरों को कैसा लग रहा था पता नहीं, पर उसे ज़रूर इससे चिढ़-सी हो रही थी। खाना हो चुकने पर गाने का दौर शुरू हुआ, तो कमल से एक बार से ज़्यादा कहने की ज़रूरत नहीं पड़ी। पर श्यामा का चेहरा, उसके नाम का प्रस्ताव होते ही, एकाएक सुर्ख़ हो उठा। 'जीजाजी जानते हैं, मुझे गाना-वाना बिलकुल नहीं आता। आता, तो मैं ज़रूर सुना देती।' वह एक उमड़ता हुआ भाव था जिससे उसका चेहरा और और सुर्ख़ पड़ता गया। लेकिन इस बार उसे उससे चिढ़ नहीं हुई। मिस रोहतगी को तो उससे इतनी सहानुभूति हो आई कि उसने झट से गाने के लिए स्वयं अपने नाम का प्रस्ताव कर दिया और बिना किसी के समर्थन की प्रतीक्षा किए एक गीत गाने लगी।

पार्टी समाप्त होने तक हमेशा की तरह रात के बारह बज गए थे। उन कुछ घंटों में किसी से भी श्यामा ने अपनी तरफ़ से बात की हो, ऐसा उसे नहीं लगा। जिस किसी ने भी उससे कुछ पूछा, उसे उसने एक दूरी के साथ जवाब दे दिया। या उससे भी कम में, केवल मुसकराकर बात को निकल जाने दिया। उससे तो परिचय होने के बाद उसने आँख भी नहीं मिलाई। खाने की मेज़ के पास भीड़ में सामने पड़ जाने पर भी हल्के-से 'एक्स्क्यूज़ मी' ही कहा। जिस बेगानगी के साथ सारा समय अन्दर बैठी रही थी, उसी के साथ बाहर आने पर सबको हाथ जोड़कर अलग-थलग सड़क पर चलने लगी। अपनी पढ़ाई के बारे में न तो उसने ही फिर जिक्र उठाया, न प्रोफ़ेसर मलहोत्रा ने ही। प्रोफ़ेसर मलहोत्रा तो सड़क पर आकर भी यूनिवर्सिटी की राजनीति में ही उलझे थे। जहाँ से उन लोगों के रास्ते अलग होते थे, वहाँ आकर ज़रूर श्यामा ने हल्के-से उसकी तरफ़ सिर हिला दिया। मगर अकेले अपने घर की सड़क पर चलते हुए लगा उसे यही कि उस दिन की मुलाक़ात ही उन लोगों की पहली और आखिरी मुलाक़ात थी।

लेकिन अगले दिन शाम को घर आने पर श्यामा वहाँ उसे पहले से बैठी मिली। पर उसकी उस समय की गम्भीरता पिछली रात की गम्भीरता की तरह नहीं थी। एक अपरिचित घर में होने पर भी वह कल की तरह संकुचित नहीं थी। उसे देखकर जिस मुसकराहट के साथ वह खड़ी हुई, उसमें भी कल की-सी उदासीनता और दूरी नहीं थी। 'देर हो गई आपको आए?' इस सवाल का जवाब एक शब्द में न देकर कई वाक्यों में दिया उसने। बताया कि वह पंद्रह-बीस मिनट पहले आ गई थी, तब उसका नौकर घर पर ही था, वह उससे बैठने को कहकर बाज़ार गया है और कि वह इस बीच घूमकर उसका पूरा घर देख चुकी है। 'देर तक एक जगह बैठे रहना मुश्किल हो जाता है मेरे लिए। यह किताब मैं आपके पढ़ने के कमरे से उठा लाई थी। सोच रही थी एकाध दिन के लिए आपसे माँगकर ले जाऊँगी। पर जिल्द के अन्दर नाम तो किसी और का ही लिखा है।'

'किताबें हम सब लोग उधार लेकर पढ़ते हैं,' वह बोला। 'मैं किसी से लेकर आया हूँ, आप मुझसे ले जाइए। पर देर तक एक जगह बैठना मुश्किल है आपके लिए, ऐसा कल मुझे नहीं लगा था।'

श्यामा का चेहरा फिर सुर्ख़ होने लगा। एक साँवले चेहरे को उस तरह सुर्ख़ होते उसने बहुत कम देखा था। 'कल की बात दूसरी थी,' वह अपने को स्वाभाविक रखने की चेष्टा करती बोली। 'मैं एक-एक अपरिचित व्यक्ति से तो ठीक से मिल लेती हूँ, लेकिन एकसाथ इतने अपरिचित लोगों के बीच अपने को नहीं खपा पाती। आप इसे काम्प्लेक्स समझ लीजिए या जो कुछ भी। शुरू से ही मेरे साथ ऐसा है और अपने से बहुत लड़कर भी मैं अपने को बदल नहीं पाई। इसीलिए कल की पार्टी में मैं आना भी नहीं चाहती थी, पर जीजाजी को तो आप जानते ही हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि जो बात उन्हें सही लगती है, वह दूसरे को भी सही लगनी चाहिए।'

इस तरह शायद श्यामा ने अपने को प्रोफ़ेसर मलहोत्रा से अलगा लेने की कोशिश की थी। प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के सम्बन्ध में जो धारणा और सब लोगों की थी, वही शायद श्यामा की भी थी।

'आपके आने से पहले प्रोफ़ेसर मलहोत्रा ने आपका ज़िक्र नहीं किया,' वह बोला, 'यह हैरानी की बात लगती है क्योंकि जिस तरह बातें करने की उनकी आदत है...'

'मुझे यह हैरानी की बात नहीं लगती,' श्यामा के होंठों पर दबी-सी मुसकराहट उभर आई। 'बात करने पर उन्हें सभी तरह की बात करनी पड़ती जोकि अब उन्होंने मेरे ऊपर छोड़ दी है। उन्हें लगता होगा कि मेरे सीधे बात करने से शायद...,' और वह बिना बात पूरी किए हँस दी। हँसते हुए उसकी लिपस्टिक का रंग उसके निचले दाँतों तक फैला नज़र आया। या तो उसे लिपस्टिक लगानी आती नहीं थी, या वह

आते हुए बहुत जल्दी में लगाकर आई थी। रंग भी उसने ऐसा चुना था कि होंठों से बिलकुल अलग ही नज़र आता था। हँस चुकने के बाद बोली, 'देखिए, मैं कल से रोज़ शाम को कुछ वक़्त आपसे चाहती हूँ। छह सप्ताह की मेरी छुट्टी है। आप अपनी फीस बता दीजिए।'

'आप रोज़ शाम को पाँच बजे आ जाइए। फ़ीस की बात मैं प्रोफ़ेसर मलहोत्रा से ही तय करूँगा।'

'उनसे क्यों?'

'क्योंकि मैं नहीं चाहता कि सब चीज़ें उसी तरह हों जिस तरह उन्होंने सोच रखा है। पर आप इसका यह मतलब भी न लें कि आपके ऊपर कोई भारी बोझ पड़ जाएगा इस तरह। ट्यूशन के तौर पर ट्यूशन मैं करता भी नहीं। यह बात प्रोफ़ेसर मलहोत्रा अच्छी तरह जानते हैं।'

'तब तो...।'

'तब तो क्या?'

वह चुपचाप सीधी नज़र से उसे देखती रही।

'आप कुछ कह रही थीं।'

'मैं कह रही थी कि...शायद मैंने ग़लती की है इस तरह फ्रैंकली बात करके।'

'क्यों?'

'क्योंकि आप...कुछ दूसरी तरह से सीरियस हो गए हैं। मैं तो सोचती थी कि आप जीजाजी को मुझसे ज़्यादा जानते होंगे, इसलिए...।'

'मैं जानता हूँ उन्हें, इसीलिए कह रहा हूँ कि यह बात आप हम दोनों के बीच रहने दीजिए। फिर भी अगर जाते वक़्त आपको लगे कि बात उस तरह से नहीं हुई जिस तरह कि होनी चाहिए थी, तो आप अपनी तरफ़ से जैसा चाहें कर लीजिएगा।'

वह फिर भी कुछ देर आँखों से उसे तौलती रही। 'आप काफ़ी ज़िद्दी आदमी हैं न?'

'पर ज़िद की कौन-सी बात की है मैंने?'

'यह ज़िद की बात नहीं है? कोई और आदमी होता, तो मैं समझती कि यह सिर्फ़ इन्कार करने का एक ढंग है। पर जीजाजी से जितना कुछ सुन चुकी हूँ आपके बारे मे...।'

'वह तो कोई प्रमाण नहीं है। वे अगर मुझसे प्रशंसा करते हैं किसी की, तो मुझ पर हमेशा उसका उलटा असर होता है।'

श्यामा ने हार मानने की उसाँस के साथ सिर हिला दिया। 'बातों से की जानेवाली उखाड़-पछाड़ को आप लोग कितना महत्त्व देते हैं, यह मैं कल की पार्टी में जान चुकी हूँ। मुझे इसमें आपकी बराबरी नहीं करनी है। पर मैं आपका पिंड छोड़ने की भी नहीं। कल से मैं ठीक पाँच बजे आ जाया करूँगी।'

शुरू के तीन-चार दिन वह आने की तरह आई थी, ठीक से तैयार होकर। उसने पढ़ाने की तरह पढ़ाया था, नोट्स सामने रखकर। समय की बंदिश भी बनी रही थी, पाँच से छह। मगर चौथे-पाँचवें दिन से ही वह बंदिश ढीली पड़ने लगी थी। छह की जगह साढ़े छह और साढ़े छह की जगह सात। श्यामा बिना बाल बाँधे दिन की पहनी साड़ी में ही आ जाती थी। 'पता नहीं क्यों मुझे ग़लत लगता है हर वक़्त नए सिरे से तैयार होना। शायद एक मास्टरनी की अकेली ज़िंदगी बिताने से ऐसी आदत हो गई है। वहाँ स्कूल के अहाते में क्वार्टर है, इसलिए ज़रूरत ही नहीं पड़ती इस सबकी। सुबह एक बार जिस तरह निकले, रात तक उसी तरह बने रहे। यहाँ आकर कुछ दिन जीजाजी की बात मानकर चलती रही हूँ। उन्हें बहुत ध्यान रहता है इसका कि कहाँ किस तरह जाना चाहिए, किस पर किस तरह का प्रभाव डालना चाहिए। पर अब मैंने उनसे कह दिया है कि मुझसे यह सब नहीं चलेगा। मैं जो हूँ वह हूँ, उसके सिवा और कुछ कैसे हो सकती हूँ? उन्हें तो इस बात से भी एतराज़ है कि आपको मैंने अपने विधवा होने की बात क्यों बता दी—आप क्या सोचते होंगे कि यह विधवा होकर बिंदी-लिपस्टिक लगाती है?'

वह उसे बता चुकी थी कि शादी के दो साल बाद ही टाइफ़ाइड से उसके पति की मृत्यु हो गई थी। एक बच्ची के अतिरिक्त अपनी सास और ननद की भी बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी उसके सिर पर आ पड़ी थी। बी. ए. उसने ब्याह से पहले किया था, बी. टी. पति की मृत्यु के बाद। मंडी में हाई स्कूल की नौकरी करते उसे दो साल हो चुके थे। मगर वहाँ से उसका मन ऊब रहा था, इसलिए एम. ए. करके वह किसी कॉलेज में लेक्चररशिप के लिए कोशिश करना चाहती थी। 'लेकिन डर भी लगता है मुझे कि कॉलेज की नौकरी मैं अब कर भी पाऊँगी या नहीं। कितनी अजीब बात है कि जिन चीज़ों से आदमी का मन ऊबता है, उन्हीं की उसे इतनी आदत भी हो जाती है कि उनसे वह अपने को छुड़ा नहीं पाता। यहाँ आने के बाद से हर रोज़ मेरा मन अपने क्वार्टर में वापस जाने के लिए तड़पता है। अगर पढ़ाई की लगाम न होती, तो शायद अब तक चली भी जाती।'

कुछ भी बात करते हुए श्यामा बहुत ध्यान से उसके चेहरे की प्रतिक्रियाओं को देखती थी। आँखें उसकी जैसे होनेवाली प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में पहले से ही आशंकित हो जाती थीं। उसके मन से उठता हर भाव उसकी आँखों में लहरा जाता था—आँखों के अतिरिक्त उसकी पतली नाक और दुबले चेहरे की अंडाकार गोलाई पर भी। उसकी आँखों से जो आत्म-विश्वास की कमी झलकती थी, उसकी काफ़ी क्षति-पूर्ति उसके होंठों से हो जाती थी। होंठ चेहरे की तुलना में काफ़ी लाल और भरे हुए थे, और बिना लिपस्टिक के अधिक आकर्षक जान पड़ते थे।

शापेनहावर का मृत्युबोध या स्पेंसर की नैतिकता-सम्बन्धी धारणाएँ—श्यामा के लिए जैसे दुनियाभर के दार्शनिकों ने उसी की ज़िन्दगी को सामने रखकर अपने सारे

निष्कर्ष निकाले और सिद्धान्त रचे थे। वह जो कुछ भी पढ़ती-सोचती थी, वह जैसे अपनी ही किसी समस्या को सुलझाने के लिए। उसके सामने किसी चीज़ की व्याख्या करते हुए कई बार अचानक वह बीच में रुक जाता था। श्यामा आँखें मूँदकर उसकी बात सुनती हुई उस बात से आगे कहीं और पहुँच चुकी होती थी। कुछ क्षण ख़ामोशी में बीतने से जैसे उसके अन्दर की लय टूट जाती थी और वह आँखें झपकती हुई अपने को सचेत कर लेती थी। 'कुछ समझ में नहीं आता। और जो कुछ समझ में आता है, उससे दिमाग़ और गुंझल में फँस जाता है।'

श्यामा जब देर तक सीधे उसकी आँखों में देखती रहती थी, तो उसके अपने विचारों का तार भी टूटने लगता था। वह श्यामा की आँखों में उसकी उलझन के अतिरिक्त और भी कुछ ढूँढ़ने लगता था। उसे लगता था कि पढ़ना श्यामा के लिए केवल एक बहाना है, एक ओढ़ा हुआ लबादा जिसके अन्दर से उसका अपना-आप बाहर आने के लिए छटपटाता रहता है। कोई चीज़ है जिसे स्वीकार करने की सीमा पर पहुँचकर भी उसे वह बिन्दु नहीं मिल पाता जहाँ उसे स्वीकार किया जा सके। इसलिए वह जब भी देखती है, उसकी नज़र में एक तोलने-परखने का-सा भाव रहता है—यह जानने का कि सामने बैठा व्यक्ति कहाँ तक इस बात का अधिकारी है कि उसके सामने अपने-आपको खोलकर रखा जा सके; और इस सम्बन्ध में उसका निर्णय हर कुछ क्षणों में बदलता रहता है।

कभी श्यामा उसे केवल एक मानसिक इकाई की तरह लगती थी, एक स्त्रीत्वहीन स्त्री, जिसे अपने अन्दर के कुछ प्रश्नों का हल ढूँढ़ना था। बस इतना ही लगाव था उसे अपने से बाहर की किसी भी और इकाई से। उसकी आँखों की तटस्थता और चेहरे की उदासीनता उसे लकड़ी काटकर बनाई गई आकृतियों का-सा रूप दिए रहती थीं। पर किन्हीं दूसरे क्षणों में अपने होंठों पर ज़बान फेरती हुई वह एकाएक एक युवा स्त्री के रूप में सजीव हो उठती थी। तब लगता था कि वह और कुछ न होकर केवल एक हिलता साँस लेता शरीर है, उससे तीन फुट के फ़ासले पर, जोकि अपनी हर चेष्टा से उसका ध्यान अपने अकेलेपन की तरफ़ खींचना चाहता है।

श्यामा हर चीज़ का सम्बन्ध किसी-न-किसी तरह अपने जीवन के किसी-न-किसी प्रसंग से जोड़ लेती थी जिससे उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में कुछ-न-कुछ जानकारी हर रोज़ हासिल होती रहती थी। उसका बचपन मध्य प्रदेश के जंगली इलाके में बीता था, लगभग आदिवासियों के बीच, क्योंकि उसके पिता वहाँ जंगल विभाग में कर्मचारी थे। नौ-दस साल की उम्र तक वह काफ़ी अकेली रहती थी। तीन साल की थी जब माँ गुजर गई थी, उसके बाद घर पर कोई देखभाल करनेवाला नहीं था। सगा बहन-भाई कोई नहीं था, प्रोफ़ेसर मलहोत्रा की पत्नी उसकी मौसेरी बहन थी। उन लोगों के यहाँ वह पहली बार रहने आई थी, पर कोई

चीज़ थी जिसके कारण वह वहाँ रहकर खुश नहीं थी। 'पहले दो दिन तो दीदी बहुत बातें करती रही थीं मुझसे। पर अब तो सिवा खाने-पीने की बात के और कोई बात होती ही नहीं उनसे। उन दोनों का आपसी बरताव भी ऐसा है जैसे मिलकर अपने बच्चों के लिए एक होस्टल चला रहे हों वे। उस दिन पार्टी में साथ आने से दीदी ने यह कहकर मना कर दिया था कि उनकी तबीयत ठीक नहीं है, पर बाद में मुझे पता चला है कि वे कहीं भी उनके साथ नहीं जातीं। पता नहीं वे खुद नहीं जाना चाहतीं, या जीजाजी नहीं ले जाना चाहते। इस बारे में इतनी अंडरस्टैंडिंग है दोनों में कि कभी इस चीज़ को लेकर वे आपस में बात ही नहीं करते। जीजाजी को जब कहीं जाना होता है, तो वे उनके कपड़े निकाल देती हैं और अपने काम में लगी रहती हैं। कभी-कभी मुझे शक होता है कि कहीं मुझे लेकर तो कोई बात नहीं है। जीजाजी रोज़ रात को खाना खाने के बाद एक-डेढ़ घंटा मुझसे बात करते हैं। ज़्यादातर यही पूछते हैं कि आज क्या-क्या पढ़ा है, लाइब्रेरी से कौन-सी किताबें निकलवाई हैं, कोई आर्टिकल लिखा है या नहीं। पर दीदी अगर उस वक़्त पास बैठी हों, तो भी उठकर चली जाती हैं। मुझे लगता है कि कोई चीज़ है जो उन्हें पसन्द नहीं है, पर उसका जिक्र वे ज़बान पर नहीं लाना चाहतीं। वैसे जीजाजी के बात करने के ढंग में कुछ है जो मुझे भी कहीं अखरता है...ख़ासतौर से जब वे कुरेद-कुरेदकर पूछने लगते हैं कि मंडी में मेरी जान-पहचान के दायरे में कौन-कौन लोग हैं; वहाँ मैं अपनी शामें किस तरह बिताती हूँ; मेरी छुट्टी का दिन किस तरह कटता है। या जब वे अपने बारे में बात करने लगते हैं कि यहाँ इतने परिचितों के होते हुए भी वे अपने को कितने अकेले महसूस करते हैं; जितने लोगों को वे जानते हैं, उनमें से हर एक की अन्दर की ज़िन्दगी कितनी खोखली है; वे अगर अपनी शामें घर पर ठीक से बिता सकें, तो कभी किसी के यहाँ जाना पसन्द न करें। उनकी बातचीत में कहीं एक इशारा दीदी की तरफ़ होता है और दूसरा इस तरफ़ कि मैं आपसे पढ़ने आती हूँ, तो मुझे थोड़ा सावधान रहकर आना चाहिए क्योंकि पिछले दिनों आपको लेकर खासा स्कैंडल उठ खड़ा हुआ था एक। आप पढ़ाते अच्छा हैं, लेकिन...', और वह हँस दी थी। 'उन्हें शायद आपसे ईर्ष्या है कि मैंने ऐसा विषय क्यों चुना है जो आप पढ़ा सकते हैं, वे नहीं पढ़ा सकते। वे आपके बारे में पता नहीं कितनी बातें बता चुके हैं मुझे। कि आपके कॉलेज में थी कोई...लता नाम बताया था शायद...आप ही के विभाग में पढ़ाती थी। पहले आपसे पढ़ती थी, बाद में आपने उसे अपने विभाग में ले लिया था। अफ़वाह थी कि हर दोपहर को वह कॉलेज से आपके यहाँ आ जाती है और शाम होने पर घर जाती है। इससे उसके घर के लोगों ने उसकी नौकरी छुड़वा दी थी। बाद में सुना जाने लगा था कि आप भी नौकरी छोड़कर उसके साथ कहीं निकल जानेवाले हैं, पर फिर पता नहीं

क्या हुआ कि बात जहाँ-की तहाँ रह गई और उसकी किसी दूसरी जगह शादी हो गई। ठीक बात है यह?'

'हाँ, ठीक ही है एक तरह से,' उसने जिस स्वर में कहा था उससे श्यामा पर स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि वह उस विषय में और बात नहीं करना चाहता। लेकिन अपनी बात की धुन में श्यामा का इस तरफ़ ध्यान नहीं गया था; या शायद जान-बूझकर उसने ध्यान नहीं दिया था।

'एक तरह से मतलब?'

'मतलब कोई भी बात उतनी सीधी-सपाट नहीं होती जितने सपाट ढंग से वह कह दी जाती है।'

'इसीलिए तो मैं आपसे जानना चाहती हूँ। आप सचमुच उसे बहुत चाहते थे?'

उसे पहली बार श्यामा पर गुस्सा आया था। वह क्यों नहीं समझ पा रही थी कि कुछ बातें आदमी के लिए इतनी निजी होती हैं कि वह किसी दूसरे से उन्हें नहीं बाँट सकता, बल्कि अपने-आपके उस दुखते अंश को वह खोलकर अपने सामने भी नहीं ला सकता। दो साल पहले जो कुछ हुआ था, उसका बेहतर पक्ष इतना ही था कि वह अब बीत चुका था। वह क्यों मजबूर होकर उस बीते अक्स को आज के चौखटे में देखने की कोशिश करे?

उसके ख़ामोश रहने को श्यामा ने सोचने के अर्थ में लिया था। 'यह भी सोचकर बताने की बात है क्या?'

'समय इतना बीत चुका है कि बिना सोचे हाँ या न कह देना भी आसान नहीं,' वह अपनी खीझ पर किसी तरह काबू पाकर बोला था। 'आज इतना ही कह सकता हूँ कि हर आदमी की ज़िंदगी में एकाध अवसर ऐसा आता है जब वह किसी-न-किसी के प्रति विशेष आकर्षण अनुभव करने लगता है और अपने जाने उसे वह आकर्षण असाधारण भी लगता है। कुछ ऐसी ही बात थी उसे लेकर मेरे साथ भी।'

'कैसी थी वह देखने में? बहुत सुन्दर थी?'

अपनी खीझ में भी उसका मन हँसने को हुआ था। एक मुकाम पर सब स्त्रियाँ एक-सी हो जाती थीं।

'वैसी ही थी जैसी बाईस-तेईस की कोई भी लड़की होती है।'

'कोई भी दो लड़कियाँ एक-सी होती हैं क्या?'

'एक ज़माने में लगता है कि नहीं होतीं। पर धीरे-धीरे पता चल जाता है कि सभी नहीं तो कई-कई लड़कियाँ एक ही तरह की होती हैं। एक ख़ास तरह की लड़कियों में से वह भी थी।'

'फिर भी...औरों से अलग भी तो होगी वह किसी रूप में।'

'हाँ...अलग इस रूप में कि उससे मेरा निकट का परिचय था जोकि औरों से नहीं था।'

इतनी देर के बाद श्यामा उसके भाव के प्रति सचेत हुई थी। 'अच्छा, अब इस बारे में और बात नहीं करेंगे,' उसने जैसे अपने को झिड़ककर कहा था। 'वह हमें अपने बारे में बात करते सुने, तो कैसा लगे उसे सुनकर—थी, थी, थी। कितनी अपशगुन की बात है!'

और थोड़ी देर में कांट के व्यावहारिक दर्शन की व्याख्या में वह बात बिलकुल खो गई थी। लेकिन कुछ ही दिन बाद वह प्रसंग एक बार फिर उभर आया था...।

अकेले प्रोफ़ेसर मलहोत्रा की बात नहीं थी उस शहर के वातावरण में ही कुछ था जिससे चार साल वहाँ काट चुकने के बाद उसका मन लगातार वहाँ से उचाट होता जा रहा था। अपने अन्दर से वह बहुत दिन पहले उस शहर को छोड़ चुका था, अगर कोई चीज़ उसे रोके हुए थी तो वह थी अपने इरादे को प्रयत्न में बदलने से पहले की असुविधापूर्ण मनःस्थिति जिसमें जैसे अपने अस्तित्व को ही उसने एक अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर रखा था। उसका वहाँ रहना जैसे रहना न होकर कहीं और जाकर रहने से पहले का अन्तरालभर था, किसी दूसरी भूमिका में जीने से पहले का विराम। वह दूसरी भूमिका किसी बड़े शहर में जाकर शुरू होने को थी...कहाँ और किस तरह से, यह वह नहीं जानता था...क्योंकि कुछ दिन 'सिचुएशन्ज वेकेंट' का कॉलम पढ़ने के बाद उसने उतना-सा प्रयत्न करना भी छोड़ दिया था। एक और चीज़ भी थी जिसने पिछले दो साल वहाँ गुज़ारने में सहायता दी थी। लता वाला प्रकरण समाप्त हो जाने के बाद वह उसी तरह अपने आसपास की प्रतिक्रियाओं का साक्षी बना रहा था जैसे एक प्राणान्तक दुर्घटना में से गुज़रने के बाद कोई व्यक्ति स्वयं उसकी छानबीन में शामिल होने का अवसर पा जाए।

वह अपनी ज़िन्दगी में एक जगह आकर रुक गया था, तो सारा शहर ही उसे रुका हुआ लगता था। हर रोज़ साथ उठने-बैठनेवाले जितने लोग थे—बाली, जगधर, सुभाष, मिरज़ा, उमेश, हज़ारिया—वे सब उसे अपने आसपास के गतिरोध का हिस्सा, बल्कि उसका कारण जान पड़ते थे। बाली की हर एक से अतिरिक्त आत्मीयता अन्दर की उदासीनता का ही एक रूप थी...सामने रहने पर वह जितनी तत्परता से किसी की समस्याओं में दिलचस्पी लेता था, सामने से हट जाने पर उतनी ही आसानी से उसके विषय में भूल भी जाता था। सुभाष और हज़ारिया की एकमात्र आवश्यकता 'अच्छा समय' बिताने की थी...उनके लिए किसी की भी उपयोगिता इस बात में थी कि उससे उन्हें 'थोड़ी देर हँसने' में कितनी सहायता मिलती है। मिरज़ा की ज़िन्दगी से विरक्ति

उस सीमा तक पहुँच चुकी थी कि किसी तरह एक शाम और काट लेना ही उसके लिए अपने में एक उद्देश्य होता था, जब और कोई चारा नज़र नहीं आता था, तो वह सारी शाम क्लब में जाकर रमी खेलता, हारता और कुढ़ता रहता था। जगधर और उमेश बियर पीने के साथी थे—साथी इस अर्थ में कि उमेश को सामने बैठकर गाली सुन सकनेवाले एक व्यक्ति की आवश्यकता रहती थी जिसे जगधर अच्छी तरह पूरी कर देता था। जब दोनों में झगड़ा हो जाता था तो मध्यस्थता के लिए वे उसे बीच में ले आते थे। प्रोफ़ेसर मलहोत्रा और मिस रोहतगी उसके हाल के परिचितों में से थे...परिचय की भूमिका इतनी ही थी कि यूनिवर्सिटी से सम्बन्धित सब मामलों में वे उसकी गिनती एक वोट के रूप में करते थे। वे दोनों साथ होते थे, तो उनमें कोई मतभेद नहीं होता था, लेकिन अलग-अलग से मिलने पर उनके कुछ आधारभूत विरोध सामने आने लगते थे। मिस रोहतगी को प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के चौकन्नेपन से शिकायत थी, तो प्रोफ़ेसर मलहोत्रा को मिस रोहतगी की बुज़दिली से... इसके अतिरिक्त छोटेपन की शिकायत दोनों को एक-दूसरे से थी।

थोड़े दिनों में वहाँ से छोड़कर चले जाने की बात पहले वह बहुत कहा करता था। पर धीरे-धीरे बात मज़ाक का विषय बन गई थी, इसलिए उसने उसकी चर्चा करना छोड़ दिया था। सोचता था कि जाने से पहले वह अब अचानक ही सब लोगों के बीच इसकी घोषणा करेगा। पर वह दिन कब आएगा, और आएगा भी या नहीं, यह सोचकर उसे अपने से कुढ़न होती थी। श्यामा के आने के बाद से इतना अन्तर पड़ा था कि हर रोज़ उन्हीं लोगों के बीच शाम बिताने की पहले की-सी मजबूरी नहीं रही थी। श्यामा कई बार दो-दो, ढाई-ढाई घंटे उसके यहाँ रुकी रहती थी। इससे शाम और रात के बीच का वह नाजुक वक़्त, जो किसी भी तरह अकेले नहीं काटा जा सकता था, अपने-आप कट जाता था। वह जानता था कि श्यामा को लेकर भी उन लोगों के बीच चेहमेगोइयाँ होने लगी हैं। उसके दायरे के प्रायः सभी लोग एक-एक करके किसी-न-किसी दिन उस वक़्त उसके यहाँ दस्तक दे चुके थे जब श्यामा उसके पास आई होती थी। यह जैसे उन लोगों की आपसी साज़िश थी कि आज फ़लाँ व्यक्ति उसके यहाँ जाएगा और आज फ़लाँ। यहाँ तक कि मिस रोहतगी भी, जो कि कभी उसके यहाँ अकेली नहीं आई थी, एक बार चक्कर लगा चुकी थी। उन सबके आने, अन्दर झाँकने और मुसकराने की तरह मुँह से कहने का वाक्य भी निश्चित होता था : 'काम हो रहा है? सॉरी। डोंट बी डिस्टर्ब्ड।' श्यामा भी जानती थी कि वे लोग जान-बूझकर ऐसा करते हैं, पर उसे यह एक खेल की तरह लगता था जिसका वह बुरा नहीं मानती थी। अगर कोई ऐसा व्यक्ति था जो उस बीच नहीं आया था, तो वे थे प्रोफ़ेसर मलहोत्रा। वे तो उस दिन की पार्टी के बाद से वैसे भी उसके सामने पड़ने से कतराते थे...पता नहीं यह फ़ीस के प्रकरण से बचने के लिए था या किसी

और कारण से। श्यामा एक बार इस तरफ़ इशारा कर चुकी थी। 'मुझे लगता है जीजाजी अब मेरे यहाँ से जाने के बाद ही आपसे मिलेंगे। इसलिए आप न चाहते हों तो भी फ़ीस-वीस की बात आपको आखिर मुझी से तय करनी पड़ेगी।'

उस दिन कॉलेज से उसे छुट्टी थी, पर दिन-भर वह घर से बाहर नहीं निकला था। कुछ देर पुराने काग़ज छाँटता रहा था, फिर किसी से प्रेज़ेंट में मिला सिगार सुलगाकर छाँटे हुए काग़जों को फ़ाइलों में लगाता रहा था। कभी साल-छह महीने में एक बार वह यह काम कर लिया करता था जिससे अपने आसपास का बासीपन कुछ हद तक दूर हो जाता था और कम-से-कम एक शाम नई शुरुआत की ताज़गी में बीत जाती थी। काग़ज़ों के साथ उसी रौ में कमरों की भी सफ़ाई हो जाती थी, कुर्सियों-मेज़ों को थोड़ा इधर से उधर सरकाकर एक नई सेटिंग का आभास पा लिया जाता था। इसी प्रक्रिया में एक बार अपने अन्दर की यात्रा भी हो जाती थी, मुद्दत से टाले हुए संदेहों और संशयों से सामना कर लिया जाता था।

खाना खाने के बाद पूरी दोपहर उसकी क्लब-चेयर में लेटकर श्यामा के बारे में सोचते हुए बीती थी। श्यामा जब से आने लगी थी, एक दिन की भी छुट्टी या नागा उसने नहीं किया था। जैसे कोई बंदिश थी जिसके अन्तर्गत श्यामा को हर रोज़ शाम को आना ही होता था और उसे घर पर रहकर उसके आने की प्रतीक्षा करनी ही होती थी। अगर श्यामा के आने के समय वह दूसरे कमरे में कुछ काम कर रहा होता तो वह चुपचाप आकर बाहर के कमरे में बैठ जाती थी, नौकर के हाथ भी अपने आने की सूचना उसे नहीं भेजती थी। लेकिन ऐसा बहुत कम होता था कि श्यामा के चुपचाप हल्के पैरों उधर आ बैठने पर उसे उसके आने का पता न चले। उस कमरे की हवा में ही कुछ ऐसा परिवर्तन आ जाता था कि वह हाथ का काम छोड़कर उस तरफ़ जा पहुँचता था। 'आ गईं आप? ज़्यादा देर तो नहीं हुई आए?' पर वह भी जानता था और श्यामा भी कि उसका यह सवाल झूठमूठ का होता है।

श्यामा हर रोज़ आती थी, हर रोज़ बात उसकी पढ़ाई के किसी पक्ष को लेकर ही शुरू होती थी, लेकिन कई दिन हो गए थे जब से पहले दस-बीस मिनट के बाद, जैसे एक आपसी समझौते से, वे लोग उस विषय को छोड़कर किन्हीं और ही विषयों पर बात करने लगते थे। श्यामा अधिकतर प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के घरेलू जीवन की चर्चा करती थी, या अपनी चार साल की बिटिया की जिसे छोड़कर आने के लिए रोज़ उसे नए-नए बहाने सोचने पड़ते थे या मंडी के अपने घर की जहाँ चार कमरों में वह अकेली रहती थी। वह अपने आसपास के परिचितों के बारे में बात करता था, उस शहर में रहने की ऊब के बारे में, या अपने कॉलेज के प्रिंसिपल, वाइस प्रिंसिपल और स्टाफ़ के बारे में जो सब-के-सब अध्यापन को एक दोमंज़िला मकान बनाने का साधन

मानते थे। जो दो घंटे वे आमने-सामने बैठे रहते थे, वह जैसे उन दोनों के लिए अपने-आपका लेखा-जोखा करने का समय होता था। जैसे दोनों के पास कहने की जितनी भी निरर्थक बातें थीं, उन्हें कह सकने का यह अवसर वे खोना नहीं चाहते थे। दो अलग-अलग शहरों में रहने के कारण सामान्य सूत्र कोई न होने से वे लोग जितना खुलकर हर विषय और व्यक्ति के बारे में अपने अन्दर की भड़ास एक-दूसरे के सामने निकाल सकते थे, उस तरह हर रोज़ की सामाजिक ज़िन्दगी में अपने से जुड़े हुए किसी व्यक्ति के सामने निकाल सकना सम्भव नहीं था, इसलिए जैसे वे इस स्थिति का पूरा लाभ उठा लेना चाहते थे।

फिर भी किसी-किसी समय उसे लगता था कि बात इतने तक ही सीमित नहीं है, अपने अन्दरूनी कसाव को ढीला करके एक-दूसरे के सामने इतनी तरह की बातें करने का कुछ और उद्देश्य भी है। श्यामा जिस कुर्सी पर बैठती थी, वह खिड़की के बहुत पास थी और आने के काफ़ी बाद तक परदे से छनकर आती धूप उसके चेहरे पर पड़ती रहती थी जिससे उसके एक गाल के रोएँ सुनहले हो उठते थे। धूप-छाँह की झिलमिल में उसका चेहरा चमड़े के एक मुखौटे की तरह दो हिस्सों में बँटा लगता था। दोनों हिस्सों के भाव भी तब अलग-अलग तरह के नज़र आते थे। एक हिस्सा काफ़ी दूर और तटस्थ जान पड़ता था जबकि दूसरा बहुत पास और आतुर। श्यामा के मुँह से निकलते शब्दों में भी उसे दोनों तरह की ध्वनियाँ सुनाई देती थीं। क्या सचमुच श्यामा के उसके पास आने और इस तरह समय बिताने के पीछे वैसी ही कोई चाहना थी जैसी कितनी ही बार उससे बात करते हुए उसे अपने अन्दर महसूस होने लगती थी? और श्यामा, उसके इतना पास बैठी हुई, क्या उसकी आँखों में वे डोरे देखती नहीं थी? जिस तरह कभी-कभी वह अपनी आँखों में बिना कारण एक शिकायत का भाव ले आती थी, उससे यह लगता भी था कि वह इस सम्बन्ध में बिलकुल अनबूझ नहीं है। लेकिन वह शिकायत सचमुच की शिकायत होती थी, या उसकी आँखों में दिखाई देते निमन्त्रण की परोक्ष स्वीकृति?

श्यामा उस दिन साढ़े पाँच के करीब आई थी। और किसी दिन इतनी देर उसने नहीं की थी। दिनभर धूप रहने के बाद घंटा भर पहले से हल्के-हल्के बादल घिरने लगे थे। वह कमरे से बाहर आकर लॉन में टहल रहा था। श्यामा गेट से दाखिल होते ही उसे सामने देखकर मुसकरा दी थी। उसे शायद लगा था कि उसके देर कर देने से वह उसी की प्रतीक्षा में बाहर निकल आया है। पास आकर वह बोली थी, 'आप आज नाराज़ तो नहीं हैं?'

'क्यों?'

'कहते होंगे कि रोज़ आकर तो वक़्त बर्बाद करती ही है, आज न आकर कर रही है।'

'मैं सोच रहा था आज शायद छुट्टी की है तुमने।'

'दिन तो सचमुच ऐसा है कि छुट्टी करनी ही चाहिए। मेरा मतलब है कमरे में बैठकर मग़ज़पच्ची करने से छुट्टी। मैं आ रही थी, तो बहुत अच्छा लग रहा था मुझे सड़क पर चलते हुए। कैसा रहे अगर एक दिन की क्लास सड़क पर रखी जाए?'

श्यामा के स्वर में एक तरह की चुनौती थी। जानते हुए भी कि उस बस्ती में उन दोनों के साथ-साथ घूमने निकलने पर किस जरह की टिप्पणियाँ की जा सकती हैं, क्या वह जान-बूझकर उस चीज़ का खतरा उठाना चाहती थी? उसके मन में क्या सचमुच कहीं कोई डर नहीं था, या वह सिर्फ़ उसे आज़माने के लिए एक दिखावा कर रही थी?

'मुझे कोई एतराज़ नहीं है,' वह उसके साहस की सीमा आँकता बोला था। 'लेकिन इतना सोच लो कि रास्ते में अगर पानी पड़ने लगा, तो...।'

'ज़्यादा-से-ज़्यादा भीग जाएँगे, इतना ही तो!'

श्यामा की आँखों में एक उपहास-सा था कि बताओ इसके बाद और किस चीज़ का डर दिखा सकते हो मुझे?

'चाहो, तो एक छाता साथ में ले सकते हैं।'

आँखों का भाव श्यामा के होंठों पर फैल आया। 'कितना अजीब लगेगा कि बारिश में भीग रहे हैं, मगर छाता हाथ में लिए हुए। छाते से बचाव कितना होता है?'

वह जिस तर्क से चल रही थी, उसे उसकी सीमा तक निभाना चाहती थी। वह उसे और अवसर न देकर गेट की तरफ़ बढ़ गया था। 'मैं यह मानकर चल रहा हूँ कि कम-से-कम इस वजह से अब लौटने की बात नहीं करोगी।'

उसका घर बस्ती के एक सिरे पर था। एक तरफ़ एक ही तरह के बने पीले मकानों की कतारें थीं, दूसरी तरफ़ ऊँची-नीची ज़मीन जहाँ नए घर बन रहे थे। गेट से कुछ ही क़दम आगे जाकर वह दोराहा था जहाँ से एक रास्ता वाटर-वर्क्स की तरफ़ जाता था, दूसरा खेतों की तरफ़। वाटर-वर्क्स उस बस्ती की सबसे बड़ी सैरगाह थी जहाँ बैठने के लिए एक बड़ा-सा शेड और कई-एक-बेंचें भी थीं। बस्ती के सब अधेड़ सुबह-सुबह वहाँ का चक्कर लगाने जाते थे, शाम को कॉलेज के लड़कों और लड़कियों के अलग-अलग गिरोह वहाँ सामूहिक चुहलबाज़ी करते नज़र आते थे। क्योंकि उनमें से आधे से ज़्यादा उसे जाननेवाले थे, इसलिए काफ़ी हद तक सम्भावना थी, वह उन लोगों की उस शाम की तफ़रीह का साधन बन जाए।

मगर श्यामा दोराहे से वाटर-वर्क्स की तरफ़ नहीं मुड़ी, खेतों की तरफ़ चल दी। नई मकानियत की बिखरी हुई ईंटों और गारे-मिट्टी से किसी तरह बचते हुए वे कच्ची सड़क पर आ गए। खुदी नींवों में काम करते मज़दूरों को छोड़कर दूर तक कोई भी

व्यक्ति नज़र नहीं आ रहा था। दोनों चुपचाप चल रहे थे। ज्यों-ज्यों मकानियत पीछे छूट रही थी, श्यामा की चाल में अधिक निश्चिन्तता आती जा रही थी। पहले वह उससे तीन-चार फुट आगे चल रही थी। अब उसके बराबर आती बोली, 'दो-चार बूँदें पड़ते ही मिट्टी से कितनी प्यारी बास उठने लगती है!'

मिट्टी की बास तो थी ही, उसके अलावा एक और भी बास थी वहाँ, उतनी ही मद्धिम। फुहार-मिली हवा के झोंके में उसने बस बास को पहचाना। बास श्यामा के रूखे बालों की थी। वे लोग अब उन कँटीले तारों के साथ-साथ चल रहे थे जिनके उस तरफ़ खेत थे।

'मगर ज़्यादा बरस जाए, तो बास-वास कुछ नहीं रहती। कीचड़-ही-कीचड़ हो जाती है।' उसकी इस बात से श्यामा को झटका-सा लगा, लेकिन वह बिना कुछ कहे खेतों की तरफ़ देखती उसके साथ-साथ चलती रही। कुछ दूर आगे जाकर कच्ची सड़क भी समाप्त हो गई। अब सामने भी खेत थे और उन्हें सड़क से अलग करते वैसे ही कँटीले तार।

'अब?' उसने श्यामा की तरफ़ देखा। 'यहाँ से आगे कैसे जाएँगे?'

'क्यों?' श्यामा अपना हठ बनाए रखती बोली। 'तारों को लाँघ नहीं सकते क्या?' सड़क पर आने के बाद से ही वह काफ़ी बड़ी बन गई थी और जैसे उसके साथ नहीं, उसे साथ लेकर चल रही थी।

'मुझे अपने लिए डर नहीं है,' उसने उसके बड़प्पन को अपने बड़प्पन से ढकते हुए कहा।

'मेरे लिए मत डरिए। वहाँ तार थोड़े नीचे हैं। मैं वहाँ से पार कर सकती हूँ।'

वह बिना और कुछ कहे कूदकर तारों को पार कर गया। उधर से हाथ बढ़ाकर बोला, 'मैं मदद करूँ?'

'नहीं, मैं पार कर लूँगी।' श्यामा ने एक बार कोशिश की कि साड़ी को किसी तरह सँभालकर तारों के ऊपर से लाँघ आए। पर तार इतने नीचे नहीं थे। दूसरी बार की कोशिश में वह साड़ी को छोड़ती हुई संकोच के साथ पीछे हट गई। उछलना चाहते ही उसकी टाँगें जाँघों के ऊपरी हिस्से तक पेटीकोट से बाहर उघड़ आई थीं।

वह उसकी कोशिश पर हँसने जा रहा था जब यह वाक्य सुनकर उसकी हँसी गले में रह गई, 'तुम चलो न आगे, खड़े क्यों हो वहाँ?' इसमें जहाँ एक झिड़की थी, वहाँ एक निकटता का दावा भी था। तो क्या श्यामा को लगा था कि वह उसे उस उपहासास्पद स्थिति में देखने के लिए जान-बूझकर वहाँ खड़ा रहा था? अगर ऐसा था, तो उसने पहले ही क्यों नहीं उससे आगे चलने को कह दिया था? और असावधानी के उस एक क्षण में उसने श्यामा को जितना देखा था, क्या वह उसी के कारण था कि उसके कान गरम हो उठे थे और कनपटियाँ अन्दर से आवाज़ करने

लगी थीं? श्यामा की आँखों में कुछ ऐसा था, शिकायत से बढ़कर, कि वह चुपचाप मुँह मोड़कर खेतों की पगडंडी पर आगे चलने लगा। मगर चलते हुए भी वह जैसे पीठ से सबकुछ देख रहा था—कि फिर उसी तरह श्यामा ने तारों पर से उछलने की एक और कोशिश की है, कि इस बार भी अपनी कोशिश में वह सफल नहीं हो सकी, कि तारों के उस तरफ़ अब वह असहाय भाव से खड़ी उसे देख रही है, सोच रही है कि उसे आवाज़ देकर रोक ले या नहीं। कुछ देर उसी तरह चलते रहने के बाद उसे लगने लगा कि श्यामा अब तक उस तरफ़ खड़ी नहीं रही, पार करने की कोशिश में उसकी साड़ी तारों में उलझ गई है, वरना वह जितना आहिस्ता चल रहा था, उसे देखते हुए कोई कारण नहीं था कि वह अब तक उसके बराबर न पहुँच जाती। मगर रुका वह फिर भी नहीं, न ही उसने पीछे मुड़कर देखा ही। देखा जब पीछे से श्यामा की आवाज़ सुनाई दी, 'सुनो।'

वह आवाज़ श्यामा की परिचित आवाज़ से काफ़ी अलग और बारीक थी। उसने देखा कि श्यामा तारों को पार तो कर आई है, पर इस तरफ़ आकर ज़मीन पर बैठी न जाने क्या ढूँढ़ने या ठीक करने की कोशिश कर रही है।

'क्या हुआ?' वह उसकी तरफ़ लौट पड़ा।

'मैं समझती हूँ अब हमें लौट चलना चाहिए।'

'क्यों, पैर में मोच-ओच आ गई क्या?'

'नहीं, ऐसा कुछ नहीं हुआ।'

'तो?'

'साड़ी तार से उलझकर फट गई है।'

वह उठ खड़ी हुई। साड़ी बार्डर के पास से फाटी थी। फटे हिस्से में उसने गाँठ दे ली थी।

'मैंने कहा था तुमसे।'

वह मुसकरा दी। 'बड़ों की बात न मानने का यही नतीज़ा होता है।' और लौटने की बजाय वह पगडंडी पर आगे चलने लगी। 'तुम मुझसे बड़े हो न?'

'अभी तुम लौटने को कह रही थीं,' वह बोला।

'हाँ, लेकिन लौटने के लिए फिर से तार पार करने पड़ेंगे, उस मुसीबत का सामना अभी इतनी जल्दी नहीं। तुमने बताया नहीं। मुझसे कितने बड़े हो तुम?'

'कितना बड़ा हूँ, यह कैसे बता सकता हूँ? इस नवम्बर में मैं तीस का हो जाऊँगा।'

'तब तो तुम मुझसे ज़रा भी बड़े नहीं हो।'

'नहीं हूँ?'

'बल्कि एक तरह से मैं ही तुमसे बड़ी हूँ।'

'यह रोज़ उसके पास पढ़ने आनेवाली श्यामा नहीं थी, उसके सामने की कुर्सी पर बैठकर उसे एक ऊँचाई पर देखनेवाली। वहाँ खुले में उसके साथ चलती हुई वह कोई और ही स्त्री थी जो बिलकुल दूसरे धरातल पर आकर उससे बात कर रही थी।

'कितनी बड़ी? वह फिर भी अपनी ऊँचाई कायम रखता बोला।

'कई साल,' श्यामा हल्के से हँस दी। 'मैं पिछले महीने सत्ताईस की हो चुकी हूँ। लेकिन चौदह-पंद्रह साल की उम्र से लड़कियाँ लड़कों से कहीं तेज़ी से बड़ी होने लगती हैं और फिर उम्रभर उन्हें अपने बराबर नहीं आने देतीं।'

फुहार की जगह अब हल्की बूँदें पड़ने लगी थीं। वे लोग पगडंडी के उस हिस्से पर आ गए थे जहाँ दोनों तरफ़ दूर तक सरकंडे उगे थे। श्यामा फिर उससे आगे-आगे चल रही थी। बीच-बीच में जैसे उसे प्रोत्साहित करने के लिए मुड़कर पीछे देख लेती थी।

'आज सचमुच लग रहा है कि तुम आदिवासियों के बीच पलकर बड़ी हुई हो,' उससे आँख मिलने पर वह बोला। 'लेकिन यह आदिम पगडंडी जाती कहाँ है, इसका भी कुछ पता है?'

'सरकंडों के उस तरफ़ आगे एक रहँट है। मैं एक बार पहले भी दिन में वहाँ तक जा चुकी हूँ। जीजाजी के घर की तरफ़ से आएँ, तो रास्ते में तार नहीं पड़ते। उस दिन वहाँ मुझे भुनी हुई मक्की खाने को मिल गई थी।'

'उस बार अकेली आई थीं या...?'

श्यामा का सिर तेज़ी से उसकी तरफ़ मुड़ गया। 'और किसके साथ आती? जीजाजी तो दिनभर घर पर रहते नहीं और दीदी को घूमने का शौक ही नहीं है। इस लिहाज़ से सिर-फिरी अकेली मैं ही हूँ। आज भी अगर मैं ही खींचकर न लाती, तो क्या तुम भी निकलते इस वक़्त बाहर?'

पगडंडी काफ़ी सँकरी हो गई थी जिससे वे लोग आगे-पीछे ही चल सकते थे। श्यामा के ब्लाउज़ की पीठ पर बूँदों की एक जाली-सी बन गई थी जिससे ब्रेसियर की पट्टी के ऊपर-नीचे का हिस्सा पहले से ज़्यादा पारदर्शक हो गया था। अन्दर से झलकती खाल जैसे बूँदों को अपने में पी रही थी, सूखी मिट्टी-जैसा ही कुछ था उसके रूखेपन में। श्यामा को बिना पीछे देखे भी इस बात का अभ्यास हो रहा था शायद कि उसकी आँखें उसकी पीठ पर अटकी हैं, क्योंकि पगडंडी ज़रा खुली होते ही वह उसके बराबर आकर चलने लगी। अपने पल्लू को भी, जो बार-बार उसके शरीर से छू जाता था, उसने थोड़ा समेट लिया। लेकिन उस तरह चलने से उसकी अधनंगी बाँहों के रोएँ उसके रोओं से टकराने लगे। कुछ ही क़दम उस तरह चलने के बाद श्यामा ने उसे अपने से आगे निकल जाने दिया।

'क्या सोच रहे हो?' कुछ देर में श्यामा ने ही फिर से बात शुरू की।

'पता नहीं क्या। शायद कुछ भी नहीं।'

'कुछ न सोचना तो सम्भव ही नहीं है। मेरा ख़याल है मेरे बारे में कुछ सोच रहे हो।'

'तुम्हारे बारे में क्या?'

'पता नहीं क्या। पर जिस तरह अचानक तुम चुप हो गए...।'

वह रुक गया। श्यामा भी उसके बराबर आकर खड़ी हो गई।

'उस दिन प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के बारे में जो बात बता रही थीं तुम...,' वह कहने लगा।

'मैं जानती थी तुम यही बात सोच रहे हो। अगर थोड़े में उत्तर दूँ, तो कह सकती हूँ कि उनके जो रंग-ढंग हैं इन दिनों, उनसे मुझे लगता है मुझे वक़्त से पहले लौट जाना होगा यहाँ से। अच्छा किया तुमने पूछ लिया, नहीं तो अपनी तरफ़ से बताने में मुझे संकोच होता। कई दिन से सोच रही थी कि यह बात कैसे तुम्हारे सामने रखूँगी कि मैं अपनी आखिरी पंद्रह दिन की छुट्टी कैंसिल कर रही हूँ।' श्यामा का चेहरा अपने अन्दर के भाव से इस तरह तमतमा आया था कि पल-भर के लिए उसे लगा जैसे उसकी छुट्टी कैंसिल करने में प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के अतिरिक्त वह भी एक कारण हो।

श्यामा आगे चलना चाहती थी, पर वह थोड़ी देर और उसी तरह रुका रहा। 'मैं इतनी बात और तुमसे जानना चाहता हूँ कि...।'

अचानक मोटी-मोटी बूँदें गिरने लगीं। श्यामा बिना उसका वाक्य पूरा होने की प्रतीक्षा किए आगे चलने लगी। 'पहले रहँट तक पहुँच जाएँ, फिर जो बात जाननी हो, जान लेना।'

मगर वे लोग दस-बीस क़दम भी नहीं बढ़े थे कि ज़ोर की बारिश होने लगी। वह श्यामा को बाँह से पकड़कर दौड़ने लगा। सरकंडेवाला रास्ता समाप्त हो चुका था और रहँट अब कुछ ही दूर सामने नज़र आ रहा था। श्यामा उसके साथ पैर मिलाने की चेष्टा करती हुई भी नीचे की चिकनी मिट्टी पर अपना संतुलन नहीं रख पा रही थी। उसकी बाँह के खिंचाव से बार-बार एक झटका-सा लगता था और आशंका होती थी कि दोनों ही एकसाथ फिसलकर मिट्टी में लथपथ न हो जाएँ। एक बार के झटके में श्यामा की बाँह उसके हाथ से छूट गई। साथ ही उसके शब्द सुनाई दिए, 'तुम निकल जाओ आगे। मुझसे इस तरह नहीं चला जाएगा।'

उसने रुककर पीछे देखा। उसे पहली बार अहसास हुआ कि साड़ी में गाँठ देने के बाद श्यामा को एक-एक क़दम आगे रखने में कितना एहतियात बरतना पड़ रहा है। उसके रुकने के साथ ही वह रुक गई, पर शायद किसी और कारण से। कपड़े खाल से चिपक जाने से उसके शरीर की रेखाएँ बाहर उघड़ आई थीं, खाल का साँवलापन साड़ी के धानी रंग में घुल-मिल गया था। इससे उसकी आकृति इतनी

रुक चुकी थीं। और भी कुछ लोग चमड़-दस्तों को थामे खड़े थे। वे दोनों भी उनमें शामिल हो गए।

बस के स्टार्ट होने के साथ ही कुमार ने मन में स्टाप गिनना शुरू कर दिया। वहाँ से आठवें स्टाप पर उसे उतरना था। उसके बाद भी अपने कमरे में पहुँचने तक आधा किलोमीटर चढ़ाई का रास्ता पैदल तय करना था।

सड़क, रोशनियाँ, दुकानें, होर्डिंग। बैटर बाई कैप्स्टन। ड्रीम गर्ल हेमा मालिनी। डॉक्टर पंडारकर्ज़ मैटर्निटी होम। बस का इंजन काफ़ी आवाज़ कर रहा था। लग रहा था कि बस पीछे से धुआँ भी छोड़ रही होगी। भीड़ का दबाव इतना था कि गरदन इधर से उधर करना मुश्किल था। लड़की का शरीर बुरी तरह उसके साथ सट गया था। उसके शरीर पर कसे हुए रेशम की वजह से उसके साथ सटकर खड़े होना लगातार रंगीन गुब्बारों से सहलाए जाने की तरह था। एक बाँह उठी रहने से लड़की की बग़ल का भीगा हिस्सा नज़र आ रहा था जहाँ कपड़ा खस्ता होकर बदरंग हो गया था। दोपट्टे से उस हिस्से को ढँके रहने की उसकी कोशिश बस की लगातार बदलती रफ़्तार के कारण सफल नहीं हो पा रही थी। कोई हल्का-सा सेंट भी था उसके कपड़ों में। पर पसीने की कड़वी गंध उस गंध पर हावी थी।

एक जगह तेज़ ब्रेक लगने से लड़की लगभग उसके ऊपर गिर आई। दोनों के मुँह से एकसाथ निकला, 'सॉरी।' लेकिन दोनों में से किसी ने दूसरे की तरफ़ नहीं देखा।

एक-एक स्टाप का अपना एक-एक निशान था। पहला पुर्णे अल्पाहार।

दूसरा शिवाजी बीड़ी। तीसरा विश्वास केश-कर्तनालय...

हर स्टाप पर दो-तीन शरीर पीठ या बाँहों को रगड़ जाते थे। कई बार शरीरों का एकसाथ दबाव आ पड़ने से लड़की की भौंहें तन गईं। 'उफ़्!'

'आबादी बहुत बढ़ गई है,' पास खड़े एक व्यक्ति ने सहानुभूति प्रकट की। लड़की पहले से थोड़ा सिमटकर खड़ी हो गई।

'मानसून बहुत ख़राब मौसम है,' किसी दूसरे ने कहा।

'आदत होने की बात है।'

'अभी परसों एक लड़का ऐसी ही भीड़ में बस से गिर गया था। महालक्ष्मी के पास।'

'उधर गुंडागर्दी भी बहुत होती है।'

लड़की ने दोपट्टा ठीक से बग़ल में लपेट लिया। एक पास से गुज़रती बस ने अन्दर को छींटे उड़ा दिए। 'आउच्।' लड़की पल-भर आँखें मूँदे रही। फिर उसने नीचे से ऊपर तक अपने को देख लिया। उसे तसल्ली हुई कि कोई छींटा उस पर

नहीं गिरा था। उसने रेनकोटवाली बाँह ऊपर उठा ली जिससे उसका हैंड-बैग झूले की तरह हिलने लगा।

'इट्स हॉरीबल।' आँख मिलने पर लड़की ने उससे पहली बात की।

'क्या चीज़...बारिश?'

'नहीं, यह बस का सफ़र।'

और दो स्टाप। कैडबरीज़ मिल्क। एम् एम् फ़ोम। इस बीच वह सिर्फ़ एक बार उसकी तरफ़ देखकर मुसकराई। क्योंकि कोई कह रहा था, 'आबादी कम करने के दो ही तरीके हैं। या तो शहर पर बम गिराए जाएँ। या यहाँ के लोगों को बरफ़ के घरों में रखा जाए।'

अगला स्टाप आने से पहले वह 'प्लीज़' कहकर दरवाज़े की तरफ़ बढ़ने लगी। कुमार ने जगह देने की काफ़ी कोशिश की, फिर भी पीछे का दबाव इतना था कि जाते-जाते लड़की की छातियाँ उसकी बाँह से रगड़ गईं। फिर एक बार दोनों ने एकसाथ कह दिया 'सॉरी।' स्टाप आ गया था। ग्लुकोज़ ग्लैक्सो।

लड़की जब तक दरवाज़े के पास पहुँची, तब तक बाहर के लोग अन्दर आने लगे थे। उनसे जूझते हुए उतरने की कोशिश में उसकी जो आवाज़ सुनाई दी, वह काफ़ी सख़्त और तीखी थी। 'फर्स्ट लेट मी गेट डाउन प्लीज़। आई से, यू वेट देयर। डोंट यू सी ए लेडी इज़ गेटिंग डाउन?' बस के चलने से पहले एक बार उसकी झलक और दिखाई दे गई,... कैप्स्टन नेवीकट के सामने से गुज़रते हुए। वह नाप-नापकर रखे गए क़दम। मिनट-भर पहले का सफ़र वह अब पीछे छोड़ चुकी थी।

कुमार अपने स्टाप पर उतरा, तो बूँदाबाँदी फिर शुरू हो गई थी। एक तरफ़ समुद्र था, दूसरी तरफ़ माउंट मेरी हिल। उसी पहाड़ी के एक पुराने खस्ताहाल बँगले में उसे जाना था। लेकिन बारिश के कारण, या समुद्र-तट के खिंचाव की वजह से या शायद सिर्फ़ चाय की ज़रूरत से, वह पहाड़ी की तरफ़ न जाकर समुद्र के किनारे बने उस ईरानी ढाबे में चला गया जहाँ कई बार सुबह नाश्ते के लिए जाया करता था। वहाँ की खिड़कियों से चट्टानों से ढका तट दूर तक देखा जा सकता था। समुद्र ज्वार पर होता था, तो वहाँ बैठकर चाय पीते हुए लगता था किसी जहाज़ की केबिन में सफ़र करते हुए नीचे उमड़ती लहरों को ताक रहे हैं।

ढाबे के बेसमेंट में, जहाँ वह बैठा करता था, उस वक़्त कोई भी नहीं था। समुद्र उतार पर था, इसलिए उस झुटपुटे में भीगी रेत और काली चट्टानों का फैला सिलसिला ख़ाली और भावहीन लग रहा था। अकेली चट्टानें, एक-दूसरी के ऊपर लदी हुई चट्टानें, सब-की-सब उस ख़ामोश विस्तार में खोई हुई, निरर्थक। पास की एक चट्टान पर तीन-चार मुर्ग़ाबियाँ शायद पानी के किनारे की तरफ़ लौटने की

प्रतीक्षा में, उतनी ही निरर्थक। वह सोचने लगा कि पास जाकर वह उन्हें उड़ाने की कोशिश करे, तो वे किस तरफ़ को उड़ेंगी...समुद्र की तरफ़ या उस स्याह पड़ती चिमनी की तरफ़ जो किनारे से थोड़ा इधर धुआँ छोड़ती नज़र आ रही थी?

उसकी चाय आ गई थी। उसने जल्दी से एक जलता घूँट भर लिया। ऊपर टीन की छत पर बूँदें ज़ोर की आवाज़ करने लगीं।

बरसते पानी में जैसे तैरकर आती ब्रांच लाइन की छोटी-सी गाड़ी। पहले इंजन एक धब्बे की तरह उनकी तरफ़ बढ़ रहा था, फिर उसके पहिए और गरारियाँ नज़र आने लगी थीं। छोटे-छोटे लाल डब्बों की कतार को खींचते हुए आगे बढ़ने में उसे काफ़ी संघर्ष करना पड़ रहा था। उसकी आवाज़ एक हाँफते हुए बुड्ढे मज़दूर की-सी थी जो मजबूरी का बोझ ढोने के कारण मुँह में जाने क्या बड़बड़ा रहा था।

थोड़ी दूर, रेल की पटरी के उस तरफ़, ईंटों के भट्ठे थे। दो भैंसे, जिनकी चमकती स्याह खालें और काँपती मांसपेशियाँ नसों में हल्की-हल्की उकसाहट भर देती थीं, बारिश में भीगती हुई बिलकुल पथराई-सी खड़ी थीं। श्यामा पहले उन्हें देख रही थी, फिर आँखों में बच्चों का-सा उत्साह लिए सामने से पटरी पर आती गाड़ी को देखने लगी थी। गाड़ी उनके पास से निकलकर कोठरियों के पीछे ओझल हो गई, तो उसकी आँखें दूसरी तरफ़ मुड़ गईं। जैसे कि दूर तक के बरसते विस्तार में वे कुछ ढूँढ़ रही थीं,...पानी के झिलमिल परदे के एक-एक तार में, उन तारों की पूरी बुनावट में और उससे भी परे आकाश के उस हिस्से में जहाँ इक्का-दुक्का पेड़ों की धुँधली रेखाएँ नज़र आ रही थीं, और उनकी पृष्ठभूमि में कुछ और धुँधली रेखाएँ...तार के खम्भों और पक्के एक-मंज़िला मकानों की।

रहँट पर उन दोनों के सिवा कोई नहीं था। कच्ची क्यारियों को रौंदते हुए जब वे वहाँ पहुँचे थे, तो खपरैल के नीचे रखी एक चारपाई को छोड़कर और कोई आसरा भी उन्हें नहीं मिला था। कोठरियों के दरवाज़े बाहर से बंद थे। जो कोई भी वहाँ रहता था, वह शायद उन्हीं की तरह कहीं और बारिश में घिर गया था।

उस अकेली जगह पर, एक अकेली चारपाई के दो सिरों पर पास-पास बैठकर शुरू से ही लग रहा था जैसे समय के किसी और सन्दर्भ में वह घर-ज़मीन सब-कुछ उनका अपना हो जहाँ से अपने घंटा-भर पहले तक के जीवन को भी दूर अतीत की तरह देखा जा सकता हो। श्यामा अन्तर्मुख आँखों से रहँट के डोलचों को ताकती हुई उसे प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के बारे में बता रही थी। 'पता नहीं मेरे साथ ही ऐसा व्यवहार करते रहे हैं या इनका स्वभाव ही ऐसा है। शादी के बाद जब पहली बार हमारे यहाँ आए थे...तब मैं बारह-तेरह साल की थी...तब भी जिस तरह मुझे अपने साथ सटाकर बात किया करते थे, उससे मुझे अच्छा नहीं लगता था। बाद में जब मैं पन्द्रह-सोलह साल की थी, तब एक बार इन्होंने ऐसी कोशिश की थी कि मुझे इन्हें

डाँट देना पड़ा था। उस वक़्त इन्होंने बहुत मिन्नत की थी कि मैं किसी से कहूँ नहीं, ये आगे से कभी मुझे शिकायत का मौका नहीं देंगे। उसके बाद बहुत दिनों तक हम लोगों का इनसे पत्र-व्यवहार भी नहीं रहा...मेरे विवाह पर इन्होंने एक तार दिया था, फिर मुझे एक पत्र लिखा था देव के गुज़रने की खबर पाकर। लेकिन जब से मैंने मंडी में नौकरी की है, तब से दीदी के बहुत पत्र आने लगे थे। पता नहीं वे खुद चाहकर लिखती थीं या इनके कहने से लिखना शुरू किया था उन्होंने। मैं एम. ए. की तैयारी कर रही हूँ, यह जानकर दीदी ने ही यहाँ आने के लिए लिखा था मुझे। मैं भी यह सोचकर चली आई थी कि इतने साल बीत गए हैं, परिस्थितियाँ भी बहुत बदल गई हैं, अब कोई उस तरह की बात इनके मन में नहीं होगी। लेकिन यहाँ आकर लगा कि इनके लिए यही एक मौका है। जैसे रात को देर-देर तक बातें करना, मेरा हाथ हाथ में लेकर उसकी रेखाएँ पढ़ना। मेरा तुम्हारे यहाँ आना इन्हें बर्दाश्त करना पड़ता है। मगर लौटने में ज़रा भी देर हो जाए, तो ऐसी नज़र से देखते हैं जैसे मेरी साड़ी की एक-एक सलवट का लेखा-जोखा कर रहे हों मन में। कल शाम मैं तुम्हारे यहाँ से गई, तो दीदी घर पर नहीं थीं। बच्चों को साथ लेकर किसी के जन्म-दिन की पार्टी में गई थीं। जाना इनको भी था, पर ये काम के बहाने घर पर रह गए थे। मेरी बिटिया भी दीदी के साथ गई थी। मुझे देखते ही इन्होंने डाँटना शुरू किया कि मैं इतनी-इतनी देर से तुम्हारे यहाँ से लौटती हूँ, पता है बस्ती में इसे लेकर क्या-क्या बातें हो रही हैं? कहा उन्होंने इस ढंग से कि मेरा रोना छूट गया। इस पर वे पास आकर मुझे चुप कराने के बहाने पहले सिर पर, फिर कन्धों पर हाथ फेरने लगे और धीरे-धीरे...मेरे परे धकेलने से लड़खड़ाकर गिर गए होते, पर सँभल गए किसी तरह। मैं अपने बकसे उसी वक़्त पैक करने जा रही थी, पर एक तो दीदी के ख़याल से रुक गई, दूसरे... सोचा साधारण ढंग से जाना ही ठीक होगा, दो-एक दिन और रुककर।'

एक कनखजूरा चारपाई के पास सरसरा रहा था। उसे उसने जूते की नोक से परे उछाल दिया। सिगरेट की ज़रूरत महसूस होने से ज़ेब से डब्बी निकाली, लेकिन सब सिगरेट भीगकर बेकार हो गए थे। डब्बी को भी उसने कनखजूरे के पास उछाल दिया। श्यामा कुछ देर रुककर उसकी तरफ़ देखती रही। फिर बोली, 'पता नहीं तुम्हें लेकर क्यों उनके मन में इतना मैल है। जिस तरह इस खपरैल से मिट्टी और गोबर नीचे चू पड़ता है, उसी तरह उनके अन्दर का मैल बाहर फूटता रहता है। तुमने फीस की बात टाल दी थी, उसका भी उनके मन में कुछ दूसरा ही अर्थ है। दो दिन पहले फिर एक बार वे लता की बात ले बैठे थे। कह रहे थे कि उसकी शादी इसलिए जल्दी कर दी गई कि तुमसे उसके...तुम्हें बुरा तो नहीं लग रहा क्यों, मैंने फिर से लता की बात छेड़ दी है?'

श्यामा की आँखों में कुछ था...एक तरह का अपनापा और उसमें मिली हुई उदास-सी उत्सुकता। इसके अतिरिक्त उस वातावरण में कुछ था...चारों ओर का खुलापन, भीगापन और शाम का गहराता रंग। वह बाँहें पीछे रखे लता के बारे में सभी कुछ श्यामा को बतलाने लगा था...कि उस दुबली-सी लड़की को केन्द्र में रखकर कैसे उसने आगे के जीवन की कल्पना का ताना-बाना बुना था। 'शारीरिक आकर्षण से हटकर एक और आकर्षण होता है, व्यक्तित्व का चुंबक-आकर्षण, जो शारीरिक आकर्षण से कहीं अधिक मन को खींचता है। उस आकर्षण का अनुभव मुझे पहली बार उसी को लेकर हुआ था।'

बस्ती वही थी, लेकिन घर दूसरा था। बाहर सेहन में किसी की भी साइकिल आकर रुकती थी, तो दिल की धड़कन बढ़ जाती थी। वह काँपते हाथों से दरवाज़ा खोलता। लता मुसकराती हुई अन्दर आती और दरवाज़ा बंद होते ही आँखें मूँदकर बाँहें उसके कंधों पर रख देती। बाँहों में कस लेने पर लता का दुबला शरीर और भी दुबला प्रतीत होता था। जैसे कि उतने दबाव से ही वह पहले से आधा रह जाता था। ऐसे कुछ क्षणों में उसे अपने पर आश्चर्य भी होता था। क्या चीज़ थी उन मुट्ठी-भर हड्डियों में जो उसे इस तरह अपनी ओर खींचती थी? लता कई बार पूरी-पूरी दोपहर उसके साथ गुज़ारती थी। उससे बात करती हुई, या बात न करके उसके माथे, होंठों, गालों को हाथों और होंठों से सहलाती हुई। अपने-आपको भी वह पूरी तरह उसके हवाले छोड़ देती थी। केवल एक सीमा थी जहाँ आकर वह पीछे हट जाती थी, 'अभी नहीं।' लता का यह हठ उसे अच्छा भी लगता था, उस पर उसका विश्वास इससे और गहरा होता था। वह ब्याह की बात करता, तो लता गहरी नज़र से उसे देखकर मुसकरा देती और कभी 'हाँ' और कभी 'न' के रूप में सिर हिला देती। असल में वह क्या सोचती-चाहती थी, इसका वह अनुमान नहीं लगा पाता था। एकाध बार उसने नाराज़ होकर बात की, तो लता का चेहरा जिस तरह का हो आया, उसके होंठ जिस तरह फीके पड़ गए, माथे की नसें जिस तरह काँपने लगीं और आँखें भीड़ में खो गए बच्चे जैसी हो रहीं, उससे उसे डर-सा लगा कि कहीं उसे हिस्टीरिया का दौड़ा न पड़ जाए। वह जानता था लता अन्दर-ही-अन्दर एक दुविधा में है। घर में शासन करनेवाली उसकी माँ थी, वह माँ से डरती थी, और माँ के कहने से एक सिविल इंजीनियर से उसकी शादी करने की बात तय हो चुकी थी। लता उस शादी से इन्कार करना चाहते हुए भी यह बात ज़बान पर नहीं ला पाती थी। एक बार जब वह चाय पर उनके यहाँ गया, तो माँ ने लता के सामने ही उससे कहा था, 'यह शादी के लिए टालमटोल करती रहती है, आप भी इसे समझाइए। आपसे पढ़ती रही है, उम्र का चाहे उतना फ़र्क नहीं है, फिर भी उस रिश्ते से आपकी बेटी की तरह है। आपकी इज़्ज़त भी

बहुत करती है। आप समझाएँगे तो समझ जाएगी। उन लोगों ने इतने दिन मेरे कहने से इन्तज़ार किया है, पर सालहा-साल तो वे इन्तज़ार में नहीं बैठे रहेंगे।' उस शाम उनके घर से आकर वह चौरस्ते पर इस तरह खड़ा रहा था जैसे कि दिमाग़ में सड़कों का हिसाब ही न बन रहा हो। जब चाय पर बुलाया गया था, तो उसने मन में कुछ और ही सोचा था, लेकिन...। अपने घर में लता का रूप भी उसे बिलकुल और-सा लगा था। वहाँ उसने उससे काफ़ी दूरी बनाए रखी थी...व्यवहार में भी, बातचीत में भी। उसकी बड़ी बहन तो बार-बार कमरे में आकर इस तरह संदेह-भरी दृष्टि से उसे देखती थी जैसे कि उसके वहाँ रहते कमरे की कोई भी चीज़ उसे सुरक्षित न लग रही हो। जब माँ ने वह बात कही थी, तो लता गुम-सुम होकर एक तरफ़ देखती रही थी। कुछ क्षणों के लिए उसके साथ कमरे में अकेली होते ही वह कुछ कहने को हुई थी, लेकिन तभी माँ के लौटकर आ जाने से उसके शब्द गले में ही अटके रह गए थे। उसक बाद वह एक ही बार और उनके यहाँ गया था...तब जब लता कुछ दिन बुख़ार में पड़ी रही थी। उस बार किसी ने उसका आना पसन्द नहीं किया था, लता की माँ ने तो उससे बात तक नहीं की थी। वह कुछ ही देर बैठकर वहाँ से लौट आया था। लता से वह अकेले में इतनी ही बात कह पाया था, 'देखो, अब जल्दी से ठीक हो जाओ ईश्वर के लिए...।' लता ने बुख़ार में भी मुसकराने की कोशिश की थी। 'ईश्वर के लिए? तुम्हारे लिए नहीं?'

उस दिन घर लौटकर उन शब्दों को मन में दोहराते हुए उसे लगता रहा जैसे उसे भी हल्का बुख़ार हो आया हो।

उस दिन लता बहुत दिन के बाद उसके यहाँ आई थी, बुख़ार से उठने के बाद पहली बार। जुलाई की उमस में उनींदी रात काटकर वह दिन में सोने की कोशिश कर रहा था। बाहर साइकिल की आवाज़ उसे इस तरह लगी जैसे नींद में ही सुनी हो। दरवाज़े पर दस्तक होने से वह चौंककर उठा। दरवाज़ा खोलने से पहले ही उसका मन एक आशंका से भर गया था। दरवाज़ा खोलते ही लता को देखा, तो उसका चेहरा उसे काफ़ी ज़र्द लगा जो शायद बुख़ार की कमज़ोरी के कारण ही था। अन्दर आकर लता ने उसके कंधे पर बाँहें नहीं रखीं। अपने को उससे दूर रखते हुए कहा, 'मैं तनखाह लेने कॉलेज जा रही हूँ, बैठूँगी नहीं।'

'ऐसी जल्दी में क्यों हो?' वह बोला। 'तबीयत कैसी है?'

'तबीयत ठीक है।'

'ऐसी परेशान क्यों लग रही हो? घर पर कुछ और बात हुई है क्या?'

'नहीं, बात कुछ नहीं हुई। मैं अब जाऊँगी।'

'लेकिन आई हो, तो क्या सिर्फ़ इतना कहने कि तुम अब जाओगी?'

वह जड़ आँखों से उसे देखती रही। उसका चेहरा और-और ज़र्द होता लग रहा था।

'एक मिनट के लिए बैठ जाओ। बैठकर बताओ कि...।'

'नहीं, बैठूँगी नहीं। मैं सिर्फ़ एक बात कहने आई थी।'

'बताओ।'

'कुछ बताने नहीं आई थी, सिर्फ़ माफ़ी माँगने आई थी।'

'माफ़ी किस चीज़ की?'

'बीजी परसों ठाका दे रही हैं। अक्तूबर में शादी कर देंगी।'

उसे अपनी साँस उखड़ती महसूस हुई। 'और तुमने मान लिया है?'

'मैं मना नहीं कर सकती।'

'क्यों?'

'क्योंकि बीजी से कुछ भी कहने की मेरी हिम्मत नहीं है। वे अन्दर से सब-कुछ जानती हैं। फिर भी उन्हें यही ठीक लग रहा है। घर में कोई उनके ख़िलाफ़ नहीं जा सकता। बाबूजी भी नहीं। जो फैसला वे करती हैं, वही होता है।' उसकी आँखों में जाने याचना थी, या अनुनय या शिकायत, या दुख, या इन सबका केवल अभिनय।

'लेकिन मैं तो सोच रहा था कि...।'

'मैं जानती हूँ। इसीलिए माफ़ी माँगने आई हूँ।'

'तुम समझती हो बस ये चार लफ्ज़ कह देना ही काफ़ी है?'

वह चुप रही।

'तो मुझे मानना चाहिए कि तुम आज आखिरी बार आई हो?'

'यह तो मैंने नहीं कहा।'

'लेकिन मतलब तो यही निकलता है।'

लता ने दरवाज़े के दस्ते पर हाथ रख लिया। 'मैं अब जाऊँगी। कॉलेज से चैक लेकर दो बजे से पहले कैश कराना है।'

वह सिर में एक तपिश-सी महसूस कर रहा था, जैसे वहाँ गैस भर रही हो। वह गुस्सा था, वितृष्णा थी या बेबसी थी? जो भी था, उससे उसका चेहरा काफ़ी विकृत हो गया था। 'तुमने नहीं कहा, तो मैं अपनी तरफ़ से कह रहा हूँ। आज के बाद तुम कभी मत आना।'

वह दस्ते पर रखे अपने हाथ को देखती रही। नीली नसें ज़र्द हाथ पर लकीरों-सी दिख रही थीं। चमड़ी से अलग ऊपर को उभरी हुई। हाथ हिला और दरवाज़ा थोड़ा खुल गया। उसने लता का हाथ पकड़कर नीचे को झटक दिया। 'मैं यह मानकर चलूँगा कि जो भी कुछ तय हुआ है, तुम्हारी मर्ज़ी से हुआ है। आज आकर भी माँ-बाप के सामने अपनी मजबूरी की बात करना सिर्फ़ बहाना है। तुमने शुरू से ही मेरे साथ अपने सम्बन्ध को एक बहलावे की तरह समझा है। इससे कुछ दिन ठीक निकल गए, इतना ही काफ़ी नहीं है?'

लता की आँखें फिर उसी तरह भीड़ में खोई-सी हो गईं। उसने जैसे कोशिश से अपनी बाँहें उठाईं और उसके कंधों पर रख दीं। 'मुझे माफ़ कर दो।'

वह उसकी बाँहें भी झटके से हटाना चाहता था, पर बहुत आहिस्ता से हटा पाया। 'वैसे भी मेरे यहाँ आने का मौका नहीं रहेगा अब। तुम्हें तो जाना ही है यहाँ से। मैं भी कोई दूसरी नौकर ढूँढ़कर जल्दी ही इस शहर से चला जाऊँगा।'

लता ने धीरे-धीरे दरवाज़ा खोला। एक-एक इंच करके। पर बाहर नहीं निकली। कुछ पल उसे देखती रहकर बोली, 'एक बात कहूँ?' और वह फिर एक बार उसके बहुत पास आ गई। 'यह भी तो हो सकता है कि बिना ब्याह के तुम मुझे...।'

बहुत पास आया हुआ वह चेहरा था...डरा हुआ और असहाय। नाक, ठोड़ी, होंठ, आँखें सब परिचित, फिर भी उसे लग रहा था जैसे उन सबको पहली बार देख रहा हो। बहुत अचानक वह चेहरा जो अपनी एक अलग सत्ता रखता था उसके लिए... एकदम अचानक...उन सब चेहरों जैसा हो गया था जिन्हें उसी के कारण, वह अपने लिए अजनबी मानता आया था। कितनी ही बातें एकसाथ उसके मन में आईं...कि उसे साथ सटाकर बेतहासा चूमने लगे...कि उसे बुरी तरह झकझोरकर परे धकेल दे...कि उसे उसी समय जबर्दस्ती अपने साथ कहीं ले जाए...कि कुछ न कहकर चुपचाप उसकी आँखों में अटके आँसुओं को देखता रहे। पर वह सिर्फ़ इतना कहकर बरामदे में निकल आया, 'देखो, मैंने तुमसे सिर्फ़ इतना नहीं चाहा था।' लता दरवाज़ा पार करके भी कुछ देर किवाड़ के साथ सटकर खड़ी रही। फिर बरामदे में आकर सेहन में उतरने की सीढ़ी के पास रुकी रही। सेहन में जाकर साइकिल के हेंडल पर हाथ रखे हुए उसने आखिरी बार उसकी तरफ़ देखा और थके ढंग से साइकिल पर सवार होकर गेट से निकल गई।

श्यामा अपने में सिमटकर बैठी उसकी बात सुन रही थी। बीच में एकाध बार वह सिहर गई थी, शायद अपने ही भीगेपन की ठंडक से। पर वैसे उस भीगी स्थिति को वह लगभग भूली हुई थी। उस एकान्त में, लगभग पारदर्शक कपड़ों में, किसी के सामने बैठे होने का ज़रा भी संकोच उसके हाव-भाव में नहीं था। समय और परिवेश की चेतना के अतिरिक्त अपने होने का आभास भी कुछ देर के लिए उसके मन से निकल-सा गया था।

स्थिर आँखों से वह कुछ पल सामने देखती रही। फिर उसकी तरफ़ मुड़कर हल्की उसाँस के साथ बोली, 'होती है ऐसी बुज़दिली लड़कियों में। मैं भी तो ऐसी ही बुज़दिल रही हूँ...।'

उसे लगा था इस बात के आगे और भी कुछ होगा, लेकिन श्यामा पलकें झपकाकर चुप रह गई। उसने कुरेदकर पूछने की कोशिश नहीं की। वातावरण में वर्षा

का एकतार स्वर, वह अपने में ही जैसे एक सीधा-सा उत्तर था। हवा, फुहार और नमी के स्पर्श में जो आभास था, उसे अनुभव करते हुए शब्दों में कुछ कहने-पूछने की अपेक्षा ही निरर्थक जान पड़ रही थी।

श्यामा सीधी बैठी थी। दोनों के हाथ चारपाई के बाँस पर अब बहुत पास-पास रखे थे। एक हाथ, श्यामा का, ज़्यादा साँवला था...ज़्यादा लम्बा और ज़्यादा दुबला। उँगलियों के नीचे चार छोटे-छोटे गड्ढे। उनके आसपास से ऊपर को जाती पतली नसें। खाल पर एक-दूसरी को काटती असंख्य लकीरें। बहुत महीन रोएँ। उस हाथ के पास रखा अपना हाथ उसे इतना चिकना, भद्दा और भारी लगा कि उसने उसे वहाँ से हटा लिया।

'क्या देख रहे थे?' श्यामा ने पूछ लिया। अपने हाथ से ही उसे आभास हो गया था कि उसे कई क्षण लगातार देखा गया है।

'पता नहीं क्या।'

'उलटी तरफ़ से भी हाथ देखा जाता है क्या?'

'मैं हाथ नहीं देख रहा था।'

'तो?'

'अपने हाथ से तुम्हारे हाथ की बनावट को मिला रहा था।'

'मेरे हाथ की बनावट को?' श्यामा हँस दी और अपने हाथ को उलट-पलटकर देखने लगी। 'ऐसा बेडौल हाथ किसी का क्या होगा? तुमने अच्छा किया जो अपना हाथ हटा लिया। मुझे शरम आ रही थी कि तुम्हारे हाथ के सामने मेरा हाथ कैसा मरा-मरा-सा लग रहा है और...।'

'ऐसा नहीं है,' वह श्यामा का हाथ अपने हाथ में लेकर बुदबुदाया। पर अपने हाथ में वह हाथ उसे सचमुच बिलकुल बेजान-सा लगा, प्लास्टर ऑफ़ पेरिस के लोंदे जैसा, जिसे चाहे जिस तरफ़ को मोड़ा जा सकता हो।

'नहीं है ऐसा?'

'नहीं।'

श्यामा ने हल्की कोशिश से अपना हाथ छुड़ा लिया। 'तब तो...।'

'तब तो क्या?'

'तब तो तुम भी...।'

'मैं भी...?'

श्यामा की आँखों में हल्की-सी चमक आकर बुझ गई। वह भट्ठों के उस तरफ़ देखने लगी जहाँ आकाश का रंग इधर से कहीं गहरा था।

'मैं भी...?' इस बार उसने हाथ से श्यामा का मुँह अपनी तरफ़ कर लिया। श्यामा ने विरोध नहीं किया, इससे उसे अपने शरीर में भूचाल-सा उठता महसूस हुआ। लेकिन श्यामा की आँखों में कुछ न था, आश्चर्य जैसा, जिससे पहले झटके के साथ

ही भूचाल हौला पड़ने लगा। श्यामा ऐसी सीधी नज़र से उसे देखती रही जैसे उसे समझ न आ रहा हो कि वह कौन है, कहाँ है, और जो व्यक्ति उसका चेहरा अपने चेहरे के पास लाकर बात कर रहा है, वह क्या चाहता है, क्या कर रहा है। हाथ में लेने पर जैसा बेजान उसका हाथ लगा था, कुछ वैसा ही बेजान उसका चेहरा भी लग रहा था। कुछ क्षण उसी तरह रुके रहने के बाद उसने अपना हाथ हटा लिया। श्यामा फिर भी उसी तरह अपने अचम्भे में रुकी-सी उसे देखती रही।

'तुम्हारा हाथ और चेहरा दोनों एक-जैसे हैं,' उसने हँसकर बात को उड़ा देने की कोशिश की। लेकिन श्यामा के भाव में परिवर्तन नहीं आया। सिर्फ़ उसकी आँखें दूसरी तरफ़ हट गईं।

एक कुत्ता दौड़ता हुआ बाईं तरफ़ से आया और ठीक चारपाई के सामने रुककर ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा। उसका अन्दाज़ ऐसा था जैसे कह रहा हो, 'तुम लोग यहाँ क्यों हो? क्यों हो? क्यों हो? जाओ। जाओ। जाओ।'

श्यामा की बाँहें एकाएक सिमट गईं। उस नए प्राणी के आने के साथ ही उसे अपने उघड़ेपन का ध्यान हो आया था। कुत्ते के पीछे-पीछे एक और व्यक्ति भी चला आया, बाईस-चौबीस साल का सरदार जाट, जिसने आते ही कुत्ते के मालिकाना अहं को लताड़ दिया। 'हट, पाजी, चल अन्दर।' फिर उन दोनों की तरफ़ देखकर बोला, 'बहुत बारिश आई है जी आज तो। तौबा बुलवा दी इसने। आप लोगों का तो बुरा हाल है भीगकर...।'

'आप लोगों' से उसका अभिप्राय श्यामा से ही था क्योंकि आँखें उसकी श्यामा के शरीर पर ही अटकी थीं। श्यामा की आपस में कसी बाँहें इससे और कस गईं, गीले कपड़ों से बाहर झलकते अपने शरीर को किसी तरह ढक लेने की आवश्यकता ने वहाँ और बैठना उसके लिए असम्भव कर दिया। वह तीखी नज़र से जाट युवक की बेबाक आँखों का सामना करती उठ खड़ी हुई। 'मेरा ख़याल है अब हमें चलना चाहिए।'

बारिश पहले से कम हो गई थी, पर इतनी नहीं कि उसमें निकलकर वापस जाया जा सके। फिर भी, श्यामा के भाव को देखते हुए, उसे उठकर चल देना ही ठीक लगा। श्यामा ने जान-बूझकर अपना हाथ उसकी तरफ़ बढ़ा दिया जिससे सूखे कपड़ों की कमी उसके पुरुषत्व की आड़ से पूरी की जा सके।

उन लोगों को एकाएक चलने को तैयार देखकर जाट युवक उनके सामने आ गया। 'अभी इंतज़ार कर लो जी दस मिनट,' वह बोला। 'पहले ही इतना भीगे हो, ऐसा न हो कि और भीगकर जाते ही बीमार पड़ जाओ। मैं अपने डंगर ले आऊँ, फिर आपको चाय बना देता हूँ। चाय पीकर ठंड मर जाएगी अन्दर की। पानी भी शायद रुक जाए तब तक।' और कुत्ते को कान से पकड़कर घसीटता वह एक कोठरी की

तरफ़ ले चला। कुत्ता पूरा रास्ता विरोध में चिचियाता रहा...कि कम-से-कम बाहर के लोगों के सामने तो उसे इस तरह अपमानित नहीं किया जाना चाहिए। पर कोठरी खोलकर जाट युवक ने कुत्ते को अन्दर धकेलने के लिए एक लात और लगा दी। कुत्ते का विरोध फिर भी शान्त नहीं हुआ।

गाय और भैंसें शायद मालिक के लौटने की गन्ध पाकर ही उस तरफ़ बढ़ आई थीं। उन्होंने बहुत सधे ढंग से चलते हुए नाली के उस तख्ते को पार कर लिया जिसे खपरैल तक आने से पहले उन दोनों ने बहुत डरते-डरते और मुश्किल से अपना संतुलन बनाए रखकर पार किया था। अब फिर से जाट युवक के सामने उस तख्ते से गुज़रकर जाने का संकोच ही शायद श्यामा को खपरैल से आगे बढ़ने से रोक रहा था। एक क़दम आगे जाने के बाद श्यामा के हाथ के दबाव से उसे भी रुक जाना पड़ा।

'क्या बात है?' उसने आहिस्ता से पूछ लिया। 'अभी कुछ देर रुककर चलने का मन है क्या?'

श्यामा कोठरी की तरफ़ देख रही थी जहाँ एक चारपाई पर फटा सालू बिछा था। उसकी आँखों में फिर वही भाव नज़र आ रहा था जैसे कि उसे अपने वहाँ होने का होश ही न हो। इसके अलावा अन्दर के किसी दर्द की हल्की-सी छाया भी थी उनमें। वह कुछ क्षणों के लिए कहीं और, किसी और परिस्थिति में, पहुँच गई लगती थी। उसकी बात से चौंककर उसने आँखें कोठरी की तरफ़ से हटा लीं और अपने को समेटती हुई बोली, 'नहीं, चल रहे हैं।'

'चाहो तो चाय की एक-एक प्याली पीकर भी चल सकते हैं।'

'नहीं। मुझे बिटिया की चिंता है। ज़्यादा देर हो जाने से वह रोने लगती है और...।'

वह जानता था बिटिया का ज़िक्र वह ऐसे ही बीच में ले आई है। यह भी उसके सुरक्षा के उपायों में से एक था। पहले भी दो-एक बार, ऐसे ही आकस्मिक ढंग से उस प्रकरण को उठाकर उसने उसे अपनी तात्कालिक मनःस्थिति को छिपाने का प्रयत्न करते देखा था।

जाट युवक ने दूसरी कोठरी भी खोल दी थी। उधर से आकर वह अब अपने पशुओं को उसके अन्दर को हाँक रहा था। उन दोनों को असमंजस में खड़े देखकर वह दूर से बोला, 'बैठना हो तो चलकर कोठरी में बैठ जाइए। मैं अभी अँगीठी सुलगाता हूँ। आग के पास बैठने से कपड़े भी कुछ तो सूख ही जाएँगे।'

उसने श्यामा की तरफ़ देख लिया। श्यामा की आँखें एक भैंस के मुँह से गिरते जुगाली के झाग पर रुकी थीं। सोच उनमें फिर घिरी आ रही थी। उस सोच की काई को तोड़ती वह आगे बढ़ गई। 'आओ, चलें।'

पर पशुओं को रास्ता देने के लिए उन्हें फिर भी रुके रहना पड़ा। एक-एक करके गाय और भैंसें उनके सामने से निकल गईं। उनके शरीरों की हल्की तुर्श गंध गोबर और मिट्‌टी की गंध में गडमडा गई।

नाली के तख़्ते को श्यामा बिना रुके, जैसे आँखें मूँदकर, पार कर गई। वह भी इस बार काफ़ी आसानी से उस तरफ़ पहुँच गया। पीछे से जाट ने आवाज़ दी, 'बाबूजी, अँधेरा हो रहा है, लालटेन तो नहीं चाहिए?'

उन दोनों ने एक बार पीछे देख लिया। जाट युवक कमीज़ उतारकर सिर्फ़ कच्छे में खड़ा अपनी कमीज़ को निचोड़ रहा था। श्यामा ने उस पर नज़र पड़ते ही आँखें हटा लीं। उसने जबाव दे दिया, 'नहीं, अभी उजाला है थोड़ा। रास्ता ज़्यादा नहीं है। हम लोग पहुँच जाएँगे।'

'किसी और चीज़ की ज़रूरत हो?'

'नहीं। शुक्रिया।'

'आजकल कोई सब्ज़ी भी नहीं है जो दे देता आपको। कल थोड़ी मिर्चें उतारी थीं। ले जानी हों, ले जाइए।'

'इस बारिश में अपने को ही सँभालकर ले जाएँ, बहुत है। शुक्रिया।'

और उनके पगडंडी पर पहुँचने तक पीछे से जाट युवक के गाने की आवाज़ सुनाई देने लगी :

'मीं पैंदा गन्निआँ ते
ओए
मीं पैंदा गन्निआँ ते
कि निक्की निक्की
निक्की निक्की बूँद वे पैंदी
वालो दिआँ मम्मिआँ ते...।'

सरकंडों के साथ-साथ जाती वही पगडंडी। यहाँ-वहाँ जमा पानी, फिसलन। सामने आकाश में थोड़ा उजाला, पैरों के आसपास अँधेरा। दूर तक सरकंडों की ऊपरी लकीर, आकाश पर लिखे गए एक टेढ़े-मेढ़े अक्षर की तरह। रुकती बारिश की लगातार कम होती बौछार। हवा से अक्षर का काँपना और एक ध्वनि में बदल जाना। सर्र्र् सर्र्र् सर्र्र्...।

वह श्यामा का हाथ अपने हाथ में लेकर चल रहा था। वह हाथ अब भी एक चिकने लोंदे की तरह था। अपने हाथ के साँचे में वह जिस तरह उसे ढालता था, उसी तरह वह ढल जाता था। फिर भी कोई चीज़ उसके अन्दर काँपती महसूस होती थी। एक धड़कन-सी भी थी कहीं। शायद उँगलियों के पोरों तक आती नसों में। लेकिन श्यामा उसकी तरफ़ देख नहीं रही थी। वह अपने हाथ से अलग होकर किसी और ही ज़मीन पर चल रही थी।

'इस तरह ख़ामोश क्यों हो?' पूछ लिया।
'तुम्हीं कहाँ बात कर रहे हो?' वह बोली।
'बारिश से रास्ता बहुत ख़राब हो गया है?'
'हाँ।'
'तुम्हें अफ़सोस तो नहीं हो रहा?'
'किस चीज़ के लिए?'
'इस तरह बाहर आने के लिए?'
'नहीं।'
'पर तुम्हारी आवाज़ कुछ अजीब लग रही है।'

श्यामा के गले से हल्का-सा स्वर सुनाई दिया। कहा उसने कुछ नहीं। वे उसी तरह चलते रहे। श्यामा का भीगा शरीर फिसलने से बचते हुए उससे टकरा भी गया, तो जैसे वह नहीं जान पाई।

'तुम कुछ सोच रही हो। नहीं?' वह फिर बोला।
'नहीं तो,' श्यामा ने खोएपन से निकलने की कोशिश की।
'लग रहा है।'
'शायद सोच रही थी। पर पता नहीं क्या।'
'यह बात बिलकुल तय है?'
'कौन-सी?'
'वापस जाने की।'
श्यामा का स्वर लटक गया। हाँ, तय ही है।'
'मतलब कल-परसों ही चली जाओगी?'
'हाँ। इसी के आसपास।'
'मैं अगर कहूँ कि उतना तूल मत दो उस बात को?'

श्यामा चुप रही। कोई भाव था जो उसकी आँखों से उसकी नाक की नोक पर आकर अटक गया था।

'जवाब नहीं दिया तुमने?' वह उसकी तरफ़ देखता रहा।
'उस घर में मैं अब और नहीं रह सकती।'

भीगी ज़मीन पर रास्ता टटोलकर चलते पैरों की हल्की आवाज़। हवा से सरकंडों में उठती लहर। कहीं, पता नहीं किस चीज़ की डुबकी...गुड़ुप गुप् गुप्...।

'तब तो तुमसे दो-एक बार ही मुलाक़ात होगी अब।' वह श्यामा की तरफ़ नहीं देख रहा था।

'जिस दिन तक हूँ यहाँ, पढ़ने आती रहूँगी।'
'पढ़ने की बात तो ग़लत है ख़ैर...।'

'क्यों?'

'वह तुम भी जानती हो।'

'यह तो नहीं कि इस बीच कुछ सीखा ही नहीं मैंने। सारी पढ़ाई किताबों तक नहीं होती।'

वह मोड़ आ रहा था जहाँ से आगे पगडंडी सरकंडों से नंगी हो जाती थी। खेतों को सड़क से अलग करते कँटीले तार भी ज़्यादा दूर नहीं थे। सड़क की बत्तियाँ जल जाने से इर्द-गिर्द का अँधेरा अचानक गहरा हो गया। सड़क इस तरह चमक उठी जैसे ज़मीन पर ज़िंदा खाल की एक परत हो।

उसके पैर रुक गए। श्यामा को भी साथ रुक जाना पड़ा। बिजली की चमक में उसने श्यामा की झुकी हुई आँखों को देखा। बादल गरजा, तो उसे अपने पैरों के नीचे ज़मीन थरथराती महसूस हुई। वह कुछ क्षण उसी तरह रुका रहा। 'क्या सीखा है तुमने?' उसे अपनी आवाज़ काँपती-सी सुनाई दी।

श्यामा की झुकी हुई आँखें और झुक गईं। 'चलते चलें।' वह अपना हाथ छुड़ाने की असफल चेष्टा करती बोली।

उसने न तो श्यामा का हाथ छोड़ा और न वहाँ से चला ही। इस बार बिजली की चमक में उसने केवल श्यामा के भीगे शरीर को देखा जिससे उसके अन्दर भी कोई चीज़ एकाएक सुलग गई। 'क्या सीखा है तुमने?' फिर से कहते हुए उसने श्यामा को अपनी बाँहों में कस लिया और उसके होंठ श्यामा की गरदन से जा सटे। होंठों के नीचे गरदन की एक नस भी उसी तरह धड़क रही थी। 'ओह, तुम भी...' कहते हुए श्यामा ने अपने को अलगाने की चेष्टा की। पर और कुछ भी कह पाती, इससे पहले ही उसके होंठों ने श्यामा के होंठों को ढक दिया।

एक गंध थी जो उसके पूरे शरीर में उतर गई थी। वह गंध श्यामा की साँसों की थी, या खाल की, या होंठों के बीच आ गए उसके बालों की? वह गंध एकदम अजनबी नहीं थी। वही—आसपास की मिट्टी से उठती गंध की तरह आदिम। कुछ-कुछ घिनौनी। फिर भी अपने को और-और पा लेने के लिए बाध्य करती। और एक आवाज़ थी, जो पहले उसे अपनी कनपटियों के अन्दर से आती महसूस हुई थी। फिर लगा था कि वह अपने से बाहर कहीं है। और फिर कि वह अन्दर और बाहर दोनों जगह है। कुछ क्षण वह आवाज़ हल्की और असाधारण लगी थी। फिर वह ऊँची और साधारण लगने लगी थी।

आवाज़ पानी में टर्राते मेंढकों की थी।

अगले रोज़, और उससे अगले रोज़, श्यामा नहीं आई।

उसे आशंका थी कि वह नहीं आएगी। फिर भी दोनों शाम वह घर पर ही रहा।

कई बार मन में आया कि एक बार प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के यहाँ जाकर देख ले कि वह अभी वहीं है, या वापस चली गई है। लेकिन बात अपने को तैयार करने तक ही रही, निश्चय में नहीं बदल सकी।

वह पूरी-पूरी शाम घर पर रहा...पर ज़्यादातर कमरों में, या बाहर के पक्के दालान में टहलता रहा। खिड़की के काँच से छनकर आता धूप का टुकड़ा, या मेज़पोश के कोने में चाय की प्याली का दाग़, इन पर नज़र पड़ने से कुछ देर के लिए पाँव रुकते थे। फिर उसी तरह चलते जाने की मजबूरी महसूस होने लगती थी। कोई चीज़ थी जिससे दूर-दूर जाता हुआ भी वह उसी के दायरे में घूम रहा था।

दो दिन पहले के वे क्षण बाँहों में ताज़ा हो आते थे। सील-भरे झुटपुटे में ऊँची उठती वह आवाज़...टर्र्र् टुक् टर्र्र् टुक् टर्र्र् टुक्...बाँहों में कसे श्यामा के शरीर को लेकर एक-साथ विरोध और आत्म-समर्पण की अनुभूति, उसे परे हटाने के लिए उसके कंधों तक आए श्यामा के हाथ और होंठों के दबाव के नीचे श्यामा की लम्बी खिंचती साँसें...वह सब-कुछ उसके साथ-साथ टहल रहा था। उँगली थामकर चलते बच्चों की तरह। उसकी बाँहों से अपने को छुड़ाकर श्यामा, डरकर चलने की तरह कँटीले तारों की तरफ़ बढ़ गई थी। इस बार तारों को पार करने में उसे कठिनाई नहीं हुई क्योंकि साड़ी जाँघों के किस हिस्से तक ऊँची उठ गई है, इसकी उसने चिन्ता नहीं की, बिजली का खंभा बहुत पास होने से उसकी रोशनी ने उन मांसल गोलाइयों में अपनी चमक भर दी थी। सड़क पर आकर श्यामा उसके कहे शब्दों की उपेक्षा करती चुपचाप चलती रही जब तक कि वह दोराहा नहीं आ गया जहाँ से एक रास्ता कच्ची मकानियत की तरफ़ जाता था, दूसरा प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के घर की तरफ़। वहाँ पहुँचकर दोनों के पैर अपने-आप रुक गए। वह जानता था श्यामा का रुकना दूसरे रास्ते से जाने के लिए है। फिर भी उसने कोशिश की कि वह पहले उसके यहाँ चली चले। कपड़े थोड़ा सूख जाएँ, तभी लौटकर जाए। पर श्यामा ने आँखें मूँदकर सिर हिला दिया, 'नहीं। पहले ही बहुत देर हो गई है।'

'प्रोफ़ेसर मलहोत्रा अगर पूछेंगे कि इतना भीग कैसे गईं?'

'उनका मुँह है मुझसे कुछ भी पूछने का?'

श्यामा से अलग होकर घर की तरफ़ आते हुए एक जगह वह मुश्किल से अपने को फिसलने से बचा पाया, नहीं तो एक खुदी हुई नींव में आठ फुट नीचे जा गिरा होता। इस पर उसने मुँह में एक बड़ी-सी गाली दे ली—जाने अपने को, श्यामा को या खुदी हुई नींव को। घर पहुँचने पर पता चला कि पीछे से प्रोफ़ेसर मलहोत्रा आए थे और श्यामा के लिए छाता छोड़कर चले गए हैं।

दोनों दिन बीच-बीच में पानी बरसता रहा जिससे गीले दालान में अपने पैरों की आवाज़ से ही किसी और के आने का शुबहा हो जाता था। गेट के बाहर सड़क के

पेड़ इस तरह धुल गए थे, गेट भी इतना नया-सा निकल आया था कि किसी-किसी क्षण धोखा होता था कि वह कोई और ही घर, कोई और ही सड़क है। वह दो-एक बार टहलता हुआ सड़क पर निकल गया। वहाँ से अपना घर उसे एक कोने में सिमटा हुआ, बहुत अकेला-सा लगा। सड़क भी इस तरह ख़ाली थी जैसे लोगों ने उस रास्ते से निकलना ही छोड़ दिया हो। गीला कोलतार, पेड़ बिजली के खम्भे...इनसे हटकर पीले-पीले मकान...किसी मकान के अन्दर से सुनाई देती रेडियो-ट्रांजिस्टर या हँसने-बात करने की आवाज़ें...सब-कुछ उस खालीपन में डूबा, उसे और गहरा बनाता। एकाध बार मन हुआ कि टहलता हुआ दूर आगे तक निकल जाए, मार्केट में चाय की दुकान पर जाकर चाय की एक प्याली पी ले, या वहाँ से साइकिल-रिक्शा पकड़कर शहर का एक चक्कर लगा आए। लेकिन उस हद से आगे वह नहीं जा सका जहाँ से अपना गेट दिखाई नहीं देता था।

खुद प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के यहाँ जाकर देख लेने की बात उसने दोनों दिन मन में नहीं आने दी। उस तरह वह अपने को श्यामा के सामने और हीन नहीं करना चाहता था। पर तीसरे दिन सुबह से ही उसके मन ने इस बारे में उसका साथ देना छोड़ दिया। वह रात उसकी काफ़ी बेचैनी में बीती थी। उसे लग रहा था कि श्यामा के वापस जाने से पहले वह एक बार भी उससे बात न कर पाया, तो वह बेचैनी बाद में भी बहुत दिन बनी रहेगी। कुछ था जो उस दिन की घटना से पहले या बाद कहा जाने को था और नहीं कहा जा सका था। जो हुआ था, वह अपने में इतना अधूरा था कि उसके आगे किसी भी तरह की ग़लतफ़हमी जोड़ ली जा सकती थी। दो दिन तक श्यामा का न आना ही इस बात का सबूत था कि उसने उस घटना से आगे का ख़ाली स्थान किसी भी तरह की कल्पना से भर लिया है।

उसने सोच लिया कि शाम को वह ज़रूर प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के यहाँ जाएगा। श्यामा से बात करने के लिए नहीं, यह देखने के लिए कि उस घर के वातावरण से उसे किस तरह का आभास होता है। श्यामा जा चुकी होगी, तो स्थिति स्पष्ट हो ही जाएगी और वह वहीं होगी, तो...जिस तरह से वह उसका सामना करेगी, उसी से सब-कुछ जाना जा सकेगा। देखने से ही पता चल जाएगा कि उस दिन की घटना की कितनी ज़िम्मेदारी वह अपने ऊपर ले रही है, या कि अपने को ज़िम्मेदारी से बिलकुल बरी समझती है। इसके अलावा उस घर में श्यामा के प्रति प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के व्यवहार से वह यह भी अंदाज़ा लगा सकेगा कि उन्हें लेकर श्यामा ने जो बात कही थी, वह क्या उसी तरह, उसी रूप में, उतनी ही सच थी? ऐसा तो नहीं था कि दूसरे को दहलीज़ तक लाकर, अपने को दहलीज़ से बाहर खींचने के लिए उकसाकर, फिर उसे दोषी ठहराने लगना उसका स्वभाव ही हो? उस एक ही शाम में कितनी तरह के उतार-चढ़ाव श्यामा के व्यवहार में नज़र आए थे। फिर भी कैसे उसने उस सबको

अपनी एकतरफ़ा परिस्थिति बनाए रखना चाहा था। वह एकतरफ़ापन वास्तविकता ही थी उसकी, या ज़िम्मेदारी से बचने के लिए ओढ़ा गया लबादा?

दो बजे के बाद कोई क्लास नहीं थी, फिर भी चार बजे तक वह कॉलेज में रुका रहा। नए टाइम-टेबल से लेकर फुटबाल के मैच तक ऐसी-ऐसी चीज़ों में दिलचस्पी लेता रहा जिनमें कभी दिलचस्पी नहीं लेता था। दिनों के बाद कॉलेज की कैंटीन में अकेले चाय पीते हुए अपना अकेलापन उसे अकेलेपन की तरह महसूस हुआ। उन दिनों की याद आई जब एक ही ख़ाली पीरियड में लता और वह दोनों वहाँ आते थे और अलग-अलग मेज़ों पर बैठकर चाय पिया करते थे। उस तरह अजनबी बनकर बैठने की आत्मीयता मन को गुदगुदाती रहती थी। बीच में लता कभी आँखों से मुसकरा भी देती थी, पर वह अपने को बिलकुल गम्भीर बनाए रखता था, कैंटीन से बाहर भी उस दिन कई बार, कई जगह, उसे लता की याद आई। ख़ास तौर से कॉलेज छोड़ने से पहले आखिरी दिनों के उसके बीमार चेहरे की। उसी चेहरे के साथ वह एक नए घर में नई ज़िन्दगी की शुरुआत करने चली गई थी...पता नहीं अब उसका चेहरा वैसा ही था, या बदलकर बिलकुल और तरह का हो गया था।

बहुत तरह से इधर-उधर वक़्त काटने के बाद भी वह पाँच बजे से पहले घर पहुँच गया। अँधेरा होने से पहले वह प्रोफ़ेसर मलहोत्रा के यहाँ नहीं जाना चाहता था, इसलिए बीच का समय काटने के लिए पुरानी चिट्ठियों की फ़ाइलें लेकर बैठ गया। बीते हुए क्षण, बीते हुए लोग। बहुत पुरानी मोहरें। पहचाने हुए अक्षर जो अब पहचान से बाहर चले गए थे। कोनों से मैले काग़ज़। याददाश्त पर ज़ोर देने की कोशिश...यह हवाला किस चीज़ का है?

काफ़ी चिट्ठियाँ सरसरी तौर से पलटकर वह उदास मन से एक के अतीत में से गुज़र रहा था जब बाहर आहट सुनाई दे गई। आहट परिचित थी। पैरों की आवाज़ के अलावा साड़ी की वह फड़फड़ाहट जो श्यामा के आने का पता दिया करती थी। उसने फ़ाइल बंद कर दी। लेकिन उठकर बाहर नहीं गया। हवा से हिलते खिड़की के परदे को देखता बैठा रहा जैसे बीते दिनों में से फिर एक बार गुज़रने का भारीपन ही उसे उठने न दे रहा हो।

थोड़ी देर में श्यामा चाय की ट्रे लिए सामने आ गई। वह चाय लेकर आ रही है, इसका पता बाहर सुनाई देती बातचीत से चल गया था। बनवारी ट्रे ला रहा था और वह श्यामा ने रास्ते में उससे ले ली थी। श्यामा के सामने आ जाने पर भी वह कुर्सी से नहीं उठा। 'आओ,' कहकर पहले से थोड़ा सीधा होकर बैठ गया। श्यामा भी बिना कुछ कहे ट्रे तिपाई पर रखकर सामने की कुर्सी पर बैठ गई। जैसे कि असाधारण कुछ भी न हो। रोज़ वह उसी तरह चाय लेकर आती हो और वे साथ बैठकर चाय पीते हों।

काफ़ी देर ख़ामोशी रही। वह हिलते परदे और श्यामा के ज़रा-ज़रा उड़ते बालों को देखता रहा। श्यामा केतली में चीनी डालकर चम्मच से हिलाती रही। फिर प्याली में चाय उँड़ेलते हुए श्यामा ने पूछ लिया, 'कुछ काम कर रहे थे?'

'नहीं, ऐसे ही बैठा था।'

'मुझे डर था कि कहीं घूमने न निकल गए हों।'

'और थोड़ी देर में निकल जाता शायद।'

'अब भी निकल जाना चाहे। मैं ज़्यादा देर नहीं रुकूँगी।' और प्याली उसके हाथ में देकर सीधे उसकी आँखों में देखती हुई वह बोली, 'मैं आज जा रही हूँ। रात की गाड़ी से।'

प्याली छलक गई जिससे कुछ बूँदें उसके कुरते पर आ गिरीं। वह बूँदों को कपड़े के ताने-बाने में फैलते देखता रहा।

'सोचा, जाने से पहले एक बार मिल ज़रूर लेना चाहिए।' श्यामा की आँखें अपनी प्याली पर केन्द्रित हो गई थीं...या शायद उसी कोण में उससे परे किसी और चीज़ पर। उसके चेहरे पर वितृष्णा का भाव था जो लगता था किसी और के लिए न होकर अपने लिए ही है।

'मैं भी यही चाह रहा था,' वह बोला। 'इसलिए अगर घर से निकलता, तो शायद तुम्हारी तरफ़ ही आता।'

श्यामा की आँखें नहीं उठीं। वह जैसे इस बात को जानती थी। प्याली उसके मुँह के इतनी नज़दीक थी कि उसकी साँस से धुएँ की आकृतियाँ टूट रही थीं।

वह अपने को बिलकुल ख़ाली महसूस कर रहा था। जैसे जो कुछ कहने को था, वह कहा जा चुका था। अब केवल प्रतीक्षा थी जिसके इस छोर पर चाय पी जा रही थी और उस छोर पर श्यामा को वहाँ से उठना और चल देना था।

'मैं उस दिन के बाद आ नहीं सकी क्योंकि...।' 'क्योंकि' पर थोड़ी देर रुकी रहने के बाद श्यामा ने हल्के-से घूँट से बात की पूर्ति कर ली।

'मुझे तभी लग गया था तुम नहीं आओगी।'

'दो दिन बहुत-कुछ सोचती रही हूँ।'

'क्यों?'

'अपनी ही वजह से। क्योंकि मेरे व्यवहार में ज़रूर कुछ ऐसा रहा होगा जिससे तुमने...।'

'मैं उस बात के लिए शरमिंदा हूँ। उसी वक़्त से।'

श्यामा की आँखों में कोई चीज़ चुभ-सी गई। 'मैं इसी चीज़ से डर रही थी।'

वह चुपचाप उसे देखता रहा। फिर अपने हाथ की आधी ख़ाली प्याली को देखने लगा।

श्यामा जैसे बात पूरी कर चुकी थी। मगर उसकी ख़ामोशी देखकर उसे दोहराने के लिए मज़बूर होना पड़ा। 'तुम्हें लगा होगा कि मैंने जान-बूझकर...जान-बूझकर मैंने तुम्हें ओछा करने की कोशिश की है।'

'तुम्हारी तरफ़ से यह बात नहीं लगी थी मुझे। जो बात लगी थी, वह बिलकुल दूसरी थी।'

श्यामा की आँखें उसकी तरफ़ उठी रहीं।

'लगा था कि तुम एकसाथ दो मनःस्थितियों में जी रही हो। उनमें से एक तुम्हें दूसरी को स्वीकार नहीं करने देती। इसलिए तुम्हारी कोशिश अपनी उस दूसरी मनःस्थिति को ही ओछा करने की थी।'

श्यामा ने आहिस्ता से प्याली रख दी और छिले भाव से आँखें मूँद लीं। 'तुम जैसा चाहो सोच सकते हो, लेकिन...।'

'मैं जानता था तुम्हें यह बात सुनने में अच्छी नहीं लगेगी। अगर तुम यहाँ न आतीं, मैं तुमसे मिलने वहाँ आता, तो शायद यह कहने का मौका ही न आता। तब तुम अधिक मानसिक सुविधा के साथ यहाँ से जा सकतीं।'

श्यामा ने आँखें खोल लीं। 'तुम्हारा मतलब है कि मेरे उकसाने से ही तुमने...?' और उसका भाव छलछलाते आँसुओं को रोकने का हो गया।

उसे गुस्सा भी आया, सहानुभूति भी हुई। श्यामा का प्रयत्न उसे ठगने का था या अपने-आपको। वह आसानी से आगे कहने की बात नहीं सोच पाया। घड़ी की टिक-टिक की तरह उसे अपनी एक-एक साँस समय का ताल देती लगी। 'मैं यह नहीं कहता कि ज़िम्मेदारी सिर्फ़ तुम्हारी थी,' पता नहीं कितने लम्बे वकफ़े के बाद उसने कहा। 'जितनी ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर है, उससे मैं इन्कार नहीं करता। लेकिन इतना फिर भी कह सकता हूँ कि दोहरी मनःस्थिति में तुम तब भी थीं और अब भी हो।'

श्यामा का चेहरा तमतमा गया था मगर जल्दी ही उसने अपने को सँभाल लिया। 'मैं नहीं जानती मुझे किस तरह से अपनी बात तुम्हारे सामने रखनी चाहिए। मैं तुमसे किसी तरह का ढोंग नहीं करना चाहती, क्योंकि उससे यहाँ से जाकर मैं अपने को ही तकलीफ़ दूँगी। भावना साथ दे तो मैं किसी भी तरह के आचरण को हीन नहीं समझती—उतने कट्टरपंथी संस्कार मेरे शुरू से ही नहीं रहे। आज देव को गुज़रे साढ़े तीन साल हो गए। अपनी ज़िन्दगी का कुल डेढ़ साल मैंने उस आदमी के साथ बिताया था। लेकिन आज भी मैं उसके साथ अपने सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं समझ पाती। वह मेरे लिए बहुत अजनबी है या बहुत अपना, इस विषय में मुझे अपने अन्दर अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं। वह जीवित था, तो कितना कुछ था जो मैं उससे चाहती थी और मुझे नहीं मिलता था। वह कभी मुझे अपने इतने पास नहीं लगा कि मैं अपने को उसमें खो सकूँ।

शायद इसीलिए उसे अपने बहुत पास ला सकने की लालसा मेरे अन्दर थी। उसकी मृत्यु से मुझे लगा था जैसे आखिरी बार फिर उसने सफलतापूर्वक मुझे झुठला दिया हो। उसके शरीर के न रहने का मुझे बहुत कष्ट है, मगर अपना रात-दिन का अभाव भी मुझे उसी का एक चेहरा जान पड़ता है। पुरुष का जो भी रूप मेरे मन में था, उसे मैंने उस एक आकार में ढाल लिया था। आज भी मेरी कोई वास्तविक अपेक्षा है, तो उसी के साथ बैठकर अपनी ज़िन्दगी की ज़रूरतों का निपटारा करने की। मुझे लगता है कहीं उसने मुझे धोखा दिया है...अपने-आपका एक बहुत बड़ा अंश बिना मेरे सामने खोले वह अपने साथ ले गया है। बदले में अपनी कुछ ज़िम्मेदारियाँ मेरे ऊपर छोड़ गया है जिन्हें मैं ज़बर्दस्ती, जैसे उससे बदला लेने के लिए, अपने ऊपर ओढ़कर चल रही हूँ, क्योंकि उससे आमने-सामने हो सकने का और कोई रास्ता मेरे पास नहीं है। मैं जिस क्षण चाहूँ, अपने को उन ज़िम्मेदारियों से मुक्त कर सकती हूँ। उन्हें निभाने की कोई नैतिक मज़बूरी मैं अपनी नहीं मानती। फिर उस आदमी का एक लम्बी ख़ामोशी में मेरे साथ डेढ़ साल काटकर चले जाना... वही अपने में इतना अनैतिक लगता है कि उसके बदले में अपनी किसी भी स्वच्छंदता के लिए मैं अपने को क्षमा कर सकती हूँ। लेकिन इसका अर्थ होगा उसके साथ अपनी ज़िन्दगी का खाता हमेशा के लिए बंद कर देना, उससे मुक्त होकर उसे अपने से मुक्त कर देना। और यही मैं नहीं कर पाती, या नहीं करना चाहती। मैं अब भी उसे बीच में रखकर, अपनी सारी शिकायतें उस पर लादकर ही जीना चाहती हूँ। या शायद यह मेरे चाहने पर निर्भर नहीं करता। मेरे लिए और किसी तरह से जीना अब सम्भव ही नहीं रहा। मैं आज भी उसे अपने सामने जीवित देखना चाहती हूँ। उसकी मृत्यु सचमुच मुझसे स्वीकार नहीं होती।'

अब वह अपनी छलछलाई आँखों को रोक नहीं सकी। आँसू उसके गालों पर बह आए। रूमाल से मुँह साफ़ करके वह आँखें झपकती कुछ देर चुप रही। फिर बोली, 'हो सकता है किसी दिन मैं उबर जाऊँ इस सबसे। मगर साढ़े तीन साल से जिस तरह मेरे अन्दर यह चीज़ और-और गहरी जड़ पकड़ती गई है, उससे विश्वास नहीं होता। मैं लोगों के बीच उठती-बैठती हूँ, हँसती-बात करती हूँ, तो भी उस आदमी की ख़ामोश नज़र से अपने को देखती रहती हूँ। आगे पढ़ने की मेरी ज़िद का कारण भी शायद यही है कि उसे मेरी शिक्षा से सन्तोष नहीं था। वह डेढ़ साल भी मेरे साथ जिया नहीं था, सिर्फ़ मुझे झेलता रहा था। तुम ऐसे आदमी के लिए क्या कहोगे जो कभी खुश दिखाई न दे, फिर भी कभी डाँटे नहीं, कभी शिकायत मुँह पर न लाए? वह इतना चुप रहता था कि कभी मुझे किसी के साथ देख भी लेता कुछ करते, तो शायद दूसरी तरफ़ मुँह कर लेता...और मैं इस उदासीनता के लिए उसे न तब क्षमा कर सकती थी, न आज कर सकती हूँ। उस दिन रहँट से चलते हुए तुमने पूछा था मैं उतनी ख़ामोश क्यों हूँ। मैं उस वक़्त भी देव को अपने साथ लेकर चल रही थी। इसके अलावा एक

और बात भी थी। मुझे वहाँ उन कोठरियों के पास से निकलते हुए, अन्दर बिछी चारपाई को देखते हुए, एक बहुत पहले की पढ़ी कहानी याद आ रही थी। प्रीतो! तुमने पढ़ी है?'

उसने सिर हिला दिया। कृश्नचन्दर की काफ़ी रूमानी कहानी थी वह। पूरे चाँद की रात और गाड़ी का सफ़र। एक बूढ़ा जाट जिसके चेहरे पर गहरे घावों के निशान हैं। एक गाल के घाव अंग्रेजी के अक्षर 'वी' की तरह और दूसरे के एक क्रॉस की तरह। प्रीतो उस जाट की पत्नी थी—एक-मात्र स्त्री जिससे उसने जीवन में प्रेम किया था। ब्याह के बाद प्रीतो चार दिन के लिए अपने मायके गई, तो वह भी उसके पीछे वहाँ जा पहुँचा। रात को उसने देखा कि प्रीतो उसके पास से उठकर कहीं बाहर जा रही है। वह भी चुपचाप उसके पीछे-पीछे चल दिया। कितने ही खेत लाँघकर एक पहाड़ी की ओट में प्रीतो जहाँ पहुँची, वह एक कुआँ था। कुएँ के पास बेरी का एक झाड़ था। पीछे एक कच्चा घर था जिसका दरवाज़ा आधा खुला था। जाट ने देखा प्रीतो अन्दर एक आदमी से प्रेम कर रही है। उस आदमी के कहने से वह अँधेरी कोठरी से पानी लाने अन्दर गई, तो जाट ने कृपाण निकालकर उस आदमी का सिर काट दिया और चुपचाप वापस चला आया। रास्ते में उसने कृपाण से लहू पोंछ दिया। प्रीतो कुछ देर बाद घर पहुँची। उसे सोया जानकर प्रीतो ने उसकी कृपाण निकाली और तसल्ली करके कि उसके प्रेमी का हत्यारा उसका पति नहीं है, चुपचाप सो गई। ज़िन्दगी चलती रही। उनके कई बच्चे-अच्चे हो गए। बरसों बाद एक दिन खाना खाते हुए जाट ने प्रीतो से अन्दर अँधेरी कोठरी से अचार ला देने को कहा। प्रीतो यह कहकर बैठी रही कि उसे अँधेरे में अन्दर जाने से डर लगता है। तब जाट से नहीं रहा गया। उसने कह दिया कि अपने यार के कहने से वह अँधेरी कोठरी से पानी लाने गई थी, तब क्या उसे डर नहीं लगा था? यह जानते ही कि उसके प्रेमी की हत्या उसके पति के हाथों हुई है, प्रीतो ने तुरन्त जाकर कृपाण निकाल ली और उसके शरीर को चलनी करने लगी। जाट ने किसी तरह अपने को बचाया और वही कृपाण प्रीतो के हाथ से छीनकर उसका सिर काट दिया।...अब गाड़ी की खिड़की है और बाहर पूनम की चाँदनी। वैसी ही चाँदनी में प्रीतो अपने प्रेमी के पास जाने के लिए घर से निकली थी। गाड़ी में जाट के साथ सफर करता एक और जोड़ा है। पति थोड़ी देर पहले अपनी पत्नी को दुलार-चुमकारकर सोया है। अब पत्नी अकेली जाग रही है और खिड़की की ओट में मुँह किए रो रही है।

श्यामा कह रही थी, 'सोचती हूँ जब प्रीतो ने अपने पति पर कृपाण उठाई होगी, तब उसे अपने मन में कैसा लग रहा होगा और जब उसके अपने सिर पर वार हुआ होगा, तब एक क्षण के लिए...उस एक क्षण के लिए उसे यह नहीं लगा होगा कि उसका पति सचमुच...सचमुच एक ऐसा आदमी है जिसके होने से...।' और वह चुप होकर बाहर दालान की तरफ़ देखने लगी जहाँ ईंटें फिर हल्की बौछार से भीगने लगी थीं।

वह श्यामा के चेहरे के उतार-चढ़ाव को देख रहा था। ख़ामोश हो जाने के बाद उसका चेहरा पहले से ज़्यादा बात करता लग रहा था। भाव ऐसे जल्दी-जल्दी बदल रहा था जैसे वह खुला समुद्र हो जहाँ कई-कई लहरें उठकर अपने में डूब जाती हों। सतह पर कभी घटा घिर आती हो, कभी धूप फैल जाती हो। कभी सैकड़ों सी-गल तैरने लगते हों, कभी नितान्त सूनापन घिर आता हो। वह उसके सामने बैठी उससे बात करती हुई भी बिलकुल अकेली हो गई थी—सीधी नज़र से उसे ताकते हुए भी वैसे वह उसे नहीं, उसकी जगह अपने अकेलेपन को देख रही थी...अपनी ज़िन्दगी में एक व्यक्ति के न होने को, और उस 'न होने' को लक्ष्य करके उमड़ते अपने अन्दर के दर्द को बाहर बिखर आने से बचाना चाह रही थी। कुछ देर चुप रहने के बाद वह फिर बोली, 'मैं जानती हूँ ऐसी बात करना सिर्फ़ अपने को ठगने का एक बहाना है। देव अब नहीं है, इसलिए उसे लेकर कुछ भी कहना-सोचना बेकार है। यह भी जानती हूँ कि उसके बाद, उसकी वजह से जिन लोगों की ज़िम्मेदारी मैं अपने ऊपर लिए हूँ, उन्हें मेरे सुख-दुख से कोई मतलब नहीं है। मतलब है तो सिर्फ़ उन पैसों से जो हर महीने मैं उन्हें भेजती हूँ। पैसे वक़्त से पहुँच जाएँ तो महीने के बाक़ी उनतीस दिन शायद उन्हें मेरी याद भी नहीं आती। कुछ महीने पहले मैंने बीजी को लिखा था कि मैं बहुत अकेली महसूस करती हूँ, इसलिए पूना का घर छोड़कर वे लोग यहीं मेरे पास आ रहें। पर उन्हें शायद लगा कि घर मेरे नाम होने से मैं उसे बेचने का बहाना ढूँढ़ रही हूँ। बहुत बार लिखने पर वे सिर्फ़ सीमा की एक महीने की छुट्टी काटने मेरे पास आईं, कि पहले देख लें, यहाँ रहकर उन्हें कैसा लगता है। वह एक महीना भी पता नहीं किस मुश्किल से उन्होंने मेरे पास बिताया। सीमा तो पहले दिन से ही कहने लगी थी कि ऐसी मनहूस जगह पर वह हरगिज़ नहीं रह सकती। मुझे लगा कि वह घर से ही यह बात सोचकर चली थी। जिस दिन वे लोग चली गईं, मैं अकेले में ख़ूब रोई। लगा जैसे उस दिन दूसरी बार देव की मृत्यु हुई हो। मन में विद्रोह भी उठा कि मैं क्यों उन लोगों के लिए यह सब कर रही हूँ, क्यों उन्हीं की तरह मैं भी सिर्फ़ अपने लिए नहीं जी सकती? फिर यह सोचकर अपने को समझा लिया कि मैं जो भी कर रही हूँ, उन लोगों के लिए नहीं, अपने लिए कर रही हूँ। देव ने डेढ़ साल में सिर्फ़ एक बार, एक ही चीज़ मुझसे चाही थी। वह भी मरते समय कि मैं उसके बाद इन दोनों का ध्यान रखूँ, ख़ास तौर से सीमा का तब तक कि उसकी शादी न हो जाए। अपनी छोटी बहन से उसे बहुत प्यार था। शायद मुझसे उसकी उदासीनता की एक वजह यह भी थी कि मैं उसकी छोटी बहन जैसी नहीं थी। एक बार उसने कहा भी था कि लड़कियों को सीमा की तरह जीती-जागती होना चाहिए, मेरी तरह बुझी-बुझी नहीं।'

हवा के झोंके से खिड़की का एक किवाड़ झटके से बन्द हुआ, फिर खुल गया। परदा किवाड़ और सलाखों के बीच उलझकर मुक्त हुआ, तो इस तरह ऊपर को तैर

गया कि कमरा सहसा नंगा लगने लगा। सड़क, पेड़, साइकिल पर जाता एक लड़का, सब-कुछ कमरे का हिस्सा बन गया। मगर कुछ क्षण बाद ही परदे के सलाखों से चिपक जाने से कमरा फिर बाहर से अलग होकर अपने में ढक गया। पल्लू कंधे से नीचे सरक आने से श्यामा के सफ़ेद ब्लाउज़ में उठती साँसें गिनी जा सकती थीं। वह तीन दिन पहले की तरह उस समय भी अपने शरीर को भूल-सी गई थी। तिपाई पर रखी चाय की ख़ाली प्याली में आँखों से कुछ खोजती वह बात करती रही। 'देव ज़िन्दा होता, तो शायद एक दिन मैं उससे अच्छी तरह लड़ लेती। उसे झकझोरकर कहती कि मेरे साथ अगर तुम हमेशा इसी तरह चुप बने रहोगे, तो मैं ज़िन्दगी-भर तुम्हारे साथ नहीं रह सकूँगी। फिर भी उसे न बदल पाती, तो शायद सचमुच उसे छोड़ भी देती। लेकिन अब उसके साथ मेरा सम्बन्ध जैसे उसी एक जगह रुका है जहाँ उसकी मौत के दिन था और उस स्थिति को बदलने का विकल्प मेरे पास नहीं रह गया। मुझे अपने से बहुत कुढ़न होती है कि जो डेढ़ साल हम लोग साथ थे, उस दौरान ही मैंने क्यों नहीं उससे खुलकर बात कर ली? क्यों मैं भी उसी की तरह चुप रहकर उसकी चुप्पी को झेलती रही? लेकिन उस बीते कल पर आज मेरा वश नहीं है। जब समय था, तब मैं सोच भी नहीं सकती थी कि एक-दूसरे के साथ हम इतने थोड़े दिनों के लिए हैं कि कहने-सुनने की जो भी बात हो, वह अभी कह-सुन लेनी चाहिए। तब आनेवाले दिनों का भरोसा था मन में। पर आज वही भरोसा एक ऐसी फाँस बन गया है कि मैं उसे निकाल ही नहीं पाती अपने अन्दर से।'

इस बार श्यामा ने उसकी तरफ़ देखा, तो उसे लगा कि इतनी देर में वह पहली बार सीधे उससे कुछ कहने जा रही है। अपनी आँखों से जैसे किसी चीज़ के लिए उसे आश्वासन देती वह बोली, 'तुम्हें मेरे उस दिन के व्यवहार से बहुत अजीब-सा लगा होगा। तुमने शायद इसीलिए कहा है कि मैं उस समय दोहरी मनःस्थिति में थी। दोहरी मनःस्थिति की बात सही हो सकती है, परन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में तुमने लिया है। मैं उस वक़्त तुम्हारे साथ थी, और बहुत हद तक नहीं भी थी। जीजाजी के साथ जो घटना हुई थी, उसके बाद से ही मेरा मन देव के लिए छटपटा रहा था और एक तरह से अपनी छटपटाहट से बचने के लिए ही मैं उस दिन तुम्हें अपने साथ घसीट ले गई थी। तुमसे बात करके मुझे अच्छा लगता है। यह भी जानती हूँ कि इन दिनों मेरी पढ़ाई ख़ास कुछ नहीं हुई, ज़्यादातर मैं तुमसे इधर-उधर की बातें ही करती रही हूँ। लेकिन इसका कारण भी मैं तुम्हें नहीं, अपने को ही मानती हूँ। तुमसे मिलने के बाद मुझे लगा था कि तुम एक ऐसे व्यक्ति हो जिससे मैं बात कर सकती हूँ। तुम्हें मेरी बात सुनकर चिढ़ नहीं होती और न ही तुम सिर्फ़ झेलने के लिए मेरी बात झेलते हो। इसीलिए आज भी तुमसे इतनी सब बात कह पा रही हूँ। किसी से बात कर सकना भी अपने में एक सम्बन्ध है, इसे नाम चाहे जो दिया जाए। और कई सम्बन्धों

से यह कहीं गहरा सम्बन्ध है, कम-से-कम मेरे लिए। लेकिन यह सम्बन्ध स्त्री और पुरुष के निर्माण-भेद का सम्बन्ध नहीं है। इसलिए जिस समय मुझे लगा कि तुम्हारी ओर से इसे ऐसा अर्थ दिया जा रहा है, तो मैं पहले तो कुछ क्षण दुविधा में रही। फिर एकदम पथरा गई। दो दिन तक मेरे यहाँ न आने का कारण भी यही था। मैं नहीं समझ पा रही थी कि मैं किस तरह अपने को तुम्हारे सामने स्पष्ट कर सकूँगी। क्योंकि तुमने मेरे बारे में जो सोचा, वह मेरे उस व्यवहार के कारण ही सोचा होगा जो देव को अपने साथ देखने की ज़रूरत ने मेरे अन्दर ला दिया था। मैं उस समय बारिश में भीगती हुई बहुत-कुछ एक स्त्री, एक युवा स्त्री, की तरह चल रही थी, इस ओर से मैं अनजान नहीं हूँ। परन्तु जिसके लिए मैं स्त्री की तरह व्यवहार कर रही थी, वह मेरे साथ नहीं था और जो मेरे साथ था...उसके मन में पैदा हुई ग़लतफ़हमी के लिए मैं उसी को कैसे ज़िम्मेदार ठहरा सकती हूँ, तुमसे मैंने रूखे ढंग से बात की थी ज़रूर, लेकिन ग्लानि मुझे अपने-आपसे हुई थी। मैंने क्यों इस बात का ध्यान नहीं रखा कि तुम्हारे साथ मैंने अपना जो भी या जितना भी सम्बन्ध माना हो, तुमसे मैंने उसकी स्वीकृति नहीं ली और उस स्थिति में पुरुष होने के नाते तुम मुझे केवल एक स्त्री के रूप में भी देख सकते हो? इसलिए तुम्हारे साथ चलते हुए मुझे अपने को उतनी ढील देने का कोई अधिकार नहीं था। इसी ग्लानि के मारे मैं दो दिन तुम्हारे सामने नहीं आ सकी। लेकिन दूसरी ओर मेरे लिए यह भी सम्भव नहीं था कि बिना तुमसे मिले और यह सब कहे यहाँ से चली जाऊँ।'

बोलना शुरू करके जिस तरह वह लगातार बोलती गई, उसी तरह चुप हो जाने के बाद काफ़ी देर तक चुप बनी रही, शायद अब वह उसके बोलने की आशा कर रही थी। लेकिन वह जो महसूस कर रहा था, उसे शब्दों के तो क्या, विचारों के घेरे में भी ठीक से नहीं बाँध पा रहा था। श्यामा ने जो कुछ कहा था, उसने उसके मन की उदासी को और गहरा दिया था। परन्तु वह उदासी ज़्यादा श्यामा को लेकर थी या अपने-आपको? श्यामा के लिए उसके मन में जो भाव था, वह सहानुभूति और दया से आगे एक आक्रोश का था। ऐसी क्या चीज़ थी जिसके कारण वह साढ़े तीन साल पहले के अपने जीवन से इस बुरी तरह चिपकी थी कि आज का जीवन उसके लिए कुछ अर्थ रखता था, तो केवल उसी सन्दर्भ में? और वह चिपकना उसके जीवन की सचाई थी या सचाई से बचने का एक हठ-भरा उपाय? वह नहीं सोच पा रहा था कि श्यामा के उस सारे संघर्ष में वह स्वयं कहाँ पर है। क्या वह सचमुच उससे अपना एक तरह का सम्बन्ध मानती थी...या वह भी एक उपाय ही था जो केवल एक अनुपस्थिति को अपनी उपस्थिति से भर सकता था?

बीच की चुप्पी काफ़ी अखरने लगी, तो उसने आहिस्ता से पूछ लिया, 'रात को तुम्हारी गाड़ी कितने बजे जाती है?'

'साढ़े नौ पर छूटती है।'

'तब तो तुम्हारे पास ज़्यादा वक़्त नहीं है अब। सामान-आमान बाँधने के लिए भी तो वक़्त चाहिए।'

'सामना ज़्यादा नहीं है। जो है वह एक जगह इकट्ठा कर दिया है। बाँधने में वक़्त नहीं लगेगा। लेकिन बिटिया को रोती छोड़ आई थी, इसलिए अब चलना होगा मुझे।'

मगर कहकर भी वह उठी नहीं। जैसे अभी कुछ और कहा जाने को था, न जाने किसकी तरफ़ से, जिसके बाद ही वह वहाँ से चल सकती थी।

'मैं कोशिश करूँगा रात को स्टेशन पर आ सकूँ,' वह बोला।

'आओगे?'

'कोशिश करूँगा।'

श्यामा की आँखों में एक चमक आते-आते बुझ गई। वह कुछ पल सोचती नज़र से उसे देखती रही। फिर बोली, 'नहीं, वहाँ मत आना तुम।'

'ठीक है। नहीं आऊँगा।' वह उस प्रकरण पर रुकना नहीं चाहता था।

'मुझे ग़लत मत समझना।' श्यामा ने अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया।

'ग़लत समझने की क्या बात है इसमें?' उसने अपना हाथ ज़रा-सा हिला लिया, पर हटाया नहीं।

'मैं इसलिए कह रही थी स्टेशन पर वे भी चलेंगे शायद...जीजाजी...और मैं नहीं चाहती कि उन्हें ऐसा कुछ लगे जिससे...।'

उसने अपना हाथ हटा लिया। श्यामा की उँगलियों का हल्का पसीना उसे अपनी हथेली की पीठ पर सूखता महसूस हुआ।

'तुम्हारा सोचना ठीक है,' वह बोला।

श्यामा फिर भी उसी तरह बैठी रही। उसके होंठ हल्के-हल्के काँप रहे थे और उसकी आँखों में फिर आँसू भर आए थे।

'क्या हुआ?' उसने लगाव के साथ पूछ लिया।

'कुछ नहीं,' इस बार श्यामा ने उसका हाथ अच्छी तरह अपने हाथ से ढक दिया।

'अगर यह उस दिन की वजह से है, तो...।'

'नहीं, उस दिन की वजह से नहीं है।'

'तो?'

'मुझे लगता है मैं कहीं तुम्हें चोट पहुँचाकर जा रही हूँ।'

'यह कैसे?

'पता नहीं। पर लगता है मुझे।'

उसके गले से एक रूखी-सी आवाज़ निकली, 'यह ग़लत है।'

श्यामा ने अविश्वास की नज़र से उसे देख लिया। 'एक काम कर सकते हो?'

'क्या?'

'तुम मुझे...मेरा मतलब है अगला स्टेशन यहाँ से कितनी दूर पड़ता है?'

'अगला स्टेशन?' श्यामा के हाथ से ढके अपने हाथ में उसे एक गरम लहर उतरती महसूस हुई। 'नौ-दस मील पर है शायद। क्यों?'

'गाड़ी वहाँ कितनी देर रुकती है?'

'मुश्किल से दो या तीन मिनट।'

'यह नहीं हो सकता कि...?'

वह हँस दिया। 'तुम चाहती हो मैं तुम्हें वहाँ मिलूँ?'

श्यामा की आँखों में शिकायत भर गई। 'हँसने की बात नहीं थी यह।'

'हँसने की न सही, पर बचपने की तो है ही।'

श्यामा ने हाथ हटा लिया और उठने की तैयारी में अपने को सहेजने लगी। 'मुझे पता है मैं कई बार बचपने की बातें सोचती हूँ।'

बौछार रुक गई थी, पर बाहर हवा में काफ़ी सीलन थी। श्यामा कुरसी से उठकर बिना उसकी तरफ़ देखे दरवाज़े तक गई, कुछ देर इस तरह बाँह बाहर को फैलाए रही जैसे कि बौछार की वजह से ही उसे इतनी देर वहाँ रुकना पड़ा हो और उसके पास लौट आई। 'अच्छा...।'

वह भी उठ खड़ा हुआ। 'जा रही हो?'

'हाँ।'

वह उसके साथ बाहर निकल आया। गीला दालान और उसके बाद का कच्चा हिस्सा उन्होंने चुपचाप पार किया। श्यामा जिस तरह चल रही थी, उससे लगता था कि वह किसी तरह जल्दी से उस घर का गेट पार कर जाना चाहती है। मगर गेट से निकलकर सड़क पर आते ही उसके पाँव रुक गए। 'तो...?'

'अभी मुलाक़ात होगी तुमसे,' वह बोला।

'अब कहाँ होगी?'

'मैं आऊँगा तुम्हें छोड़ने। अगले स्टेशन पर।'

श्यामा ने इस बार उसे दूसरी तरह की शिकायत के साथ देखा और हाथ हिलाकर सड़क पर बढ़ गई।

छोटा-सा कच्चा स्टेशन। लकड़ी के खम्भों पर कैरोसीन के दो-तीन चौकोर लैंप। थोड़े-थोड़े फासले पर तीन-चार बैंचें।

वह बिना शेड के अकेले प्लेटफ़ार्म पर अकेला टहल रहा था। जिस गाड़ी से आया था, उससे दो घंटे बाद श्यामा की गाड़ी आने तक और किसी गाड़ी को वहाँ

से नहीं गुज़रना था। गाड़ी आने के वक़्त एक टिकट-कलेक्टर और दो-चार कुली-खलासी वहाँ थे, एक मरियल-सा चायवाला भी था। लेकिन अब वे सब प्लेटफ़ार्म के पीछे के अँधेरे में न जाने कहाँ गुम हो गए थे। प्लेटफ़ार्म प्लेटफ़ार्म न लगकर ऐसे लग रहा था जैसे बियाबान में बना एक चबूतरा हो। एक साया था जो जैसे कहीं से भटककर उस चबूतरे पर आ गया था और अब चबूतरे की हदों से बाहर नहीं निकल पा रहा था। एक चौकोर लैंप से दूसरे तक, फिर तीसरे तक, फिर वापस।

दो समान्तर पटरियाँ, अँधेरे को काटकर जाती बुझी-बुझी लकीरें। कोई आकर्षण था जिसके मारे कभी-कभी वह प्लेटफ़ार्म के बिलकुल सिरे पर चलने लगता था, पटरियों के बहुत पास। फिर उन पटरियों पर एक गाड़ी के आने की सम्भावना मन में डर भर देती थी जिससे क़दम अपने-आप वहाँ से दूर हट आते थे। एक सुनसान प्लेटफ़ार्म पर दो घंटे टहलना, सिर्फ़ इसलिए कि एक गाड़ी के आने पर किसी से दो मिनट बात की जा सके—उसे अच्छा लग रहा था कि ऐसी बेवकूफ़ी की हरकत का कोई गवाह नहीं था।

वह वहाँ क्यों आया था? इस सवाल पर उसके क़दम रुक जाते थे। केवल शिष्टाचार निभाने? या श्यामा को किसी ऐसी चीज़ का विश्वास दिलाने जिस पर कि वह समझता था उससे अलग होने तक उसे विश्वास नहीं था।

वहाँ आने के लिए गाड़ी पकड़ने से लेकर अब तक कितनी ही बार वह यह सवाल अपने से पूछ चुका था। टिकट-घर से टिकट खरीद चुकने के बाद भी उसे वापस कर देने की बात मन में आई थी। उसके इस तरह वहाँ आने से क्या कोई ग़लतफ़हमी दूर होने को थी? और किसकी ग़लतफ़हमी?

चलते-चलते वह चोर-नज़र से पीछे देख लेता था। अपने को अपने अकेला होने का विश्वास दिलाने के लिए। जैसे जिस अँधेरे में टिकट-कलेक्टर और कुली जाकर गुम हो गए थे, उसमें से अब उनकी जगह कोई भी निकलकर आ सकता था। उसे जाननेवाले सब चेहरे जैसे अँधेरे की उस दीवार के पीछे से उसे देख रहे थे। बड़ी-बड़ी आँखोवाला एक दुबला ज़र्द चेहरा अँधेरे से बाहर आने को सबसे ज़्यादा कसमसा रहा था। वह उस चेहरे से ध्यान हटाने के लिए बार-बार घड़ी में वक्त देख लेता था। गाड़ी के आने में अब भी एक घंटा बाक़ी था।

यह ख़याल आने से कि वह एक घंटे से लगातार टहल रहा है, उसे एकाएक थकान महसूस होने लगी। वह जाकर सबसे नज़दीक की बैंच पर पसर गया। बैंच के पास ही एक लैंप था जिसके शीशे पर धुएँ और मौसम ने कई-एक आकृतियाँ बना दी थीं। वह बैंच की बाँह पर सिर रखकर लेट गया। मैले चौकोर शीशे पर उभरी आकृतियों में उसे कई-कई शक्लें नज़र आने लगीं। यह उसकी हमेशा की आदत थी।

सड़क से गुजरती गाड़ियों के नम्बर जोड़ना और कहीं कोई दाग़ नज़र आते ही उसके सिर- मुँह-पैर निकालने लगना। लैंप का चौकोर शीशा एक स्क्रीन था और उस पर दिखाई देती तीन आकृतियाँ?...पहली दुबली-पतली आकृति लता की थी। दूसरी स्वस्थ आकृति श्यामा की। और तीसरी?...वह एक बुड्ढा कमज़ोर आदमी था जो घुटनों के बल वहाँ गिरा हुआ था। वह आदमी वहाँ क्यों था? शेष दोनों आकृतियों को अपनी बेबसी दिखाकर वह उनसे क्या पाना चाहता था?

तीनों आकृतियाँ सपाट थीं। गोलाइयाँ उनमें नहीं थीं। आकाश एक काले पोस्टकार्ड की तरह था। पोस्टकार्ड पर लैंप की तसवीर थी। तसवीर में कुछ और तसवीरें। एक के अंदर दूसरी। बुड्ढा कमज़ोर आदमी एक लाज से दोहरी लड़की में बदल गया था। लड़की चेहरा हाथों में छिपाकर किसी तरह अपने को दूसरों की नज़रों से बचाए रखना चाहती थी। पास की दोनों आकृतियाँ उसे घूर रही थीं। इनमें एक वह खुद था। दूसरी आकृति एक लम्बे-ऊँचे आदमी की थी। उसे वह नहीं पहचानता था। पर वह आदमी काफ़ी नाराज़ नज़र आ रहा था। और लाज से झुकी लड़की...वह अब लड़की नहीं थी, एक टूटा पेड़ था। पास की दोनों आकृतियाँ एक खस्ता इमारत की टूटी दीवारें थीं जो पेड़ के ऊपर ढह आने को थीं...।

उसने आँखें हटा लीं। गाड़ियों के नम्बर गिनने से भी इसी तरह मन ऊब जाता था। अपने को झकझोरकर वह इकाई-दहाई-सैकड़े के चक्कर से बाहर निकलता था। मगर थोड़ी ही देर में संख्या और आगे बढ़ जाती थी। पी बी एल् तीन पाँच सात दो। पाँच तीन आठ, आठ सात पंद्रह, पंद्रह दो सत्रह। सात और एक आठ। नौ सौ इकानवे और आठ नौ सौ निनानवे। नाइन नाइन नाइन।

कमज़ोर टाँगोंवाला बुड्ढा हँस रहा था। शेष दोनों आकृतियाँ शरम से आँखें चुरा रही थीं।

उसने आँखें मूँद लीं। इस तरह उन आकृतियों से तो छुटकारा मिल गया, लेकिन लकड़ी की चुभती बाँह पर सिर रखकर ज़्यादा देर लेटा नहीं गया। वह एक झटके से उठकर फिर से पहले की तरह टहलने लगा। दूर, ख़ाली पटरियों की लकीर पर, सिग्नल की लाल रोशनी से आगे एक सफ़ेद रोशनी नज़र आ रही थी। पता नहीं किस चीज़ की रोशनी थी वह। पर जब से वह आया था, तभी से वह अकेली रोशनी वहाँ झिलमिला रही थी। बार-बार उसे देखकर भ्रम होता था गाड़ी आ रही है। पर रोशनी अपनी जगह से हिलती नहीं थी, तो लगने लगता था गाड़ी सिग्नल न मिलने से वहाँ आकर रुक गई है। वह हर बार उस गाड़ी को अपनी आँखों से धकेलकर प्लेटफ़ार्म पर ले आता था। एक-एक करके डब्बे सामने से निकल जाते थे। पर किसी भी डब्बे में उसे श्यामा नज़र नहीं आती थी। वह जब गाड़ी के साथ-साथ चलकर डब्बों में झाँककर देखने लगता था, तो गाड़ी ह्विसल देकर आगे चल देती थी। तीन या चार डब्बों के बाद शेष सब

डब्बे अनदेखे छूट जाते थे। उसके बाद आँखें फिर उस रोशनी पर जा अटकती थीं और वह नए सिरे से गाड़ी को प्लेटफ़ार्म पर ले आने लगता था।

आखिर जब सिग्नल की बत्ती हरी हो गई और अँधेरे में सुनाई देती घंटी की आवाज़ के साथ-साथ तेज़ रोशनी उस रोशनी से आगे निकल आई, तो उसके लिए यह तय करना मुश्किल हो गया कि उसे प्लेटफ़ार्म के किस हिस्से में खड़े होना चाहिए। टिकट-चेकर और कुलियों के अलावा और भी कुछ लोग तब तक प्लेटफ़ार्म पर आ गए थे। उसके और आनेवाली गाड़ी के बीच जो अकेलेपन का सम्बन्ध था तब तक, उसमें उन लोगों का आसपास होना एक खलल की तरह था। प्लेटफ़ार्म का अकेलापन चुक जाने से उसके श्यामा से मिलने आने का उद्देश्य ही समाप्त हो गया था जैसे।

गाड़ी आकर रुकी, श्यामा को ढूँढ़ने में उसे कठिनाई नहीं हुई। वह ज़नाना सैकेंड क्लास के दरवाज़े पर खड़ी थी, जैसेकि उसी स्टेशन पर उतरना हो। श्यामा का डब्बा जितना पास आकर रुका, वह भी उसे अस्वाभाविक-सा लगा। रुकने का झटका लगने तक वे दोनों बिलकुल आमने-सामने थे। श्यामा झट से प्लेटफ़ार्म पर उतर आई।

'उतर क्यों आईं?' वह उसका बढ़ा हुआ हाथ अपने हाथ में लेकर बोला।

'गाड़ी अभी छूट जाएगी।'

'पहले ह्विसल तो देगी,' श्यामा ने उसके वहाँ होने की कृतज्ञता से उसका हाथ अपने हाथ में कस लिया। 'तुम्हें कितनी देर हो गई आए?'

'दो घंटे।'

'दो घंटे?'

वह मुसकरा दिया।

'इतना समय तुमने इस अकेली जगह पर कैसे बिताया?'

उसकी आँखें लैंप-पोस्ट से जा टकराईं। आकृतियों के कुहासे में लग रहा था जैसे कोई व्यक्ति आँखें मूँदकर सो रहा हो। उसने कहना चाहा कि कई बार तो आदमी अपनी पूरी ज़िन्दगी एक अकेली जगह पर खड़ा रहकर काट देता है। पर कहा उसने इतना ही, 'मुझे बल्कि काफ़ी अच्छा लग रहा था यहाँ, क्योंकि जो लोग इस वक़्त नज़र आ रहे हैं, उनमें से कोई भी नहीं था।'

श्यामा न जाने किस चीज़ से सिहर गई।

'क्यों?' उसने श्यामा की डूबी आँखों में देखते हुए पूछ लिया।

श्यामा ने उत्तर नहीं दिया।

'कई बार यह चाह नहीं होती कि आदमी कई-कई घंटे बिलकुल अकेला रहे?'

'इस समय भी ऐसा ही चाह रहे थे क्या?' पर श्यामा यह सिर्फ़ कहने के लिए ही कह गई थी। सोच वह कुछ और ही रही थी।

'नहीं। इस समय गाड़ी का इन्तज़ार कर रहा था।'

'और अब भी शायद गाड़ी का इन्तज़ार ही कर रहे हो।'

दोनों हँस दिए। श्यामा उसकी एक-एक उँगली पर अँगूठा फिराती बोली, 'एक बात कहनी थी तुमसे...।'

वह रोओं पर उसका सहलाना महसूस करता उसे देखता रहा।

'अगर किसी दिन मैं उबर सकी अपने-आपसे, तो...।'

गार्ड की ह्विसल के साथ ही इंजन की लम्बी चीख़ ने उसकी बात को बीच में काट दिया।

श्यामा उसका हाथ छोड़कर जल्दी से पायदान की तरफ़ बढ़ गई।

'बेबी अन्दर सोई है।' हड़बड़ी में ऊपर चढ़ते हुए उसकी चप्पल साड़ी में उलझ गई। उसने सहारा देकर उसे ठीक से दरवाज़े तक पहुँचा दिया। दोनों तरफ़ के हत्थे पकड़कर श्यामा फिर उसी तरह खड़ी हो गई जैसे गाड़ी आने के समय खड़ी थी।

ब्रेक खुलने से पहले इंजन की लम्बी सूँ-ऊँ। किसी डब्बे की तरफ़ दौड़ते एक आदमी के पैरों की आवाज़। पीछे से गुज़रता मरियल चायवाला। 'चाय गरेम, चाय।'

श्यामा अपनी बात कहने के लिए थोड़ा नीचे को झुक गई। वह सुनने के लिए गाड़ी से बिलकुल सटकर खड़ा हो गया। 'मैं कह रही थी कि अगर सचमुच मैं कभी उबर सकी अपने-आपसे, जिसकी कि मुझे आशा नहीं है, तो सबसे पहले मैं तुम्हारे पास आऊँगी। तुम तब चाहे...।'

इंजन की हल्की चीख़ के साथ ब्रेक खुल गई। श्यामा का हाथ फिर उसकी तरफ़ बढ़ आया। पर उसके पकड़ने-पकड़ने तक गाड़ी के झटके ने उसे छुड़ा दिया। 'मैं अब ज़्यादा दिन यहाँ नहीं रहूँगा,' वह गाड़ी के साथ-साथ चलता बोला। 'ज्यों ही कहीं कोई दूसरी नौकरी मिलेगी, मैं यहाँ से चला जाऊँगा।'

'मैं जाकर तुम्हें पत्र लिखूँगी,' श्यामा का हाथ अब काफ़ी नीचे को झुक आया। गाड़ी की बढ़ती रफ़्तार के साथ क़दम मिलाने की कोशिश में वह मुश्किल से उसकी उँगलियों से अपनी उँगलियाँ छुआ पाया। 'आशा है मेरा पत्र मिलने से पहले नहीं चले जाओगे।'

'मैंने एप्लाई कर रखा है एक जगह...।' पर अचानक उसके पैर रुक गए। प्लेटफ़ार्म का सिरा आ गया था और वह दो क़दम उसकी ढलान पर नीचे उतर आया था।

श्यामा का डब्बा आगे निकल गया। उसके बाद और डब्बे एक-एक करके सामने से निकलते गए। श्यामा काफ़ी दूर तक उसकी तरफ़ हाथ हिलाती रही। डब्बों की कतार एक पूरी दुनिया थी जो दो-एक मिनट के लिए उस प्लेटफ़ार्म पर आकर रुकी थी और अब अँधेरे में ओझल हुई जा रही थी। एक हिलता हाथ उस ओझल होती दुनिया में उसके अस्तित्व की स्वीकृति था...पर यह स्वीकृति भी, लगातार धुँधली पड़कर, अब दूर से दूर होती जा रही थी...।

फिर वही अकेला प्लेटफ़ार्म और सिग्नल की लाल रोशनी से परे लाइनों की सीध में ठहरी हुई सफ़ेद रोशनी। उस समय अपना वहाँ होना उसे एकाएक इतना असंगत लगने लगा कि गेट पार करते आखिरी कुली के पीछे-पीछे वह भी स्टेशन से बाहर निकल आया। कुली से पता चला कि उधर से लौटने की गाड़ी अब सुबह से पहले नहीं मिल सकती। उठाने को कोई सामान न मिलने से कुली इतना दुखी था कि न जाने किसे लक्ष्य करके वह मुँह में गाली बके जा रहा था। वह उससे ज़्यादा बात नहीं कर सका। पर बिना सोए सात घंटे और स्टेशन की हदों में. गुज़ारना उसे इतना बेतुका लगा कि किसी तरह रास्ते का पता करके वह ग्रांड ट्रंक रोड पर पहुँच गया। आशा थी शायद कोई शहर की तरफ़ जानेवाली मोटरगाड़ी मिल जाए जो उसे लिफ़्ट दे दे। लेकिन सड़क इतनी ख़ाली थी और वातावरण इस तरह ख़ामोश कि एक टूटी साइकिल की आवाज़ भी दो सौ मीटर परे से सुनाई दे रही थी। सड़क के उस तरफ़ कुछ छोटे-छोटे घर थे और घरों से आगे जंगल। रात ज़्यादा नहीं हुई थी, फिर भी उस इलाके में दिन जाने कब का बीत चुका था। आदमी जैसे वहाँ कोई था ही नहीं। सड़क थी, पेड़ थे और कच्ची ईंटों के कुछ ढाँचे। आबादी के नाम पर जो कुछ था, वह सब जैसे आखिरी गाड़ी के साथ वहाँ से चला गया था।

काफ़ी देर खड़े रहने के बाद दूर से आती एक आवाज़ सैलाब की तरह सड़क पर फैलती महसूस हुई। एक बोरों से लदा ट्रक था जो उसके ज़ोर-ज़ोर से बाँह हिलाने से उसके पास आकर रुक गया। ड्राइवर ने उसकी बात सुने बग़ैर उसके लिए दरवाज़ा खोल दिया। सीट के नीचे एक आदमी उकड़ूँ होकर सोया था। दरवाज़ा खुलते ही वह उठकर बैठ गया और अपनी खुली पगड़ी सिर पर लपेटने लगा। ट्रक में दाखिल होते हुए उसे लगा जैसे वह एक ऐसे संदूक में बन्द होने जा रहा हो जिसमें केसों की कसैली गन्ध से बचकर साँस ली ही न जा सकती हो। लेकिन ट्रक स्टार्ट होने के बाद बाहर की हवा ने उस गंध को काफ़ी हल्की कर दिया।

नीचे लेटा सरदार अब उसके बराबर बैठ गया था। बिना पूछे कि उसे कहाँ तक जाना है, उसने हाथ उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। 'एक रुपया।'

उसने भी बिना कुछ कहे एक रुपया निकालकर उस आदमी के हाथ पर रख दिया। थोड़ी देर में ड्राइवर एक फ़िल्मी गीत गाने लगा और साथ बैठे सरदार का सिर उसके कंधे पर झूल आया।

शहर से दो किलोमीटर बाहर चुंगी के पास उसे ट्रक छोड़ देना पड़ा। ड्राइवर और उसका साथी रात के बाक़ी घंटे वहीं एक ढाबे के अहाते में सोकर बिताने जा रहे थे। वह अहाता था ही इस काम के लिए। तीस-चालीस चारपाइयाँ इधर-उधर पड़ी थीं। कुछ पर लोग सोए थे, पर ज़्यादातर ख़ाली थीं। ढाबे के बाहर और भी कुछ ट्रक रुके हुए थे। जिन ड्राइवरों को वहाँ सोना होता था, वे एक-एक चवन्नी देकर अपने लिए

चारपाई ले लेते थे। जिन्हें सफ़र जारी रखना होता था, वे रुककर एक-एक प्याली चाय ले लेते थे और कुछ देर आपस में गाली-गलौज करके वहाँ से रवाना हो जाते थे।

'सो जाइए आप भी थोड़ी देर यहीं,' अपनेवाले ड्राइवर के इस सुझाव पर उसने अहाते को ग़ौर से देख लिया। पन्द्रह या पचीस वाट के बल्ब की मद्धिम रोशनी में बेडौल नज़र आते बाँस और मूँज के जालीदार चौखटे और उन पर लाशों की तरह बेबस पड़े शरीर। बिना पलस्तर की दीवारों पर बड़े-बड़े साए...एक विराट् जाल में फँसे अजदहों की तरह साँस लेते। सायों के आसपास परिंदों की तरह उड़ते पतिंगों के साए। पूरा वातावरण एक बुझी-बुझी-सी रात, एक मरी-मरी-सी गंध। माथा नींद से भारी हो रहा था, फिर भी वह अपने को वहाँ सो रहने के लिए तैयार नहीं कर सका। चाय की प्याली पीकर ढाबे से आगे वह चुंगी की तरफ़ बढ़ आया।

वह चाय पी रहा था, तो दो-एक ट्रक निकलकर आगे गए थे। पर अब कोई ट्रक शहर की तरफ़ जाने को तैयार नज़र नहीं आ रहा था। चुंगी से थोड़ा आगे एक साइकिल-रिक्शा खड़ा नज़र आ गया। रिक्शा-ड्राइवर भी ट्रक-ड्राइवर के साथी की तरह अपनी सीट के आगे गुच्छा होकर सोया था। बहुत जगाने पर किसी तरह मुश्किल से वह जागा, उठकर बैठा और फिर सो गया। फिर से जगाने पर मुँह में कुछ बड़बड़ाता उठा। उससे पूछकर कि उसे कहाँ जाना है, उसने दो रुपया किराया बताया और फिर से सोने को हो गया। पर किराया मान लिए जाने से निराश होकर उसे सचमुच जाग जाना पड़ा।

जाग जाने के बाद जैसे उसे होश आया कि आधी रात के वक़्त एक बिलकुल अनजान आदमी के साथ उसे सुनसान रास्ते से जाना है। वह यह कहकर चुंगी से पीछे चला गया कि कोई दूसरा आदमी साथ चलने को मिलेगा, तभी वह इस वक़्त सवारी ढोने का खतरा उठा सकेगा। काफ़ी देर उसके लौटने का कोई आसार नज़र नहीं आया। आखिर जब उसकी सूरत नज़र आई तो एक पहलवान-शक्ल आदमी उसके साथ था।

हालाँकि रिक्शा में काफ़ी सिकुड़कर बैठना पड़ा उसे...तीन-चौथाई सीट पहलवान ने घेर ली थी...फिर भी हवा लगने के साथ ही उसका सिर नींद से झुकने लगा। कोशिश से आँखें खोलने पर रिक्शा-ड्राइवर के हिलते पाँव नज़र आते, मशीन की चर्खियों की तरह घूमते। सड़क दो हिस्सों में कटती-सी जान पड़ती। पेड़ अनमने भाव से रास्ता छोड़ते लगते। एक बत्ती थी, न जाने कहाँ, जो बीच-बीच में सामने चमककर फिर अँधेरे में गुम हो जाती थी। रिक्शा चल रहा था जैसे रेल की पटरियों पर फिसल रहा हो। लगातार आगे को दौड़ता हुआ भी एक ही जगह रुका हुआ। पेड़ों की बहुत-सी टहनियाँ अब उस पर झुक आई थीं और उसे पूरी तरह अपने से ढके ले रही थीं। एक टहनी जैसे उसकी जाँघों के बीच अटक गई थी। वह

रिक्शा-ड्राइवर को रोककर उस टहनी से अपने को छुड़ाना चाहता था, पर उसके और रिक्शा-ड्राइवर के बीच का फ़ासला जैसे लगातार बढ़ता जा रहा था। लगता था कि सीट पैडलों से कई सौ गज़ पीछे चल रही है। जाँघों में अटकी टहनी में मोटी-मोटी उँगलियाँ निकल आई थीं जो हल्के-हल्के शरीर के उस हिस्से को टटोल रही थीं...आखिर उँगलियों का दबाव इतना बढ़ गया कि वह अपने को झटककर जाग गया। शरीर में एक सिहरन दौड़ गई क्योंकि वह दबाव नींद के खुमार का भुलावा नहीं था। साथ बैठे पहलवान का हाथ उसकी जाँघों के बीच आकर उसे मुट्ठी में कसे हुए था।

उसने रिक्शा-ड्राइवर से वहीं रिक्शा रोकने को कहा। रिक्शा-ड्राइवर गद्दी से उतरकर गुमसुम-सा खड़ा हो गया जैसेकि बिना बताए उसे वजह का पता चल गया हो। पहलवान इस तरह सिर झुकाए रहा जैसे कि गहरी नींद में हो।

बात दोनों तरफ़ से नहीं हुई। उसने चुपचाप रिक्शा-ड्राइवर को पैसे निकालकर दे दिए। रिक्शा-ड्राइवर ने मुँह में हल्के से कुछ बड़बड़ाकर आधे पैसे उसे लौटा दिए और एक झटके से रिक्शा मोड़कर वापस चुंगी की तरफ़ चल दिया। वह कुछ देर अपनी ख़ामोशी के लिए अपने को कोसता खड़ा रहा। फिर पैदल आगे चलने लगा।

ख़ाली सड़क। सपाट-सीधी। यहाँ-वहाँ शाम को बरसे पानी का गीलापन। उस पर से गुज़रता अकेला अपना-आप। मन में कहीं एक डर। जैसे कि कोई होनेवाली दुर्घटना सौ क़दम आगे-आगे चल रही हो।

वह जल्दी-जल्दी सड़क को नाप रहा था। पर साथ ही यह भी चाह रहा था कि सड़क जल्दी से समाप्त न हो। सड़क एकदम बेगानी थी, कुछ हद तक डरावनी भी। पर लौटकर जिस घर में जाना था, उसके साथ भी अपना कुछ सम्बन्ध उसे महसूस नहीं हो रहा था। घर में होने से सड़क पर होना ही बल्कि ज़्यादा अच्छा था...पर सड़क पर होने से आगे? उसे एकसाथ लता और श्यामा दोनों का ध्यान आया। जिस-जिस घर में वे दोनों थीं, क्या उसके साथ इस तरह जुड़ी थीं कि वहाँ से सड़क पर निकल आने की ज़रूरत कभी उन्हें महसूस ही न होती हो? पर सड़क पर निकल आने के बाद की ज़रूरत?

दूर से अपनी बस्ती की बत्तियाँ नज़र आने लगीं, तो घर पहुँचने में थोड़ा और वक़्त लेने के लिए वह सड़क के छोटे-से पुल पर रुक गया। वातावरण में दूर तक वही आवाज़ सुनाई दे रही थी...पुल के नीचे दूर तक फैले सैलाब में गूँजती मेंढकों की आवाज़। पर आवाज़ सिर्फ़ मेंढकों की नहीं थी..और भी न जाने किन-किन कीड़ों-पतिंगों की आवाज़ें उसमें मिली थीं। जैसे आकाश के नीचे बिखरी ज़मीन और ज़मीन पर झुके आकाश के बीच की कोई छटपटाहट थी जो उस आवाज़ में बाहर गूँज रही थी। उसे यह भी लग रहा था जैसे वह आवाज़ उसके अन्दर से भी सुनाई दे रही

हो। सैलाब में चीख़ते सैकड़ों कीड़ों में से एक कीड़ा उसके अन्दर कहीं दुबक गया था। पता नहीं कहाँ।

दूर तक नज़र दौड़ाने पर सिर्फ़ यहाँ-वहाँ कुछ पानी चमकता नज़र आता था। पानी के उस तरफ़ रेल की अनदेखी पटरी पर से एक गाड़ी गुज़र कर जा रही थी। कुछ ही क्षणों में चमकते कनखजूरे-सी वह गाड़ी दाईं तरफ़ के अँधेरे में गुम हो गई। वहा खड़ा सोचता रहा कि श्यामा की गाड़ी भी क्या उस वक़्त वैसे ही किन्हीं सैलाबों के पास से गुज़र रही होगी...?

# अन्तराल-2

समुद्र ज्वार पर था। ऊँची उठती लहरें थोड़ा और ऊँचे उठ पातीं, तो उस पतली-सी सड़क को अपने में लील सकती थीं। लेकिन कहीं एक सीमा थी...चट्टानों से एक-डेढ़ हाथ ऊपर हवा में खिंची एक अदृश्य लकीर जिस तक आकर वे लौट जाती थीं। टूटती लहरों का फेन चट्टानों पर बिखरकर सिकुड़ने लगता था। कभी हताश प्रयत्न में छींटों की जालियाँ लकीर पार करके सड़क को भिगो जाती थीं। हिश्छाप्...छप् छप्।

टी सेंटर से चलकर श्यामा बिना उस सड़क को जाने उस तरफ़ निकल आई थी। टी सेंटर पहुँची थी, तो पोर्च के नीचे खड़ी भीड़ धीरे-धीरे छँट रही थी। उसे पहले घर से निकलने में ही बेबी के रोने की वजह से देर हो गई थी। फिर जो लोकल गाड़ी उसने पकड़ी, वह हर स्टेशन पर रुकनेवाली गाड़ी थी। दादर स्टेशन पर सिग्नल की ख़राबी के कारण गाड़ी को काफ़ी देर रुके रहना पड़ा। आखिर जब गाड़ी चर्चगेट स्टेशन पर पहुँची, तो बाहर तेज़ बारिश हो रही थी। इतनी कि इस फुटपाथ से उस फुटपाथ तक लाँघकर जाना सैकड़ों लोगों के बीच शावर बाथ लेने की तरह था। वह कितनी ही देर स्टेशन के अहाते में खड़ी बारिश में भीगते ट्रैफ़िक को देखती रही। सड़क उसने पार की जब बारिश बिलकुल रुकने को आ गई।

पोर्च के नीचे आकर सरसरी नज़र में ही उसने जान लिया कि कुमार वहाँ नहीं है। न जाने क्यों उसका मन कह रहा था कि वह उसे अन्दर भी नहीं मिलेगा। फिर भी उसने अन्दर जाकर देख लिया। सन्देह मिटाने के लिए नहीं, उसे निश्चय में बदलने के लिए। कुमार वहाँ नहीं था, हो ही नहीं सकता था। घर से चलने से पहले ही जैसे उसे पता था कि कुमार से आज उसकी भेंट नहीं होगी...ज़रा-सी भी देरी का बहाना उसके इंतज़ार न करने का कारण बन जाएगा। एक अरसे के बाद एक-दूसरे के सामने पड़ने में जो उलझन होती, उससे कहीं वह स्वयं भी बचना चाहती थी इसलिए कुमार का बचना चाहना अस्वाभाविक नहीं था।

टी सेंटर से निकलकर फुटपाथ की तरफ़ बढ़ते हुए पहले उसका मन हुआ कि सीधी घर लौट जाए। लेकिन स्टेशन की तरफ़ न मुड़कर उसके पाँव अपने-आप उलटी तरफ़ को मुड़ आए थे। घर पर वह कहकर आई थी कि उसे लौटने में देर हो जाएगी। बहाना था कि उसकी एक पुरानी छात्रा ने, जो कोलाबा में रहती है, उसे खाने पर बुला रखा है। सोचा था कुमार के साथ जाकर एक बार उसका घर ज़रूर देखेगी। जो कुछ

उससे मिलकर और बात करके नहीं जाना जा सकेगा, उसका बहुत कुछ पता उसके रहन-सहन और उन दिनों से आज के फ़र्क को देखकर लग सकेगा। मगर कुमार से भेंट न होने पर उतना वक़्त किस तरह बिताना होगा, इसे लेकर उसने पहले नहीं सोचा था।

बारिश रुक चुकी थी। लग रहा था आसपास थोड़ी देर में खुल जाएगा। बैरीज़, बाबेलीज़, नैपोली, हर रैस्तराँ के सामने से गुज़रते हुए भीड़ में घिरकर बैठने और चाय या कॉफ़ी से शरीर को गरमा लेने की सम्भावना उसका पल्ला थामती रही, पर वह बिना कहीं रुके मैरीन ड्राइव के चौड़े फ़ुटपाथ तक चलती चली आई। वहाँ पहुँचकर भी बाईं ओर की दिशा उसने अनजाने में ही पकड़ ली। उस फुटपाथ का समुद्र को चीरती सँकरी सड़क में बदल जाना उसकी मानसिक स्थिति के बहुत अनुकूल था। भीड़ के इतना पास इस तरह का अकेलापन ढूँढ़ने की कोशिश करने पर नहीं मिल सकता था।

नैरीमन पाइंट। चट्टानों के ऊपर से उमड़कर आते पानी की अनगिनत करवटें। सामने, उस तरफ़ से आती एक वैसी ही सँकरी सड़क के पीछे, बड़े-बड़े बादबानों जैसी छितराए बादलों की टुकड़ियाँ। सिर के ऊपर उठी एक घनी टुकड़ी शाम को रात में गहराए दे रही थी। अगर वह टुकड़ी अचानक बरसने लगी? उस स्थिति में अकेलेपन में भी अपने भीगे शरीर को वह किस तरह सहन कर पाएगी?

एक बादल अन्दर घिरा था। उसी तरह छितराया-छितराया बादल। अन्दर की शाम बाहर की शाम से ज़्यादा गहरी और उदास थी। उसके साए में कोई चीज़ कसक रही थी। क्यों यह कसक जब-तब एक ज़ख़्म की तरह उभर आती थी? और वह कसक ही नहीं थी। एक और अनुभूति भी थी...रोयों से गुज़रते ब्लेड जैसी। वह किसी भी प्रयत्न से उस अनुभूति से अपने को नहीं अलगा सकती थी।

पीछे हर तरफ़ ऊँची-ऊँची नई इमारतें थीं। कुछ और इमारतें उनसे भी ऊँची उठने की प्रक्रिया में थीं। इमारतों से घिरा समुद्र का हिस्सा पिट-पिटाकर शान्त हो गया लगता था। पर दूसरी तरफ़, चौपाटी के घेरे में, वह उतना शान्त नहीं था। वहाँ उसकी हलचल एक पालतू जानवर की कसरत की तरह नज़र आती थी। लेकिन सामने का समुद्र...वह उबलते लावे की तरह उमड़ता पानी...वह भी तो एक हद तक कसमसाकर फिर बार-बार अपने में ही डुबकी लगा जाता था।

पानी में नए-नए आकार बनते और बिखर जाते थे। अपने रुँधे हुए आवेश से समुद्र की सतह काँप रही थी। लहरें शार्क मछलियों की तरह सिर उठातीं और पल-भर में ही बेबस होकर गिर जातीं। कुछ लहरें बड़ी-बड़ी नावों की तरह दूसरी लहरों पर तिर आतीं और अपने ही वेग से उलटकर चूर-चूर हो जातीं। फेन की रेखाएँ जहाँ-तहाँ बनतीं और बिखर जातीं। एक अव्यक्त-सी लिपि लिखी जाने के साथ-साथ मिटती

जाती। लिपि में रूप, अर्थ सब होता था...पर क्षण-भर में ही सब-कुछ रूपहीन, अर्थहीन। लहरें फिर उठतीं, रेखाएँ फिर बनतीं...और तभी सब-कुछ व्यर्थ होकर अपने को तोड़ देता। उस सारे संघर्ष की परिणति क्या थी? व्यर्थता या वह व्याकुलता जो पीछे से उठते दूसरे उफान में नज़र आती थी? समुद्र की अन्तिम आकांक्षा क्या थी?

चट्टानों पर छोटे-छोटे केंकड़े उछल रहे थे। उनका चट्टानों की दरारों में जा छिपना और बाहर उछल आना...फिर जा छिपना और फिर उछल आना...अन्तिम स्थिति निराश्रित होने की व्याकुलता थी या खोज की उत्सुकता?

मंडी के घर में, बरामदे में कुर्सी डालकर बैठे हुए, नीचे से कई तरह की आहटें सुनाई देती थीं।

अकेले क्वार्टर में अकेली रात काटने में मुश्किल लगती थी। अँधेरा गहरे समुद्र की तरह ऊपर-नीचे घिरा रहता था। अपना-आप एक डूबी नाव की तरह बेकार का अस्तित्व लिए जान पड़ता था। यहाँ-वहाँ चमकती मद्धिम बत्तियाँ...दिशाहीन समुद्र में दिशा के संकेतों जैसी...भी अपनी ही तरह उस पारावार में खोई-खोई लगती थीं। मन छटपटाता था अँधेरे से उबरकर किसी तरह सतह को पा लेने के लिए। लेकिन संघर्ष कर सकने की चेष्टा ही अपने में चुक गई प्रतीत होती थी।

बुलबुले आसपास उठते रहते थे। बीते जीवन के वे क्षण जो आज भी कहीं सजीव थे। उन क्षणों में एक क्षण...गाड़ी ह्विसल देकर उस छोटे-से स्टेशन से चल दी थी। सिग्नल से आगे निकलते हुए प्लेटफ़ार्म के सिरे पर ठिठकी आकृति को जब आख़िरी बार देखा था...तब प्लेटफ़ार्म के मद्धिम लैम्पों ने उसे एक छाया में बदल दिया था। छाया दूर होती जा रही थी और लग रहा था कि गाड़ी बाहर की पटरियों पर न चलकर अपने अन्दर से गुजरकर जा रही है...उसकी बढ़ती रफ़्तार अन्दर की ही किसी ज़मीन को कुचल रही है। जब छाया ओझल हो गई तो पायदान के हत्थों पर अपने हाथों की पकड़ उसे इतनी कमज़ोर लगने लगी कि उनके छूट जाने के डर से उसने पीछे हटकर दरवाज़ा बन्द कर लिया।

वह कुमार से कहकर आई थी कि उसे पत्र लिखेगी। लेकिन कई सप्ताह बीत जाने पर भी वह कोई पत्र नहीं लिख पाई। ख़ाली काग़ज़ सामने रखते ही शब्दों के साथ मन का सम्बन्ध टूट जाता था। इतना कुछ एकसाथ उमड़ने लगता था कि सिवाय सिर-दर्द के उस प्रयास का कुछ भी परिणाम नहीं निकलता था। कभी अपने से उचाट होकर वह बिना वजह बेबी को डाँटने लगती थी। एकाध बार उसके गाल पर तमाचा भी मार दिया था। उसके बाद कितनी ही देर जैसे बेबी के हाथों दुखी होकर रोती रही थी। पर बाद में अपने पर गुस्सा आने से वह बेबी को दिन-भर पुचकारती और उसकी सब तरह की जिदें पूरी करती रही थी।

न जाने कौन-सा पक्षी था जो रात को देर तक चिङ् चिङ् चिङ् करता रहता था। वह आवाज़ अँधेरे के अकेलेपन को और भी गहरा बना देती थी। जब वह पक्षी चुप कर जाता था, तो घर के पास से बहकर जाते ब्यास की आवाज़ पूरे बियाबान को घर

की तरफ़ धकेलने लगती थी। उस बियाबान की दहशत में कितना कुछ सोचते हुए भी सोचने की शक्ति जड़ हो गई लगती थी। लगता था चेतना का एक-एक रेशा निचुड़ गया है और जो शेष है, वह कुरसी के बेंत पर भारी होकर लदे बोझ के सिवा कुछ नहीं है।

हवा का रुख़ क्वार्टर की तरफ़ होने पर दरिया की आवाज़ बहुत ऊँची हो आती थी। मुँडेर पर पाँव फैलाए कुरसी पर झूलती हुई वह उस आवाज़ से पानी के वेग का अनुमान लगाती थी। सोचती थी कि जो पानी अभी-अभी वहाँ पास से बहकर जा रहा था, वह मिनटों में ही किस-किस घाटी के पत्थरों पर से फिसलता हुआ कहाँ-से-कहाँ जा पहुँचा होगा। फिर वह बहुत पीछे जाकर मनाली या कुल्लू से उस पानी के साथ-साथ यात्रा करने लगती थी। पानी सुनसान रास्ते में ठोकरें खाता उसके क्वार्टर के पास पहुँचता और उसी तेज़ी से वहाँ से आगे निकल जाता। उसे खेद होता कि इतनी दूर तक साथ आने पर भी क्यों पानी के बहाव को एक क्षण के लिए, कल्पना में भी मनचाही जगह पर रोका नहीं जा सका।

आसपास की हर चीज़ पर उसे गुस्सा आता। लगता कि आकाश में घुली स्याही और स्याही में घुले हल्के-हल्के रंग...पहाड़ियों की धुँधली रेखाएँ और उन रेखाओं को जड़ बनाती पगडंडी की बत्ती...घर का निर्जीव बरामदा और बरामदे को एक पड़ाव का-सा रूप देता बुझा हुआ टेबल-लैम्प...ये सब मिलकर एक षड्यन्त्र कर रहे हैं जिससे कोई एक भी क्षण उसके लिए मानसिक विश्राम का क्षण नहीं बन पाता। हर क्षण पीछे की बेचैनी को आगे की बेचैनी से जोड़ देता है, बस।

उसे देव की याद आती। और लोगों की याद आती। लगता कि आज तक किसी ने भी मन से उसकी निर्भरता महसूस नहीं की...स्वयं वह भी अपने में किसी की वैसी निर्भरता महसूस नहीं कर पाई। किसी-न-किसी स्वार्थ के बिन्दु पर ही दूसरे उससे और वह दूसरों से मिलती रही है, मिलने का वसीला चाहे कुछ भी रहा हो। उसे अपने अन्दर कोई चीज़ छटपटाती महसूस होती...लगता कि आज तक उस चीज़ को बाहर आने का अवसर नहीं मिला। जैसे एक मोटा पंख-युक्त कीड़ा था...उसके अन्दर कैद...जो जब-कभी अन्दर की चारदीवारी से टकराने लगता था। टकरा-टकराकर गिर जाता था, फिर उड़ता था, फिर टकराता था और फिर गिर जाता था। आकाश में निकल जाने का कोई-न-कोई रास्ता था अवश्य, लेकिन बिना उस रास्ते को पाए वह वहीं टकराए जाता था...।

दूर किसी पगडंडी पर कोई दो व्यक्ति बात करते निकल जाते। वह अपनी कल्पना में ब्यास के साथ-साथ बहने लगती। बीहड़ रास्तों से गिरती-टूटती नीचे मैदान की तरफ़ उतरने लगती। सुनसान जंगल के किसी अनजाने मोड़ पर कोई जानवर अपनी लपलपाती जीभ उससे छुआ देता। रास्ते के हर मोड़, हर ढलान का खतरा उसे

महसूस होता और डर की सिहरन उसके शरीर में रेंग जाती। ब्यास में गिरती छोटी-छोटी नदियाँ जैसे उसी के शरीर में आ मिलतीं। बड़े-बड़े मगरमच्छों के जबड़े खुलते और बन्द हो जाते। मैदान में पहुँचकर भी उसे स्थिरता नहीं मिलती। वहाँ वह अपने को एक बाढ़ के रूप में बहते पाती। बाढ़ से पेड़ों की जड़ें उखड़ जातीं। घरों की नींवें ढह जातीं। गाँव के गाँव और बस्तियाँ की बस्तियाँ उजड़ जातीं। कितने-कितने पशु निराश्रय होकर इधर से उधर भटकने लगते—बाँऽआँ बाँऽआँ आँऽऽ। तब सामने नज़र आता समुद्र। असीम और अथाह। एक चुम्बक आकर्षण जिससे बचने-बचने में वह कई-कई धारों में बँटकर भी लगातार उसकी तरफ़ बहती जाती। फिर वह क्षण आता जब हर धार समुद्र में जा मिलती। पर समुद्र की उदासीनता में अन्तर न आता। कुछ देर रेतीले किनारों से टकराने के बाद वह गहरे समुद्र की ओर बढ़ जाती। वहाँ उसका व्यक्तित्व इस तरह बिखर जाता कि उसे अपने अस्तित्व में ही सन्देह होने लगता। अब पहले से भी बड़े मगरमच्छों के जबड़े आसपास खुलने लगते। खुले-के-खुले रहकर उसे निगलने आने लगते। वह पल-भर आशंका से स्तम्भित हो रहती...पर इस अनुभूति से सन्तोष मिलता कि वह तो अब है ही नहीं—हैं तो केवल छोटी-बड़ी मछलियाँ जो आड़ी-तिरछी लकीरों की तरह पानी को काटती हुई उन जबड़ों के अन्दर खिंच जाती हैं। वह उन मछलियों में से एक नहीं है। वह है, तो उनसे हटकर है। पर किसी तरफ़ को खिंची वह फिर भी जा रही है...उन जबड़ों की तरफ़ नहीं, तो और किस तरफ़?

कमरे में बेबी कुनमुनाने लगती। वह उसाँस के साथ कुर्सी से उठ पड़ती। बत्ती जलाकर टाइम-पीस में वक़्त देखती। ढाई। पौने तीन। तीन।

एक मुद्दत के बाद उन दिनों उसने डायरी लिखनी शुरू की :

> —दरिया के उस तरफ़ बहुत बड़ा लैंड-स्लाइड हुआ कल। पता नहीं कैसी हैं ये पहाड़ियाँ। इनका चरित्र मेरी समझ में नहीं आता। देखने में कितनी विशाल लगती हैं...कितनी स्थिर! पर एक लम्बी झड़ी से भुरभुराकर नीचे आ रहती हैं। जब भी कहीं लैंड-स्लाइड होता है, मन में न जाने कैसी आशंका भर जाती है। यहाँ से अपने कहीं जाने की बात नहीं होती, फिर भी सड़क टूट जाने से एक रुकावट-सी क्यों महसूस होने लगती है? मेरा ऐसा क्या है जो यह सड़क कहीं से जोड़ती है?...आज स्कूल के बाहर की पगडंडी पर काफ़ी सँभाल-सँभालकर क़दम रखती रही। डर लग रहा था कि गीली जमीन पता नहीं कब किस जगह से धसक जाए और...मेरी आँखों के सामने कभी लैंड-स्लाइड नहीं हुआ। ज़्यादातर लैंड-स्लाइड आधी रात को ही होते हैं। गुपचुप। पता नहीं क्यों।
>
> —आज लेडी डॉक्टर बत्रा ने आत्महत्या कर ली। उसके निर्जीव शरीर को देखकर

भी बार-बार लैंड-स्लाइड की बात मन में आती रही। इतनी सुन्दर थी वह देखने में, इतनी हँसमुख भी थी। फिर उसने अचानक आत्महत्या क्यों कर ली?

—जब तेज़ हवा चलती है, तो उसमें घुल-मिल जाने को मन करता है। बहते पानी में, चट्टानों पर, वर्षा में, घास पर, मिट्टी में, कोहरे के बीच, चाँदनी में, तपती धूप में, सब जगह एक स्पन्दन है जो शरीर में ऊपर-ऊपर उड़ते जाने की उकसाहट भर देता है। पर कितना ठोस है अपना-आप कि एक पत्ते या तिनके जितना भी उड़ लेने का विकल्प नहीं इसे!

—तीन दिन से पानी बरस रहा है। रोज़ सुबह उठने पर आस-पास की घाटियाँ फिर से धुलकर कुआँरी हो गई लगती हैं। पर एक दिन की धूप से ही फिर वही बासीपन उभर आएगा इनमें।...आज तक यहाँ की घाटियों के साथ मन का सम्बन्ध नहीं बन पाया। ये हल्की-हल्की गहराइयाँ बहुत उथली जान पड़ती हैं। मन ललकता है बहुत ऊँचे पहाड़ों के लिए...उन पर उभरी बड़ी-बड़ी रूखी चट्टानों के लिए...हहराकर नीचे गिरते झरनों के लिए। बादल ज़ोर से गरजता है, तो कहीं बिजली गिरने की कल्पना से सिहरन हो आती है। ऐसे में अकेलापन बहुत महसूस होता है। मैं नहीं जानती मैं अपने से क्या चाहती हूँ, अपने लिए क्या चाहती हूँ। प्यार? लेकिन प्यार का अर्थ क्या है? कुछ क्षणों के लिए किसी की साँसों से रुँध जाना, इतना ही? मैं किसी के क्षण-भर के आवेग का साधन बनकर रह जाऊँ, मेरा अहं इसे स्वीकार नहीं करता। मैं अपने लिए, प्यार के रूप में, बहुत बड़ा कुछ चाहती हूँ। पर वह बड़ा कुछ क्या है, इसकी परिभाषा अपने को नहीं दे पाती। शायद मेरे अन्दर कोई मानसिक ग्रन्थि है जिसका मुझे विश्लेषण कराना चाहिए। या शायद कोई और ही चीज़ है जिसकी चीरफाड़ होनी चाहिए...यह सारा प्यार के नाम से होनेवाला कार्य-व्यापार...सारा नर और मादा धर्म...यह सारी खोज और इसमें मिली वितृष्णा। क्या कुछ था कभी जो आज आकर चुक गया है, या कि कभी भी कुछ भी नहीं था सिवाय अन्धे प्राकृतिक न्याय के और उसके आसपास बुने गए शब्द-जाल के?

—मुझे नहीं लगता एक बार गृहस्थ जीवन के अनुभव से गुजर लेने के बाद मैं उस अनुभव को अब अपने जीवन में कभी दोहरा सकती हूँ। किसी के साथ जी सकती हूँ शायद...पर उसके साथ घर नहीं बसा सकती।

—आज तक मेरे लिए देव की मृत्यु नहीं हुई। जब कभी किसी भी घर में पति-पत्नी को पास-पास बैठे देखती हूँ, आपस में बात करते सुनती हूँ, तो लगता है देव से फिर सामना हो रहा है मेरा। मुझे एक-एक शब्द परिचित लगता है, स्थितियों के सारे परिणाम निश्चित जान पड़ते हैं और जो भाव मन में उमड़ने लगता है, वह पता नहीं अवसाद का होता है या उपहास का।

कभी-कभी, यहाँ अपने अकेले कमरे में भी, एक कड़वी मुसकराहट लिए देव का सामना हो जाता है। यह तब होता है जब अपने आसपास बहुत-सी चीज़ें बिखरी देखती हूँ जिन्हें समेटने का मन नहीं होता। देव को बिखराव से चिढ़ थी। कोई छोटी-सी चीज़ भी यहाँ-वहाँ पड़ी दिख जाए, तो उसकी भवें तन जाती थीं। फिर भी एक संस्कार था उसका कि आदमी को किसी भी स्थिति में बेकाबू नहीं होना चाहिए। वह चुपचाप मुझे ताक लेता था और उस चीज़ को उठाकर ठिकाने से रख देता था। वह भी जानता था कि हम दोनों के बीच का सम्बन्ध केवल एक-दूसरे को सहने का है। फिर भी वह जितनी शान्ति और तटस्थता से यह किए जाता था, उससे ईर्ष्या होती थी। यह उसकी तटस्थता ही थी शायद जिससे उसका शारीरिक आवेग भी धीरे-धीरे ठंडा पड़ने लगा था। या शायद यह स्थिति दोनों ओर से ही थी...फिर भी एक सम्बन्ध था। पर क्या था वह सम्बन्ध? किस चीज़ का?
—उपलब्धि का एक क्षण होता है। कब कैसे वह क्षण आएगा, कहा नहीं जा सकता। उसे लाने की योजना नहीं बनाई जा सकती। एक स्पन्दन के साथ वह क्षण बीत जाता है। परन्तु उपलब्धि उतने तक ही नहीं होती। उपलब्धि होती है एक निरन्तर बनी रहनेवाली सुरक्षा की भावना के रूप में। परन्तु वह भावना देव से मुझे नहीं मिली। कैसे सोचा जा सकता है कि किसी और से वह मिल पाएगी?
—एक क्षण के लिए विश्वास हुआ था। पर उसके बाद वह विश्वास बना क्यों नहीं रहा? तीन-चार बार उसके नाम पत्र लिखकर फाड़ दिए हैं। क्योंकि लिखने के साथ ही लगने लगता है कि वह एक झूठा प्रोत्साहन है। अपने लिए एक छोटा-सा झरोखा खोलने का स्वार्थ है। वह व्यक्ति मेरे लिए इसके सिवा कुछ भी नहीं हो सकता। झरोखे के रास्ते कुछ देर साँस ली जा सकती है, पर बाहर निकलने का मार्ग वह नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त, उसकी मुझसे जो अपेक्षा होगी, उसकी पूर्ति क्या मुझसे हो पाएगी?
—एक अजीब छटपटाहट है। बिना अपने को किसी के सामने उँडेले यह छटपटाहट शान्त नहीं होगी। पर क्या कोई भी ऐसा व्यक्ति है जो बिना अपने किसी स्वार्थ के केवल मेरी बात सुनने के लिए ही मेरी बात सुने? सुनने का धीरज रखने या उसके लिए अपना समय देने का मूल्य मुझसे न चाहे?

कुछ दिनों बाद कुमार के नाम उसका एक पत्र डाक से निकल गया था।

पत्र को अन्तिम रूप देने में उसे दो दिन लगे थे। कितनी ही तरह से वह पत्र लिखा गया था, पर हर तरह किसी-न-किसी कारण से वह उसे गलत लगा था। वह

नहीं चाहती थी कि पत्र में कुमार को उसकी ओर से किसी तरह के आमन्त्रण की गन्ध मिले। पर साथ ही इस सम्भावना का खतरा भी नहीं उठाना चाहती थी कि विपरीत प्रतिक्रिया पैदा करने के कारण वह पत्र केवल फाड़कर फेंक दिया जाए। हर बार वह पत्र बहुत साधारण ब्यौरे से आरम्भ करती थी–कि वहाँ से लौटने के बाद वह किन छोटी-छोटी व्यस्तताओं में उलझी रही–पर लिखते-लिखते जाने क्या लगने लगता था कि वह झुँझलाहट में कलम रखकर चुपचाप अपनी लिखी पंक्तियों को घूरती बैठी रहती थी और आखिर काग़ज़ को छोटे-से-छोटे टुकड़ों में फाड़ देती थी। लगता था कि एक वैसा ही पत्र वह कुमार के नाम भी लिख रही है जैसे कई-कई पत्र रोज़ हेड-मिस्ट्रेस की डाक के तौर पर उसके नाम से जाते थे। पर और किसी भी तरह से लिखना शुरू करने पर वह एक दहलीज़ के सामने रुक जाती थी...दहलीज़ के उस तरफ़ कुमार का कमरा था जहाँ चहलकदमी करता हुआ वह एक व्यंग्यपूर्ण मुसकराहट के साथ उसके अन्दर आने की प्रतीक्षा कर रहा था। उस दहलीज़ को लाँघना कुमार के शारीरिक आवेग को स्वीकार करना ही नहीं, उसके सामने अपनी ओर से उसकी माँग प्रस्तुत करना था। वह चाहती थी कुमार वहाँ आए...पर उसकी ओर से रखी गई माँग की स्वीकृति के रूप में नहीं। लेकिन आने का अनुरोध करने के लिए जो भी पंक्तियाँ लिखी जातीं, उनमें किसी-न-किसी रूप में उस माँग की झलक दिखाई दे जाती जिससे पत्र को पूरा कर पाना उसके लिए असम्भव हो जाता। कितना अच्छा होता, अगर पहला पत्र कुमार की ओर से आया होता! पर इतने दिन बीत जाने से अब उसकी आशा नहीं की जा सकती थी। आखिर उसने जल्दी में एक पत्र लिखा और लिखते ही चपरासी को पोस्ट करने के लिए दे दिया। पर चपरासी पत्र डाक में छोड़कर आ गया, तो उसे लिखने के लिए खेद होने लगा। उससे न तो दफ़्तर में बैठा गया, न क्लास ही ली गई। आधा दिन बीतने से पहले ही वह उठकर क्वार्टर में चली आई।

यूँ उसने पत्र में ऐसी कोई बात नहीं लिखी थी। लिखा इतना ही था कि आने के बाद से वह बहुत व्यस्त रही है और इच्छा रहते हुए भी पत्र नहीं लिख सकी। 'अब भी शायद कुछ दिन न लिख पाती अगर एक ख़ास बात मन में न होती। हमारे स्कूल में एक नई अध्यापिका आई है, रंजू, जो मुझे बहुत अच्छी लगती है। उन्नीस- बीस साल की सेंसिटिव-सी लड़की है, देखने में अध्यापिका-जैसी बिलकुल नहीं लगती। किसी ग़लती को लेकर उससे कुछ कह दिया जाए, तो एकाएक उसकी आँखों में पानी भर आता है। मैं जब भी उसे देखती हूँ, मुझे तुम्हारी उस दुबली-पतली पीली-सी लड़की का ध्यान हो आता है और मैं तुम्हारे विषय में सोचने लगती हूँ। उसकी माँ मुझसे कई बार कह चुकी है कि मैं उसके लिए कोई लड़का खोज दूँ। मैंने रंजू से दो-एक बार तुम्हारी बात की है। वह सुनकर मुसकरा देती है और कहती है, 'बहनजी,

पंजाबी लोग तो गुंडे होते हैं'। मुझे उसकी बात पर हँसी आ जाती है। हिमाचल की विशेष सादगी और भोलापन इस लड़की में है। चाहती हूँ तुम एक बार आकर इसे देख लो। हो सकता है तुम दोनों को एक-दूसरे में कुछ मिल जाए...पर यह केवल एक सुझाव ही है। तुम्हें अच्छा न लगे, तो भी एक बार आने में कोई बुराई नहीं। दशहरे के दिनों में यहाँ का मौसम बहुत अच्छा होता है। और कुछ नहीं, दो-एक दिन घूम ही लेना। हो सका, तो किसी की जीप लेकर कुल्लू का दशहरा देख आएँगे। दशहरे की छुट्टी तुम्हें होगी ही। इस विश्वास के साथ कि तुम बात को टालोगे नहीं, मैं तुम्हारा कार्यक्रम निश्चित किए दे रही हूँ।

शनिवार को तुम कश्मीर मेल से वहाँ से चलोगे। पठानकोट पहुँचने पर तुम्हें मंडी की बस तैयार मिलेगी। शाम को चार या पाँच बजे तक तुम यहाँ पहुँच जाओगे। अगर किसी वजह से वह बस निकल जाए, तो उससे अगली किसी बस से आ सकते हो। आखिरी बस भी नौ बजे तक यहाँ पहुँच जाती है। मेरा चपरासी तुम्हें दोनों बसों पर देख लेगा। आना ज़रूर।'

छोटी-छोटी बूँदें पड़ने लगी थीं। नैरीमन पाइंट से बहुत दूर आगे एक नाव डगमगा रही थी। श्यामा एकटक उसे देख रही थी जैसे कि नाव की सुरक्षा के साथ उसका कोई निजी वास्ता हो। किसी लहर के साथ नाव बहुत ऊँची उठ जाती, तो उसके होंठ खुल जाते और साँस तेज़ चलने लगती। वह उस ओर से आँख नहीं हटा पा रही थी...जैसेकि उसके आँख हटाने साथ ही नाव के डूब जाने का अंदेशा हो।

एक मोटी-सी बूँद के नाक पर गिरने से वह अपने प्रति सचेत हो गई। देखा कि उस सँकरी सड़क के छोर पर वह अब अकेली नहीं है, और भी कई लोग हैं वहाँ, जो बूँदें तेज़ होने के डर से अब लौटने जा रहे हैं। नाव उसी तरह डगमगा रही थी, शायद पहले से वह और दूर चली गई थी। बाँहों को साड़ी के पल्लू में समेटकर वह भी वापस मैरीन ड्राइव की तरफ़ चल दी। दूर और पास की कई-मंज़िला इमारतों के बीच मैरीन ड्राइव की पंच-मंज़िला इमारतें काफ़ी बौनी लग रही थीं। उन इमारतों को और भी बौना करती बत्तियों की लम्बी कतार सहसा जगमगा उठी...समुद्र की सतह पर रंगों के कई-कई द्वीप उभर आए। पहला लैम्प-पोस्ट थोड़ी ही दूरी पर था...समुद्र और नागरिक दुनिया के बीच का सीमा-चिह्न।

मैरीन ड्राइव। गाड़ियाँ। रोशनी में रंगे चेहरे। समुद्र के शोर को डुबाता दूसरा शोर।

उसे भीड़ में अपना-आप डूबता-सा लगा। बहुत सचेत रहकर वह अपने को इस ओर या उस ओर को दिशा देती रही। सड़क, फुटपाथ, सड़क। फिर फुटपाथ। तेज़, धीमे, तेज़। फिर धीमे। चर्चगेट स्टेशन। एक अज़दहा जिसका मुँह हर पास आनेवाले को अन्दर निगल रहा था।

गाड़ी में मुश्किल से भिंचकर खड़े होने की जगह मिली। चर्णी रोड के बाद गाड़ी को सीधे बांद्रा और अँधेरी रुकना था। वह चाहती, तो सब स्टेशनों पर रुकनेवाली दूसरी गाड़ी पकड़ सकती थी। घर पहुँचने की कोई जल्दी नहीं थी। बल्कि जो बात कहकर आई थी, उसकी नज़र से देर से पहुँचना ही बेहतर था। पर अज़दहे की वही दाढ़ उस वक़्त खुली थी। खतरा था कि कुछ ही सैकेंडों में वह बन्द हो जाएगी। भीड़ की अंधी गति के साथ वह भी उसमें दाखिल हो गई थी। पर गाड़ी के चर्णी रोड से निकल आने के बाद उसे अफ़सोस होने लगा। भीड़ में अन्दर आने से पहले उस स्थिति की कल्पना उसने नहीं की थी जिसमें अब अपने को पा रही थी।

उसके एक तरफ़ दीवार थी और बाक़ी तीन तरफ़ तीन पुरुष-शरीरों का दबाव। एक बाईस-तेईस साल का युवक था जो बार-बार आँख बचाता उसकी तरफ़ देख लेता था। दूसरा मैले खादी के कपड़ों वाला एक अधेड़ व्यक्ति जिसके गालों और जबड़ों की निकली हुई हड्डियाँ महीनों की फ़ाकाकशी का विज्ञापन करती जान पड़ती थीं। आँखों से लगता था जैसे वह गाड़ी में न होकर और ही कहीं हो...आसपास के वातावरण से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो। तीसरे की खाकी वर्दी किसी संस्था के स्वयंसेवक की थी...आँखें भी उसकी चौकसी के साथ आसपास घूर रही थीं। तीनों व्यक्ति जैसे अनजाने में और भीड़ की बेबसी के कारण ही उससे सटकर खड़े थे और गाड़ी के हिचकोलों ने ही उनके मुँह उसकी तरफ़ कर दिए थे। गाड़ी के रफ़्तार पकड़ने तक श्यामा का जी मितलाने लगा...तीन पुरुषों की हल्की उकसाहट वह कई बार महसूस कर चुकी थी। पहला व्यक्ति दाईं ओर खड़ा युवक था जिसे उसने आँखों से डाँट देने की कोशिश की। उस पर डाँट का थोड़ा असर भी हुआ। पर शेष दोनों व्यक्तियों को आँखों से पकड़ पाना असम्भव था। चेहरे के भाव से वे इस तरह बेलाग नज़र आते थे जैसे कि अपने निचले शरीर से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो। उन्हें अपने से परे रखने के लिए उसने कोहनियों की सहायता ली। उससे काम नहीं चला, तो उन्हें एक-एक करके हाथ से थोड़ा धकेल दिया। मुँह में वह बुदबुदाई, 'आप ठीक से खड़े नहीं रह सकते?' पर उनका भाव ऐसे बना रहा जैसे बात उनसे न कही जाकर किसी और से कही गई हो। एल्फ़िंस्टन रोड, दादर, लोअर परेल? महिम...उसने सोचा बांद्रा उतरकर वह वहाँ से दूसरी गाड़ी ले लेगी। पर गाड़ी के स्टेशन पर रुकने के साथ ही वे तीनों आदमी वहाँ उतर गए और पीछे की तरफ़ बैठने की जगह दिख गई।

अँधेरी। स्टेशन से निकलकर घर की तरफ़ चलते हुए भी श्यामा के अन्दर मितलाहट बनी हुई थी...वह घर एक ऐसी जगह थी जहाँ पहुँचकर एक दूसरी तरह की घुटन मन में घिर आती थी। बीजी और सीमा, ये दोनों शुरू से ही उसके लिए अजनबी थीं। देव के जीवित रहते भी वह उन्हें नहीं अपना सकी थी...अब तो फ़ासले पर रहने से रिश्ता और धुँधला गया था। वे दोनों भी उसे एक सीधे सम्बन्ध से स्वीकार न करके बेबी के रिश्ते से ही स्वीकार करती थीं...या एक और रिश्ते से जिसकी बात सोचते ही उसकी बेचैनी बढ़ने लगती थी। और बेबी...वह भी तो अब उन्हीं में से एक थी। वही चेहरा-मोहरा, वही स्वभाव, वैसी ही आदतें। अपनी ज़रूरत और आराम के सिवा किसी चीज़ से मतलब नहीं। मंडी में रहते वह फिर भी अपनी जान पड़ती थी। पर यहाँ आने के बाद से उन लोगों से इतनी घुल-मिल गई थी कि माँ को माँ की तरह समझती ही नहीं थी। हर वक़्त बीजी के पास बैठना, बीजी के साथ खाना,

बीजी के साथ घूमने जाना। शौक भी उन्हीं सब चीज़ों का जो बीजी को पसन्द आती थीं। रात को भी अक्सर वह बीजी के पास ही सो जाती थी। लगता था कि बीजी, सीमा और बेबी तीनों घर की मालकिन हैं, और वह एक जबर्दस्ती की मेहमान जो फालतू उन लोगों के बीच आकर टिकी है। वह किसी भी दिन वहाँ से चली जाए, तो तीनों में से किसी को इसका दुख नहीं होगा। वे उसी तरह चटनी, अचार और मिर्च-भरे साग के साथ शाम की रोटी खाएँगी और शायद उसके बारे में आपस में बात भी नहीं करेंगी।

तीसरी मंज़िल पर दाहिनी तरफ़ का फ़्लैट। दो कमरे का। नौकरानी जेनी के दरवाज़ा खोलने के साथ ही उसे लगा कि घर में उस वक़्त और कोई नहीं है। जेनी शाम को उतनी देर तक वहाँ नहीं रहती थी। सात बजे तक काम पूरा करके चली जाती थी। अन्दर पहुँचकर उसने देखा कि बीजी, सीमा और बेबी में से तो कोई नहीं है, पर नीचे का दरबान किचन में एक तरफ़ सिकुड़कर बैठा है। उसने तीखी नज़र से उस आदमी को देख लिया, पर उससे या जेनी से कहा-पूछा कुछ नहीं। किसी से कुछ भी बात करने की मनःस्थिति थी ही नहीं उसकी। वह सीधी बेड-रूम में चली गई। दोनों बिस्तरों की चादरों को एक बार उसने सन्देह की नज़र से देख लिया। चादरों में कोई वैसी सलवटें नहीं थीं, फिर भी...उसे लगा जैसे उन्हें अभी-अभी मेहनत से ठीक किया गया है।

मन था कमरे में पहुँचते ही बिस्तर पर लेट जाएगी, पर बिस्तर के पास आकर कुछ देर दुविधा में खड़ी रहने के बाद ही वह उस पर बैठ सकी।

'बीबी, चाय?' जेनी के पूछने पर उसने सिर्फ़ सिर हिला दिया। चाय की ज़रूरत बहुत महसूस हो रही थी और खुद बना लेने की हिम्मत भी नहीं थी। पर जेनी को मना करके उसे सन्तोष ही मिला। जैसे कि इतने से उसने जेनी को अपनी नाराज़गी का पता दे दिया हो।

'और कोई चीज़ मँगता है?'

उसने फिर सिर हिला दिया।

'माँजी बेबी के साथ गई हैं। कह गई हैं कि...।'

'तुझे जाना है, जा। मैं अब घर पर हूँ।'

'माँजी ने बोला था उसके लौटने तक मैं...।'

'मैंने कह दिया है मैं अब घर पर ही हूँ।'

जेनी ने और बात नहीं की। कुछ ही देर में बाहर का दरवाज़ा खुलकर बन्द हो गया।

श्यामा बत्ती बुझाकर फिर कुछ देर उसी तरह बैठी रही। जैसे तकिए पर सिर रखने से पहले किसी चीज़ से संघर्ष करने के लिए समय की आवश्यकता थी। पर

शरीर इतना शिथिल हो रहा था कि उससे ज़्यादा देर नहीं बैठा गया। वह थोड़ा-सा सरककर पलंग पर सीधी हो गई। अच्छा लग रहा था कि वह घर में उस वक़्त अकेली है...यहाँ आने के बाद से पहला मौका था जब घर में इस तरह अकेली लेट सकी थी। वरना उस घर में रहना भी लगातार एक तीन-तरफ़ा दबाव में जीने की तरह था...। उस दबाव को कोहनियों की मार से अपने से परे नहीं किया जा सकता था, और न ही आशा की जा सकती थी कि अभी-अभी वह स्टेशन आ जाएगा जहाँ...। उसने करवट बदल ली। थोड़ी ही देर में लगने लगा कि सिर तकिए में डूबता जा रहा है। कितना अच्छा होता अगर वह पूरी रात वहाँ अकेली पड़ी रह सकती...! अपने को अँधेरे की ओढ़न में बिलकुल निढाल छोड़ सकती...!

उस दिन सुबह नींद जल्दी खुल गई थी। बल्कि रात-भर ठीक से नींद आई ही नहीं थी। बीच में दो-तीन बार उठकर वह गुसलखाने में गई थी। बेबी को निश्चिन्त सोते देखकर उसे ईर्ष्या भी हुई थी। उठने के साथ ही जो पहला विचार मन में आया, वह था—आज शनिवार है। रात को सोने से पहले भी उसने मन के कैलेंडर में वार बदल लेने की कोशिश की थी, पर बारह बज चुकने पर भी बाहर के घुप अँधेरे ने मन में नए दिन की शुरुआत नहीं होने दी थी। नया दिन रोशनदान पर कोहरे की तरह उभर आए हल्के उजाले के साथ ही उसे अपने आने का विश्वास दिला पाया था। यह उजाला निश्चित रूप से शनिवार था...वह दिन जिस दिन कुमार को कश्मीर मेल से पठानकोट आकर वहाँ से मंडी की बस पकड़नी थी।

कश्मीर मेल के पठानकोट पहुँचने में अभी समय था। कुमार उस समय अपनी सीट पर ऊँघ रहा था या चौकस आँखों से अँधेरे से उबरते खेतों को ताक रहा था।

उसने उठकर अपने लिए चाय बनाई। हल्के घूँटों में प्याली ख़ाली करते हुए होंठों पर मुसकराहट आ गई। कुमार अगर सचमुच रंजू से मिलने की बात मन में लेकर आ रहा होगा, तो...? उसे रंजू से एक बार बात तो कर ही लेनी चाहिए। पर किस तरह, किन शब्दों में, क्या कहना ठीक होगा उससे?

सिन्दूरी के आने पर उसने अपने लिए टब में गरम पानी भरवा लिया। कहा कि और काम वह बाद में करे, पहले ठीक से कमरों की सफ़ाई कर डाले।

'आज तो शनिवार है,' सिन्दूरी को उसके आग्रह से आश्चर्य हुआ। पूरे घर की सफ़ाई वह सिर्फ़ इतवार को किया करती थी।

'मुझे पता है शनिवार है आज,' उसे बोलकर शनिवार का ज़िक्र करना अच्छा लगा। 'बाहर से मेहमान आ रहे हैं आज।'

'कौन मेहमान आ रहे हैं?'

सिन्दूरी की इस आदत से उसे बहुत चिढ़ होती थी। कोई भी बात हो, वह कौन, कब, कहाँ पूछे बिना नहीं रहती थी।

'कोई भी हैं। तुझसे जो कहा है, वह काम कर।'

'पूना से बड़ी बीबी आ रही हैं?'

उस वक़्त पूना के ज़िक्र से उसे गुस्सा हो आया। 'तुझे पहले यह बताना ज़रूरी है कि पूना से बड़ी बीबी आ रही हैं या बनारस से बड़े भैया?'

सिन्दूरी पर गुस्से का कुछ असर नहीं हुआ। उसने बल्कि और पूछ लिया, 'आपके बड़े भाई बनारस में रहते हैं?'

उसे हँसी आ गई। 'मेरे कोई बनारस में नहीं रहते। तू बातें करना छोड़ अब और काम में लग जा। घर की सफ़ाई आनेवालों के नाम-पते पूछकर नहीं की जाती।'

सिन्दूरी काम में लग गई, मगर चेहरा लटकाए हुए। उसे बर्दाश्त नहीं था कि घर के किसी मामले में उसे परायेपन की दहलीज़ पर रोक दिया जाए। जितना वह इस चीज़ को महसूस करती थी, उससे कहीं ज़्यादा बार-बार पल्ले से आँखें पोंछकर दूसरे को इसका एहसास कराने लगती थी। उस समय सिन्दूरी के उस प्रदर्शन से वह फिर से खीझी नहीं। मुचड़े कपड़ों और बिखरी चीज़ों को यहाँ-वहाँ से हटाने के बहाने मन में तौलती रही कि बिना सिन्दूरी के मन में सन्देह का बीज डाले किन शब्दों में उसे आनेवाले व्यक्ति के विषय में बतला सकती है। न बतलाने से उसके मन में और सन्देह जागने की सम्भावना थी, इसलिए दो-एक मिनट की हिचकिचाहट के बाद वह खुद ही उसके पास चली गई। 'बाहर के आदमी हैं, इसलिए ख़ास कह रही हूँ कि घर को हम लोग ठीक-ठाक कर लें। हमारे उनके पुराने दोस्त हैं। लिखा है कुल्लू का दशहरा देखने आ रहे हैं। एकाध दिन यहाँ भी रुकेंगे।'

सिन्दूरी का चेहरा फिर भी लटका रहा। उसने जैसे बात सुनी ही नहीं। जिस तरह चुपचाप काम कर रही थी, करती रही। वह जैसे एक बंद दरवाज़े पर दस्तक देने के बाद उसके खुलने की प्रतीक्षा करती कुछ देर सिन्दूरी को देखती रही। फिर बोली, 'मैं एक बजे स्कूल से लौट आऊँगी। तू हर शनिवार की तरह आज भी शाम का खाना इसी वक़्त बना लेना। दो-एक आदमियों का खाना ज़्यादा बनेगा, बस। दो सब्ज़ियाँ, दाल और रायता। मीट अच्छा मिल जाए, तो एक सब्जी कम कर देना। स्कूल से आकर हर शनिवार की ही तरह दो बजे से मैं तुझे छुट्टी दे दूँगी। मेहमान घर में होंगे, इसलिए कल सुबह गाँव से ज़रा जल्दी लौट आना।'

सिन्दूरी फिर भी चुप रही। सिर्फ़ उसके हाथ जल्दी चलने लगे। उसके इस भाव से अस्थिर होकर वह कुछ पल उसे देखती चुप खड़ी रही। फिर गुसलखाने की तरफ़ चलती बोली, 'तीनों कमरे ठीक करके पीछे का बंद कमरा भी खोलकर बुहार देना। मेहमानों की चारपाइयाँ उसी कमरे में लगेंगी।'

'कितनी चारपाइयाँ लगेंगी?' सिन्दूरी के यह पूछने में जैसे कुछ और भी अर्थ था। पर उसने सिन्दूरी की तरफ़ मुड़कर देखा नहीं। 'दो चारपाइयाँ लगा देना अभी,' कहती हुई कमरे से निकल गई। पर गुसलखाने में दाखिल होने से पहले उसे सिन्दूरी के एक और सवाल का जवाव देने के लिए रुकना पड़ा। सिन्दूरी भी उसके पीछे-पीछे कमरे से निकलकर दालान में आ गई थी। वहीं से बीच का फ़ासला बनाए रखते हुए उसने पूछ लिया, 'अकेले मियाँ-बीवी ही हैं, या कोई बच्चा-अच्चा भी होगा साथ में?'

'कह नहीं सकती,' उसने तीखे झटके से सिन्दूरी को देखकर आँखें हटा लीं। 'मैं उनके घर के लोगों से पहले मिली नहीं हूँ।'

पानी काफ़ी गरम था। ऊँची पीठ वाले टीन के टब में शरीर को ढीला छोड़कर नहाने की आदत अब पुरानी हो चली थी। कितने ही साल पहले, उसके बचपन में, यह टब उनके घर में आया था। पिता को हर्निया की शिकायत थी जिसके लिए उन्हें जल-चिकित्सा बतलाई गई थी। कुछ दिन इस्तेमाल होने के बाद वह वर्षों तक यूँ ही पड़ा रहा था। एक दिन पुरानी बाल्टी में छेद हो जाने से उसने उसमें पानी भरवा लिया था और तब से, नई बाल्टी आ जाने के बाद भी, गुसलखाने में उसकी जगह बनी रही थी।

टब इतना बड़ा नहीं था कि टाँगें सीधी करके उसमें लेटा जा सके। उसमें शरीर को समाने के लिए जिस तरह से सिमटना पड़ता था उससे घुटने उभरकर सामने आ जाते थे। दोनों ढीली बाँहें नाभि के आसपास आ मिलती थीं। आँखें मूँदकर वह कई-कई पल इस तरह समाधि की-सी स्थिति में बनी रहती थी। पानी की उष्णता शरीर के पोर-पोर से अन्दर उतरती जाती थी। शरीर में साँस के आने-जाने से पानी में होती हलचल नाभि के निचले हिस्से में हल्की थपकियाँ देती जान पड़ती थी। लगता था पानी की सतह पर बनते छोटे-छोटे बुलबुले शरीर के उसी हिस्से से उठकर आ रहे हैं। शरीर का अधिकांश भाग टब के तले से ऊँचा उठा रहने से अपना-आप एक नाव की तरह तैरता लगता। ज़रा-सा हिलने से ही नाव किसी-न-किसी किनारे से टकरा जाती। कई बार वह जान-बूझकर लम्बी-लम्बी साँसें लेती जिससे नाव ज़्यादा हिचकोले खाती और ज़्यादा बार किनारों से रगड़ जाती। सिर अपने-आप पीछे से नीचे को सरकता जाता, टाँगें पानी में और हल्की पड़कर ऊपर-ऊपर को उठती आतीं। लगता यह गर्भाशय में होने की-सी स्थिति ही शरीर के लिए सबसे स्वाभाविक है। जैसे उसकी सुविधा की सारी खोज गर्भाशय के अनुभव की ही खोज थी...वह अनुभव समाधि के रूप में हो या...उसे उन अधूरे क्षणों का स्मरण हो आता जब देव के साथ लगभग वैसी ही शारीरिक स्थिति में वह पोर-पोर से एक वैसी ही उष्णता पा सकने की कामना से आतुर हो जाया करती थी। परन्तु...शरीर तले से ऊपर उठकर हिलोर लेने ही लगता था कि देव का हाँफता शरीर अपने बोझ से उसे दबा देता था और उसे अपने में भर लेने की कोशिश करते-करते सहसा वह उसे अपने से उतार फेंकने की व्याकुलता से भर जाती थी।

कंधों का जितना हिस्सा पानी से बाहर था, उसे ठंडक से बचाने के लिए पानी में डुबाते हुए उसने अपने-आप पर एक नज़र डाल ली। दो भरे हुए मांस-पिंड जो जैसे शरीर से स्वतन्त्र होकर पानी की सतह तक उठ आना चाहते थे। मांस-पिंडों को दोनों ओर से ढकती जाँघों की चिकनी गोलाइयाँ और पानी से बाहर निकले घुटनों पर

सिहरते रोएँ...उन सबकी जैसे अपनी अलग-अलग सत्ता थी। वे सब जैसे अपनी-अपनी किसी आकांक्षा से ही एक-दूसरे से जुड़े थे। उन सब आकांक्षाओं का केन्द्र थी वह स्वयं...वह स्वयं अर्थात्? उसने दोनों हाथ पानी से बाहर निकालकर अपनी सिकुड़ी हुई उँगलियों को देखा...पानी की गरमी में भी मांस फैलने की जगह सिकुड़ता क्यों है? उसने दोनों हाथों को आपस में मल लिया और फिर से पानी में डूब जाने दिया। डूबने के क्षण में एक गुनगुना-सा अनुभव, पर साथ में एक सिहरन...पानी गरम होकर भी अन्दर से ठंडा-का-ठंडा रहता है क्यों?

टब से बाहर आकर शरीर को निचोड़ते हुए उसे समय का ध्यान हो आया। कुमार ने अगर पहली बस पकड़ ली होगी, तो इस समय कहाँ होगा? बैजनाथ के रास्ते में या पालमपुर के आसपास?

तौलिए से शरीर को पोंछते हुए उसके मन में आया कि उसने अपने-आपको कभी इस तरह आईने में क्यों नहीं देखा...अपनी पूरी स्वाभाविकता में? अपने-आपका इस तरह सामना करने में संकोच किस बात का था? क्या कोई न्यूनता थी जिसे सामने से देखने का वह साहस नहीं कर सकती थी? उसने अपने गालों को सहलाया, बाँहों को मला और स्तनों को हथेलियों पर तौल लिया। आज भी उसके शरीर में इतना कसाव था कि निःसंकोच होकर उसे देखा जा सकता था...फिर भी आज से आठ साल पहले जैसा तो वह अब नहीं रहा था। उन दिनों जबकि बिना ब्रसियर के भी अपना-आप कसा-कसा लगता था...तब के अपने शरीर को वह आज किस आईने में देख सकती थी? यह विचार उन दिनों मन में क्यों नहीं आया कि एक बार, कम-से-कम एक बार, तो अपने को अपने भरपूर रूप में पूरा देख ले?

पर आईने के सामने पहुँचने तक वह फिर पेटीकोट, ब्रेसियर और ब्लाउज़ में थी...हालाँकि वहाँ खड़े-खड़े उसने दो बार ब्लाउज़ की हुकें खोलीं और बंद कीं। साड़ी बाँधकर जूड़े की पिनें लगाते हुए चोर नज़र से उसने घड़ी में वक़्त देख लिया। कुमार की बस कहाँ पहुँची होगी अब तक? इतने सारे लोगों को उसी दिन मिलने के लिए आना था। दो अध्यापिकाएँ स्कूल से ही साथ चली आई थीं। रंजू और रमेश्वरी मेहता। कुआँरी होने से दोनों को दिन बिताने की समस्या रहती थी, शनिवार को विशेष रूप से। प्रायः हर शनिवार की दोपहर वे उसी के यहाँ काटती थीं। उन लोगों की हो-हुल्लड़ और चाय पीने-पिलाने की व्यस्तता में उसका भी वक़्त बीत जाता था। पर उस दिन सिर-दर्द का बहाना करके उसने उन लोगों से बचना चाहा था। रंजू उसका इरादा भाँप गई थी, पर रमेश्वरी को ऐसी बतास उठ रही थी कि वह 'बहनजी को सिर-दर्द के साथ अकेली छोड़ने' को तैयार नहीं हुई थी। 'सच कहती हूँ बहनजी, पहले तो रात को बारह-बारह बजे तक उसके कमरे की बत्ती जलती रहती थी। आधी रात को भी कोई केस आ जाता था, तो वह देखने निकल पड़ती थी। पर पिछले छह

महीने से, जब से यह नया डॉक्टर आया है, दुबे, तब से रात के नौ बजे ही उसके कमरे की बत्ती बुझने लगी थी। दिन में भी देखने में वह थकी-थकी-सी लगती। पूछने पर हँसकर कहती थी, 'आजकल एक नया तजरुबा कर रही हूँ,। नया तजरुबा! सिवाय एक तजरुबे के और कौन-सा था वह नया तजरुबा?

बात लेडी डॉक्टर बत्रा को लेकर ही थी। उसकी आकस्मिक मृत्यु से पहले सबको धक्का लगा था, दुख भी हुआ था। इतनी सुंदर हँसमुख लड़की, शाम तक रोज़ की तरह अस्पताल में काम कर रही थी, और सुबह उठने पर पता चला कि शरीर पर तेज़ाब छिड़ककर उसने आत्महत्या कर ली। खबर सुनकर किसी से बात तक करते नहीं बना था..यही रमेश्वरी कितनी गुमसुम रही थी उस दिन। पर दो-चार दिन गुज़रने के बाद ही डॉक्टर दुबे के साथ लेडी डॉक्टर के सम्बन्ध को लेकर दबे-दबे चर्चा शुरू हो गई थी जो अब तक मज़ाक की स्थिति में पहुँच गई थी। 'डॉक्टर दुबे ने जो उसी दिन अस्पताल से तीन दिन की छुट्टी ले ली थी, वह किसलिए थी? बेचारे को जो दुख हुआ, सो तो हुआ ही होगा...पर ख़ास वजह क्या यही नहीं थी कि वह लोगों के सामने पड़ने से बचना चाहता था? कोई उससे ऐसा-वैसा सवाल पूछ लेता, तो क्या जवाब देता बेचारा उसे? सुना तो यह भी था कि वह त्यागपत्र देकर यहाँ से चले जाने की सोच रहा है। पर परसों देखा था, तो पहले से भी स्मार्ट सूट पहने घूम रहा था अस्पताल में। शायद अब नए रोमांस की तैयारी चल रही है। जो नई डॉक्टर आई है, उससे। मैं कहती हूँ, अब तो शरम करनी चाहिए उसे। वह बेचारी दो छोटे-छोटे बच्चों की विधवा माँ है। उसे भी कहीं कुछ हो-हवा गया, तो उसके बच्चों की देखभाल कौन करेगा?'

हँसना न चाहते हुए भी रमेश्वरी की हँसी में साथ देना पड़ रहा था उसे। उसका एक मेहमान आकर रात-भर रहा है उसके यहाँ, यह बात किसी भी तरह वहाँ छिपी नहीं रह सकती थी। बल्कि सम्भव था रमेश्वरी अभी से जानती हो कि स्कूल का चपरासी शाम की बस से उसके किसी मेहमान को लिवा लाने जाएगा। ऐसे में रमेश्वरी की बात का विरोध करने से उसका कुछ और मतलब भी लिया जा सकता था। फिर भी एक बार जैसे अपने ही बचाव के लिए इतना कहा उसने, 'मैं इतनी बार मिली हूँ मिस बत्रा से, पर मुझे तो कभी वह उस तरह की नहीं लगी। मुझसे तो बल्कि वह कहा करती थी कि दो साल और यह नौकरी करने के बाद वह शादी कर लेगी और अपनी प्राइवेट प्रेक्टिस करेगी। डॉक्टर दुबे का तो कभी नाम भी मेरे सामने नहीं लिया उसने। क्या यह नहीं हो सकता कि बेचारी सचमुच कोई तजरुबा कर रही हो और उसी में तेज़ाब गिर गया हो उस पर?'

पर इस तरह दुर्घटना में लेडी डॉक्टर की मृत्यु होने की बात रमेश्वरी को किसी भी तरह स्वीकार नहीं थी। 'एक छोटे-से अस्पताल की नौकरी में ऐसा कौन-सा तजरुबा

हो सकता है जिसमें तेज़ाब की ज़रूरत पड़े? और वह चार साल की बच्ची तो थी नहीं कि उसे पता नहीं चला कि उसके हाथ में जो चीज़ है, वह तेज़ाब है जिससे पूरा शरीर झुलस सकता है।'

सिन्दूरी कमरे में आई, तो उसे देखते ही उसका चेहरा सुर्ख़ होने लगा। इससे पहले कि वह बाहर जाकर उससे बात करने के लिए उठ पाती, सिन्दूरी ने वही प्रकरण छेड़ दिया जिससे उस समय वह बचना चाहती थी। 'बहनजी, आपकी और बेबी की चारपाइयों को छोड़कर और एक भी साबुत चारपाई नहीं है घर में। कहें तो मैं परमार साहब के यहाँ से ले आऊँ जाकर।'

'किसी के यहाँ माँगने जाने की ज़रूरत नहीं,' उसने जकड़े-से स्वर में सिन्दूरी को झिड़क दिया। 'तुझे जाना है, जा अब। मैं देख लूँगी कैसे इंतज़ाम करना है।'

'पर आपने कहा था पीछे के कमरे में...।'

'कह रही हूँ मैं देख लूँगी कैसे सब करना है। दो बज गए हैं। तेरा छुट्टी का वक़्त है...तू जा सकती है अब।'

सिन्दूरी मुँह में जाने क्या बड़बड़ाकर बाहर चली गई। उसे एकाएक इतना गुस्सा हो आया कि मन हुआ उसी वक़्त से उस औरत को नौकरी से जवाब दे दे। पर रंजू और रमेश्वरी सामने थीं, इसलिए गुस्सा पी जाना ही बेहतर लगा उसे। रमेश्वरी की आँखों में उभर आई उत्सुकता कोई और रंगत ले, इससे पहले अपनी ओर से ही वह बताने लगी, 'कुछ लोगों के बाहर से आने की बात है आज। हमारे उनके कोई दोस्त हैं। लिखा है कुल्लू जाते हुए रास्ते में एकाध दिन के लिए यहाँ रुकेंगे। शायद सोचते हों कि मिलकर नहीं जाएँगे तो मुझे बुरा लगेगा कि उनके बाद इन लोगों ने मुँह दिखाना भी छोड़ दिया।'

'आपके पास ही ठहरेंगे?' रमेश्वरी के स्वर में कुछ था जो उसे अखर गया। उसे यह भी लगा कि सवाल पूछते हुए उसने एक बार गहरी नज़र से रंजू की तरफ़ देख लिया है। इतना ही नहीं, रंजू ने अपनी आँखों में उभर आई मुसकराहट से उसे उत्तर भी दिया है। उसका मन उन दोनों के प्रति वितृष्णा से भरने लगा। रंजू के प्रति विशेष रूप से क्योंकि उसी के कारण वह रमेश्वरी का अपने यहाँ इतना आना-जाना स्वीकार करती थी। और यही वह लड़की थी जिसकी सादगी और भोलेपन की प्रशंसा उसने कुमार से की थी।...अच्छा ही था कि उसने इस लड़की से कुमार की चर्चा नहीं की। इसमें ऐसी विशेषता थी भी क्या कि कुमार-जैसे व्यक्ति के साथ इसके सम्बन्ध की बात सोची जा सकती। कुमार सचमुच इसके बारे में जानना चाहे, तो वह सच-सच उसे बता देगी कि लड़की देखने में बुरी नहीं है, अपनी एक सादगी भी है उसमें, पर साथ में ऐसा ओछापन भी कि अपने पत्र में उसकी चर्चा करने के लिए बाद में उसे अफ़सोस होता रहा है।

'कह नहीं सकती,' स्वर में काफ़ी उदासीनता लाकर उसने रमेश्वरी को उत्तर दिया। 'हो सकता है रेस्ट-हाउस या किसी होटल में उन्होंने अपना इंतज़ाम कर रखा हो। पर अपनी तरफ़ से तो एक बार उनसे कहना ही होगा। इसीलिए मैंने पीछे का कमरा खुलवा दिया है। यहाँ ठहरना चाहेंगे, तो यहीं ठहर जाएँगे।'

रमेश्वरी इस विषय में कुरेदकर जानना चाहती, तो उसे बुरा लगता। पर उसने बात को वहीं छोड़ दिया, यह भी उसे अच्छा नहीं लगा। क्या रमेश्वरी के मन में सचमुच सन्देह का बीज था जिसके कारण वह बिना और बात किए इस तरह चुप रह गई थी?

रंजू और रमेश्वरी पाँच-साढ़े पाँच के बाद हीं उसके यहाँ से जाया करती थीं। उस दिन सवा तीन के करीब उनका उठकर चल देना भी उसे स्वाभाविक नहीं लगा। जैसे उनके मन का सन्देह ही था जिसने दो घंटे पहले उन्हें वहाँ से उठा दिया था। पर रमेश्वरी ने चलने की बात की, तो वह उनसे और रुकने के लिए भी नहीं कह सकी। वह नहीं चाहती थी कि चपरासी कुमार का बक्सा लिए अन्दर आए, तो वे लोग वहाँ पर हों। वह तो बल्कि चाह रही थी कि किसी तरह कुमार के आने का कार्यक्रम बदल जाए। या तो वह आज की गाड़ी से चला ही न हो, किसी और दिन आने का तार भेज दिया हो उसने...या रास्ते में सड़क टूटी होने से उसकी बस मंडी तक पहुँचे ही नहीं और उसे मजबूरन आधे रास्ते से लौट जाना पड़े। कितनी बड़ी मूर्खता की थी उसने इस तरह कुमार को आने के लिए लिखकर?

रंजू और रमेश्वरी अभी गेट से थोड़ी दूर ही गई होंगी कि गर्ल गाइड्स की इंचार्ज मिसेज़ सोहनसिंह आ पहुँचीं। हर बात की तरह वे आते ही विस्तार के साथ बताने लगीं कि उन्हें कितना काम रहता है और किसी के यहाँ आने-जाने का समय वे कितनी मुश्किल से निकाल पाती हैं। 'आई से शामो, कोई बिलीव नहीं कर सकता कि रोज़ चौबीस घंटे में से सोलह घंटे, सिक्सटीन आवर्ज़, कितनी दौड़-धूप करनी पड़ती है मुझे! यंग गर्ल्ज़ के साथ डील करने की कितनी प्राब्लेम्ज़ हैं! चार सौ अस्सी लड़कियाँ हैं मेरे अंडर, फोर हंड्रेड एंड एटी, और हर लड़की की कमज़-कम एक डज़न प्राब्लेम्ज़ हैं। अब तुम हिसाब लगा लो कितने हज़ार प्राब्लेम्ज़ हैं जिनके साथ मुझे रोज़ डील करना पड़ता है। एक माँ-बाप के साथ झगड़ा करके आ जाती है घर से, दूसरी अपने मैडिकल प्राब्लेम्ज़ ले आती है, तीसरी के लव-अफ़ेयर के काम्प्लिकेशन्ज़ हैं... तुम अच्छी हो कि दो घंटे पढ़ाया, चार चिट्ठियों पर दस्तखत किए, थोड़ा डाँट-फटकार दिया किसी को और बस, दिन का काम पूरा हो गया। मैं फ़ील्ड-वर्क से आती हूँ, तो सेक्रेटरी का बुलावा आ जाता है। सेक्रेटेरियट से लौटती हूँ, तो घर में दरबार लगा होता है। फिर चैरिटीज़ का काम...यह रिलीफ़ फ़ंड, वह रिलीफ़ फ़ंड, यह फ़ंक्शन, वह फ़ंक्शन। मेरे हस्बैंड कहते हैं, यू आर नाट ए वोमन बट ए कम्प्यूटर। मैं कहती हूँ कोई

मेरे जितने काम करने वाला कम्प्यूटर बनाकर दिखाए तो। और मैं नौकरी की खातिर तो नौकरी करती नहीं हूँ। आई डोंट नीड दिस पेटी सैलरी। मेरा तो साड़ियों का खर्चा भी नहीं निकलता इससे। बट आई मस्ट से आई लव वर्किंग। पर्टिक्युलर्ली यंग गर्ल्ज के साथ। मैं आज भी इसी वजह से इतनी यंग महसूस करती हूँ...।'

मिसेज़ सोहनसिंह अभी गई नहीं थीं कि मैनेजिंग कमेटी के दो सदस्य चले आए। उनमें से एक की लड़की की शादी थी। 'अगले संडे की शादी है, फ्राईडे, सैटर्डे, संडे, तीन दिन के लिए स्कूल की बिल्डिंग चाहिए। सैटर्डे की तो आधी छुट्टी होती ही है। सिर्फ़ फ्राईडे की छुट्टी करनी पड़ेगी। मैंने चेयरमैन से बात कर ली है। उनका कहना है, बिल्डिंग-फ़ंड में हम कम-से-कम सौ रुपया चंदा दे दें। मैंने कहा मुझे मंजूर है। पर वे बोले एक बार आपसे भी पूछ लेना ज़रूरी है...।'

उन लोगों के जाते-न-जाते सनातन धर्म सभा और गोरक्षा समिति के अध्यक्ष बावाजी 'एक विशेष अनुरोध करने' के लिए आ गए। 'परसों स्वामी गिरिजानन्दजी का भाषण रखा है हमने। मैदान में बड़ा शामियाना लगेगा। हम चाहते थे आप तो उस दिन आएँ ही, अपने स्कूल की लड़कियों तथा अध्यापिकाओं से भी अधिक-से-अधिक संख्या में आने के लिए कह दें। इतना महत्त्वपूर्ण भाषण हो और सुनने के लिए सौ-पचास लोग ही एकत्रित हों, इसमें नगर का सम्मान नहीं रहता। हमने लड़कों के स्कूल में हेडमास्टर साहब से नोटिस निकलवा दिया है। एक नोटिस आप भी निकाल दें, तो...।'

उसे लग रहा था एक-के-बाद-एक उन सब लोगों का आना एक षड्यन्त्र है। जैसे सारे शहर को कुमार के आने की सूचना मिल गई थी और वे लोग जान-बूझकर बारी-बारी से उसके यहाँ चक्कर लगा रहे थे। बावाजी जिस समय गए, तब तक घड़ी की सूइयाँ पाँच और बारह पर पहुँच चुकी थीं। पठानकोट से पहली बस अड्डे पर आ चुकी होगी। उसने चपरासी को अड्डे पर भेजने की बात क्यों लिखी थी पत्र में? कुमार किसी भी रिक्शा वाले को उसका नाम बता देता, तो वह उसे सीधा यहाँ ले आता। उसके मन में हौल-सा उठने लगा कि अभी-अभी एक रिक्शा गेट के पास आकर रुकेगा और उसमें से उतरकर कुमार पगडंडी से नीचे आएगा। अगर उससे पहले कुछ और लोग मिलने आ गए, तो कुमार को कैसा लगेगा उन्हें देखकर? और वे लोग भी क्या सोचेंगे एक अपरिचित व्यक्ति के पीछे-पीछे चपरासी को बिस्तर-अटैची के साथ आते देखकर? उस वक़्त किसी के चेहरे पर हल्की-सी भी मुसकराहट नज़र आ गई, तो कितनी शरम की बात होगी वह, उसके लिए भी और कुमार के लिए भी? कुमार के अन्दर आने के साथ ही वे लोग वहाँ से चलने की बात करने लगेंगे, और वह अभी कुमार से उसका हालचाल भी नहीं पूछ पाएगी जब तक शहर में लोग लेडी डॉक्टर बत्रा की जगह उसकी चर्चा कर रहे होंगे।

मिसेज़ सोहनसिंह ने चलते-चलते उसके अकेले जीवन से सहानुभूति प्रकट की थी। 'मुझे इस तरह अकेली रहना पड़े, तो मैं तो एकदम पागल हो जाऊँ।' वह सहानुभूति उसे व्यंग्य की तरह चुभ गई थी। ऊपर से वह मुसकरा दी थी, पर अन्दर से पसीना-पसीना हो गई थी। मिसेज़ सोहनसिंह को आज ही उसके अकेलेपन का ध्यान क्यों आया था?

पर लोगों के चले जाने के बाद कमरे का खालीपन भी उसे असह्य लगने लगा, तो वह बाहर बरामदे में निकल आई। वहाँ आकर देखा सिंदूरी अब भी गई नहीं है, कलछी चलाती किचन में खड़ी है। यह उस औरत की एक और धृष्टता थी। जब काफ़ी देर पहले उससे जाने को कह दिया गया था, तो वह अब तक गई क्यों नहीं थी?

उसे देखते ही सिन्दूरी पल्ले से हाथ पोंछती बाहर आ गई। 'बहनजी, और दो चारपाइयाँ तो मैंने किसी तरह ठीक कर दी हैं, पर बिस्तरों का कैसे करना है? वे लोग अपने बिस्तर साथ लेकर आएँगे या...?'

'मैंने कहा है मुझे कुछ भी पता नहीं,' उसने पूरे शहर के प्रति अपनी खीझ सिन्दूरी पर निकाल ली। 'यह भी पता नहीं कि कोई आएगा भी या नहीं। तेरा जितना काम हो गया, ठीक है। बाक़ी काम मैं अपने-आप कर लूँगी। मैं कल तुझसे यह नहीं सुनना चाहती कि वक़्त से छुट्टी नहीं मिलती, घर पहुँचने में अँधेरा हो जाता है, बच्चों के पास बैठने का मौका नहीं मिलता।'

'पर मैं तो सोच रही थी कि आज मैं...।'

'मेहमान आ गए, तो कल घर में काम ज़्यादा रहेगा। मैं आज की जगह कल तुझे छुट्टी नहीं दे सकती। न ही मैं दो दिन बाद सुनना चाहती हूँ कि फ़लाँ बीमार है, या फ़लाँ का हाथ टूट गया है, इसलिए मेरा गाँव जाना ज़रूरी है।'

दिन बहुत धीरे-धीरे ढला। सिन्दूरी के चले जाने के बाद वह बेबी के साथ घर में बिलकुल अकेली थी। उसने चाहा कि बेबी भी किसी तरह जल्दी सो जाए, पर वह अँधेरा होने तक स्टापू खेलने की ज़िद करती रही। 'ममी, बताओ क्या डालूँ? छक्का? यह छक्का। अब बताओ, क्या डालूँ?'

उसने बेबी को दौड़ाकर थकाने की कोशिश की, पर वह हाँफती हुई भी पहले से और चुस्त होती गई। कमरे में लाकर उसने उसे फूलदान के फूल गिनने पर लगाया, पर वह जल्दी से एक से सौ तक गिनकर उसके गले से आ लिपटी। 'ममी, हमको वह कहानी सुनाओ, बाघ और बिल्ली के बच्चों वाली।' उसने नाराज़ होकर बेबी को झटक दिया। बेबी रोने लगी। उसे मुश्किल से चुप कराके खाना खिलाया। खाना खाते हुए बेबी ने काँच का गिलास ज़मीन पर पटक दिया। खाने के बाद उसे कापी में

तसवीर बनाने को दी, तो उसने पहले तो कापी का वरका-वरका अलग कर दिया। फिर जाकर पेन को पानी की बाल्टी में डुबो आई। और भी सुबह की समेटी कई चीज़ें उसने इधर-उधर बिखरा दीं। 'जीतू, जीतू, तू मुझे जीने देगी या नहीं?' वह माथा पकड़कर कुरसी पर बैठ गई। उसकी आँखों से आँसू बहते देख बेबी का तूफान शान्त हो गया। वह उसे चूमकर और 'गुड नाइट' कहकर अपने बिस्तर में चली गई।

शाम गहरी हो गई थी। और पहली बस के बाद अब दूसरी बस आने का समय हो रहा था। उसकी आँखें एक आशा और आशंका के साथ बार-बार गेट की तरफ़ जाती थीं और किसी को न आते देखकर एक-साथ निराश और निश्चिन्त हो रहती थीं। क्या सचमुच कुमार ने न आने का ही तय किया था? पर ऐसा था, तो उसने उसे इसकी सूचना क्यों नहीं दी? सूचना न देने का अर्थ था कि वह आ रहा था। पर आने का निश्चय करने पर क्या उसे स्वयं ही नहीं लिखना चाहिए था कि वह उसके ठहरने का प्रबन्ध किसी होटल में कर दे? ग़लती उसकी अपनी थी। उसने कुमार को इतना समय भी तो नहीं दिया कि वह उसके पत्र का उत्तर दे सके। हो सकता है अब आकर वह कहीं बाहर ठहरने का फैसला कर ले। नहीं तो वही उसे यहाँ की स्थिति समझा देगी। कह देगी कि उसका रात को यहाँ उसके क्वार्टर में रहना ठीक नहीं। बेहतर होगा कि वह रेस्ट हाउस में जगह का पता कर ले, या किसी होटल में जाकर पूछ ले। कल सुबह वह उसे खाने पर बुला सकती है। कुमार का मन देखगी, तो सचमुच उसे रंजू से मिला देगी। इस तरह बात भी रह जाएगी और लोगों को टीका-टिप्पणी करने का मौका भी नहीं मिलेगा।...लेकिन नहीं। रंजू-जैसी लड़की से मिलाने पर कुमार उसके विषय में मन में क्या सोचेगा? वैसे भी वह रंजू को क्या कहकर अपने यहाँ बुलाएगी? उसने किसी को भी कुमार से मिलाने के लिए बुलाया, तो बाद में इसे लेकर तरह-तरह के सवाल नहीं पैदा होंगे? लोगों को इतना ही पता चलना चाहिए कि कोई एक व्यक्ति आया था। घर-परिवार वाला व्यक्ति। परिवार साथ में नहीं था, इसलिए उसके यहाँ नहीं ठहरा। रात रेस्ट हाउस में काटकर चला गया।

शाम के और गहराकर अँधेरे में डूबने के साथ दूसरी बस का वक़्त भी निकल गया, तो विचारों का यह ताना-बाना टूटने लगा। पठानकोट से आने वाली एक ही बस रहती थी अब। नौ बजे से पहले वह बस अड्डे पर नहीं पहुँचती थी। कुमार उस बस से आया, तो क्या वह उससे कह सकेगी कि वह उलटे पैरों वहाँ से रेस्ट हाउस में चला जाए? यह उसका बहुत छोटापन नहीं होगा कि एक आदमी को बाहर से बुलाकर ठहरने के लिए उसे किसी दूसरी जगह जाने को कहे? और कुमार के सामने आ खड़े होने पर वह यह बात उससे कह भी पाएगी? कहना ज़रूरी भी किसलिए था? इसलिए कि लोग कोई ऐसी-वैसी बात न सोचें? एक छोटे शहर के गर्ल्ज हाई स्कूल की हेड-मिस्ट्रेस के नाम पर किसी तरह की आँच न आए? पर कुमार

को अपने यहाँ न ठहराकर भी क्या वह लोगों की ज़बान रोक सकती थी। लेडी डॉक्टर अपनी जान देकर भी क्या किसी की ज़बान रोक पाई थी? बल्कि जो बातें बेचारी के जीते-जी न कही जातीं, वे आज कही जा रही थीं। इस तरह की बातों को आज तक कोई भी रोक सका था? अपनी ओर से बड़े-से-बड़ा प्रयत्न करके भी? क्यों वह जीवन-भर दूसरों की रुचि या रुचिहीनता की कसौटी पर अपने को परखती रहे? क्यों न अपनी इच्छाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए ही जिए? उसे केवल एक कसौटी की चिन्ता करनी चाहिए...अपने मन की कसौटी की। उसके अलावा और कोई भी चिन्ता करना बुज़दिली होगी। वह क्यों अपने को उस तरह की बुज़दिली की शिकार होने दे?

वह बरामदे में आराम-कुरसी पर लेटी थी, बाँह माथे पर फैलाए। एकाएक जैसे मन में निश्चय करके उठ खड़ी हुई। नहीं, वह किसी की चिन्ता नहीं करेगी। जिएगी, अपने विश्वास के बल पर। जिस विश्वास के साथ कुमार को बुलाया था, उसी के साथ घर में उसका स्वागत भी करेगी। उसे अपने पर इतना भरोसा तो है ही कि बिना अन्दर से चाहे वह किसी की इच्छा के सामने अपने को झुकने नहीं दे सकती। कुमार भी अगर उसे गलत समझे, उसके बुलावे का गलत अर्थ ले, तो भी अपनी जगह गलत न होने का सन्तोष ही उसके लिए काफ़ी होना चाहिए। अपनी जगह सही होने के विश्वास से वह किसी भी परिस्थिति को जीत सकती है। कुमार के आने पर आज यदि उसके विश्वास की परीक्षा ही होनी है, तो वह उस परीक्षा से डरे क्यों?

बरामदे की रेलिंग के पास रुककर वह कुछ देर आकाश की ओर देखती रही। एक गहरे तांबई रंग का धीरे-धीरे स्याह पड़ते जाना...रोज़ की साँझ से आज की साँझ इतनी अलग क्यों थी? वह कुछ और-सा ही रंग था, हर क्षण के साथ बदलता हुआ भी वही एक रंग, जो आँखों के आर-पार घिरा था। पहाड़ की चोटियों को ढकता वह रंग आँखों के रास्ते शरीर में उतर गया था...शरीर के अन्दर भी धीरे-धीरे रात हो रही थी।

सूरज बरामदे के सामने ढलता था। रोज़ सामने की पहाड़ियों से लम्बी-लम्बी छायाएँ बरामदे की तरफ़ बढ़ आती थीं। झुटपुटा होता था, तो नन्हे-नन्हे स्याह डैने दूर की गहराइयों में फड़फड़ाते नज़र आते थे। हल्की-हल्की आवाज़ों के साथ रात उतरती थी। जमीन ख़ामोश होती जाती थी और आकाश में स्वर उभरते आते थे। ज्यों-ज्यों एकान्त बढ़ता जाता था, मन अपने-आपको कैद से निकलने के लिए मचलने लगता था। परन्तु उस समय वह सब रोज़ जैसा नहीं था। रात का जो रूप शरीर में भर आया था, वह रोज़ से कहीं अलग, कहीं गहरा था। उसमें एक अन्तरंगता थी, कोने में दुबककर आग तापने जैसी। अन्दर का एकान्त रोज़ की तरह का उदास अकेलापन नहीं, एक भरा-भरा-सा अनुभव था...समय गुजरता हुआ बाहर की ओर

नहीं जा रहा था, अन्दर की ओर आ रहा था। और वह स्वयं भी जैसे समय के समानान्तर चल रही थी...अपने अन्दर की ओर, और अन्दर की ओर...।

अँधेरा होने तक लकड़ी की रेलिंग के सहारे खड़ी वह उसी तरह देखती रही। मन अँधेरे की परतों में दबता गया और वह चुपचाप उनके प्रति आत्म-समर्पण करती गई। आखिरी बस के आने में कुल एक-डेढ़ घंटा और था। कुमार के आने की तरह उसके आने के बाद का सब-कुछ भी जैसे अपने-आप निश्चित हो चुका था। उसमें अब अपनी ओर से प्रयत्न करने की कोई सम्भावना नहीं थी। जिस तरह बस को अड्डे पर पहुँचना था, उसी तरह कुमार को आकर एक निश्चित जगह पर बैठना, एक निश्चित ढंग से उसकी तरफ़ देखना और एक निश्चित सवाल से बातचीत शुरू करना था। उसके बाद भी जो कुछ होने को था, वह सब एकदम निश्चित था। उसे अब केवल उस प्रक्रिया में से गुजरना था।

'कैसी हो तुम?' अपरिचित कमरे में भी अपरिचित महसूस न करने के लिए कुमार मसनद का सहारा ढूँढ़ेगा।

'कैसी लग रही हूँ?' ख़ामोश अन्तराल में दोनों एक-दूसरे से आँखें हटाए रहेंगे। कुछ देर बाद वह पूछ लेगी, 'सफर कैसा रहा?'

कुमार उसके स्वर की थाह लेता रूखे ढंग से मुसकरा देगा। 'ठीक ही था।'

'रास्ता काफ़ी ख़राब है इन दिनों।'

'हाँ...बहुत ख़राब है।'

'सड़क बीच-बीच में टूटी होगी।'

'कई जगह से। पता नहीं किस तरह ये लोग गाड़ी निकालकर ले आते हैं।'

'भूख लगी है?'

'नहीं।'

'रास्ते में कुछ खाया था?'

'दिन में खाया था। बिटिया कहाँ है?'

सो गई है। पहले चाय बना दूँ?'

'तुम भी पियो अगर...।'

'मैं भी पी लूँगी।'

चाय का सामान उसे ढूँढ़ना पड़ेगा। सिन्दूरी कहाँ रखती है सब चीजें? ट्रे सामने आ जाने पर वह कहेगा, 'मुझे आशा नहीं थी तुम पत्र लिखोगी।'

'मैंने पहले भी कई पत्र लिखे थे। पर फाड़ दिए। सोच ही नहीं पाती थी क्या लिखना चाहिए।'

'वह बात क्यों लिखी थी?'

'कौन-सी?'

'कि एक अध्यापिका है तुम्हारे स्कूल में?'

वह चुप हो रहेगी। फिर सच बात उगल देगी। 'तुम्हें बुलाना चाहती थी, इसलिए।'

कुमार हँस देगा।

'हँसते क्यों हो?' वह उसे आँखों में डाँट देगी।

'आदत है हँसने की।'

'अच्छी आदत नहीं है।'

'क्यों?'

'लगता है मज़ाक बना रहे हो।'

'तुम्हारा सचमुच ख़याल है मैं तुम्हारी उससे मिलने के लिए आया हूँ? दुबली-पीली लड़कियाँ हर शहर में बहुत होती हैं।'

'वह अच्छी लड़की है। बहुत सीधी।'

कुमार फिर हँस देगा।

'अब फिर हँस रहे हो?'

'आदत का क्या कर सकता है आदमी?'

वह पलभर उसे उलझी नज़र से देखती रहेगी। फिर खुद भी हँस देगी।

'तुम भी हँसती हो?' वह ताना देगा।

'मैं इनसान नहीं हूँ?'

'हो तो सही, पर कई बार मानती नहीं हो।'

वह फिर आँख चुराने लगेगी। 'सफर में सिर-दर्द तो नहीं हुआ? मुझे हर बार हो जाता है।'

'मुझे हर बार नहीं होता। आज हो गया है।'

'एस्परीन?'

'नहीं। ठीक हो जाएगा।'

'मैं खाना ले आती हूँ। खाकर आराम से सो रहो।'

'खाना ले आओ। सोना तो नींद आने पर ही होगा।'

खाना खाते वक़्त खाने के बारे में ही बात होगी। 'अच्छा बना है?'

'तुमने बनाया है?'

'करानी ने। अच्छा बनाती है।'

'रात को छुट्टी कर जाती है?'

'सिर्फ़ शनिवार को। हफ्ते में एक दिन गाँव जाती है।'

कुमार उसकी आँखों में देखेगा। 'इतवार को दिन-भर वहीं रहती है?'

'नहीं। दस बजे तक लौट आती है सुबह।'

खाना हो चुकने पर वह गम्भीर नज़र से उसकी तरफ़ देखता रहेगा।

वह साहस के साथ उसकी नज़र का सामना करने की चेष्टा करेगी।

'आँखों से लगता है तुम्हें किसी चीज़ की परेशानी है।'

'परेशानी अपने-आप की ही है।'

'यानी?'

'अपने-आपसें लड़ती रहती हूँ बहुत। पर वश नहीं चलता।'

'पूना से चिट्ठी आती है?'

'आती है।'

'वे लोग फिर कभी यहाँ नहीं आईं?'

'मैंने बुलाया ही नहीं। हर महीने कुछ पैसे भेज देती हूँ, बस इतना ही सम्बन्ध है।'

'उन्होंने भी नहीं बुलाया?'

'बुलाया है। दीवाली की छुट्टियों में। पर मैं जाऊँगी नहीं।'

'क्यों?'

'मन नहीं है। आपस में कोई चीज़ बाँटने की नहीं। सिवाय बेबी के। और यह भी उतनी ज़्यादा उन लोगों पर कि मुझे बिलकुल अपनी नहीं लगती। लगता है एक जंगली जानवर है जिसे मेरे पास छोड़ दिया गया है। इतना ऊधम और तोड़फोड़ करती है। पहले मैं कुछ नहीं कहती थी, पर लगा शायद इसी से बिगड़ती जा रही है। इधर आकर काफ़ी पीटने लगी हूँ। थप्पड़ खाकर डर जाती है, तो वह भी अच्छा नहीं लगता। चेहरा बिलकुल बीजी पर है। शायद इसीलिए मुझे इतना गुस्सा आता है इस पर।'

'पढ़ाई चल रही है?'

'नहीं। इरादा छोड़ दिया है। लगता है स्कूल की नौकरी के सिवा अब कोई चारा नहीं है। पर पहले स्कूल के काम में ही थोड़ा-बहुत मन लग जाता था, अब वह भी नहीं लगता। बच्चों की तरह घंटियाँ गिनती रहती हूँ। यह तीसरी घंटी बजी, यह चौथी, यह पाँचवीं। सब घंटियाँ बज चुकती हैं, तो शंका घिर आती है कि इसके बाद दिन-भर क्या करूँगी। इतवार का दिन काटना एकदम असम्भव हो जाता है। हर चीज़ से, हर काम से, विरक्ति होती है। अपने से पूछती हूँ मैं जी किसलिए रही हूँ। पर मरने की बात सोचने से मन में विद्रोह जागता है। अपना-आप एक ऐसे यन्त्र की तरह लगता है जो उपयोग न होने से व्यर्थ पड़ा सड़ रहा है। पर उपाय यह तो नहीं कि इसे तोड़फोड़ दिया जाए।'

'यन्त्र का उपयोग करने से रोकता कौन है? अपना-आप ही न?'

'यही बात मन में स्पष्ट नहीं हो पाती। मैं जानती हूँ, देव से मैंने प्यार नहीं किया। देव ने भी मुझसे प्यार नहीं किया। देव के मन में मुझे लेकर कोई भावना थी,

तो केवल अधिकार की। उन्हें दुख भी मुझसे प्यार न पाने का नहीं, अपने अहं को चोट पहुँचने का था। देव से पहले दो-एक व्यक्ति थे जिनका मैंने सम्मान किया, पर बाद में लगा कि वे सम्मान के अधिकारी भी नहीं थे। और देव के बाद...देखो, तुम्हारी बात नहीं कर रही अभी...देव के बाद जो कुछ देखा-जाना, वह सब इतना उथला था कि उससे केवल वितृष्णा ही हुई। उस दिन चलने से पहले जीजाजी से काफ़ी बात हुई थी। वे भी यही कहते रहे कि उन्हें अपनी पत्नी से जो चाहिए था, वह उन्हें कभी नहीं मिल पाया। विवाह के दिन से वह अपनी ही एक दुनिया में उलझी रही है, उनके लिए एक मांस की पुतली के अतिरिक्त अभी कुछ नहीं बन पाई। न ही वे उसके लिए एक अधिकार या सुविधा से अधिक कुछ बन पाए हैं। बोले, 'मैं यह भी नहीं कहता कि हम दोनों आज तक अपरिचित रहे हैं। मुझे तो लगता है कि मन की गहराई में हम दोनों एक-दूसरे के दुश्मन हैं जो एक-दूसरे से किसी चीज़ का बदला चुकाने में लगे रहते हैं।' मैं नहीं समझ पाती कि इतने सारे लोग यह झूठ की जिंदगी क्यों जिए जाते हैं। हँसते-खेलते हैं, बच्चों की ब्याह-शादियाँ रचाते हैं, पर अन्दर से एक-दूसरे से घृणा करते हुए और खार खाए हुए। पता नहीं यह केवल संस्कार के कारण होता है या मजबूरी के कारण या एक बार उस तरह से जीना शुरू कर देने पर आदत ही हो जाती है इस सबकी।'

कुमार के चेहरे पर थकान नज़र आएगी। वह अपने को सँभालती पूछेगी, 'नींद आ रही है?'

'नहीं।'

'मेरा यह बात करना अच्छा नहीं लग रहा?'

'इन बातों से आदमी पहुँचता कहाँ है?'

'अगर पहुँच पाती, तो बात ही क्यों करती? जब शुरू-शुरू में तुमसे मिली थी, तो लगा था कि एक तो ऐसा व्यक्ति है जिसके पास बैठकर बात की जा सकती है। पर बाद में लगने लगा कि तुम भी मुझे व्यक्ति के रूप में नहीं, एक साधन के रूप में ही देखते हो जिससे तुम्हारी किसी अपेक्षा की पूर्ति हो सकती है। मैं स्वीकार करती हूँ इससे मेरे अहं को चोट पहुँची थी। मुझे किसी के लिए भी केवल एक साधन हो रहने में बहुत हीनता अनुभव होती है। हो सकता है देव के साथ मेरे सम्बन्ध में भी यही एक गाँठ रही हो।'

कुमार सिर उठाएगा। आँखों में एक तीखा-सा भाव होगा। 'और तुम जब अपनी अपेक्षा की बात करती हो, तो दूसरा तुम्हारे लिए साधन नहीं हो जाता?'

वह एकटक देखती रहेगी। वह बात जिसे सुनने से बचना चाहती थी, आखिर सुननी पड़ ही गई। 'यह सवाल मेरे मन में उठता है। इसलिए आज दूसरी तरह से सोचने की कोशिश करती हूँ। मानकर चलना चाहती हूँ कि कोई भी सम्बन्ध

एक-साथ दो-दो अपेक्षाओं की, दोनों ओर की अलग-अलग अपेक्षाओं की पूर्ति से ही निभ सकता है। और ये अपेक्षाएँ भी एक सीमा तक ही पूरी हो सकती हैं। क्योंकि हर व्यक्ति एक भरे-पूरे बाज़ार की तरह है जिसके सब-कुछ की तुम प्रशंसा कर सकते हो, पर वह सब-कुछ तुम अपने लिए ले नहीं सकते। तुम उसमें से वही लो जो तुम्हारे लिए सुन्दर और उपयोगी है, जिसे लेने की सामर्थ्य तुममें है और जिसे तुम्हें चुराकर, छीनकर या याचना के साथ नहीं लेना होगा। इसकी चिन्ता मत करो कि शेष कहाँ जाता है, कौन लेता है। इसी तरह वह व्यक्ति तुम्हारे सब-कुछ पर ताला लगाने की कोशिश करे, इस स्थिति को स्वीकार मत करो। जितने की उसे अपेक्षा है और जितना बिना किसी बाधा के तुम दे सकते हो, उतना उसे खुले मन से दो, और उसके लिए किसी तरह की कृतज्ञता मत चाहो। तुम्हारा बहुत कुछ यदि तुम्हीं तक रह जाता है, कोई भी उसे ले सकने का अधिकारी तुम्हें नहीं मिलता, तो भी मन मसोसकर मत रहो। तुममें जो कुछ है, उसका मूल्य उसके लिए जा सकने के कारण ही नहीं है। उसका मूल्य उसके होने में है और उतने में ही उसकी सार्थकता है। न तुम किसी के लिए बाध्यता बनो और न किसी को अपने लिए बाध्यता बनने दो। पर इस तरह के व्यक्तिगत न्याय से जीना कहाँ तक सम्भव है? सब लोग इस दृष्टि को स्वीकार करने लगें, तभी तो चल सकता है। अन्यथा छोटे-छोटे झूठ बोलने की मजबूरी से दूसरी तरह का खोखलापन छाने लगता है। आज तुम्हारे यहाँ आने की बात को लेकर ही पता नहीं कितने लोगों से झूठ बोला है और तुम्हारे जाने के बाद और बोलूँगी। सबसे कहा है तुम देव के एक मित्र हो, घर-परिवार वाले आदमी हो। कहते हुए मन में अपने से ही गहरी वितृष्णा होती रही है।'

कुछ देर चुप रहने के बाद वह अपना हाथ कुमार की तरफ़ बढ़ा देगी। कुमार उसके हाथ को अपने हाथ में ले लेगा, तो वह छुड़ाकर उठ खड़ी होगी। 'अपनी इस आदत से बहुत चिढ़ होती है मुझे। देखो, खाने की प्लेटें अब तक नहीं उठाईं। कितना चाहती हूँ कि अपने आसपास कुछ भी बिखरा न रहने दूँ, पर चीज़ें समेटने का उत्साह ही नहीं होता। देव को इससे बहुत चिढ़ थी। कई बार तो वे मेरी बिखरी साड़ियाँ उठाकर खुद तहाने लगते थे। पता नहीं मैं हूँ ही ऐसी या...पर मुझे लगता है उत्साह होने पर मैं सब-कुछ कर सकती हूँ। बात इतनी ही है कि मेरे अन्दर से उत्साह निचुड़ चुका है और मुझे कुछ भी करने का कोई अर्थ नज़र नहीं आता।'

प्लेटें रख आने के बाद वह बेबी के बिखरे सामान को समेटने लगेगी। कुमार कुछ देर देखते रहने के बाद उतावला हो जाएगा। 'अब रहने क्यों नहीं देतीं यह सब? सुबह तुम्हारी नौकरानी आकर तो समेट ही देगी।'

'बस दो मिनट में सब ठीक किए देती हूँ। तुम तब तक चाहे कपड़े बदल लो। फिर आराम से बैठकर बात करेंगे।'

कुमार के चेहरे पर एक उकताहट-भरी मुसकान नज़र आएगी। 'बात करना अभी बाक़ी है क्या?' वह हाथ रोककर उसे देखेगी। 'बस मेरी इतनी बातों से ही ऊब गए तुम?'

'मुझे इस वक़्त तुम्हारा यह सब रखना-उठाना अच्छा नहीं लग रहा।'

वह हँस देगी। 'प्राण, रहने दो यह गृह-काज...।' फिर उसके पास जा बैठेगी। 'अब तुम बात करो, मैं सुनूँगी।'

'नहीं, बात तुम्हीं करती रहो।' कुमार उसका हाथ फिर अपने हाथ में ले लेगा। इस बार वह नहीं छुड़ाएगी।

'मुझसे कहोगे, तो मैं तो सुबह तक बात करती रहूँगी। सिन्दूरी के आने तक सुबह की चाय बनाने के लिए भी नहीं उठूँगी।'

'सिन्दूरी कौन?'

'मेरी नौकरानी। प्यारा नाम है न? बहुत रंगीन-मिजाज औरत है। लोग इसीलिए उसे अपने यहाँ नहीं रखना चाहते। पर बेचारी करे भी क्या? बहुत पहले से उसके आदमी ने उसे छोड़ रखा है।'

'कोई दूसरा आदमी नहीं किया उसने?'

'नहीं। मतलब कोई एक नहीं। अब तो बिलकुल अधेड़ हो गई है। पर कुछ-न-कुछ उसके नाम के साथ अब भी जुड़ा ही रहता है। वैसे अब भी किसी-किसी दिन बहुत सुन्दर लगती है। रोज़ धुले हुए कपड़े पहनती है। कहती है बहनजी, आपके सिवा और किसी के साथ मेरा गुजारा नहीं। पहले मैंने इसे स्कूल में माई के काम पर लगाया था। पर मैनेजमेंट के पास इसकी शिकायतें पहुँचने लगीं, तो इसे उस काम से हटाना पड़ा। कुछ दिन बेकार रहने के बाद फिर मेरे पास आकर रोने-धोने लगी, तो मैंने इसे खाना-वाना बनाने के लिए रख लिया। आज यह जानकर कि कोई मेहमान आ रहे हैं, वह जाना नहीं चाहती थी। शायद देखना चाहती थी कि बहनजी के पास आकर रहनेवाले इस आदमी की शक्ल कैसी है। उसका बस चलता, तो वह मुझे यहाँ से भेज देती और खुद तुम्हारी सेवा करने के लिए यहाँ रह जाती।'

उसके हाथ पर कुमार के हाथ का दबाव बढ़ जाएगा। कुछ देर दोनों के बीच चुप्पी छाई रहेगी। 'कल दशहरा है,' कुछ देर बाद वह कहेगी।

'हाँ, है तो।'

'कुल्लू चलना चाहोगे?'

'तुमने जीप बुला रखी है?'

'अभी कहा नहीं किसी से...हालाँकि मिसेज़ सोहनसिंह आई भी थीं आज।'

'क्यों नहीं कहा?'

'इसलिए कि...शायद तुम न चलना चाहो।'

'यह तुम कैसे जानती थीं?'

'मेरा ख़याल था कि...।'

कुमार की उँगलियाँ उसकी उँगलियों में उलझ जाएँगी। वह अपनी उँगलियाँ उसके हाथ में ढीली छोड़ देगी। कुछ देर फिर कोई बात नहीं होगी।

'नींद तो नहीं आ रही है?'

'नहीं।'

'सिर-दर्द कैसा है?'

'ठीक है पहले से।'

'कपड़े बदलोगे?'

'अभी नहीं।'

'मैं बदल लूँ।'

'नहीं।'

'रात-भर इसी तरह बैठे रहेंगे?'

'नहीं।'

'तो!'

'मैं कपड़े बदल लेता हूँ।'

कुमार को कपड़े बदलने के लिए छोड़कर वह दूसरे कमरे में चली जाएगी। वहाँ बेबी को देखेगी कि ठीक से सो रही है या नहीं। लौटने पर कुमार दीवान पर लेटा मिलेगा। वह उसे वहीं रजाई-तकिया ला देगी। यह उससे नहीं कह पाएगी कि उसका बिस्तर पीछे के कमरे में लगा है। कुमार के रजाई ओढ़ लेने पर उसके पास कुरसी खींच लाएगी।

'तुम वहाँ बैठोगी?' वह पूछेगा।

'हाँ।'

'यहाँ दीवान पर नहीं?'

'यहीं ठीक है।'

'नहीं, यहाँ बैठो।'

वह कुरसी से उठ जाएगी। टेबल लैम्प कुरसी पर लाकर उसे जला देगी और बीच की बत्ती बन्द करके दीवान के पास फ़र्श पर बैठ जाएगी।

'ठंड खा जाओगी', वह कहेगा।

'मुझे ऐसे अच्छा लग रहा है। लाओ, तुम्हारा सिर दबा देती हूँ।'

फ़र्श पर बैठे-बैठे वह उसका सिर दबाने लगेगी। सिर हाथों के दबाव से इधर-उधर हिलेगा...अपने में बिलकुल बेबस। कुमार उसका एक हाथ अपने हाथ में ले लेगा, तो वह दूसरे हाथ से सिर पर थपकियाँ देने लगेगी।

'यहाँ अस्पताल में एक लेडी डॉक्टर थी। कुछ दिन हुए अपने पर तेजाब छिड़ककर मर गई।'

'क्यों?' कुमार उसका हाथ चूम लेगा।

'पता नहीं। एक डॉक्टर दुबे हैं उसी अस्पताल में। कहते हैं उसके साथ उसका...।'

कुमार उसके दोनों हाथ अपने हाथों में ले लेगा।

'बहुत अच्छी थी बेचारी। बहुत हँसमुख। काफ़ी सुन्दर भी थी।' अपनी बाँहों पर उसे एक खिंचाव महसूस होगा।

'ऐसा क्यों कर रहे हो?'

'कैसा?'

'देखो...।'

'तुम बात करती रहो।'

'और तुम?'

कुमार सिर तकिए से उठाकर उसकी तरफ़ झुक आएगा।

'मैं क्या?'

'देखो...।'

तब तक उसका शरीर कुमार की बाँहों में चला जाएगा और कुमार के होंठ उसके होंठों से आ मिलेंगे।

'मैंने तुम्हें इसलिए नहीं बुलाया था', वह अपने होंठ परे हटाने की चेष्टा करेगी।

'तो किसलिए बुलाया था?'

'मैंने बुलाया था इसलिए कि...,' उससे वाक्य पूरा नहीं हो पाएगा।

कुमार के शरीर ने तब तक नीचे आकर उसके शरीर को ढक दिया होगा।

'देखो, फ़र्श ठंडा है...।'

'बताओ, क्यों बुलाया था...क्यों बुलाया था तुमने मुझे?' कुमार शब्द दोहराता जाएगा। वह अपने को उससे परे छिटकने की कोशिश करेगी, पर कुमार के पागलपन के सामने कोई वश नहीं चल पाएगा उसका। बीच से कपड़ों का परदा हटाने के लिए कुमार के हाथ औंधा-सीधा प्रयत्न करते महसूस होंगे। वह उसकी कलाइयाँ पकड़कर उसे रोकने का हठ करेगी, पर तब तक उसका अस्तित्व एक पीड़ा, एक जलन में बदल चुका होगा। उसके मुँह से कुछ स्पष्ट-सी ध्वनियाँ निकलेंगी और कुमार के बढ़ आते शरीर को अपने शरीर में लेकर वह एक पूर्ति, एक तृप्ति की आकांक्षा में खो जाएगी। परन्तु वह तृप्ति तृप्ति होगी या निराशा? अपना-आप उससे भर जाएगा या और ख़ाली महसूस होगा?

लकड़ी की रेलिंग हाथों के बोझ से चरमरा उठी। उसने अपने को सँभाला। कमज़ोर-सी चीज़ पर इतना बोझ नहीं डालना चाहिए था उसे। अगर रेलिंग टूट जाती...?

रेलिंग से हाथ हटाकर आसपास के अँधेरे को उसने उचाट नज़र से देख लिया। अँधेरा उतना गहरा नहीं था जितना कि उसे होना चाहिए था। नवमी की चाँदनी में घुल-मिलकर उसमें जो फीकापन आ गया था, उससे वह बाहर से अपनी ओर झाँकता-सा लग रहा था। जैसे उस अँधेरे ने सभी कुछ देखा था। उसकी कामना, उसकी छटपटाहट, उसका आत्म-समर्पण। शरीर जड़ हो रहा था। वह जड़ता अपराध की थी या अपूर्ति की? एक धड़कन थी जो उसके शरीर के बाहर हर चीज़ में प्रतिध्वनित हो रही थी। बरामदे की तख्तियों में। रेलिंग के खम्भे में। क्या उन्हीं क्षणों हल्का-सा भूचाल भी आया था? नहीं हो ऐसा लगा क्यों था?

रात को आईने में एक छाया देखी थी। बरामदे और कमरे के बीच वक़्त का एहसास काफ़ी पहले खो गया था। कुमार आखिरी बस से भी नहीं आया, तो उस खोएपन ने हर एहसास को छा लिया। पता नहीं कितनी बार वह बाहर निकलकर कुरसी पर बैठी और कितनी बार अन्दर जाकर पलँग पर लेट रही। पलँग पर सिर के नीचे से तकिए पता नहीं कब और कैसे अगल-बगल को सरक गए। पता नहीं किस वक़्त बिजली चली गई। अचानक महसूस किया कि कमरे में अँधेरा है और उठकर बत्ती का बटन दबाना चाहा। पर बटन पहले से दबा हुआ था। उँगली उस पर से फिसलकर रह गई। टेबल लैम्प का बटन दबाने से भी रोशनी नहीं हुई, तो मन उलझन से भर गया कि बिजली उसी दिन क्यों गई। और तभी गुसलखाने में जाने के लिए बरामदे की तरफ़ बढ़ते हुए एक ठंडी झुरझुरी शरीर में भर गई और साथ ही वह छाया सामने दिखाई दे गई। आईना ड्रेसिंग टेबल का था और उसमें हिलती-डुलती वह छाया अपनी तरफ़ को बढ़ती आ रही थी। छाया एक स्त्री की थी, युवा स्त्री की, यद्यपि बहुत युवा वह नहीं थी। फिर भी शरीर काफ़ी भरा हुआ और सुडौल था। सिर से पैर तक शरीर पर कोई कपड़ा नहीं था। आँखें फैली-फैली-सी सामने को देख रही थीं। बालों की पिनें निकल गई थीं जिससे वे खुलकर कन्धों पर आ गए थे। चेहरे की रेखाएँ अँधेरे में डूबी थीं, केवल होंठ स्पष्ट नज़र आ रहे थे। स्तनों की ढीली गोलाइयों पर जैसे किसी ब्रश से स्याह पट्टियाँ खींच दी गई थीं। गोलाइयों के उतार-चढ़ाव से लगता था छाया हाँफ रही है। छाया पर नज़र पड़ने के साथ ही ठंडी झुरझुरी शरीर में जम-सी गई और वह जल्दी से उसके सामने से हट आई। लगा कि वह पलक-भर के लिए भी उस छाया को और नहीं देख सकती। शरीर पर शाल लपेटकर बाहर जाते हुए भी जैसे वह छाया, उसी तरह आँखें फैलाए, पीछे से उसे ताक रही थी। उस छाया से अपने नंगेपन को, भीगेपन को, छिपा सकना असम्भव था। गुसलखाने में वक़्त लेकर जब वह लौटकर आई तो आईने के सामने से आँख बचाकर आगे निकली। लग रहा था कि आज के बाद वह कभी आईने के सामने खड़ी नहीं हो सकेगी।

बिस्तर में अपने को ढक लेने के बाद वह काफ़ी देर रोती रही। फिर अँधेरे में टटोलकर उसने कहीं से एक अधजली मोमबत्ती निकाली और उसे जलाकर सिरहाने के पास तिपाई पर रख लिया। कोशिश की कि डायरी लिख सके, पर 'आज...' के बाद एक शब्द भी उससे नहीं लिखा गया। गीता पढ़ने की कोशिश भी सफल नहीं हुई। काफ़ी देर छपी पंक्तियों के अर्थ से जूझने के बाद उसने आँखें मूँद लीं। नींद पता नहीं कितनी बार आई थी और कितनी बार टूटी। एक बार अचानक आँखें खुलने पर देखा कि एक पतिंगा, इतना बड़ा कि पहले कभी नहीं देखा था, मोमबत्ती से सटकर मरा पड़ा है और मोमबत्ती का मोम चू-चूकर उसके ऊपर आ रहा है। मन में एक ऐसा आतंक भर गया कि वह सिर ऊँचा करके मोमबत्ती को बुझाने का हौसला भी न कर सकी। कोशिश से आती-जाती साँस के साथ उस तरफ़ से करवट बदलकर लेट रही।

दो छोटे-छोटे हाथों के हिलाकर जगाने से श्यामा झटके से उठकर बैठ गई। बेबी की आँखें शरारत से चमक रही थीं। 'चलो ममी, बीजी उधर खाने के लिए बुला रही हैं।'

हर बार आँख खोलने पर वह बिस्तर, वह पलँग, वह कमरा और अपना वहाँ होना असंगत-सा लगता था। दूर की रोशनियों के हल्के सफ़ेद दाग़ लिए अँधेरा, घुल-घुलकर फटे स्याह परदे जैसा। उस अँधेरे का अपना कोई भाव, कोई व्यक्तित्व नहीं था। आत्मीयता या अकेलेपन का कोई सम्बन्ध उससे स्थापित नहीं हो पाता था। उसने उठकर बत्ती जलाई, तो बेबी कमरे से बाहर जाने लगी। उसने उसे रोककर पास बुला लिया। मंडी के घर में बेबी के हर वक़्त अपने से चिपकी रहने से उलझन होती थी। लेकिन यहाँ...यहाँ तो वह लड़की उसे अपनी कुछ समझती ही नहीं थी।

'आज कहाँ होकर आई है मेरी बिटिया?' उसने अतिरिक्त दुलार के साथ बेबी को अपने से सटा लेना चाहा। बेबी कसमसाई, तो वह उसे और भी साथ भींचकर उसके होंठों, गालों और माथे को चूमने लगी। 'बड़ी माँ के साथ पिक्चर देखने गई थी?'

बेबी ने अपने को उससे छुड़ा लिया। 'पिक्चर देखने नहीं गई थी।'

'तो कहाँ गई थी? पार्क में?'

'पहले पार्क में फिर एक अंकल के घर में।'

उसने पूछना चाहा किस अंकल के घर में, लेकिन बेबी से यह पूछना बेतुकी बात लगी।

'पार्क में क्या-क्या खेल खेला?'

'लकड़ी के हाथी पर चढ़ी। रेलगाड़ी में बैठी।'

'और?'

'और कुछ नहीं किया।' बेबी दरवाज़े से बाहर निकल गई। खाना ठंडा हो जाएगा। तुम जल्दी आ जाओ उधर।'

बेबी का चेहरा ही नहीं, स्वर भी अब बीजी जैसा होता जा रहा था। बीजी के साथ जिस तरह वह घुल-मिलकर रहती थी, उससे सन्देह होता था कि वह 'बड़ी माँ' को माँ से बड़ी ही नहीं, ज़्यादा सगी भी समझती है। यूँ भी सीमा और बेबी को साथ-साथ देखकर कोई भी उन्हें सगी बहनें मान सकता था। वही चटक गोरा रंग, भूरे

पतले मुलायम बाल। हँसती थी, तो सीमा की ही तरह जबड़ों का कुछ हिस्सा बाहर दिख जाता था। नाक, होंठ, आँखें सभी कुछ वैसा...उस परिवार की पुश्तों से जुड़ा। बातूनी भी उन्हीं लोगों की तरह थी वह और भौंहें भी उसकी उसी तरह तनती थीं। वैसा ही कौर चबाने का ढंग और वैसी ही दाँतों की आवाज़। उसकी कोख में पलकर भी वह उससे बिलकुल बेलाग रह गई थी। मिसेज़ सोहनसिंह मज़ाक किया करती थीं, 'यह रियली तेरी अपनी बेटी है या तूने किसी की एडाप्ट कर रखी है?'

खाना खाने को मन नहीं था, फिर भी दूसरी बार के बुलावे से बचने के लिए वह उस कमरे में चली गई। बेबी ने एक प्लेट में दाल-सब्ज़ी और चावल भर लिए थे और परोसने के बड़े चम्मच से मुँह भर लेने की कोशिश में थी।

'यह क्या कर रही है?' उसने देखते ही बेबी को डाँट दिया।

बेबी की आँखों में एक चमक भर गई...वही चमक जो प्रायः सीमा की आँखों में भी नज़र आती थी। वह हँसती हुई अधिक उत्साह के साथ चावल मुँह में ठूँसने लगी। श्यामा को इतना गुस्सा हो आया कि उसने पास जाकर वह चम्मच बेबी के हाथ से छीन लिया और एक छोटा चम्मच उसके हाथ में थमाकर कहा, 'ले, इससे खा अब।'

बेबी ने छोटा चम्मच दीवार से दे मारा, प्लेट के चावल हाथ से मेज़ पर बिखेर दिए और कुरसी पीछे धकेलकर दोनों हाथों से उसे पीटने लगी। 'नहीं खाती उससे। नहीं खाती।'

श्यामा के मन में आया कि एक ज़ोर का तमाचा बेबी के गाल पर लगा दे। पर गुसलखाने से बीजी को निकलकर आते देख उसका हाथ रुक गया। बीजी हाथ-मुँह धोकर धोती के पल्ले से पोंछ रही थीं। उनकी यही आदत देखकर कल बेबी भी अपने गीले हाथ फ्रॉक से पोंछ रही थी। बीजी दूर से ही खीझ के साथ बोलीं, 'कभी तो लड़की को ठीक से खा लेने दिया कर।'

श्यामा का गुस्सा आँखों में छलक आया। उसने एक बार बीजी की तरफ़ देखा और आँखें हटा लीं। बेबी ने दादी की शह पाकर मेज़ से प्लेट उठा ली थी और उसे ज़मीन पर पटक देने को थी। श्यामा ने उसकी दोनों बाँहें हाथों से पकड़कर उसे रोका और एक बार फिर ज़ोर से डाँट दिया, 'बेबी!'

बेबी ने दाँत भींचकर बाँहें झटके से छुड़ा लीं और रोती हुई जाकर बीजी से चिपट गई।

'तू माँ है या दुश्मन है उसकी?'

दो जोड़ी एक-सी गोल-गोल आँखें, एक-से फैले-फैले नथुने। प्लेट अब भी बेबी के एक हाथ में थी जिससे दाल-चावल नीचे गिर रहे थे। श्यामा ने बीजी को जवाब न देकर बेबी से ही फिर कहा, 'इधर आकर प्लेट मेज़ पर रख दे।'

'नहीं रखूँगी, नहीं रखूँगी, नहीं रखूँगी,' बेबी ने प्लेट ऊँची उठा दी।

'मैं कह रही हूँ रख दे प्लेट, नहीं तो... ।'

पर उसके इतना कहते-न-कहते प्लेट ज़मीन पर आ रही। दाल-चावल और चीनी के टुकड़े कमरे में बिखर गए। श्यामा ने बेबी को बाँह से पकड़कर अपनी तरफ़ खींच लिया। पर बीजी की आँखों से देखकर कि वे उसे अपनी तरफ़ झपटने जा रही हैं, उसने खुद ही उसे वापस धकेल दिया। बीजी के मुँह से सुना, 'और डाँट उसे। नए सेट की प्लेट तुड़वा दी।'

'देखा बीजी...' श्यामा को लगा वह क्षण आ पहुँचा है जब उस परिवार के साथ उसका सम्बन्ध अन्तिम रूप से निर्धारित हो जाना चाहिए।

'जिस तरह यह लड़की दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही है, उससे मुझे तो लगता है कि...'

'यह यहाँ दाखिल हो ही रही है अब। जितना बिगड़ी है, वहाँ रहकर ही बिगड़ी है। छह महीने यहाँ रह ले मेरे पास। फिर देखना इसे।'

श्यामा को अपनी साँस अटकती महसूस हुई। यह उसे बेबी को छोड़कर वहाँ से चले जाने का संकेत था क्या? उस परिवार के लिए कुछ भी करके क्या वह कभी उनकी अपनी हो सकती थी? 'मैं चली जाऊँगी जल्दी ही', वह बोली। 'लेकिन यह पता नहीं कि इसे भी सुधरने के लिए यहाँ छोड़ जाऊँगी या नहीं।'

बीजी को एहसास हो गया था कि उनके स्वर में कुछ ज़्यादा ही चोट थी। वे चुप रहकर फ़र्श पर बिखरे सामान को सहेजने लगीं। बेबी इधर-उधर से टुकड़े उठाकर उन्हें देने लगी।

श्यामा भी कुछ देर चुप खड़ी देखती रही। फिर, 'मुझे भूख नहीं है, आप लोग खाना खा लीजिएगा,' कहकर उस कमरे से चली आई।

पर इधर आकर पलंग पर बैठी ही थी कि बीजी सामने आ खड़ी हुईं। 'वहाँ से खाकर नहीं आई,. तो खा क्यों नहीं लेती थोड़ा-सा?'

उसे याद आया कि उसे तो खाना खाकर आना था बाहर से। बीजी को जो भी बात कहनी होती थी, इसी तरह घुमाकर कहती थीं।

'मैं खाकर नहीं आई,' वह बोली। 'जहाँ जाना था, वहाँ पहुँची ही नहीं। तबियत कुछ ख़राब लग रही थी, इसलिए चर्चगेट से ही लौट आई थी।'

'दरबान ने बताया था तू जल्दी आ गई थी। मैंने जेनी से इसलिए रुकने को कहा था कि... ।'

'बारिश होने लगी थी, इसलिए मुझे लौट आना ही ठीक लगा। कल किसी वक़्त फ़ोन कर दूँगी वहाँ। हो सका, तो जाने से पहले मिल भी आऊँगी एक बार जाकर।'

बीजी के पास आ जाने से श्यामा थोड़ा सिमट गई थी। अनजाने में वह उनसे थोड़ा फ़ासला हमेशा बनाए रखती थी। पता नहीं यह उस डर के कारण था जो पहले

दिन से बीजी को लेकर उसके मन में था...या अन्दर की वितृष्णा के कारण...या उस परिचित आभास के कारण जो उस घर के सभी लोगों की उपस्थिति में होने लगता था।

'तू जाने की बात क्यों कर रही है बार-बार?'

बीजी की आँखों में अब आशंका भी नज़र आ रही थी। उसके वहाँ से जाने में किस चीज़ का डर था उन्हें?

'जाना तो है ही। दस दिन बाद जाऊँ या पहले चली जाऊँ।'

'जब लम्बी छुट्टी ली है इस बार तो...।'

'छुट्टी तो कभी भी केंसिल की जा सकती है।'

'पर तय यही नहीं था कि...?'

'यहाँ मन लग जाएगा, तो नौकरी छोड़ दूँगी। यहाँ दूसरी नौकरी ढूँढ़ने की भी बात थी। मुझे नहीं लगता मुझे कोई ठीक-सी नौकरी मिल पाएगी यहाँ।'

'हमने तो कई लोगों से कह रखा है पता करने के लिए।'

श्यामा का मन और दूर हो गया। वह कह नहीं सकी कि 'हम लोगों' में क्योंकि वह शामिल नहीं है, इसलिए चली जाना चाहती है वहाँ से।

'उन्हें मना किया जा सकता है। असल बात यह है कि मेरा मन नहीं लगेगा यहाँ।'

'तो इसका मतलब है कि...?

आगे बात कहने से पहले श्यामा कुछ देर तक रुकी रही। बीजी के चेहरे पर घिर आए संकट को वह समझ रही थी। बम्बई में फ़्लैट खरीदने के लिए आधा पैसा उसने दिया था। फ्लैट की रजिस्ट्री भी उसके और बीजी के साँझे नाम से हुई थी। तय यही था कि अब वह उन लोगों के पास रहेगी। मंडी में अपने अकेले जीवन को सहना उसे मुश्किल लग रहा था, इसलिए अपनी ओर से ही यह इच्छा प्रकट की थी उसने। उन लोगों को कई लम्बे-लम्बे पत्र उसने लिखे थे जिनमें अनुरोध किया था कि पूना का घर बेचकर वे लोग अगर और कहीं भी चलकर रहने को तैयार हों, तो वह वहाँ उनके पास आ सकती है। पूना के घर में वह नहीं रहना चाहती थी क्योंकि उस घर के साथ ऐसा बहुत कुछ जुड़ा था जिससे बचने के लिए ही वह वहाँ से इतनी दूर चली गई थी। उस घर में देव की मृत्यु का दिन उसके लिए उसी तरह ठहरा हुआ था। वह हर दिन, हर क्षण, की उस लगातार मृत्यु की साक्षी होकर नहीं रह सकती थी। एक पत्र में उसने बेबी की समस्या का भी ज़िक्र किया था। उसके साथ रहकर बेबी को जो अकेलापन ढोना पड़ रहा था, उससे वह उसे बचाना चाहती थी। 'लड़की अब बड़ी हो रही है और मुझे लगता है कि मेरे अलावा और भी दो-एक अपने लोग उसके पास होने चाहिए।' पूना के सिवाय और कहीं भी वह नौकरी कर सकती थी। सीमा की नौकरी लग जाने

पर साथ रहने से वे लोग काफ़ी बचत भी कर सकती थीं। 'हमें अब पैसा इसलिए भी बचाना चाहिए कि थोड़े दिनों में सीमा के ब्याह के लिए पैसे की ज़रूरत पड़ेगी।' पर जितनी आसानी से उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया, उसकी उसे आशा नहीं थी। बीजी ने लिखा था कि पूना का घर बेचकर उन्हें पच्चीस हज़ार तक मिल सकते हैं। इतने में बम्बई में एक छोटा-सा फ़्लैट खरीदा जा सकता है। पूना के बाद बम्बई को छोड़कर और किसी शहर में जाने के लिए सीमा तैयार नहीं थी। और शहरों का 'रहन-सहन' उसे पसन्द नहीं था। उसका यह भी ख़्याल था कि उसे जितनी अच्छी नौकरी बम्बई में मिल सकती है, और कहीं नहीं मिल सकती। लेकिन अब पूना का मकान बेचा गया, तो उसके कुल अट्ठारह हज़ार वसूल हुए। कहा गया कि जगह पुरानी होने से कोई अच्छा खरीदार नहीं मिला। यह भी कि बम्बई में जिस फ़्लैट की बात हुई है, वह पैंतीस हज़ार से कम में नहीं मिलेगा। वह उन दिनों अपने वातावरण में इस तरह ऊबी हुई थी कि जल्दी-से-जल्दी बाक़ी रकम का प्रबन्ध कर देना उसे आवश्यक जान पड़ा। उसके पास बैंक में जितने रुपए थे, वे सब उसने निकलवा लिए। प्राविडेंट फ़ंड से जितना कर्ज़ लिया जा सकता था, वह भी ले लिया। फिर भी उसे दो हज़ार का कर्ज़ प्रोफ़ेसर मलहोत्रा से और लेना पड़ा। किसी तरह रकम पूरी करके भेज दी, तो बम्बई में जाकर रहने का विचार मन पर भारी पड़ने लगा। क्या उसके लगकर पैसे का प्रबन्ध करने के मूल में एक और कारण नहीं था? प्रोफ़ेसर मलहोत्रा ने बहुत पहले एक पत्र में लिखा था कि कुमार आजकल बम्बई में है और वहाँ एक पब्लिसिटी कंसर्न में काम कर रहा है। उसके ऑफ़िस का पता भी उन्होंने दिया था। यही वजह थी शायद कि फ़्लैट खरीदे जाने के साथ ही बम्बई में रहने की बात को लेकर मन में एक विरोध-सा महसूस होने लगा था। पर वह विरोध वास्तव में विरोध ही था या एक डर? फ़्लैट की रजिस्ट्री होने के दिन से ही उसे लगने लगा था कि बम्बई में या तो उसका मन ही नहीं लगेगा, या...इसीलिए नौकरी से उसने त्यागपत्र नहीं दिया था। सोचा था पहले छुट्टी लेकर वहाँ जाएगी, फिर आगे के लिए निर्णय करेगी। छह महीने की लम्बी छुट्टी मंजूर करवाने के लिए उसे काफ़ी भागदौड़, काफ़ी तरद्दुद करना पड़ा था। बम्बई आने के बाद पहले कुछ दिन निश्चय किए रही थी कि कुमार से संपर्क करने का कोई प्रयत्न अपनी ओर से नहीं करेगी। अगर कभी अचानक उससे सामना हो गया, तो भी यही जतलाएगी कि उसे उसके वहाँ होने का पता नहीं था। पर फिर उसे अपने से चिढ़ होने लगी थी कि वह कुमार से मिलने से बचना किसलिए चाहती है। एक बार फ़ोन करके उससे मिल ले, तो इस ख़ामखाह की गाँठ से मन को छुटकारा मिल जाएगा। फिर भी नम्बर मिलाने के बाद वह मन में कहीं चाहती रहा थी कि उस तरफ़ से जबाव न मिले...या पता चले कि कुमार तब तक वहाँ से भी नौकरी छोड़कर चला गया है। पर उधर से कुमार की आवाज़ सुनाई देने पर कोई चीज़ उसकी नाड़ियों में झनझना

गई थी। लगा था कि वह आवाज़ सुनने के लिए ही उसने वहाँ आने और रहने का सारा आयोजन किया है। मन में यह भी आया था कि फ़ोन करने की जगह क्यों नहीं सीधे वह उसके दफ़्तर में पहुँच गई। इतने दिनों के बाद उसे अचानक सामने देखकर कुमार के चेहरे पर जो भाव आता, वह अब तय करके मिलने पर तो नहीं आएगा। पर कुमार ने जिस तरह से बात की, उससे अन्दर का उबाल एकाएक बैठ भी गया था। क्या कुमार उस समय सचमुच बहुत व्यस्त था, या...?

बीजी उसका उत्तर सुनने के लिए उसे देख रही थीं। श्यामा को लगा कि उसके चेहरे से उसके मन का भाव भी पढ़ा जा रहा है। क्या बीजी को कुमार से उसके परिचय के बारे में जानकारी थी?

'मैं एकाध दिन में सोचकर बता दूँगी आपको।'

बीजी फिर भी उसी तरह देखती खड़ी रहीं।

'अगर तूने यही सोचा कि यहाँ नहीं रहना है तुझे...?'

फ़्लैट और उसकी नौकरी, ये दो बातें थीं जिन्हें लेकर बीजी उसके सामने छोटी पड़ जाती थीं। वे जिस तरह असुरक्षा के भाव से देखने लगती थीं, उससे उसे सुख भी मिलता था, सहानुभूति भी होती थी।

'तब जो जैसे करना होगा सोच लेंगे। आपसे पूरी बात किए बिना तो जाऊँगी नहीं।'

बीजी के चेहरे से लगा कि उन्होंने इसे एक निश्चित उत्तर की तरह लिया है। पलभर उसे देखती रहकर वे बाहर की तरफ़ मुड़ गईं।

'सीमा आ जाए, तो आज ही बात कर लेंगे। तुझे जाना ही है, तो कोई तुझे रोक तो सकता नहीं।'

'सीमा के आने तक मैं जागती नहीं रहूँगी। वह तो बारह बजे भी लौटकर आ सकती है और एक बजे भी।'

बीजी रुक गईं। 'मैं उसे अपनी जगह अपने लिए ज़िम्मेदार समझती हूँ, तुझे अपनी जगह। न कभी उससे लौटकर आने का वक़्त पूछती हूँ, न तुझसे परदेस में अकेली रहने की वजह।'

'मेरी वहाँ नौकरी है,' श्यामा की साँस फिर अटकने लगी।

'उसकी भी नौकरी है।'

'उसकी कितने बजे से कितने बजे तक की शिफ़्ट है आजकल? घर से सुबह ग्यारह बजे जाती है।'

'मुझे इतना ही पता है खाना खाने का भी कोई वक़्त नहीं रहता उसका। टेलीफ़ोन ऑपरेटरों की कई बार पूरी-पूरी रात की भी ड्यूटी लगती है।'

'मैं आपसे आजकल की बात पूछ रही थी।'

'तू जिस तरह शक करती है उस पर, अगर मैं भी उसी तरह शक करने लगूँ तो...।'

'किस पर शक? मुझ पर?'

'मैंने यह नहीं कहा। मैं कभी किसी पर शक नहीं करती,' कहती हुई बीजी बाहर निकल गईं। श्यामा गुस्से में उठी। पर उनके पीछे जाने की जगह उसने ज़ोर से कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लिया।

वैसा अँधेरा वहाँ भी नहीं मिलता था, यहाँ भी नहीं...एकदम गाढ़ा अँधेरा जिसमें खुली आँखों को कुछ भी नज़र न आए। छत, फ़र्श और दीवारें सभी कुछ अँधेरे का बना महसूस हो। पलंग की पटियाँ और पाए भी ठोस अँधेरे के बने जान पड़ें। करवट बदलने पर मैट्रेस और तकियों के अन्दर भी अँधेरा भरा लगे। जहाँ कहीं हाथ का दबाव पड़े, वहीं अँधेरे को महसूस किया जा सके। अपने अन्दर भी एक-एक साँस के साथ वही अँधेरा भरता जाए। पर आज तक जब कभी अपने को अँधेरे में लपेट लेना चाहा था, यह बुझा-बुझा अँधेरा ही मिला था। तकिए में मुँह छिपा लेने पर भी अँधेरा उतना गहरा नहीं हो पाता था। अँधेरे के इन पैबन्द-लगे चीथड़ों से मन बहुत खिंचता था। क्या कहीं भी ऐसा अँधेरा नहीं मिल सकता था जिसके गुदगुदे नरम फैलाव पर सब-कुछ भूलकर पड़े रहा जा सके?

इतने सालों से वह अँधेरे से भाग रही थी और भाग रही थी अँधेरे की ही तरफ़। जीवन का सारा संघर्ष अँधेरे से बचने के लिए था और खोज थी अँधेरे में पहुँच जाने की। वह क्यों कभी अँधेरे से उबरकर उजाले में जीने की स्थिति में अपने को नहीं देख पाती थी?

सिविल कोर्ट। ब्याह के रजिस्टर पर हस्ताक्षर करते हुए हाथ ज़रा-सा काँप गया था। हस्ताक्षर बिगड़ गए थे। देखा था देव के माथे पर हल्की त्यौरी पड़ गई है। पर कहा देव ने हँसकर इतना ही, 'हस्ताक्षर तो ऐसे कर रही हो जैसे पाँचवीं तक भी नहीं पढ़ीं। घर जाते ही सबसे पहले तुम्हारी बी. ए. की डिग्री देखूँगा।'

उसे डर लगा था। वह आदमी, जिसने पहली शर्त रखी थी कि ब्याह कोर्ट में होगा, अपने लिए किस तरह की पत्नी की आशा रखता था? क्या उसमें वह योग्यता थी कि उस आदमी की अपेक्षाओं पर पूरी उतर सके?

पार्टी में जितने लोग थे, सब अपरिचित थे। पर देव की उन सबसे घनिष्ठता थी। कभी एक तरफ़ के लोग उसे खींचकर ले जाते, कभी दूसरी तरफ़ के। जिस समूह में भी देव पहुँच जाता, वहीं ठहाके लगने लगते। वह दूर से उस अपरिचित व्यक्ति को देख रही थी। वह व्यक्ति आज से उसका पति है। उसके शरीर पर आज से उस व्यक्ति का अधिकार है। पर वह इतने ज़ोर से क्यों हँसता है?

बीच-बीच में देव की नज़र उस पर पड़ जाती। माथे पर एक शिकन और चेहरे पर एक तरह का खिंचाव नज़र आता। क्या उसके चेहरे में कुछ था जो उस व्यक्ति

को अच्छा नहीं लग रहा था, या हस्ताक्षर बिगड़ने की बात ही अब तक उसे उलझाए थी?

फ़ोटोग्राफ़र उन लोगों की साथ-साथ तसवीर खींचना चाहता था। देव को इसमें भी कोई दिलचस्पी नहीं थी। एक दोस्त ज़बर्दस्ती खींचकर ले आया तो उसके पास आ खड़ा हुआ। वह ब्याह का दिन न होता और आसपास इतने लोग जमा न होते, तो शायद वह मना कर देता। एक दोस्त ने कहा भी उससे, 'क्या बात है, पहले दिन ही बीबी से इस तरह कतरा रहे हो?' देव ने बात को हँसकर टाल दिया और फ़ोटोग्राफ़र से कहा, 'भई जल्दी से खींच-खिंचा लो जो भी तसवीर खींचनी है। मैं चाय की प्याली बीच में छोड़कर आया हूँ। मेरी चाय ठंडी हो जाएगी।'

टैक्सी में घर लौटते हुए उसने सीमा से पूछा, 'ये कब तक लौटकर आएँगे?' जवाब मिला, 'पता नहीं कब तक आते हैं। जब भी दोस्तों से छुट्टी मिल जाएगी।'

अकेला ठंडा-सा कमरा था जिसमें उसने देव के लौटने की प्रतीक्षा की थी। सीमा ऊँघ रही थी, उससे उसने जाकर सो रहने को कह दिया था। बीजी के सिर में दर्द था, वे पहले ही सो चुकी थीं। घर में एक नई लड़की के आने की ख़ास खुशी किसी को नहीं थी। शायद देव के माथे की शिकन ही इसका कारण थी।

खाना पड़ा-पड़ा ठंडा हो गया था। कोशिश करने पर भी उससे खाया नहीं गया था। देव ने थाली देखकर पूछ लिया था, 'अभी तक भूखी बैठी हो तुम? मैंने सोचा देर हो गई है, खा लिया होगा तुमने।'

उसके बाद फिर कोई दिलचस्पी नहीं। जैसेकि और दिनों से कोई फ़र्क ही न हो उस दिन में। 'सीमा ने मेरे कपड़े कहाँ रखे हैं?' उसके बारे में कोई सवाल नहीं कि उस नई जगह पर अकेली वह कैसा महसूस कर रही है। उसे रुलाई आने लगी। उसके पिता ने इन लोगों को इस सम्बन्ध के लिए राज़ी करने के लिए क्यों इतनी कोशिश की थी? 'लड़का तो शादी करना ही नहीं चाहता, पर उसकी माँ ने किसी तरह ज़ोर डालकर उसे राज़ी कर लिया है।' यह जान लेने के बाद भी क्यों वह खुद ही अपनी तरफ़ से मना नहीं कर सकी? 'शादी होने के बाद सब ठीक हो जाता है। मुझे भरोसा है तुम सब सँभाल लोगी।'

नाइट शर्ट के खुले बटन। घने काले बालों से लदी छाती। देव ने बिना उससे पूछे कि उसे नींद आ रही है या क्या, कमरे की बत्ती बुझा दी।

एक विशेष तरह की गन्ध जो अँधेरे में उसके पास आकर पलंग पर लेट गई। वह गन्ध एक अपरिचित शरीर की भी थी और साँसों में मिली एलकोहल की भी। एकाएक, जीवन में दूसरी बार, एक पुरुष की बाँहों में कस जाने पर उसका जी क्यों मितलाने लगा था?

उसने संघर्ष किया था। अपने शरीर को उस शरीर के आवेग से बचाने के लिए भी और अपनी साँस को उस गन्ध से बचाए रखने के लिए भी। एक क्षण था जिसके इस तरफ़, रजिस्टर पर हस्ताक्षर कर देने के बाद भी, वह अनब्याही थी। उस क्षण तक उसके संघर्ष में अपनी उस स्थिति को बनाए रखने का आग्रह था। एक उद्वेग था कि शायद अब भी वह दूसरा निर्णय ले सकती है। परन्तु उस क्षण से बचने-बचने में वह क्षण बीत गया। अब उस क्षण के दूसरी तरफ़ आकर उसे अपनी सारी कामनाएँ उस एक व्यक्ति से ही पूरी करनी थीं। उसने उस समय, अपने पर घिर आई गन्ध से बचने का प्रयत्न करते हुए भी, उस व्यक्ति को पूरी तरह अपना लेना चाहा। पर तभी, अपनी पीड़ा और आकुलता में उसने देव के शरीर को अपने से हटते पाया। साथ सुना, 'ब्लडी हेल! तुमसे प्यार करना काफ़ी उलझन का काम है।'

आधी रात को उठकर उसने हवा के लिए खिड़की खोल दी। उस अनुभव में से गुज़र चुकने के बाद जैसे बाहर की दुनिया को नए सिरे से देखने की आवश्यकता थी। सड़क, सामने घर की खिड़कियाँ, एक झपाटे से गुज़रती गाड़ी, सब-कुछ पहले जैसा होकर भी पहले जैसा नहीं था। उसने देव की तरफ़ देखा कि वह हवा से जागकर खिड़की बंद कर देने को न कहे। पर देव को अपने बिस्तर पर जाने के साथ ही गहरी नींद आ गई थी। उसकी नाइट शर्ट के बटन अब भी खुले थे। एक नंगे ढाँचे में साँस का आना-जाना...क्या वास्तव में उस ढाँचे के साथ उसका अब जीवन-भर का सम्बन्ध था? यह सम्बन्ध जो कल तक नहीं था, क्यों इतना निश्चित था कि अब अपने को उससे मुक्त किया ही नहीं जा सकता था?

शरीर में अजीब तरह का कसैला दर्द और भारीपन था। जैसे उस गन्ध ने ही अन्दर से नसों को जकड़ लिया था। उसने एक तौलिया भिगोकर उससे सिर-मुँह लपेट लिया। हवा की ठंडक के साथ-साथ पानी की ठंडक। उसे लगा इससे थोड़ी देर में शायद नींद आ जाए उसे।

अचानक देव की आँख जाने कैसे खुल गई। शायद बत्ती जली होने से, या नल की आवाज़ से, या हवा से ही। 'मुँह क्यों लपेट रखा है तौलिए में?' उसने कुहनी पर उठकर पूछ लिया।

'कोई ख़ास बात नहीं,' वह तौलिया हटाती मुश्किल से कह पाई। 'ऐसे ही तपिश-सी लग रही है सिर में।'

'कोई दवाई-अवाई तो नहीं चाहिए?'

'नहीं।' और उसने बत्ती बुझा दी।

वह अँधेरे का सम्बन्ध था जोकि अँधेरे में भी ठीक से नहीं जुड़ पाता था। कोशिश दोनों तरफ़ से होती थी। देव ने कई रातें पीना छोड़े रखा था। वह देव के आने

के पहले से ही सोचने लगती थी कि आज वह उससे किस विषय में और क्या बात कर सकती है। वह कोई भी बात करे, सुनते-सुनते देव का ध्यान उससे हट जाता था। वह चुप हो जाती, तो वह चौंककर उसकी तरफ़ देख लेता। 'हाँ-हाँ, ठीक है।' कई छोटी-छोटी बातों में वह उसकी रुचि का ध्यान रखने की कोशिश भी करता। 'सीमा के साथ घूमने निकल जाया करो शाम को। तुम्हें खुले में रहने की आदत है। उस लिहाज़ से यह शहर बुरा नहीं है'थ्वदेव के व्यवहार में ऐसा कुछ नहीं था जिससे शिकायत की जा सकती...सिवाय उस इकहरी तटस्थता के जिसे केवल उसका स्वभाव मानकर वह नहीं चल पाती थी। देव को उसकी किसी बात पर गुस्सा नहीं आता था। आता भी था, तो वह उसे प्रकट नहीं होने देता था। स्पष्ट लगता था कि इसके लिए उसे प्रयत्न करना पड़ता है। बीजी या सीमा की कई बातों से खीझकर वह उन पर झल्लाने लगता था। पर उससे कैसी भी ग़लती हो जाए, वह उदासीन मुसकराहट के साथ केवल इतना भर कह देता था, 'कोई बात नहीं। आगे से ध्यान रख लेना इस चीज़ का।'

रात के कई घंटे एक कमरे में साथ-साथ बीतते थे...फिर भी देव के आने के साथ ही वह कमरा उसके लिए फिर से नया और अपरिचित हो जाता था। उस व्यक्ति से भी जो उसका पति था, हर रोज़ जैसे नए सिरे से उसका परिचय होता था। नए सिरे से बातचीत की शुरुआत होती थी। पर एक आकस्मिक घनिष्ठता तक पहुँचकर परिचय एकाएक समाप्त हो जाता था। देव को जल्दी नींद आ जाती थी और वह देर-देर तक यह सोचती करवट बदलती रहती थी कि उसके शरीर को वास्तव में उसी का शरीर मानकर वह व्यक्ति उसके पास आता है या रोज़ वह उसके लिए किसी-न-किसी और की भूमिका ही निभाती है। देव का एकाएक उमड़ना और शान्त हो जाना...उसमें उसे अपना-आप बाज़ारू-सा जान पड़ता था। वह कितना चाहती थी कि उनके बीच इसके अतिरिक्त भी कोई सम्बन्ध हो। और कुछ नहीं, तो कभी देव उस पर बिगड़कर बकझक ही करे। कहे कि उसकी ज़िन्दगी की कुछ और भी ज़रूरतें हैं जो पत्नी के रूप में उसे पूरी करनी चाहिए। पर ऐसा कुछ नहीं होता था। रज़िस्टर पर हस्ताक्षर क़रते समय देव के मुँह से सुनी झिड़की में प्यार भी एक अधिकार था जो या तो देव ने रजिस्ट्री के दफ़्तर में ही छोड़ दिया था या पहली रात को सोने और जागने के बीच किसी क्षण उस कमरे में खो दिया था। एक बार उसने देव से शिकायत भी की कि बीजी और सीमा की तरह वह कभी उसे क्यों नहीं डाँटता। देव ने चलते ढंग से उत्तर दिया, 'वे लोग अच्छी तरह जानती हैं मुझे क्या पसन्द है, क्या नहीं। उन्हें इसका ध्यान रखना ही चाहिए। तुम्हारी बात दूसरी है। तुम अभी नई आई हो...।'

यह नयापन ही उन दोनों के बीच की रेखा थी। महीना, दो महीने, चार महीने गुज़र जाने पर भी यह नयापन, या कोरापन, ज्यों-का-त्यों बना था। देव को न उसके

अनकिए को लेकर शिकायत होती थी, न उसके किए को लेकर उत्साह। वह जैसे एक चलती-फिरती बेजान चीज़ थी जिससे कुछ कहने-सुनने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। पर उसे अपने अन्दर भी देव के प्रति वैसी ही जड़ता महसूस होती थी। वह भी एक नए परिचित की तरह उसकी तरफ़ मुसकराने या उसके कपड़े निकालकर उसे देने से आगे उसके लिए कुछ नहीं कर पाती थी। चेष्टा इतनी ही रहती थी कि सब-कुछ इस तरह होता जाए कि उसे देव के मुँह से फिर यह न सुनना पड़े, 'कोई बात नहीं, ऐसा हो भी जाता है। आगे से ज़रा ध्यान रख लेना इसका।'

कई बार उसे लगता था उसी में कमी है।-एक स्त्री के रूप में पुरुष की दृष्टि से वह ऊनी पड़ती है। नहीं तो ऐसा क्यों था कि देव से पहले भी अवसर आने पर किसी पुरुष के साथ कभी उसका स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया?

आर्ट्स कॉलेज के प्रिंसिपल गोपालजी। चुस्त अचकन के साथ चूड़ीदार पाजामा पहने वे क्लास में आया करते थे। उनके सामने बैठे हुए, उनके मुँह से निकलते शब्दों को सुनते हुए, मन में एक स्फूर्ति का अनुभव होता था। 'पिलोड अपान माई स्वीट लव्ज राइपनिंग ब्रेस्ट...।' पंक्तियों की व्याख्या करते हुए गोपालजी की आँखें बार-बार उसकी आँखों से टकरा जाती थीं। लगता था शैले की पंक्तियाँ एक सूत्र हैं जो उसके अन्दर का सम्बन्ध बाहर की दुनिया से जोड़ती हैं। डेस्कों से आगे, खिड़की के बाहर, धूप, हवा और हिलती पत्तियों में एक और ही अर्थ झलकने लगता था। लॉन में, आइसक्रीम की छड़ी हाथ में लिए, अपने पूरे शरीर में उन शब्दों की अनुगूँज सुनाई देती थी। मन उनके अर्थ से सकुचाने लगता था। किताब का पन्ना खोल लेने पर सामने की पंक्तियों से गोपालजी का स्वर उभर आता था। वह शब्दों के स्थूल चेहरों को इस तरह देखती थी जैसे कि वे भी अपने में गोपालजी के चेहरे की छाप लिए हों।

बड़ी चचेरी बहन साथ पढ़ती थी। वह कहती, 'तू इंगलिश को छोड़कर दूसरे विषयों की तैयारी क्यों नहीं करती? परीक्षा में पास नहीं होना क्या?'

उसे इससे खुशी होती। उसका एक रहस्य था जिसे कोई नहीं जानता था। उस रहस्य का एक सिरा गोपालजी के स्वर से जुड़ा रहता, दूसरा अपने अन्दर उस स्वर की प्रतिक्रियाओं से। वह स्वर ही था जिसने सोलह साल की बच्ची से एकाएक उसे सोलह साल की नवयुवती में बदल दिया था। क्लास रूम के बाहर वह गोपालजी की चर्चा दूसरों से सुनती थी, स्वयं नहीं कर पाती थी। पर कोई गोपालजी की आलोचना करने लगे, तो उसका चेहरा सुर्ख़ होने लगता था। यह कैसे सम्भव था कि गोपालजी के बताए अर्थ के अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ हो उन पंक्तियों का? एक बार लाइब्रेरी में गोपालजी के बताए अर्थ को ठीक से समझाने की कोशिश में अपने को ग़लत तरह से लड़कियों से उलझा लिया था। लड़कियाँ इस तरह उसे छेड़ने लगीं कि उसे कुरसी छोड़कर लाइब्रेरी से बाहर निकल आना पड़ा। लड़कियाँ तब से उसे बुलाने लगी थीं,

'स्वीट लव!' उसे लड़कियों की इस चुहल का बुरा भी लगता। पर गोपालजी के साथ उसका नाम जोड़कर बात कही जा रही है, यह चीज़ मन को गुदगुदा भी देती। धीरे-धीरे बात इतनी फैल गई कि एक दिन जब वह कॉलेज नहीं जा सकी, तो लड़कियों ने गोपालजी की क्लास में ब्लैकबोर्ड पर बड़े-बड़े शब्दों में लिख दिया। 'सॉरी, नो इन्स्पीरेशन टूडे'। जब उसे यह बात बताई गई तो उसने इस पर नाराज होना चाहा। पर मन में उसे खुशी हुई कि इस तरह उसके रहस्य की बात गोपालजी पर खुल गई है।

बीच में कुछ दिन वह बीमार रही। बीमारी के बाद एक दिन डरते-डरते गोपालजी से कहा, 'इस बीच मेरी जो पोइम्ज़ छूट गई हैं, उन्हें समझने के लिए क्या किसी दिन आपसे समय ले सकती हूँ?'

गोपालजी ने अपने घर पर आने का समय दिया। वह अकेली जाने का साहस नहीं कर सकी, इसलिए बहन को साथ ले गई। घर पर गोपालजी को अकेले पाकर बहन को अच्छा नहीं लगा। 'शादी-शुदा आदमी हैं वे। अपने बीवी-बच्चों को आज ही क्यों उन्होंने बाहर भेज दिया था?'

पर उसके बाद भी वे दोनों गोपालजी के यहाँ जाती रहीं। गोपालजी ने अपनी पत्नी से उनका परिचय करा दिया था। वह गोपालजी से जिस तरह के सवाल करती, उससे एक दिन उन्होंने बहन से कहा, 'यह लड़की इतनी छोटी उम्र में जिस तरह बात करती है, उससे मुझे इससे ईर्ष्या होती है। किसी-किसी समय तो इसकी आँखों की चमक से मुझे डर भी लगता है।'

बहन का कहना था कि यह एक तरह का उलाहना है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि वह अपनी उम्र से बड़ी बनकर बात करती है और ग़लत तरह की नज़र से उन्हें देखती है।

वह ख़ूब रोई। दो-एक दिन गोपालजी की क्लास में नहीं गई। उसे एकसाथ सबसे चिढ़ हो गई थी। अपने से, बहन से, गोपालजी से। पर उसके जन्म-दिन पर गोपालजी ने 'एक उपहार देने के लिए' उसे अपने यहाँ बुलाया, तो वह बिना बहन को बताए अकेली वहाँ चली गई। गोपालजी उस दिन भी घर में अकेले थे। खिड़कियाँ-दरवाज़े बन्द करके कमरे में उन्होंने अँधेरा कर रखा था। उसके अन्दर पहुँचते ही उन्होंने बिना किसी भूमिका के उसे बाँहों में लेकर अपने होंठ उसके होंठों पर रख दिए। उसके साथ ही उन्होंने चेष्टा की उसे अन्दर के कमरे में ले जाने की। वह किसी तरह उनसे इतना ही कह पाई कि उसे वे पहले एक गिलास पानी दे दें। और जब तक वे पानी लेकर आते, वह भागकर ज़ीने से नीचे उतर आई।

घटना का और कोई साक्षी नहीं था, फिर भी उसे लगता था जैसे सब लोग उस विषय में जानते हों। अपने प्रति हर एक के व्यवहार में उसे सन्देह का आभास मिलता

था। राजीव से परिचय होने तक छह वर्ष बीत चुके थे उस घटना को। फिर भी उससे बात करते हुए उसकी आँखों में वह यही खोजने का प्रयत्न करती थी कि कहीं उसे भी तो इसकी जानकारी नहीं है। वह पहला व्यक्ति था जिसके साथ उसके ब्याह की चर्चा की जाने लगी थी और जिसे अपने मन में उसने होने वाले पति के रूप में स्वीकार भी कर लिया था। खादी के ढीले पाजामे-कुरते में वह आसपास के और युवा लोगों से बहुत अलग नज़र आता था। वह राजनीति के सम्बन्ध में इतना कुछ जानता था और इतने अधिकार के साथ बात करता था कि वह अचम्भे के साथ उसे देखती हुई सोचा करती थी कि अगर देश की बागडोर उसके हाथ में दे दी जाए, तो कितनी जल्दी देश की सब समस्याओं का समाधान हो सकता है। उम्र में वह उससे बारह-तेरह साल बड़ा था और एक विद्यार्थी के रूप में सन् सैंतालीस में बम बनाने और फेंकने के अपने क़िस्से सुनाया करता था। जब भी वह उन दिनों के संस्मरण सुनाने लगता, उसकी आँखों में वह बहुत ऊँचा उठ जाता। उस ऊँचाई पर उसे देखते हुए वह अपने को उसके लिए कुछ भी करने के लिए तैयार पाती। उसके मुँह से निकले एक-एक शब्द को आदर के साथ सुनती हुई सोचा करती कि राजनीतिक जीवन की धाँधलियों के कारण उस क्षेत्र में कुछ करने का अवसर न भी मिला, तो केवल अपने विचारों से ही एक दिन वह व्यक्ति सारे संसार को चमत्कृत कर देगा। इसीलिए विवाह का प्रस्ताव किए जाने पर जब राजीव ने यह कहकर मना कर दिया कि उसने जीवन-भर अविवाहित रहकर राजनीतिक कार्य करने का संकल्प ले रखा है, तो उसके लिए उसके मन में आदर और भी बढ़ गया। वह सोचने लगी कि पाँच, सात, दस वर्ष वह उस व्यक्ति के लिए प्रतीक्षा कर सकती है। अपने धैर्य से उसे विश्वास दिला सकती है कि पत्नी के रूप में वह उसके मार्ग में रुकावट नहीं बनेगी। जब कभी वह अपने लिए घर-बार की आवश्यकता महसूस करेगा, वह खुशी से उस आवश्यकता को पूरी करने के लिए तैयार रहेगी। तब तक स्वयं भी देश की राजनीतिक गतिविधियों में दिलचस्पी लेकर अपने को उसके स्तर तक उठाने का प्रयत्न करेगी। उसने अपने को विश्वास दिला लिया था कि उस व्यक्ति का विवाह से इनकार उसका तिरस्कार नहीं है, एक अधिक गहरे स्तर पर उनके सम्बन्ध की शुरुआत है। इसलिए राजीव का पक्ष लेकर एक बार वह घर के लोगों से लड़ भी ली थी...।

पहले राजीव उनके यहाँ बहुत आया करता था। पर एकाएक ही उसका आना बहुत कम हो गया था। वह इसके लिए भी घर में तर्क दे लेती थी...परन्तु एक दिन चचेरी बहन से ही पता चला कि एक संसद-सदस्य की छोटी बहन से राजीव की सगाई हो गई है। उस लड़की को वह जानती थी। इतनी शोख, बातूनी और बनने वाली लड़की थी वह कि उसके साथ दस मिनट बात करना भी उससे सहा नहीं जाता था। जब बहन ने बताया, तो वह काफ़ी देर अपनी पढ़ने की मेज़ के पास काठ होकर बैठी

रही। मेज़ और दीवारों के साथ-साथ अपने अन्दर का न जाने कितना कुछ अँधेरे में डूबता गया। उसे झटका-सा लगा जब उसके पिता ने चुपचाप पास आकर टेबल-लैंप जला दिया। कुरसी से उठते हुए उसे लगा कि तेईस साल की उम्र में ही उस पर बुढ़ापा आ गया है...।

दरवाज़े के बाहर दो फुसफुसाती आवाज़ें। बीजी और सीमा।

'तू बात नहीं मानेगी?'

'नहीं।'

'सिर्फ़ आज रात के लिए कह रही हूँ।'

'कह दिया नहीं।'

दरवाज़ा चरमराया। अँधेरे में रोशनी की हल्की-सी दरार बन गई। सीमा का शरीर दरार से अन्दर दाखिल होने को हुआ, जब उसे बाहर खींच लिया गया। दरार बन्द हो गई।

'इस तरह ज़िद क्यों करती है?'

'तुम क्यों करती हो?'

'मैं मिन्नत से कह रही हूँ। आज की रात मेरे कमरे में सो जा।'

'उस कमरे में मुझे नींद नहीं आती।'

'आहिस्ता बात कर। वह जाग जाएगी।'

'जाग जाए। तुम मेरा हाथ छोड़ दो।'

'मुन्नी!'

'क्यों ख़ामखाह परेशान कर रही हो? मैं रोज़ जिस कमरे में सोती हूँ, आज भी उसी में सोऊँगी।'

'अच्छा, कपड़े उस कमरे में बदल ले पहले। मैं तेरे सोने के कपड़े निकालकर वहीं दे देती हूँ।'

'मुझे कपड़े वहाँ नहीं बदलने हैं। हाथ छोड़ दो कह दिया तुमसे।'

फिर वैसी ही दरार। सीमा का आधा शरीर अन्दर आ गया। पर बाहर के साथ उसका संघर्ष फिर भी चलता रहा।

'मुन्नी!'

'मुन्नी-मुन्नी मत किए जाओ।'

'कह रही हूँ लड़की को लाकर मैं इधर सुला देती हूँ। अगर उसकी वजह से...।'

'उसकी किसकी कोई वजह नहीं है। वहाँ सुबह-सुबह स्टोव की बदबू मुझसे बरदाश्त नहीं होती।'

'मैं सुबह स्टोव नहीं जलाऊँगी।'

'तुम नहीं जलाओगी, तो भी वह जलेगा।'

'मैं कहती हूँ...।'

'अब कहो कुछ मत और जाकर सो रहो अपने कमरे में। कितनी देर से चखचख कर रही हो।'

सीमा अन्दर आकर दरवाज़ा बन्द करने को हुई, पर बीजी ने उसे बंद नहीं करने दिया।

'रानी, एक रात की ही बात है।'

'ज़िन्दगीभर यह एक रात की ही बात नहीं रहेगी।'

'अच्छा, बत्ती मत जलाना।'

'क्यों?'

'कह रही हूँ इसलिए।'

'तुम जाओ और जाकर सो रहो।'

सीमा ने जिस तरह दरवाज़ा बंद किया, उससे किसी भी सोए हुए व्यक्ति की आँख खुल सकती थी। पर श्यामा की अधखुली पलकें उससे पूरी झिप गईं। पल-भर बाद ही कमरे की बत्ती जल उठी।

श्यामा न देखते हुए भी देख रही थी कि सीमा की आँखें उसके चेहरे पर आ टिकी हैं। वह शायद अन्दाज़ा लगाने की कोशिश कर रही थी कि वह सचमुच सो रही है या बहाने से आँखें मूँदे है। थोड़ी ही देर में आभास हुआ कि सीमा अब उसके पलंग के बहुत पास आ गई है और इस इन्तज़ार में उसे देख रही है कि कब वह अपनी आँखें खोल दे। सीमा जो सेंट इस्तेमाल करती थी, उसकी गन्ध के अतिरिक्त एक और भी गन्ध उसे अपने ऊपर झुक आई महसूस हुई...कुछ-कुछ वैसी ही थी जैसी ब्याह की रात को देव की निकटता की गन्ध। निश्चित था कि सीमा पीकर आई थी। पर पता नहीं उसके ऊपर झुककर वह जान-बूझकर उसे यह जतलाना चाहती थी, या सिर्फ़ उसकी नींद की ही टोह ले रही थी। सीमा की साँसें इतनी करीब आ गई थीं कि उन्हें सूँघते हुए चुपचाप आँख मूँदकर पड़े रहना श्यामा के लिए असम्भव होने लगा। लगने लगा कि अब अगले ही क्षण वह झटके से उठकर बैठ जाएगी और डाँटने के स्वर में सीमा से पूछ लेगी कि क्या उसकी नींद भी उस घर में उसके लिए व्यक्तिगत नहीं रह सकती? पर यह सोचकर उसकी आँखें फिर भी मुँदी रहीं, कि डाँट सुनकर सीमा हँसने लगी, तो सिवाय उसका मुँह देखते रहने के उससे और कुछ भी कहते-करते नहीं बनेगा। पर वह क्षण आने से पहले जब उसकी आँखें बरबस खुल ही जातीं, सीमा की साँसें परे हट गईं और वह जिस तरह दम साधकर पड़ी थी, पड़ी रही।

बंद आँखों को बत्ती की लौ अखर रही थी। पर करवट बदलकर वह फिर सीमा का ध्यान अपनी ओर नहीं खींचना चाहती थी। चेहरे पर नींद का भाव बनाए वह

काफ़ी देर सीमा के बत्ती बुझाने की राह देखती रही। आहटों से अन्दाज़ा लगाती रही कि अब सीमा कुरता-लुंगी उतार रही है, अब आईने के सामने खड़ी होकर नाइटी पहन रही है, अब बालों की पिनें निकाल रही है, अब चेहरे पर क्रीम मल रही है और अब शायद बत्ती बुझाने के लिए बटन की तरफ़ जा रही है। पर कई बार कई तरह से आहटों के अर्थ लगा चुकने पर भी बत्ती नहीं बुझी, तो एक बार उसने चोरी से आँख खोलकर देख लिया।

सीमा ड्रेसिंग टेबल के पास खड़ी थी और चेहरा आईने के बहुत पास ले जाकर एक हाथ से उस पर के किसी निशान को छू रही थी। ब्रेसियर और अन्डरवियर के सिवा शरीर पर कोई कपड़ा नहीं था। दूसरा हाथ पीछे से ब्रेसियर का बकल खोलने की चेष्टा में रुका हुआ था। पलभर बाद चेहरे वाला हाथ भी पीछे की तरफ़ आ गया। सीमा कुछ देर अपने होंठों को भींचे रही, फिर उन्हें ढीला छोड़कर सीधी हो गई। गरदन उसकी इस तरह तन गई जैसे सामने के चेहरे की किसी चुनौती का सामना करने जा रही हो। गरदन झटकने से उसके आधे बाल माथे पर आ गए थे। उनकी जाली के अन्दर से अपने को देखते हुए उसने पीछे से बकल खोल दिया। दोनों तरफ़ के फ़ीते एकाएक सिकुड़ गए और कन्धों के फ़ीते फिसलकर नीचे आ गए। ब्रेसियर निकल जाने से गोरा शरीर एकाएक बत्ती की रोशनी से सुलग गया।

श्यामा ने आँखें मूँद लीं। उसे लगा उसे सीमा के भरे हुए शरीर से ईर्ष्या हुई है। सीमा की पीठ पर पड़ी फ़ीते की लास और कोमल खाल में खोई-सी उसकी रीढ़...उसका अपना शरीर उस उम्र में भी उतना सुडौल कहाँ था? उसके मन ने चाहा कि वह एक बार सीमा के कन्धों के उस तरफ़ भी देख सके...उस शरीर के साथ अपने को देखने में, उस शरीर को अपना-आप मानने में, कितना गर्व हो सकता था किसी को भी! चेहरे के जिस निशान को सीमा छूकर देख रही थी, उसके अतिरिक्त भी क्या कुछ छूकर देखने को नहीं था उसके शरीर पर? ऐसा कुछ जिसे केवल उसी की आँख देख सकती थी और जिसके कारण ही शायद...?

वह फिर एक बार उसी तरह सीमा के शरीर पर नज़र डालने से अपने को नहीं रोक सकी। पर इस बार उसकी आँख सीधे सीमा की आँख से टकरा गई। सीमा अब आईने की तरफ़ पीठ किए सीधी खड़ी थी और उसी की ओर देख रही थी। उसका शरीर नाइटी से ढक गया था जिसके फ़ीतों को वह गाँठ दे रही थी। उससे आँख मिलने पर सीमा व्यंग्य के साथ मुसकरा दी, जैसे कि पहले भी उस द्वारा चोरी से देखे जाने की बात वह जानती हो। एक हाथ नाइटी के फ़ीतों में उलझाए हुए सीमा ने चुपचाप जाकर बत्ती बुझा दी और आकर अपने पलँग पर लेट गई।

'गुड नाइट!'

उसे लगा सीमा के स्वर में भी वही भाव है जो उसकी आँखों में था।

'गुट नाइट!'

सीमा ने उसकी चोरी उससे मनवा ली थी।

श्यामा की पूरी रात जागते और सपनाते बीती, दोनों स्थितियों के बीच जैसे कोई अन्तराल था ही नहीं। जागना किसी भी क्षण सपने में बदल जाता था और सपना सचेत होकर सोचने में। वह रातभर की लम्बी यात्रा थी जिसमें वह कई एक पड़ावों पर रुकी थी, पर किसी भी एक पड़ाव पर ठहर नहीं पाई थी।

एक सवाल बार-बार मन में उठ आता था। वहाँ रहने का मन बनाकर एक बार वहाँ आ जाने के बाद अब वह वहाँ से लौट जाने को उतावली क्यों है?

बीजी और सीमा के व्यवहार में नया कुछ नहीं था। वह जितना उन्हें जानती थी, उससे इस सबकी आशा तो वह करती ही थी। उन दोनों ने आज तक कभी उसे पसन्द नहीं किया था। यही बात वह उन दोनों को लेकर अपने लिए भी कह सकती थी। दोनों ओर से सम्बन्ध केवल झेलने का था। वक़्त गुजरने के साथ यह झेलने की कठिनाई बढ़ती गई थी। यह भी पता था कि साथ रहने पर और कठिनाइयाँ सामने आ सकती हैं। बीजी, सीमा और वह, तीनों अपनी-अपनी जगह, अपनी-अपनी तरह से घर की मालकिन थीं। तीनों अपनी-अपनी मजबूरी से आपस में जुड़ी थीं। रुचियाँ और उपेक्षाएँ, तीनों की अलग-अलग थीं। साथ रहकर तीनों की परस्पर सिवाय इसके कोई निर्भरता नहीं थी कि घर की आर्थिक स्थिति उन्हें एक साझे किचन से खाना खाने के लिए विवश करती थी। बीजी सीमा से दबती थीं। उसका भी खुलकर तिरस्कार नहीं कर पाती थीं, कारण केवल यही था। सीमा बीजी का थोड़ा-बहुत अंकुश मानती थी, या उसके वहाँ आ रहने को व्यंग्य के साथ सह लेती थी, तो वह भी इसीलिए था। और वह स्वयं भी बीजी की कड़वी बात सुनकर चुप रह जाती थी, या सीमा की उद्दंडता से मन चुरा जाती थी, तो उसके मूल में भी यही चीज़ थी। पर जब वह पहले से यह सब जानती थी, तो अपने को बिलकुल उन लोगों से काट लेने की जगह यहाँ आने और रहने का निश्चय उसने किया ही क्यों था?

आने से पहले अपने को जो कारण दिए थे, उनमें एक था बेबी के लिए दूसरी तरह का वातावरण जुटाना। उसके साथ अकेली रहकर लड़की स्वाभाविक ढंग से बड़ी नहीं हो रही थी। कोई और भाई-बहन नहीं था, इसलिए उसके अकेलेपन को दूर करने का यही एक उपाय नज़र आया था। सोचा था दो और लोगों के बीच रहने से लड़की अपने को ज़्यादा बाँटकर जीना सीख सकेगी। इसके अतिरिक्त पिता की कमी भी पिता से सम्बन्धित लोगों के बीच रहकर कुछ हद तक पूरी हो सकती थी। बीजी सचमुच बेबी से प्यार करती थीं। चाहे अपने लड़के के कारण ही हो, वे उससे खेलकर या उसकी जिदें पूरी करके आन्तरिक खुशी महसूस करती थीं। किसी अपने का होना, चाहे वह

कितना ही निरर्थक क्यों न हो, अपने में एक पूर्ति हो सकती थी। लेकिन बीजी के पास बेबी को लाने में एक आशंका भी थी जो यहाँ आकर सही साबित हो रही थी। बेबी अब उससे उखड़कर बिलकुल अलग हुई जा रही थी। वहाँ उसके साथ अकेली रहकर वह उसे जितना परेशान रखती थी, उससे कहीं ज़्यादा यहाँ उससे दूर-दूर रहकर रखने लगी थी। बीजी को यह जतलाकर सन्तोष मिलता था कि वे माँ से ज़्यादा बेबी की अपनी हैं और बेबी भी दो अधिकारों के बीच अपनी सुविधा के पलड़े को भाँपना सीख रही थी। वह बेबी को उसके हित के लिए जिन लोगों के बीच रखने लाई थी, आज उन्हीं से उसे अलगा लेना ही क्यों उसे अधिक हितकर लग रहा था? अगली सुबह बेबी को वहाँ स्कूल में दाखिल कराने की बात थी। बड़ी मुश्किल से बीच टर्म में दाखिला मिल रहा था...एक लड़की छोड़कर चली गई थी, इसलिए। पर अब तक इस बात को वह मन में स्वीकार नहीं कर पाई थी। नहीं सोच पा रही थी कि सुबह बेबी को लेकर उसे उसकी प्रिंसिपल से मिलने जाना चाहिए या नहीं। जाने और न जाने दोनों का ही अर्थ था एक अन्तिम निर्णय। पर एक बार जब उसने कह दिया था कि वह बेबी को साथ लेकर वहाँ से चली जाएगी, तो अब अपनी बात को पलटकर वहाँ रह जाना अपने सम्मान की दृष्टि से कहाँ तक संगत था?

पर कहा उसने जो भी हो, पर क्या वास्तव में वह निर्णय ले चुकी थी कि वहाँ आने और रहने की सारी योजना को रद्द करके वह अब स्थायी रूप से वहाँ से लौट जाएगी? उसके वहाँ आने के मूल में एक जगह रहने से खर्चे की बचत और 'बेबी के लिए वातावरण जुटाने' से हटकर क्या कुछ भी और कारण नहीं था?

सोचते हुए उसके मन में फिर उन अकेली शामों का आतंक समाने लगता जो वह अपने क्वार्टर के कम्पाउंड में या पहाड़ी पगडंडियों पर टहलते हुए बिताया करती थी। बेबी उसकी उँगली थामे साथ रहती थी। वही पहाड़ियाँ जो देव की मृत्यु के बाद कुछ अरसा मन को सहारा देती रही थीं, अब केवल अपने एकान्त और सूनेपन के दबाव से मन को बौखला देती थीं। सोचकर सिहरन होती थी कि लाखों वर्षों से वे पहाड़ियाँ टूटती-भुरभुराती हुई भी अपनी उसी एक स्थिति में, उन्हीं हल्की ढलानों, ऊँचाइयों और घुमावों के साथ ज्यों-की-त्यों खड़ी हैं...लगता था उन पहाड़ियों के बीच रहती हुई वह भी लाखों वर्षों के सूनेपन और उथलेपन की साझीदार है। उन चट्टानों के ढलने के दिन से टूटने के दिन तक का पूरा अन्तराल वह अकेली जी रही है। वर्षा के बाद पगडंडियों के सिरों पर उभर आई हल्की दूब, जमीन से बाहर निकलकर इधर-उधर फैली बूढ़े पेड़ों की मोटी-मोटी जड़ें, हवा में गीले पत्तों के झुरमुटों की फड़फड़ाहट, घाटी के फैलाव में तैरते सीधे डैने, टीन की छतों से टपकती बूँदें और ज़रा-सी नमी से गँधा उठती मिट्टी, इन सबसे अन्दर की उदासी और गहरी होने लगती थी। वह जैसे भी हो अपने को उस एकान्त के घेरे से मुक्त कर लेना चाहती

थी। उस वातावरण से'अलग एक वातावरण की ज़रूरत जितनी बेबी के लिए थी, उससे कहीं ज़्यादा उसे अपने लिए थी।

लेकिन यह भी तो वह पहले से जानती थी कि बम्बई जैसे शहर में, दो कमरे के इस फ़्लैट में, बीजी, सीमा और बेबी के साथ रहकर जो वातवरण उसे मिलेगा, वह भी उससे ज़्यादा दिन नहीं सहा जाएगा फिर वह वहाँ आई किसलिए थी?

अपने जिस विचार को वह मन से परे रखना चाहती थी, वही इसका उत्तर जान पड़ता था। वह वहाँ आई थी क्योंकि कुमार वहाँ था। जीजाजी के पत्र से उसके वहाँ होने का पता न चला होता, तो पूना का मकान बिकने से पहले ही शायद उसने लिख दिया होता कि वे लोग उसके साथ किसी छोटे शहर में रहने को तैयार नहीं हैं, तो वहीं रहें। बम्बई में फ़्लैट खरीदने के लिए पैसे का प्रबन्ध हो भी जाए, तो कम-से-कम वह वहाँ आकर नहीं रह सकेगी। कुमार के वहाँ होने के कारण मन में जो बाधा थी, वह उस दबी हुई आकांक्षा के कारण ही थी जिसे वह अपने से स्वीकार करते डरती थी...और डरने का कारण भी शायद अपना-आप उतना नहीं था जितना पूरी स्थिति को लेकर अनिश्चय। कुमार के नाम उसने जो पत्र लिखा था, वह कुछ दिन बाद उसी तरह बंद उसके पास लौट आया था। बाहर डाकिए के हाथ की लिखावट थी कि पत्र पाने वाला बिना अपना नया पता दिए वहाँ से चला गया है। उसे कहीं अच्छा भी लगा था कि उसका पत्र कुमार को नहीं मिला। पर एक उत्सुकता फिर भी बनी रही थी कि उसे पत्र मिल जाता, तो भी क्या उस दिन वह उससे मिलने न आया होता? उस दिन और आज के बीच एक लम्बा समय गुज़र चुका था। आज फिर एक बार उसने कुमार को अपनी तरफ़ से बुलावा दिया था। कुमार ने आने को कहा था, आया भी था शायद, पर उसके पहुँचने तक इंतज़ार करता रुका नहीं था। कहीं यही तो वजह नहीं थी जो अब इतनी जल्दी वह वहाँ से लौट जाना चाहती थी?

टन् टन् टन्...साथ के कमरे से पुराना क्लाक बीच-बीच में समय की चेतावनी दे देता था। उस क्लाक की आवाज़ उन दिनों भी सुना करती थी जब देव के साथ के बिस्तर पर लेटे हुए रात-रात नींद नहीं आती थी। जैसे वही समय था, तब से वहीं ठहरा हुआ, एक से बारह तक की गिनती बार-बार दोहराता हुआ। वह तब समय के उस तरफ़ थी ज़हाँ अपनी मानसिक उथल-पुथल में वह ज़िन्दगी को अपने से आगे देखती थी। समय का मध्यबिन्दु बीच में कब आया और निकल गया पता नहीं। अब वह समय के इस तरफ़ थी जहाँ ज़िन्दगी अपने से पीछे छूट गई लगती थी। यहाँ से क्या उसके लिए अब कोई भी निर्णय, कोई भी क़दम, आगे की दिशा में सम्भव नहीं था?

कुमार से वह क्या चाहती थी? उस रात की प्रतीक्षा में जो चाह मन में थी, क्या सचमुच वही और बस उतना ही? उतना तो देव ने भी उसे दिया था, चाहती, तो देव

के अतिरिक्त किसी से भी वह उसे मिल सकता था। प्रोफ़ेसर मलहोत्रा ने कितनी याचना के साथ वह चाहा था और कुमार ने भी एक बार उससे झपट लेने की कोशिश की थी। तब वह दोनों में से किसी के भी साथ अपने को उस सम्बन्ध में देखने के लिए तैयार नहीं हो सकी। कुछ था जो उसे उसके अतिरिक्त भी चाहिए था, अपने लिए चाहिए था, और जिसे देने का प्रस्ताव उन दोनों में से किसी ने नहीं किया था। उन दोनों के बाद और भी लोग थे जिनकी आँखों में उसने अपने लिए वही एक अपेक्षा देखी थी। कारण शायद इतना ही था कि वह अब भी युवा थी और अकेली रहती थी। किसी की भी आँखों में वैसा भाव देखकर उसे अपने अन्दर एक जकड़-सी महसूस होने लगती थी। तो कुमार को लेकर वह विशेष बात क्या थी जिसने उससे उन दिनों उसके नाम पत्र लिखवा दिया था और आज उसे, बिना कुमार की ओर से किसी स्वीकृति या जानकारी के, कई सौ मील से यहाँ ले आई थी?

क्या वह चाहती थी कुमार उससे ब्याह का प्रस्ताव करे? पर उन दिनों वह प्रस्ताव भी तो एक तरह से था ही। फिर क्यों नहीं वह स्वस्थ मन से उसके साथ बढ़ती घनिष्ठता को स्वीकार करके चल सकी थी? क्यों एकाएक उस स्थिति से परे हट आना ही उसे उचित जान पड़ा था? क्या वह उस तरह कुमार की परीक्षा लेना चाहती थी? और कुमार की या अपनी? उस रात उस छोटे-से स्टेशन पर कुमार उससे मिलने के लिए आया था, तो गाड़ी के रुकने और चलने के बीच वह उससे क्या चाहती रही थी? एक ऐसा आग्रह या याचना जिससे वह अपनी स्वीकृति देने में थोड़ा ऊँचे उठ जाती? क्या इतनी ही आवश्यकता थी उसकी कि एक पुरुष को छोटा करके वह उससे बड़ी हो सके? और यदि ऐसा नहीं था, तो लौटने के बाद पत्र लिखने में उसने इतने दिन क्यों लगा दिए थे?

'मेरा अहं' अपनी डायरी में लिखे ये शब्द मन में कसक जाते। क्या इस अहं को लेकर वह कभी किसी भी पुरुष के साथ एक स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी? देव का उसके साथ उस ख़ामोश ढंग से जीना...क्या उसका कारण भी उसके इसी दृष्टिकोण की शिकायत थी? वह अपने लिए जीवन में बहुत बड़ा कुछ चाहती थी...पर वह बड़ा कुछ क्या था? एक स्त्री के रूप में पुरुष के किस व्यवहार से वह उसे मिल सकता था? जिस चीज़ का घुन उसे खा रहा था, वह क्या उसका यह अहं ही नहीं था?

सीमा साथ के पलंग पर गहरी नींद में सो रही थी। थोड़ी देर पहले उससे जो ईर्ष्या हुई थी, वह उसके अपने से कहीं युवा शरीर के कारण ही थी या उस स्वच्छंदता के कारण जिससे वह लड़की अपने आज को आज की तरह जी रही थी? सीमा अपने-आपको, अपने किसी भी रूप को, छिपाकर रखने में विश्वास नहीं रखती थी। क्या उसकी यह धृष्टता ही जीने की सही दृष्टि नहीं थी? अपने-आपको विश्वास के साथ झेल लेना, जी लेना, क्या इसी में जीने की सार्थकता नहीं थी? आज वह जो

अपने को समय के इस तरफ़ पहुँच गई महसूस करती थी, उसका कारण उसके अन्दर का संशय, डर या उन दोनों से बदतर उसका दम्भ ही नहीं था?

टन् टन् टन्...सुबह होने वाली थी। सुबह-सुबह बीजी पलंग पर ही कीर्तन करने लगती थीं, जिससे नींद में भी चिढ़ होती थी। उसे लग रहा था कि उधर से वह आवाज़ आने से पहले ही उसके अन्दर निर्णय हो जाना चाहिए। वह वहाँ आई है, तो रहने के विचार से ही आई है। कुमार वहाँ पर है। वह व्यक्ति इतने दिन बीत जाने पर भी मन को बाँधे रहा था। और लोगों की तुलना में उसके लिए वह अपनी एक विशेषता रखता है। उसे इस स्थिति को खुले मन से स्वीकार करना चाहिए। कुमार से मिले और खुलकर बात किए बिना वहाँ से चली जाना उसकी साहसहीनता का एक और उदाहरण होगा। कुमार से मिलने के बाद लगे कि वहाँ रहने से सचमुच मन को सहारा मिल सकता है, तो नौकरी से त्यागपत्र दे देना चाहिए। उसके बाद जो भी और निर्णय लेने को हो, साहस के साथ ले लेना चाहिए। उसकी आज की वास्तविकता यही है कि उसे अपने लिए एक पुरुष के सहयोग की आवश्यकता है। कुमार वह पुरुष हो सकता है। आवश्यकता पूरी करने के लिए जो भी मूल्य चुकाना पड़े वह चुकाने को उसे तैयार ही रहना चाहिए।

सुबह उठने पर श्यामा को जिस्म में टूटन महसूस हो रही थी। खिड़की से टकराती धूप बासी और बेरंग लग रही थी। कितना भी पानी बरस जाए, वहाँ की धूप में ताज़गी आ ही नहीं पाती थी।

सीमा काफ़ी खुश थी। उठने के बाद से ही लगातार कुछ-न-कुछ गुनगुना रही थी। बेबी न जाने क्यों रोनी हो रही थी। बात-बात पर घर को सिर पर उठाने लगती थी। बीजी ख़ामोश थीं। रोज़ की तरह जेनी के कामों पर नुक्ताचीनी नहीं कर रही थीं। सीमा की छुट्टी का दिन था, इसलिए नाश्ता देर से बना था। श्यामा अपना हर काम मशीनी ढंग से पूरा करती रही। सीमा से वह आँख बचा रही थी। नाश्ते की मेज़ पर किसी की किसी से विशेष बात नहीं हुई। 'क्या', 'कहाँ', 'अच्छा', 'हाँ' में ही नाश्ता पूरा कर लिया गया।

वह मेज़ से उठने लगी, तो बीजी के मुँह से निकले सवाल ने उसे रोक लिया। 'बेबी का दाखिला कराने जाना है आज?'

बीजी के चेहरे पर स्याह झिल्ली-सी उभर आई थी। स्वर की उदासीनता में असहायता की झलक थी। उनकी आँखों से लगता था वह जो उत्तर देगी, उस पर न जाने कितना कुछ निर्भर करता है।

'बेबी से ही पूछ लीजिए। यह मेरे बग़ैर भी रह सकती है यहाँ, तब तो दाखिला कराया ही जा सकता है।'

सीमा पल-भर स्थिर आँखों से उसे देखती रही। फिर चुपचाप उठकर वाश बेसिन पर हाथ धोने लगी। बेबी की आँखें माँ और दादी के बीच घूमती रहीं।

'वह इतनी बड़ी नहीं है कि उससे पूछकर तय किया जाए। फैसला जो भी होगा, मेरे करने से ही होगा। तूने सोच लिया है कि तुझे चली जाना है यहाँ से, तब तो...।'

श्यामा को स्वर से लगा कि उस बीच बीजी ने उसके यहाँ से जाने को मन में स्वीकार कर लिया है। उसके मन में विद्रोह जाग आया। 'अपने बारे में अभी कुछ नहीं सोचा मैंने। सोच लूँगी, तो आपको बता दूँगी। तब तक शायद बेहतर यही है कि बेबी के दाखिले का चांस मिस न किया जाए। ज़रूरत पड़ने पर बाद में इसे यहाँ से छुड़ाया भी जा सकता है।'

सीमा जिस तरह उठकर गई थी, उसी तरह वापस आकर बैठ गई। इस बीच वह अपने को जैसे बात करने के लिए तैयार कर आई थी। 'पर ख़ामख़ाह पैसा बरबाद करने से फायदा?' उसने पूछ लिया।

श्यामा के पैरों से एक सिहरन उठी जो उसके शरीर में सूइयों की तरह फैल गई। बोलते हुए उसे लगा कि जो होंठ हिल रहे हैं, वे उसके नहीं हैं। 'पैसा तो पता नहीं कितना-कितना, किस-किस चीज़ पर बरबाद होता रहता है। आदमी इसी का हिसाब करने लगे, तो...।'

'हिसाब हर चीज़ का किया जा सकता है। तुम्हारा मतलब अगर फ़्लैट पर लगे तुम्हारे पैसे से है, तो...।'

'मेरा मतलब अपने ख़र्च किए किसी पैसे से नहीं है।'

'और किस पैसे मतलब है? तुम अगर समझती हो तुमने यह पैसा ख़र्च करके ग़लती की है...।'

श्यामा का चेहरा तमतमा गया। उसे एकाएक सीमा से तीखी घृणा हो आई। 'मैं इस बारे में बात नहीं करना चाहती।'

'मैं भी नहीं चाहती कि आज के बाद इस बारे में हम लोगों को बात करनी पड़े। अगर तुम सचमुच यहाँ नहीं रहना चाहतीं, जैसा कि कल तुमने ममी से कहा था और इन्होंने आज मुझे बताया है, तब तो बेबी को यहाँ दाखिल कराने का कोई मतलब ही नहीं है। न तो वह हमेशा के लिए तुमसे अलग होकर रह सकती है और न ही मैं चाहूँगी कि इस तरह उसे यहाँ रखा जाए। तुम्हारा जो पैसा इस फ़्लैट पर लगा है, वह मैं थोड़ा-थोड़ा करके अपनी नौकरी से चुका सकती हूँ। और वह तुम्हें पसन्द न हो, तो फ़्लैट बेचा भी जा सकता है। लेकिन तुम अब भी समझो कि यहाँ साथ रहा जा सकता है, तो कुछ चीज़ें हमें आपस में तय कर लेनी चाहिए। बेबी का यहाँ दाखिल होना-न-होना छोटी बात है। बड़ी बात हम लोगों की आपस की है। हम लोग एक-दूसरी से डरती-दबती हुई यहाँ रहें, यह बात निभने वाली नहीं है। न ही किसी

एक का दूसरी पर एहसान लादना और दूसरी का एहसान झेलना ही निभ सकता है। अगर साथ रहना है, तो अपनी-अपनी खातिर ही सबको रहना है। मैंने बीजी से भी यह बात कह दी है। इनकी अपनी जिंदगी है। ये जिस तरह चाहें, उसे जिएँ। हममें से किसी का उसमें दखल नहीं है। मेरी अपनी जिंदगी है। मैं जिस तरह भी उसे जिऊँ, तुममें से किसी का उसमें दखल मुझे बरदाश्त नहीं होगा। इसी तरह तुम्हारी अपनी जिंदगी है। तुम भी चाहे जिस तरह उसे जियो...।'

'तुम सब लोगों के एक घर में साथ रहने की बात कर रही हो या किसी होस्टल में?'

'मैं एक घर में साथ रहने की ही बात कर रही हूँ। होस्टल में किसी को किसी से ये बातें तय नहीं करनी होतीं। दबना-दबाना, छिपना-छिपाना, यह सब एक घर में साथ रहने पर ही ज़रूरी लगता है। मेरे ख़याल में यह बहुत दकियानूसी ढंग है जीने का। कम-से-कम अपने लिए मैं यह ढंग नहीं अपना सकती। ममी कितनी बार तुम्हें लेकर कहती हैं, 'उसके सामने ऐसा मत कर। उसके सामने ऐसे मत बोल।' मैं इनसे फिर साफ़ कह देना चाहती हूँ। मुझसे किसी भी तरह की दिखावे की जिंदगी जीने को ये कहेंगी, तो मैं बिलकुल नहीं जिऊँगी। उसके लिए मुझे अलग रहना पड़ेगा, तो मैं अलग जा रहूँगी।'

बीजी पल्ले से आँखें पोंछ रही थीं। सीमा ने एक बार उकताहट के साथ उन्हें देख लिया। 'तुम्हें रोना किस बात का आ रहा है, ममी?'

बीजी जवाब न देकर पल्ले को और ज़ोर से मलने लगीं। सीमा झुँझलाहट के साथ उठ खड़ी हुई। 'तुम्हारे साथ यही दिक़्क़त है कि जहाँ तुम्हें बात नहीं सूझती, वहाँ तुम रोना शुरू कर देती हो। मैं इस वक़्त तुम्हें बताकर जा रही हूँ कि रात को मुझे लौटने में देर हो जाएगी। खाना मैं घर पर नहीं खाऊँगी। आकर मैं अपने कमरे में ही सोऊँगी। लौटने पर कल रात की तरह मुझे परेशान मत करना।' और वह वहाँ से चली गई।

श्यामा कुछ देर बीजी को देखती बैठी रही। उनके लिए उसके मन में सहानुभूति उमड़ आई थी। बीजी नाक-मुँह पोंछकर स्वस्थ हो गईं, तो वह बेबी की बाँह पकड़े उठ खड़ी हुई। 'मैं आज जाकर इसे दाखिल करा आऊँगी,' उसने चलते हुए इतना ही कहा।

'देव आज होता, तो पूछता इससे।' बीजी के ये शब्द उसने पीछे से सुने। पर लगा कि यह बात किसी दुख से नहीं, सिर्फ़ उससे और सहानुभूति पाने के लिए ही कही गई है।

दिन का काफ़ी भाग श्यामा ने घर से बाहर बिताया। स्कूल के आफिस से निकलकर बहुत दिनों बाद कुछ देर वह ग्राउंड में बेबी के साथ खेलती रही। फुटपाथ पर चलते

हुए उससे पुराने स्कूल में सीखी पोइम्ज़ सुनती रही, गिनती के छोटे-छोटे सवाल पूछती रही। उसे अपराध का अनुभव हो रहा था कि वह ऐसा हर रोज़ क्यों नहीं करती रही। उस बच्ची की कुछ ज़रूरतें थीं जिन्हें वह और अकेली वही पूरी कर सकती थी। यह उसके दिलचस्पी न लेने के कारण ही था जो बेबी उसे छोड़कर दूसरों की तरफ़ इतना उमड़ती थी। उसे लड़की के साथ नए सिरे से अपना एक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। इससे वह लड़की के ही नहीं, अपने अन्दर के अभाव को भी कुछ हद तक भर सकती थी।

बस स्टाप पर बेबी के घर लौटने की जिद करने पर भी वह किसी तरह उसे फुसलाकर पैदल आगे चलती रही। बेबी के अलावा भी बहुत कुछ था जिसके साथ उसे नए सिरे से अपना सम्बन्ध स्थापित करना था। उस शहर की सड़कें, इमारतें, रास्ता चलती भीड़। आज तक वह बेगानी बनी उनके बीच से गुजर जाती थी। जब भी बाहर आती थी, लौटने की जल्दी मन में समाई रहती थी। इससे उबरकर उसे अपने को उस शहर में, उस शहर के साथ, देखने की आदत डालनी थी।

बिना कुछ भी खरीदने की ज़रूरत के वह एक दुकान के अन्दर जाकर छोटी-छोटी चीज़ों के दाम पूछती रही। बेबी को, उसकी उतावली से बचने से ज़्यादा अपने अन्दर के मोह से, उसने एक टॉफी का डब्बा खरीद दिया। वह बेबी के साथ उस समय जैसे अकेली नहीं थी। एक और भी व्यक्ति उनके साथ था। किसी-किसी क्षण वह व्यक्ति देव का चेहरा लिए रहता था। जब उसकी भौंहें तनी होती थीं और वह 'हाँ' 'हूँ' में हर बात का उत्तर देता पैदल चलने की पटरियाँ उनके साथ-साथ लाँघता आता था। श्यामा को अपने से कहीं ज़्यादा उस व्यक्ति का ध्यान बेबी पर केन्द्रित लगता था। कि कहीं बेबी अनजाने में सामने के खम्भे से न टकरा जाए, या उसका पाँव सड़क पर न फिसल जाए। फिर किसी-किसी क्षण उस व्यक्ति का चेहरा कुमार का हो जाता था। तब वह बेबी की तरफ़ से उदासीन लगातार उसी से बात किए जाता था...अपनी ही कोई बात...जिसमें वह उसकी प्रतिक्रिया जानने के लिए भी नहीं रुकता था। बीच में अगर वह अपनी ओर से कोई बात करने लगती थी, तो वह बार-बार अपनी कलाई की घड़ी में वक़्त देखने लगता था। आसपास की भीड़ से, या भीड़ में उसके किसी से टकरा जाने से, उसे कोई मतलब नहीं था। वह सिर्फ़ अपनी किसी बात से उसे सहमत करना चाहता था और उस उलझन में खुद ही किसी चीज़ से ठोकर भी खा जाता था।

और फुटपाथ के किसी हिस्से में, किसी उपाहारगृह से आती कॉफी की खुशबू के पास से गुज़रते हुए, वह सहसा अपने में अकेली हो जाती थी। तब बेबी का हाथ थामे रहना उसी तरह हो जाता था जैसे टॉफी के डब्बे को हाथ में सँभाले रहना। उसे सोचना पड़ता था कि वह कहाँ है, किस ओर जा रही है और उसके रुकने का

बस-स्टाप कौन-सा है। समय से ध्यान न आ गया होता, तो शायद उसने घर की जगह कोलाबा जाने वाली बस पकड़ ली होती।

घर से चलते वक़्त सोचा था आज फिर कुमार को फ़ोन करेगी। पर टॉफी की दुकान में फ़ोन सामने रखा रहने पर भी उससे नम्बर मिलाते नहीं बना। शायद इसलिए कि उस समय मन से वह देव के साथ थी...देव टॉफी का डब्बा खोलकर उसमें से टॉफी बेबी को खिलाना चाह रहा था और वह सोच रही थी कि बेबी का दाखिला करा देने के बाद अब इस शहर में रहने के लिए उसे और कौन-सी चीज़ें खरीदनी होंगी। कुमार टेलिफ़ोन के दूसरे सिरे पर बैठा एक ऐसा व्यक्ति लगा था जिससे वह उस समय सिवाय मामूली हालचाल पूछने के और कोई बात नहीं कर सकती थी।

सीमा उसके लौटने तक घर से जा चुकी थी। बीजी अपने कमरे में दिन की नींद सो रही थीं। बेबी साथ के फ़्लैट में जाने की जिद कर रही थी, इसलिए उसे जेनी के साथ भेजकर वह हर तरह से ख़ाली हो गई।

धूप ढल रही थी। खिड़की के बाहर भी और अपने अन्दर भी। वह दो कमरे का फ़्लैट उस समय जितना अकेला था, अगर हर समय उसके लिए उतना ही अकेला रह सकता...तब क्या वह ज़्यादा आसानी से यहाँ के वातावरण से अपने को जोड़ सकती थी? जिस तरह उसे यहाँ दूसरों से घिरकर रहना पड़ता था, उससे कोई चीज़ मन को अन्दर से कसे रखती थी। ज्यों-ज्यों दिन ढलता जाता था, अन्दर की कसन और बढ़ती जाती थी। रात आने तक स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती थी कि लगता था उस कसन के ही कारण उसके लिए वहाँ साँस लेना मुश्किल है। जब तक घर से बाहर थी, लग रहा था शायद आज ऐसा नहीं होगा। पर यह आज भी वैसा ही एक दिन था जैसा कि कल। उसके लिए, यहाँ रहते, क्या उस कसन से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं था?

अन्दर से कोई चीज़ हल्के धुएँ की तरह आँखों में उमड़ रही थी। लग रहा था बस चीज़ को बह जाने दे, तो अपने में कुछ हल्की महसूस कर सकती है। लेकिन बत्तीस की उम्र का इतना बड़ा आकार...उसने कोशिश से आँसुओं को गले और आँखों में पी लिया। एक किताब पढ़ने के लिए हाथ में ले ली। उससे भी थोड़ी सहायता मिली। सीमा ने कहा था उन सबकी अपनी-अपनी जिंदगी है...हर-एक जिस तरह चाहे, उसे जिए...लेकिन व्यक्ति चाहने की स्थिति तक ही न पहुँच पाए, तो? बल्कि यह जानने की स्थिति तक भी कि वह क्या चाहता है? सीमा ऐसा कह सकती थी क्योंकि अपने लिए वह जानती थी। पर वह व्यक्ति क्या करे जिसे जानने-जानने में ही कई वर्ष बीत गए हों और फिर भी वह उसी स्थल पर हो जहाँ उसने पहली बार जानने का प्रयत्न किया था?

'देव आज होता, तो पूछता इससे'...कितने निरर्थक ढंग से बीजी ने यह बात कह दी थी। देव आज होता...सुबह से कितनी ही बार वह इन शब्दों के अर्थ को उसके अलग-अलग परिणामों के साथ सामने रखने की कोशिश कर चुकी थी। देव होता, तो यह शहर न होता, यह घर न होता, यह बात कही जाने की स्थिति न होती। तब क्या ये इतने वर्ष उन दोनों ने उसी सम्बन्धहीन सम्बन्ध में साथ-साथ जीते हुए काट दिए होते? या दोनों में से किसी एक ने अपने प्रयत्न से उस सम्बन्ध को तोड़ दिया होता? या वह सम्बन्ध समय के साथ धीरे-धीरे एक वास्तविक सम्बन्ध में बदल गया होता? देव होता, तो क्या सीमा आज जैसी न होकर कुछ और जैसी होती? या उस स्थिति में भी वह आज ही की तरह अपनी स्वतन्त्र जिंदगी जीने की बात करती और बीजी की शिकायत का रूप आज जैसा न होकर बिलकुल और होता? देव होता, तो वे साथ-साथ रहतीं या अलग होकर? उसका कुमार से परिचय हुआ होता या नहीं? हुआ होता, तो क्या वह फिर भी आज की तरह उसे फ़ोन करने या न करने की अनिश्चित मनःस्थिति में होती? 'देव आज होता, तो पूछता इससे'...क्या सचमुच पूछता? या पत्नी की तरह अपनी बहन को लेकर भी वह अब तक उदासीन हो गया होता? उन दिनों पूछने की कितनी बातें होती थीं...कम-से-कम उससे पूछने की...पर क्या कभी वह उससे पूछता था? उसकी देव से सबसे बड़ी शिकायत यही नहीं थी कि वह कभी उससे कुछ नहीं पूछता था...और यह पूछने पर कि क्यों नहीं पूछता, वह केवल उसका कन्धा थपथपा देता था? वह अगर जीवित होता और सीमा को लेकर भी उतना ही उदासीन हो रहता, तो क्या सीमा ही इसे झेल लेती? पर सीमा को लेकर शायद वह उदासीन हो ही न पाता। सीमा के साथ देव का सम्बन्ध वास्तविक था, जो कि उसके साथ नहीं था। सीमा देव से लड़ भी सकती थी जो वह नहीं कर सकती थी। लड़ना अधिकार बनाए रखने के लिए होता है। बिना अधिकार की सीमा तक पहुँचे, किसी से लड़ा कैसे जा सकता है? वह लड़ने की कोशिश भी करती, तो क्या यही न सुनने को मिलता, 'तुम अपनी जगह ठीक हो। मैं कोशिश करूँगा कि...?'

आज भी अगर ऐसा होता, तो उसके लिए फैसला करना कितना आसान होता! वह भी एक दिन उतने ही उदासीन भाव से देव से कह देती कि उससे अब इस तरह नहीं जिया जाता। वह या तो एक निश्चित सम्बन्ध में उसके साथ जी सकती है या बिलकुल नहीं। जिस तरह पहले एक बार कोर्ट में हस्ताक्षर किए थे, उसी तरह फिर दूसरी बार भी किए जा सकते हैं। वह किसी के लिए मजबूरी बनकर और उसकी मजबूरी अपने पर लेकर ही पूरी जिंदगी नहीं काट देना चाहती। वह अलग होकर अपने लिए जिंदगी में कोई भी और रास्ता अपना सकती है...वह रास्ता चाहे बिलकुल अकेलेपन का हो। पर उसके मुँह से अलग होने की बात सुनकर भी क्या देव उसे रोकता? अपनी दूरी की मुसकराहट के साथ क्या फिर यह न कह देता, 'ठीक है...तुम्हें

इस तरह खुशी मिल सकती है, तो मुझे इसमें भी एतराज़ नहीं। कल-परसों ऑफिस से छुट्टी लेकर मैं कोर्ट में अर्जी दे देता हूँ...।'

उसके साथ देव का व्यवहार ऐसा ही था। पहले दिन से अन्तिम दिन तक। पर क्यों ऐसा था? इतनी तटस्थता से क्या आदमी की अपनी भी जिंदगी निकल सकती है? देव जीवित होता...वे लोग साथ-साथ जिंदगी काट रहे होते...और ऐसे में कुमार से उसका परिचय हो जाता, सब-कुछ उसी तरह होता जैसे कि हुआ था और वह देव के सामने पूरी बात उगल देती, तो भी क्या उसकी तटस्थता उसी तरह बनी रहती? चुपचाप सिर हिलाकर उसने कुछ ऐसा कह दिया होता, 'अच्छा किया तुमने बता दिया...अब तुम्हें मन पर बोझ नहीं रखना चाहिए?'

क्या था देव के मन में? केवल उसे लेकर उदासीनता या विवाहित जीवन को लेकर ही? अगर उसे तकलीफ़ सिर्फ़ उससे थी, तो उससे छुटकारा पा लेने का रास्ता वह 'क्यों नहीं खोजता था?' या उसे समझाने और अपने ढंग से ढाल लेने का प्रयत्न क्यों नहीं करता था? एक बार उसने सोचा था देव के नाम एक चिट्ठी सीमा को देकर घर से चली जाए। पर उस दिन भी इस विचार से मन सिहर गया था कि यह बात बताए जाने पर देव की प्रतिक्रिया शायद इतनी ही होगी, 'चिट्ठी मेज़ पर रख दो। अभी कपड़े बदलकर पढ़ लेता हूँ।'

वह चाहने लगी कि देव सचमुच जीवित हो जाए, चाहे एक दिन के लिए ही। जो बात उसे देव से करनी थी, उसका अवसर दिए बिना उसका चल बसना...यही चीज़ थी जिसे सह पाना सबसे मुश्किल था। वह अवसर देव ने आखिरी दिन भी नहीं आने दिया। उसके हाथ में पकड़े अपने ठंडे हाथ को बिना हिलाए-डुलाए केवल इतना ही कहा था, 'थोड़ा-थोड़ा प्रबन्ध मैंने सबके लिए कर रखा है...मुझे आशा है तुम अपनी देखभाल ठीक से कर सकोगी।'

इन शब्दों का अर्थ क्या था? देव को किस तरह की आशा थी उससे? वह किस तरह सोचता था वह अपनी देखभाल ठीक से कर सकेगी?

रात को सीमा के लौटने तक श्यामा के मन में योजना बन गई थी। उस घर में साथ-साथ रहने के लिए आवश्यक था कि रहने के आज के ढंग को बिलकुल बदल दिया जाए। दो कमरों में से एक कमरा उसका होगा जिसमें वह बेबी के साथ रहेगी। बेबी रात को बीजी के पास न सोकर उसी के पास सोया करेगी। दूसरे कमरे में सीमा को बीजी के साथ रहने की आदत डालनी होगी। न हो, तो बीजी रात को गैलरी में सो सकती थीं। सभी घरों में दो-एक लोगों को ऐसे ही सोना होता था। आज के लिहाज से पूरा फ़्लैट बीजी और सीमा के अधिकार में था। वह और बेबी दोनों कमरों में एक-एक मेहमान की तरह सोती थीं। यह भी एक कारण था जो वहाँ वह अपने

को इस तरह उखड़ी-उखड़ी महसूस करती थी। सीमा को अपने ढंग से अपनी ज़िन्दगी जीने का मान था, तो वह भी अपने ढंग से जीने की कुछ शर्तें उन लोगों के सामने रख सकती थी। एक कमरा सीमा का 'अपना' था और दूसरा बीजी का, तो वह पूछ सकती थी कि उस घर में उसकी अपनी जगह कौन-सी है? वे लोग यह मानकर ही नहीं चल रही थीं कि वह कुछ दिनों से ज़्यादा वहाँ नहीं रहेगी? वह इस स्थिति को हरगिज स्वीकार नहीं करेगी कि बेबी वहाँ रह जाए और वह खुद अपनी उसी मनहूस नौकरी में लौटकर उनकी माँग का खर्चा जुटाकर उन्हें भेजती रहे। वह आज यह बात स्पष्ट कर देगी कि उससे ऐसी आशा उन्हें नहीं रखनी चाहिए। वह रहने के इरादे से आई है, तो अब वहाँ रहेगी ही। इसमें उन लोगों को असुविधा होती है, तो वह कुछ नहीं कर सकती।

सीमा देर से आने को कह गई थी, फिर भी खाना खाने के बाद से ही वह उसकी प्रतीक्षा करने लगी थी। खाना खाते हुए बीजी से उसने इस बारे में कोई बात नहीं की।

बीजी रोना शुरू करके बात की पूरी शक्ल ही बदल दे सकती थीं। उनसे वह ऐसे ही इधर-उधर की बातें करती रही—बेबी की प्रिंसिपल के बारे में, बसों की भीड़ के बारे में, जेनी और दरबान के बारे में। बीजी जेनी से खुश नहीं थीं और चाहती थीं उसकी जगह कोई दूसरी नौकरानी ढूँढ़ ली जाए। 'लेकिन आजकल इतने पैसे माँगती हैं ये लोग...।' बीजी हर बात में महँगाई का जिक्र लाकर उसे घर की बढ़ती आवश्यकताओं के बारे में सचेत करती रहती थीं। 'अगर आते ही यहाँ सीमा की नौकरी न लग जाती, तो पता नहीं किस तरह चल पाता।' बीजी उन छोटे-मोटे कर्जों का भी जिक्र करती रही थीं जो जब तब उन्हें अपने सम्बन्धियों से लेने पड़े थे। 'बालू इतना प्यार करता है सीमा को। बिलकुल सगी बहन की तरह मानता है। पर इधर उसने अपनी बड़ी कोठी बनवाई है, इसलिए इन दिनों उसका भी हाथ ख़ाली है...।'

बहुत दिनों के बाद वह बीजी के पास देर तक बैठ पाई थी। बेबी बीजी से कहानी सुनने की इंतजार करती कुरसी पर ही सो गई थी।

दस बजे से करवटें बदलते उसने ग्यारह बजते सुने, फिर बारह। सीमा के लौटकर आने तक उसके बाद भी पन्द्रह-बीस मिनट गुजर चुके थे।

सीमा को कोई छोड़ने के लिए साथ आया था। सीमा ने आकर घंटी नहीं बजाई, जिसका मतलब था फ़्लैट की एक चाबी उसके पास भी थी। और बीजी ने आने के दिन ही उससे कहा था कि घर में एक ही चाबी है, दूसरी चाबी उन्हें बनवानी पड़ेगी। इसका भी अर्थ यही था कि शुरू से ही उसे वहाँ एक अस्थायी मेहमान से ज़्यादा कुछ माना ही नहीं गया था।

साथ आया व्यक्ति कुछ देर गैलरी में रुका रहा। कुछ अस्पष्ट स्वर में कहे गए शब्द, एक हल्की खिलखिलाहट और दो-दो बार की गई 'गुड नाइट'। सीमा अन्दर

आते ही हल्के से उसकी तरफ़ मुसकराकर सीधे आईने के सामने चली गई। एक झटके में अपनी साड़ी उतारकर उसने पलंग पर डाल दी और एक-एक करके ब्लाउज की हुकें खोलने लगी।

श्यामा पलंग से उठ खड़ी हुई। उसे लगा उसकी खुली आँखों के सामने भी सब कपड़े उतारने में सीमा को संकोच नहीं होगा। उसे दरवाज़े की तरफ़ बढ़ते देख सीमा ने पूछ लिया, 'क्या बात है? उठ क्यों गईं?'

'तुम कपड़े बदल लो,' श्यामा रुकी नहीं। 'मैं एक मिनट में आ जाऊँगी। मुझे तुमसे बात भी करनी है।'

गैलरी में बिछी अकेली बेंत की कुरसी तक जाकर भी उसका बैठने को मन नहीं हुआ। जैसे कि वहाँ बैठने का अर्थ था अपने लिए भी उस कुरसी की 'बाहरी' स्थिति को स्वीकार कर लेना। पास के कमरे से बीजी के खर्राटों की आवाज़ आ रही थी। खिड़की का परदा हटा रहने से गैलरी की रोशनी में उनका झुर्राया चेहरा नींद में भी किसी चीज़ से जूझता लग रहा था। बेबी उनके पेट पर सिर रखे, ऊपर को बाँहें फैलाए सो रही थी। कोने की दोनों कुरसियाँ एक-दूसरी से सटी हुई थीं। थोड़ी देर पहले वहीं बैठकर वह बीजी से बात कर रही थी। पास की साइड टेबल बेबी ने औंधी कर दी थी, वह उसी तरह औंधी पड़ी थी। लगता था उसके उस कमरे से आने के साथ ही बेबी को उठाकर पलंग पर डालते हुए बीजी खुद भी सो गई थीं।

बाहर के दरवाज़े के पास कोई चीज़ चमक रही थी। उसने उठाकर देखा। सीमा का इयर रिंग। उसे हाथ में लिए वह वापस आ गई।

सीमा ने कपड़े बदले नहीं थे। ब्रेसियर और पेटीकोट में आईने के सामने खड़ी वह ब्रश से अपने बाल ठीक कर रही थी।

'तुम्हारा इयर रिंग है', उसने हाथ सीमा की तरफ़ बढ़ा दिया।

'थैंक्स।' सीमा ने इयर रिंग लेकर ड्रेसिंग टेबल पर रख लिया।

'तुम्हें कितनी देर लगेगी अभी?'

'तुम्हें क्या बात करनी थी?' सीमा के स्वर में जानने की उत्सुकता बिलकुल नहीं थी। उसका पूछना उसी तरह था जैसे उसके हाथ से इयर रिंग उठाना या अपने बालों को झटक लेना।

'मैंने बेबी का एडमिशन करा दिया है आज।'

'अच्छा किया। बस इतनी ही बात थी?'

'नहीं। बात इससे आगे की है। मैं समझती हूँ मुझे यहाँ रहना है, तो मुझे अपने लिए एक अलग कमरे की ज़रूरत होगी।'

सीमा के हाथ जल्दी-जल्दी चलने लगे। ब्रश रखकर उसने बालों में रबड़ बैंड लगा लिया और अलमारी से अपनी नाइटी निकाल लाई। 'यहाँ से बाहर अलग कमरे की?'

'नहीं, इसी घर में एक अलग कमरे की।'

'मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझी।' सीमा ने ड्रेसिंग टेबल की दराज़ से छोटा तौलिया निकाल लिया और उससे होंठों से लिपस्टिक साफ़ करने लगी।

'मेरा मतलब है मुझे इस घर में अपने लिए एक ऐसी जगह चाहिए, जहाँ से तुम्हारे कपड़े बदलने के वक़्त मुझे उठकर बाहर न जाना पड़े।'

'मैंने तुमसे जाने को नहीं कहा था,' सीमा ने तौलिया दराज़ में पटककर दराज़ बन्द कर दिया। 'मुझे तुम्हारे सामने कपड़े बदलने में कोई एतराज़ नहीं है। यू आर नाट ए मैन।'

श्यामा को अपनी साँस खिंचती महसूस हुई। 'मैं तुम्हारे एतराज़ की बात नहीं कर रही। मुझे एतराज़ है।'

'आई सी।' सीमा आँखों में सुरमा डालने लगी।

'तुम्हीं ने सुबह कहा था हम सबकी अपनी-अपनी जिंदगी है और हमें उसे अपने-अपने ढंग से जीना चाहिए। क्योंकि हम लोगों के ढंग एक-दूसरे से अलग हैं, इसलिए...।'

सीमा ने अब पहली बार सीधे उसकी तरफ़ देखा। 'तुम यह बात कहने के लिए ही अब तक जाग रही थीं?'

सीमा की आँखों के भाव से श्यामा का स्वर पहले से सख़्त हो गया। 'मुझे बात करनी थी, इसीलिए जाग रही थी। तुम्हें अपने ढंग से जीने का जितना अधिकार है, उतना ही दूसरों को भी है। तुम्हें पता है घर हम लोगों का साझा है।'

सीमा कुछ देर चुप रहकर उसे देखती रही। फिर नाइटी में बाँहें उलझाए स्टूल खींचकर पलंग के पास ले आई। 'घर में सिर्फ़ दो ही कमरे हैं, यह तुम्हें पता है?'

फिर वही कल वाली गन्ध। श्यामा और कस गई। 'पता है, इसीलिए तो बात करने की ज़रूरत है।'

'तुम्हारा मतलब है तुम इस कमरे में अकेली रहोगी और मैं ममी के साथ उस कमरे में?'

'मैं भी अकेली इस कमरे में नहीं रहूँगी। बेबी मेरे साथ इसी कमरे में सोया करेगी।'

सीमा के चेहरे पर सुर्ख़ी दौड़ गई थी। मुँह खुला रहने से उसका चेहरा भी कुछ-कुछ बीजी के नींद के चेहरे जैसा लग रहा था। 'मैं बीजी के साथ उस कमरे में नहीं सो सकती', कहते हुए उसने अपना ब्रेसियर निकालकर परे डाल दिया और नाइटी के दोनों पल्ले आधे समेट लिए।

'तुम अपने फ़ीते कस लो पहले,' श्यामा से रहा नहीं गया।

'मेरे फ़ीतों की फिक्र तुम क्यों करती हो?' सीमा तनकर बैठ गई। 'तुम अपनी बात करती रहो। मैंने तुमसे कह दिया है मैं ममी के कमरे में नहीं सो सकती।'

'क्यों?'

'मुझसे उनके खर्राटे बरदाश्त नहीं होते और...और जो भी वजह हो, मैं रह ही नहीं सकती एक कमरे में उनके साथ।'

'अगर मैं भी कहूँ कि...?'

सीमा उठ खड़ी हुई। 'वह तुम ममी के साथ तय कर लो। मैंने अपनी बात तुमसे कह दी है।'

पर उसके चेहरे पर एक बुझापन ज़रूर घिर आया था। और कमज़ोर पड़ने से बचने के लिए ही शायद वह उठ गई थी। श्यामा को लगा एक छोटे से निर्णय से स्थिति का वजन उसकी तरफ़ झुक आया है। उसे इस हासिल को अब खोना नहीं चाहिए। 'मैं बात उनसे भी कर सकती हूँ,' वह बोली। 'लेकिन अलग से नहीं। सवाल उतना उनसे नहीं जुड़ा है जितना हम दोनों से।'

सीमा ने जाकर हाथ बिजली के बटन पर रख लिया था। 'बत्ती बुझा दूँ? मुझे नींद आ रही है।'

श्यामा उबल गई। 'नींद मुझे भी आ रही थी कल, जब आकर तुमने बत्ती जला दी थी।'

सीमा के हाथों ने अनायास नाइटी के फ़ीते कस दिए और वह श्यामा के पास लौट आई। उसकी आँखों में एक चुनौती थी। हल्की पड़कर भी वह अपने को हल्की स्थिति में नहीं देखना चाहती थी। 'देखो, अगर हमें बात करनी ही है, तो बहुत खुलकर और साफ़ बात कर लेनी चाहिए।' वह श्यामा के पलंग पर ही उसके सामने बैठ गई। 'तुम मुझसे कुछ साल बड़ी हो, पर बेहतर होगा कि हम उम्र के फ़र्क़ और आपसी रिश्ते को भूलकर दो फ्रेंड्स की तरह बात कर लें।'

उम्र की बात से सीमा ने अपना वजन कुछ बढ़ा लिया था। श्यामा ने ईर्ष्या के साथ बार-बार तन जाते नाइटी के फ़ीतों को देख लिया।

सीमा ने भी उसकी आँखों में अपने शरीर के प्रभाव को देखा और होंठों पर एक सिकुड़ी-सी मुसकराहट ले आई। 'हम दोनों की कुछ कॉमन प्राबलेम्ज़ हो सकती हैं और आपसी अंडरस्टैंडिंग से हम उन्हें हल भी कर सकती हैं। मैं बहुत फ्रैंकली बात कर रही हूँ। मैं जान सकती हूँ, तुम्हारे इस हठ की वजह क्या है?'

लड़की के चेहरे और आँखों में एक-सी चमक थी। श्यामा के अन्दर ईर्ष्या के कई एक घूँट उतर गए। 'वजह सिवाय इसके क्या ही सकती है कि कल तक मैं अपने मन में अनिश्चित थी कि मुझे यहाँ रहना चाहिए या नहीं और आज मैंने फैसला कर लिया है।'

'फैसले के पीछे भी तो कोई वजह होगी।'

'मैंने कहा है, मैंने स्कूल में बेबी का एडमिशन करा दिया है आज।'

'एडमिशन करना तो फैसला ही है। मैं तुमसे वजह पूछ रही थी।'

श्यामा को लगा, यह उसे कोने में खड़ा करने की कोशिश है। उसने अपनी सामना करने की शक्तियाँ इकट्ठी कर लीं। 'वजह लड़की का भविष्य है। मैंने अकेले रहने की आदत डाल ली है। पर मैं नहीं चाहती कि उसे भी वहाँ रहकर यही आदत डल जाए।'

सीमा ने उसके घुटने पर हाथ रखकर जैसे एक नई आत्मीयता का विजिटिंग कार्ड उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। 'तुम फ्रेंक नहीं हो। मैं तुमसे फ्रैंकली बात कर रही हूँ। तुम यहाँ नहीं थीं, मैं कभी तुम्हारे बारे में ज़्यादा नहीं सोचती थी। तुम सचमुच यहाँ आकर रहना चाहोगी, इस पर भरोसा ही नहीं होता था। लगता था कि आओगी, तो महीना-बीस दिन काटकर चली जाओगी। बुरा मत मानना, पर जिस तरह इतने सालों से तुमने अपने को काट रखा था, उससे फ़्लैट के लिए तुम्हारे रुपया भेजने पर भी इस तरह की प्राबलेम दिमाग़ में आती ही नहीं थी। पर आज मैं सोच सकती हूँ कि तुमने जो इतना सब तरद्दुद किया, उसके पीछे तुम्हारी अपनी कुछ ज़रूरत हो सकती है। हम एक-दूसरी की ज़रूरत को समझकर रह सकें, तो यह मुश्किल बीच से निकल जा सकती है।'

श्यामा की साँस तेज़ होने लगी। उसने अपना घुटना सीमा के हाथ के नीचे से हटा लिया। 'मुझे लगता है पिछली बार जब मैं तुमसे मिली थी, तब से अब के बीच तुम कुछ ज़्यादा ही बड़ी हो गई हो।'

सीमा ने उसके झटकने को महसूस किया पर कोशिश से उसे झेल लिया। 'तुम मेरी तरह खुलकर बात नहीं करोगी, तो चीज़ें सुलझ नहीं सकेंगी। ज़रूरत पड़ने पर मैं यहाँ से छोड़कर गर्ल्ज होस्टल में जा सकती हूँ। लेकिन सवाल ममी का है। न तो तुम अकेली उन्हें सपोर्ट कर सकती हो, न मैं ही। इसलिए बेहतरी सबकी साथ रहने में है। मैं पहले तुम्हें अपनी प्राबलेम बता देती हूँ। मैं यहाँ ममी के साथ रहते हुए भी एक तरह से उनके साथ नहीं रहती क्योंकि छोटी-छोटी बातों को लेकर उनका चिड़चिड़ाना मुझे बरदाश्त नहीं है। इन दो कमरों में साथ रहने के अलावा हमारा कुछ साझा नहीं है। मैं अपने वक़्त से घर से जाती हूँ, अपने वक़्त से लौटकर आती हूँ। पहले वे बड़बड़ाया करती थीं, अब समझ गई हैं कि मुझे ज़्यादा तंग करेंगी, तो मैं उनके साथ नहीं रहूँगी। यही चीज़ है जिससे वे डरती हैं। मैं रात-बिरात देर-सबेर जब भी आऊँ, जिसके साथ भी आऊँ, अब उनकी नींद नहीं टूटती। मेरे दो-एक बॉय फ्रेंड हैं जिनके साथ मैं शाम को बाहर जाती हूँ। मैं जानती हूँ ममी उनमें से किसी को भी पसन्द नहीं करतीं। ख़ास तौर से अख़्तर को। वह बहुत कल्चर्ड लड़का है, ममी से बहुत मीठा बोलता है, पर उन्हें वह इसलिए नहीं भाता कि उसका नाम सुरेश या रमेश नहीं, अख़्तर है और वह नमस्ते की जगह आदाब अर्ज कहता है। मुझे इस दकियानूसीपन से बहुत चिढ़ होती है। आदमी को नाम और जात पूछकर पसन्द नहीं

किया जाता। अब वे जागती भी हों, तो मैं अख़्तर को उनके सामने नहीं पड़ने देती क्योंकि वे अपनी चुप्पी से भी बेचारे को अपमानित कर देती हैं। नहीं रहा जाता, तो अब भी मुझसे पूछ लेती हैं, 'तुम मुसलमान से ब्याह करोगी?' मैं कहती हूँ ब्याह करना हो, तो भी हर्ज़ क्या है? हालाँकि किसी से दोस्ती रखने का यही एक मतलब नहीं है। मैं तुमसे जो कहना चाहती हूँ वह यह है कि मैं अगर घर में फ्रैंकली अपने ढंग से रह सकती हूँ, तो एक अंडरस्टैंडिंग के साथ तुम भी फ्रैंक होकर जैसे चाहो रह सकती हो। कम-से-कम मेरी तरफ़ से तुम्हें किसी तरह की दिक़्क़त नहीं होगी। ममी दो-चार दिन कुढ़ लेंगी, फिर अपने-आप चुप कर जाएँगी। यू नो, उनके लिए सवाल उनके लड़के का है। तुम दूर रहकर चाहे जैसे रहो, पर अपनी आँखों के सामने उन्हें लग सकता है कि उनके लड़के की इज़्ज़त ख़राब हो रही है। वे तो मेरे लिए भी समझती हैं कि मैं भाई के न रहने से ही इस तरह बिगड़ गई हूँ। कई बार उनका नाम लेकर रोने लगती हैं। पर मैं जानती हूँ देव भैया आज होते, तो भी मैं उसी तरह जीती जैसे आज जीती हूँ। मैं उन्हें बहुत प्यार करती थी और आज भी मेरे मन में उनके लिए बहुत इज़्ज़त है। मगर फ्रैंकली स्पीकिंग, मैं तुम्हारी सिचुएशन को भी अच्छी तरह समझ सकती हूँ। यू आर स्टिल यंग एंड...।'

श्यामा के दिमाग़ में एक भँवर-सा घूम गया। सीमा का चेहरा उस भँवर के केन्द्र में था और कई और चेहरे उसके इर्द-गिर्द मँडराते एक-साथ बात कर रहे थे...बीजी का चेहरा ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था...कुमार का चेहरा हल्के-हल्के कुछ फुसफुसा रहा था...देव का चेहरा आँखें दूसरी तरफ़ किए कह रहा था, 'कोई बात नहीं, ऐसा भी हो जाता है कभी।' इनके अतिरिक्त और भी कितने ही चेहरे। प्रोफ़ेसर मलहोत्रा। राजीव। गोपालजी। 'पिलोड अपान माई स्वीट लव्'ज़ राइपनिंग ब्रेस्ट'। सिन्दूरी। जेनी। दरबान। लेडी डॉक्टर बत्रा। रमेश्वरी। सबकी आँखों का, शब्दों का, एक ही अर्थ। 'यू आर स्टिल यंग एंड...।' तीन तरफ़ से पुरुष शरीरों का एक-सा दबाव। पीठ पर, जाँघ पर, कमर के पास। 'यू आर स्टिल यंग एंड...।'

सीमा तड़पकर उसके पास से उठ खड़ी हुई। श्यामा के दिमाग़ का भँवर किसी अन्दर की सतह में डूब गया। उसका हाथ एक बार उन सब चेहरों से जा टकराया था। हाँफते हुए उसने देखा—जिस चेहरे पर उँगलियों के निशान उभर आए हैं, वह चेहरा सीमा का है।

'यू...यू...यू...।' सीमा की आवाज़ नुकीली हो आई थी।

श्यामा पलभर देखती रही जैसे सीमा के गाल पर लगा तमाचा किसी और का हो। फिर सहसा उसके मन में खेद भर आया। यह क्या कर दिया उसने?

'आई एम् सॉरी!' यह उसने जैसे सीमा से नहीं, अपने से कहा। शरीर में उसे ऐसे शिथिलता महसूस होने लगी जैसे उसी को किसी ने पीटकर वहाँ डाल दिया हो।

'अपनी यह पारसाई तुम किसे दिखाना चाहती हो? मुझे?' सीमा के स्वर का नश्तर उसे अन्दर तक काटता गया। 'वहाँ अकेली रहकर क्या करती हो, इसका तुम समझती हो किसी को पता नहीं है?'

श्यामा के माथे पर पसीने की बूँदें झलक आईं। 'अच्छा हो अगर अब रातभर के लिए सो रहें। और जो बात करनी हो, सुबह कर लेना।' उसकी आवाज़ उत्तरोत्तर कमज़ोर पड़ती गई।

'यह किसकी चिट्ठी है?' सीमा ने अलमारी से एक पुराना लिफाफा निकाल लिया। 'तुम्हारी या किसी और की? कौन है जिसे वहाँ दशहरा देखने के लिए बुलाया था?'

लिफ़ाफा श्यामा के मुँह से आ टकराया। तमाचे के बदले में तमाचा। वह पथराई आँखों से सामने देखती रही। एकदम सन्नाटा। सारी आवाज़ें एक-साथ कहाँ गुम हो गईं?

दीवार। अलमारी। ड्रेसिंग टेबल। स्कूल। सीमा। पलंग। वह। काँपता हाथ। लिफ़ाफा।

कल कुमार से मिलने जाते समय लिफाफा सूटकेस से क्यों निकाला था? फिर रात को उसे अलमारी में कपड़ों की तह के अन्दर क्यों छोड़ दिया था?

उसने कहना चाहा कि किसी की चिट्ठी निकालकर पढ़ना कमीनी हरकत है। पर इससे पहले कि एक शब्द भी कह पाती, एक प्रेत-सी छाया दरवाज़े के पास से हट गई। उसकी आँखें दरवाज़े के बाहर बेंत की ख़ाली कुरसी पर अटक रहीं। बीजी कब से वहाँ खड़ी थीं, वह अनुमान नहीं लगा सकी।

ट्रे-लाइट ट्यूब की रोशनी में कुमार अपने को एनेमल फ़्लास्क में बंद-सा महसूस कर रहा था।

कोई विचार था जो पकड़ में नहीं आ रहा था, विचार नहीं, कुछ और था वह। पता नहीं किस चीज़ का आभास। एक जुगनू-सा क्षण-भर के लिए चमकता और दिमाग़ के अँधेरे में गुम हो जाता। वह उसका पीछा करता...उसे दबोच लेने की कोशिश करता। पर कौंध इतनी क्षणिक होती कि वह हर बार अँधेरे में भटकता रह जाता।

रूबी डिक्टेशन ले रही थी। हमेशा की तरह सिर झुकाए, कापी को सूँघती-सी। वही मोम की पुतली का-सा निर्जीव भाव। एक-सी गति से चलता हाथ। कुमार को आश्चर्य हो रहा था कि कैसे उसके मुँह से निकले शब्द पूरे-पूरे वाक्य बन जाते हैं। बिलकुल सही। कैसे रूबी बिना आँख उठाए उन्हें आड़ी-तिरछी लकीरों में बदलती जाती है। बिना एक बार भी पूछने के लिए रुके। जैसे कि बोलने वाली ज़बान और लिखने वाला हाथ दोनों एक ही यन्त्र के हिस्से हों और वह यन्त्र अपने-आप चलता जा रहा हो। न उसमें उसका कुछ प्रयत्न हो, न रूबी का।

फिर वही कौंध। चेतना के स्तर पर दिन के अखबार की दो छोटी-छोटी सुर्खियाँ। एक तीसरे-चौथे पन्ने पर, दूसरी छठे-सातवें पर। बड़े समाचारों के समुद्र में एक-दूसरे से दूर और अलग दो अनचीन्हे द्वीप। वर्ली सी फ़ेस पर एक युवा स्त्री की आत्महत्या। सचिवालय में एक सरकारी अफ़सर की हृदय-गति रुक जाने से मृत्यु। एक सफ़ेद टेबल पर सफ़ेद कपड़े से ढकी दो लाशें। स्त्री का चेहरा श्यामा का। सरकारी अफ़सर का उसका अपना। डिक्टेशन के शब्द उन चेहरों के ऊपर मँडरा रहे थे...'वी रिग्रेट टू स्टेट दैट इन्स्पाइट आफ़ सो मैनी अर्लियर रिमाइंडर्ज़ आन द पाइंट...।'

रूबी के स्कर्ट का रंग गहरा सुर्ख था। उस रंग ने चेहरे को अपने में डुबा लिया था। वह ऐसा भड़कीला रंग क्यों पहनती है?

दिमाग़ में फिर वही आभास...इस बार नीलकान्त के चेहरे के साथ। नीलकान्त सरकारी अफ़सर की अरथी के साथ-साथ चल रहा है। दाह-कर्म से लौटकर चाय पिएगा। रूबी के साथ, कैंटीन में। रूबी के स्कर्ट को छूकर उसके रंग की प्रशंसा करेगा। रूबी खुद भी सुर्ख़ पड़कर उसका हाथ हटा देगी। नहीं, वह हाथ नहीं हटाएगी। सुर्ख़ भी नहीं पड़ेगी। उसी तरह पीला चेहरा लिए चाय के घूँट भरती रहेगी।...वी हैव नाट रिसीव्ड एनी कम्यूनिकेशन फ्राम योर साइड।'

रूबी के चेहरे पर हल्की झाइयाँ क्यों हैं? डिक्टेशन लेते वक़्त वह वैसी क्यों नहीं लगती जैसी उस दिन कैंटीन के बाहर? उसके सामने आकर वह भी फ़्लास्क में बंद क्यों हो जाती है?

वर्ली सी फ़ेस पर ऊँची उठती लहरें। लहरों में डूबता-उतराता शरीर। सी फ़ेस के साथ-साथ कारों की लम्बी पंक्ति। शरीर एक एम्बुलेंस में डाला जा रहा है। ट्रैफ़िक की भीड़ में से एम्बुलेंस तेज़ी से गुज़रती जाती है। श्यामा अपने बेबस हिलते शरीर को देखकर डरी हुई है। वह एम्बुलेंस के दरवाज़े पर दस्तक दे रही है...मुझे अपना पोस्ट-मार्टम नहीं चाहिए...।

ट्रैफ़िकसिग्नल। सिनेमा के बड़े-बड़े होर्डिंग। ट्रांजिस्टरों की ऊँची आवाजे। रंग-बिरंगी रोशनियाँ। मेज़ों पर पटकी जा रही तश्तरियाँ। राइस प्लेट आलू चाहे।

पोस्ट-मार्टम के लिए ले जाया जाता शरीर सरकारी अफ़सर का है। अर्थात् उसका अपना। साथ तीन लड़के हैं। ये लड़के किसकी औलाद हैं। एक लड़का कह रहा है...बाबा दफ़्तर की केबिन में स्टेनो को डिक्टेशन दे रहे थे जब अचानक...। 'वी मे फ़र्दर ड्रा योर अटेंशन दैट...।'

पोस्ट-मार्टम की टेबल पर चीर-फाड़ होने वाली है। रोशनियाँ जला दी गई हैं। 'एकार्डिंग टु सेक्शन नाइट ए आफ़ अवर एग्रीमेंट...।'

अचानक दरवाज़े का खुलना और श्यामा का सामने आ खड़ी होना उसे कुछ अटपटा-सा लगा। उसके और रूबी के बीच का स्विच झटके से ऑफ हो गया। 'अरे!'

श्यामा उसकी हड़बड़ी पर मुसकरा दी। 'मैंने डिस्टर्ब तो नहीं किया?'

'नहीं नहीं। आओ। बैठो।'

श्यामा के बैठने के साथ ही रूबी ने कापी-पेंसिल समेट ली। 'शैल आई...!'

'हाँ, तुम अब थोड़ी देर में...नहीं, रहने दो कल तक। इस वक़्त शायद मुझे बाहर जाना पड़े।'

रूबी चली गई। श्यामा सामने की कुरसी पर बैठ गई। 'कहीं बाहर जा रहे हो?'

'नहीं...हाँ...सोच रहा था शायद...।'

'मेरे साथ जाना पड़े?'

पहली नज़र में लगा था श्यामा काफ़ी बदल गई है। चेहरा उसका पहले से दुबला लगा था, रंग ज़्यादा साँवला। पर मेज़ के उस तरफ़ बैठी अब वह फिर उन्हीं दिनों-सी लग रही थी। आँखों में वही चमक, चेहरे पर वही उतार-चढ़ाव। साधारणतया इसकी आशा नहीं की जा सकती थी—ख़ास तौर से तीस पार के सालों में।

'दफ़्तर ढूँढ़ने में दिक़्क़त तो नहीं हुई?'

'नहीं। बल्कि बहुत आसानी से पहुँच गई।'

क्षण...दो क्षण...समय बढ़ रहा था, परन्तु वे लोग जैसे जहाँ-के-तहाँ स्थिर थे। श्यामा की आँखें उसके कन्धे पर टिकी थीं, उसकी श्यामा के माथे पर।

कुमार उठ खड़ा हुआ। कुरसी की पीठ पर लटका कोट उसने कन्धे पर डाल लिया। 'आओ, चलें।'

श्यामा और भी दो-एक क्षण उसी विराम पर रुकी रही। फिर वह भी उठ गई। 'कहाँ चलोगे?'

'कहीं भी।' कुमार ने दरवाज़ा खोल दिया। श्यामा ने बाहर निकलकर बंद दरवाज़े पर नज़र डाल ली। 'तुम्हारा यहाँ दम नहीं घुटता?'

कुमार को लगा यह कोई पहले की सुनी बात है जो फिर से उसके सामने दोहरा दी गई है।

'दम कहाँ नहीं घुटता?' कहकर वह लिफ़्ट की तरफ़ चलने लगा।

टी सेंटर में खम्भे के पास की मेज़।

'कौन-सी चाय लोगी?'

'चाय और चाय में भी फ़र्क करना होगा यहाँ?'

'बिटिया कैसी है तुम्हारी?'

'पहले से बड़ी हो गई है। पर बेसमझ उतनी ही है।'

'मैंने तो उसे तब भी नहीं देखा था।'

'नहीं देखा था?'

'तुम कभी लाती ही नहीं थीं उसे साथ।'

'तुम्हें यहाँ आए कितने दिन हो गए?'

'डेढ़ साल। तुम्हें कैसे पता चला?'

'जीजाजी ने लिखा था।'

'हाँ, एक बार चिट्ठी लिखी थी मैंने उन्हें। कॉलेज की नौकरी का सर्टिफ़िकेट चाहिए था।'

'उनका अम्बाला ट्रांसफ़र हो गया है।'

'मुझे लिखा था उन्होंने।'

दोनों जैसे एक-दूसरे की तरफ़ चिड़िया उछाल रहे थे। तुम्हारी बारी। लो अब तुम्हारी। आखिर श्यामा ने ही बात उठाई। 'यहाँ जी लग गया है?'

कुमार ने होंठ सिकोड़कर खोल दिए। 'यह सब सोचता नहीं। सोचने की फुरसत नहीं रहती।'

चाय इतनी गरम थी कि श्यामा को होंठ छुआते ही हटा लेना पड़ा। फिर भी वह

आँखों को प्याली की टेक दिए उसे देखती रही। 'दूसरी तरफ़ हम जैसे लोग हैं जिन्हें सिवाय सोचने के कोई काम ही नहीं रहता।'

'कम-से-कम देखने से तो ऐसा नहीं लगता।' यह पुरुषोचित शिष्टाचार श्यामा के चेहरे को छू गया। चेहरे की रंगत बदल गई। 'देखने में बिलकुल जड़ नज़र आती हूँ।'

'इसका मतलब है जो लोग नहीं सोचते, वे...?'

श्यामा हँस दी। बँधी-बँधी-सी हँसी। 'तुम्हारे चेहरे से तो लगता है रात-दिन तुम्हें चिन्ताएँ-ही-चिन्ताएँ घेरे रहती हैं।'

कुमार कुछ देर चुप रहकर दीवार पर बनी आकृतियों को देखता रहा। उन आकृतियों से जोड़कर श्यामा को। जैसे वह भी उन्हीं की तरह दीवार पर अंकित आकृति हो। फिर बोला, 'काम से सिर इस तरह पथराया रहता है कि समझ में नहीं आता, दिमाग़ में कुछ सोचने की शक्ति रह भी गई है या नहीं।'

श्यामा का हाथ ज़रा-सा हिला; उसकी तरफ़ बढ़ आने को, पर अपनी जगह पर रुका रह गया। 'तुम्हारी उसका क्या हाल है?'

'किसका?'

'कलकत्ते में ही है?'

'वह? शायद मद्रास में है। किसी से पता चला था।'

'खुश है?'

'खुश ही होगी। दो-एक बच्चे भी हो गए हैं अब तक।'

'बच्चे तो...', श्यामा अटक गई। चेहरे की रंगत फिर बदल गई। उसने चाय के दो-एक घूँट भर लिए।

'क्या कह रही थीं?'

'बच्चे अपनी जगह हैं। आदमी को उसके अलावा भी तो खुशी की ज़रूरत होती है।'

कुमार की उँगलियों ने प्याली के हत्थे का सहारा ले लिया। 'मुझे तो यह सब सोचना ही बेकार लगता है। जो खुश रह सकते हैं, वे खुशी की परिभाषा नहीं ढूँढ़ते। जिन्हें खुशी नहीं मिलती, वही इस बारे में चिन्ता किया करते हैं।'

श्यामा का चेहरा कुछ उतर गया। प्याली नीचे रखकर उसने अपने को किसी चीज़ से मुक्त कर लेना चाहा। 'अन्दर-ही-अन्दर इस तरह उलझे रहने से फ़ायदा? एक बार अपने को सुलझा क्यों नहीं लेते?'

'सुलझाना किस तरह से होता है? किसी मानसिक चिकित्सालय में जाकर?'

श्यामा का हाथ बढ़कर उसके हाथ के ऊपर आ गया। हाथ की नसों में एक पुराना सम्पर्क उभर आया। 'मेरा मतलब है यह अकेलापन कब तक ढोओगे? कोई ठीक-सी लड़की ढूँढ़कर ब्याह क्यों नहीं कर लेते?'

कुमार के चेहरे पर एक विकृत-सी रेखा आ गई। बीच से अन्तराल का परदा हटाकर क्या उसे श्यामा को इस तरफ़ देख लेने देना चाहिए?

श्यामा को लगा वह रेखा व्यंग्य की है। वह अपनी कुहनी पर पहले से ज़्यादा झुक गई। 'मैंने एक बार तुम्हें पत्र लिखा था।'

'किसे लिखा था? मुझे?'

'तुम्हीं को लिखा था। पर वह तुम्हें मिला नहीं। मेरे पास लौट आया था। तुम तब तक वहाँ से चले गए थे।'

कुमार ने प्याली के हत्थे से उँगलियाँ छुड़ा लीं। 'कब की बात है यह?'

'जब तुम्हारे पास से गई थी, उससे दो-अढ़ाई महीने बाद की। मैंने दशहरे की छुट्टी में तुम्हें आने को लिखा था। उस दिन स्टेशन पर तुम बहुत उदास थे। मेरे मन को यह बात सालती रही थी कि उस उदासी का कुछ कारण शायद मैं भी हूँ।'

दीवार की तसवीरों से श्यामा अब अलग हो आई थी। वह उसके सामने बैठी थी। उसकी तरफ़ देख रही थी। फिर उसे लगने लगा कि श्यामा की आँखें उसकी अपनी आँखें हैं जिनसे वह अपने-आपको देख रहा है। एक उलझे बालों वाला मुरझाया चेहरा। कन्धे ज़रा-ज़रा झुके हुए। क्या उन झुके कन्धों से यह भी अनुमान हो सकता था कि उसकी रीढ़ की हड्डी हमेशा दर्द करती रहती है? 'यह ठीक है मैं तब तक चला आया था वहाँ से।'

'मैं नहीं सोचती थी तुम सचमुच इतनी जल्दी छोड़-छाड़कर चल दोगे।'

'मैंने तुमसे कहा था।'

कुछ था कि देर तक सीधे एक-दूसरे की तरफ़ देख पाना सम्भव नहीं होता था। जब वह देखता था, तो श्यामा की आँखें हट जाती थीं। श्यामा देखती थी, तो वह आँखें हटा लेता था। फिर भी बीच के शून्य में एक एकटक दृष्टि भी थी। शायद उसी दृष्टि का वे सामना नहीं कर पा रहे थे।

'उस दिन तुम्हें दिखाने के लिए मैं वह पत्र साथ लाई थी,' मेज़ पर गिरी चाय की बूँदों से उँगलियाँ छुआ-छुआकर श्यामा लकीरें खींचने लगी। 'पर तुम शायद आकर चले गए थे या...।

'तुम आई थीं उस दिन?'

श्यामा सिर हिलाकर चुप रही।

'मैं छह बीस तक इंतज़ार करके गया था यहाँ से।'

श्यामा के होंठ पल-भर खुले रहकर बंद हो गए।

'मुझे लगा था कि...।'

साथ आडिटोरियम में शो शुरू हो रहा था। चाय सम्बन्धी फ़िल्में और विज्ञापन।

पाम की मेज़ पर बैठा एक आदमी जम्हाई रोककर घड़ी देखता उधर चला गया। 'यहाँ से और कहीं चलें?' कुमार की आँखों में अस्थिरता भर आई थी।

'कहाँ?'

'किसी दूसरे रेस्तराँ में। या बाहर फ़ुटपाथ पर ही।'

'क्यों?'

'ऐसे ही। बैठे-बैठे एक जगह से मन उखड़ जाता है।'

'मन जगह से उखड़ रहा है या...?'

कुमार ने घड़ी के फ़ीते को कलाई पर घुमा लिया। 'तुम्हें ग़लत लगा है। मुझे आदत हो गई है कि दफ़्तर के सिवा और किसी जगह देर तक नहीं बैठ पाता। यह एक जगह थी जहाँ कभी बैठ लिया करता था। पर उस दिन यहाँ भी नहीं बैठा गया और आज भी लग रहा है कि...।'

'दोनों बार की वजह एक ही नहीं है?'

'वजह तुम नहीं हो। अगर, सचमुच कोई वजह है, तो अपना-आप ही है।'

श्यामा की उँगली ने मेज़ पर पानी की कितनी ही जालियाँ बना दी थीं। अब वह दायरे खींच-खींचकर जालियों को मिटा रही थी। इतनी सावधानी से कि कहीं कोई रेखा बनी न रह जाए। सब मिट जाएँ, यहाँ तक कि गोलाइयों की रेखाएँ भी। 'उतावलापन उन दिनों भी तुम्हारे स्वभाव में कम नहीं था,' वह ध्यान उँगली पर केन्द्रित किए रही।

'तुम उतावलापन कह लो। लेकिन उतावलेपन से ज़्यादा...पता नहीं क्या चीज़ है। कह नहीं सकता।'

'उस दिन तुम्हें अच्छा लगा था मैं नहीं आई?'

कुमार अन्दर से चौंक गया। यह बात श्यामा ने किस तरह जान ली थी? 'यह क्यों पूछा तुमने?'

'ऐसे ही।'

'तुम यही सोचती हो?'

'मैं सिर्फ़ पूछ रही थी।'

'उस दिन यहाँ आया था, तो तुमसे मिलने की उत्सुकता नहीं थी मन में, ऐसा नहीं। पर बाद में...कह नहीं सकता क्या था वह...। जब यहाँ से उठा, तब यह भी ख्याल था कि हो सकता है तुम्हें बारिश ने देर करा दी हो...सम्भव है और दस-बीस मिनट में आ जाओ तुम। पर मन ने और रुकने की हामी नहीं भरी, हालाँकि कहीं जाने की जल्दी नहीं थी। यह शायद वही चीज़ थी जिसे उतावलापन कहती हो तुम...या उससे हटकर और कुछ जिससे मन बचना चाह रहा था। कुछ देर बाहर बरामदे में खड़ा था, तो सचमुच अन्दर से यही चाह रहा था कि तुम न आओ, तो अच्छा है।

रुकना चाहता, तो रुक भी सकता था और। लेकिन जो भी था...चला तो गया ही था। इसे कुछ भी कह सकती हो तुम।'

जालियाँ मिट गई थीं और मेज़ के एक-तिहाई हिस्से पर पानी का नन्हा-सा द्वीप बन गया था। आसपास के कई रंग उसमें झलक रहे थे।

कुमार ने अपने स्वर से श्यामा की झुकी आँखों को ऊपर उठा देने की कोशिश की। 'यह क्या कि अब तक मेरे-ही-मेरे बारे में बात हो रही है। मुझे तुम्हारे बारे में भी तो जानना चाहिए कुछ।'

'क्या जानना चाहते हो मेरे बारे में?' श्यामा रंगों को उँगली से सहलाती रही। 'जिस तरह पहले स्कूल में पढ़ाती थी, अब भी पढ़ाती हूँ। जिस तरह उन दिनों शाम को घूम लेती थी, उसी तरह अब भी घूम लेती हूँ।'

'कभी मन घबराता, ऊबता, छटपटाता नहीं?'

श्यामा ने पानी के द्वीप से फिर कुछ रेखाएँ बाहर को निकाल दीं। 'बहुत बार। बल्कि हर रोज़। लेकिन किया क्या जा सकता है? बहुत-सी समस्याएँ हैं, जिनका कोई हल नहीं होता। अपना-आप मुझे ऐसी ही समस्या की तरह लगता है।'

'कोई इतनी आसानी से स्वीकार कर सकता है इसे, ईर्ष्या होती है।'

'दूसरे शब्दों में तुम्हें विश्वास नहीं है...।'

'विश्वास न हो, तो ईर्ष्या क्यों होगी? मैं सोचता था समस्या का हल आदमी को ढूँढ़ना ही चाहिए और नतीजा है कि...।'

श्यामा अपनी गीली उँगली को सूखी उँगलियों से सुखाने लगी। 'कुछ साल बड़े हो जाने के सिवा क्या नतीजा है?'

'कितना अच्छा होता अगर सिर्फ़ इतना ही नतीजा होता!'

उँगलियाँ सूख गई थीं, फिर भी श्यामा उन्हें और मलती रही। 'और क्या नतीजा है? कुछ बाल सफ़ेद हो गए हैं, यह?'

श्यामा के स्वर में एक प्रश्न था जिसे वह शब्दों में नहीं रख रही थी। कुमार अपने से संघर्ष कर रहा था कि जिस क्षण उसे बात को उँडेल देना चाहिए, वह क्षण यह नहीं है।

'तुम ठहरी कहाँ हो?'

'सैंटा क्रुज़।'

'कोई परिचित है वहाँ?'

'घर के लोग हैं। बीजी और सीमा पूना से यहाँ आ गई हैं।'

'तो घर अब यहीं है?'

'कह भी सकते हो।'

कुमार को लगा कि जितना उसने अपने में रोक रखा है, श्यामा शायद उससे ज़्यादा रोके हुए है।

'इन दिनों छुट्टी बिताने आई थीं?'

श्यामा ने अनिश्चित भाव से उसे देखते हुए सिर हिला दिया।

'छुट्टी काफ़ी बाक़ी होगी?'

'हाँ...लेकिन...।'

कुमार देखता रहा।

'तय नहीं है कितने दिन और रहूँगी।'

'क्यों?'

श्यामा की आँखें उस पर स्थिर हो गईं। 'क्योंकि साथ रहना निभेगा नहीं। फ़्लैट हालाँकि इसीलिए खरीदा था कि वहाँ से बिलकुल छोड़कर आ जाना चाहती थी।'

'तुमने फ़्लैट खरीदा है?'

'साझा फ़्लैट है। मेरे और बीजी के नाम से।'

'फिर भी लौट जाने की सोच रही हो?'

'सोच कितना कुछ रही हूँ। पर होगा क्या, यह अभी नहीं कह सकती।'

कुमार ने उँगलियों से पकड़कर उसका हाथ थोड़ा ऊपर उठाया, तो वह बेजान-सा उठ गया। रख दिया, तो उसी तरह नीचे रह गया। कुमार कई साल पीछे जाकर कुछ क्षण वहाँ रुका रहा।

'तुम्हें लौटने की जल्दी तो नहीं है?'

'एक तरह से है ही।'

'माने?'

'उधर के ख्याल से। देर हो जाने से...अच्छा है, तुमसे मिल लिया। इसके बाद पता नहीं...।'

'आज कल में ही तो नहीं जा रही हो?'

'कुछ भी पता नहीं। देखना होगा।'

'तो...?'

'बिल मँगवा लो। अब चलना चाहिए।'

श्यामा ने जिस तरह अपने को समेट लिया, उससे कुमार का और कुछ कहने को मन नहीं हुआ।

टी सेंटर से निकलकर चर्चगेट स्टेशन की तरफ़ बढ़ते हुए श्यामा ने पूछ लिया, 'तुम कहाँ रहते हो?'

कुमार का ध्यान बात में नहीं था। वे लोग वहाँ से गुज़र रहे थे जहाँ उस दिन पी. एन. पन्त ने उसे रोका था। इस वक़्त भी उस आदमी को वहीं कहीं होना चाहिए था। इतनी देर के बाद उसे अपने दिमाग़ में फिर वही कौंध महसूस हुई और वह उसका पीछा करने लगा। एक डूबता-उतराता शरीर, एक बहता परनाला...। 'क्या कहा?'

पर पूछने के साथ ही सवाल उसके दिमाग़ में स्पष्ट हो गया। 'मैं? हाँ...बांद्रा में रहता हूँ मैं।'

'अकेले?'

'रहता अकेला ही हूँ। वैसे...।'

अब उन्हें सड़क पार करनी थी। उसने श्यामा की बाँह को हाथ का सहारा दे दिया। ट्रैफ़िक ज़्यादा होने से सड़क के बीचोबीच उन्हें रुक जाना पड़ा।

'एक बात तुम्हें बताई नहीं मैंने। दो साल हुए मैंने ब्याह कर लिया था।'

इतना वक़्त था कि सड़क पार की जा सके। वह श्यामा को लगभग साथ खींचकर सामने के फुटपाथ तक ले आया।

'यह बात इस तरह क्यों बताई तुमने?'

श्यामा रुकना चाहती थी। पर वह स्टेशन की तरफ़ चलता गया।

वे लोग स्टेशन की सीढ़ियों पर थे। श्यामा उसकी चाल से नहीं चल पा रही थी।

'ब्याह कर लिया है, तो भी अकेले, क्यों रहते हो?'

कुमार दौड़कर बुकिंग आफ़िस की तरफ़ बढ़ गया। 'तुम्हारे लिए टिकट ले आऊँ फिर बात करते हैं।'

और घिसटती तेज़ चाल से चलते हुए श्यामा को पलभर के लिए लगा कि कुमार आसपास की दौड़ती भीड़ में खो गया है, जब तक कि फिर से वही हाथ उसकी बाँह पर नहीं आ गया।

वे लोग लगभग चलती गाड़ी में चढ़े। अलग-अलग डब्बों में। पहला डब्बा लेडीज़ का था, पर पता चलने तक श्यामा उसमें चढ़ चुकी थी। कुमार दौड़कर साथ के डब्बे में दाखिल हो गया। भीड़ इतनी थी कि उसे ठीक से खड़े होने की जगह भी नहीं मिली। ग्रांड रोड आने तक धक्के खाते-खाते वह पीछे के एक कोने में जा लगा।

बांद्रा तक गाड़ी को कहीं रुकना नहीं था। घरड़ गड़ घरड़ गड़ घरड़ गड़...सड़कें, मकान, लोग...उतनी ही तेज़ी से दूसरी तरफ़ से आती गाड़ियाँ...भीड़ को लाँघती भीड़...रफ़्तार को काटती रफ़्तार...आसपास की मद्धिम आवाज़ें...बाहर का तीखा शोर...और उस सबके बीच अपने अन्दर की धुकधुकी...श्यामा का टिकट उसकी ज़ेब में है और श्यामा साथ के डब्बे में है। उसे बांद्रा पहुँचकर जैसे-कैसे जल्दी से नीचे

उतरना है और टिकट श्यामा को दे देना है। उन दोनों के बीच शायद अब इतना ही सम्बन्ध, इतनी ही घटना, शेष है। एक पीछे को दौड़ता प्लेटफ़ार्म, बांबे सैंट्रल। दूसरा, महालक्ष्मी। खट् खटाक खट् खटाक् खट् खटाक्। बांद्रा तक कितने प्लेटफ़ार्म और निकलेंगे।

कुमार ने अपना ध्यान अपने डब्बे तक सीमित कर लेना चाहा। एक राजनीतिक बहस। अगले चुनाव के बाद महाराष्ट्र का मुख्यमन्त्री कौन होगा? शिवसेना को चुनाव में कितनी सीटें मिलेंगी? बांबे साउथ कान्स्टीचुएंसी से इस बार कौन जीतेगा? एक घुड़दौड़ सम्बन्धी मतभेद। कल की तीसरी घुड़दौड़ में कौन-सा घोड़ा आगे आएगा? इस बार क़ा जैक पाट कितने का होगा?

साथ के डब्बे की समस्याएँ कौन-सी थीं? वहाँ की राजनीति क्या थी?

खटाक् खटाक् खटाक्।

गाड़ी की रफ़्तार धीमी होने के साथ ही वह दरवाज़े की तरफ़ बढ़ने लगा। फिर भी उतरनें में उसे काफ़ी समय लगा। उतरकर साथ के डब्बे में देखा, तो श्यामा कहीं नज़र नहीं आई। गाड़ी ह्विसल देकर आगे चल दी। अब श्यामा के टिकट का क्या होगा?

'गाड़ी में कुछ खो गया है क्या?' उसने घूमकर देखा। श्यामा उसके पास ही खड़ी थी।

'तुम उतर गईं? मैं तो सोच रहा था कि...।'

'सोच रहे थे और देख नहीं रहे थे। मैं तुमसे पहले से उतरकर खड़ी हूँ।'

कुमार ने टिकट निकालकर उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। 'उस वक़्त जल्दी में तुम्हें दे नहीं सका। अभी दो-चार मिनट में दूसरी गाड़ी आ जाएगी।'

'यहाँ कोई बैठने की जगह नहीं है?'

'यहाँ?'

'नहीं है?'

'स्टेशन के बाहर बहुत-सी जगहें हैं।'

'तुम्हारा घर दूर है?'

'दूर ही है। बस से पन्द्रह मिनट का रास्ता है।'

'और टैक्सी से?'

'छह-सात मिनट का।'

श्यामा की उँगलियाँ टिकट के किनारों पर घूम रही थीं। जैसेकि उसकी धार देख रही हों। उसकी आँखें इंडीकेटर की सूइयों पर रुकी थीं।

'घर चलोगी?'

इंडीकेटर से हटकर श्यामा की आँखें इंडीकेटर की ही तरह उसकी आँखों में देखने लगीं। 'तुमने क्यों नहीं कहा चलने के लिए?'

कुमार को लगा वह स्वर बेबसी का है। वैसा स्वर श्यामा के मुँह से पहले नहीं सुना था।

'तुमने कहा था तुम्हें लौटने की जल्दी है।'

'फिर भी एक बार तुम कह तो सकते ही थे।'

कुमार ने इस बार बच्चे का हाथ पकड़ने की तरह उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। 'आओ चलें।'

पर श्यामा के पाँव उतने से नहीं चले। शायद अपना स्वर स्वयं उसे भी खल गया था। 'आने-जाने में कुल कितना समय लग जाएगा?'

कुमार के हाथ का दबाव बढ़ गया। 'आने-जाने में कुल बीस मिनट और वहाँ तुम जितनी भी देर रुको।'

श्यामा फिर इस तरह चली जैसे बहुत आहिस्ता से पैरों की ब्रेक खुल पाई हो। 'चाहती थी एक बार चलकर देख लूँ कहाँ रहते हो, किस तरह रहते हो। अगर आध-पौन घंटे में लौट सकूँ, तो ठीक है। सात से पहले घर पहुँच जाऊँगी।'

कुमार ने सिर हिला दिया।

एक पुराने बँगले में गैराज के ऊपर का कमरा। लकड़ी का ज़ीना इतना सड़ चुका था कि पहली पैड़ी पर क़दम रखते ही श्यामा ठिठक गई। 'इस शहर में भी इस तरह के ज़ीने बचे हैं क्या?'

कुमार जल्दी-जल्दी ऊपर चढ़ गया। जैसे यह बताने के लिए कि ज़ीना फिर भी काफ़ी मज़बूत है। श्यामा सँभाल-सँभालकर क़दम रखती चढ़ी। 'इससे तो ऊपर जाकर ठिकाना नहीं कि वापस नीचे उतर भी सकेंगे या नहीं।'

कुमार ने ताला खोलकर साँकल हटा दी। 'आजकल के फ़्लैट्स से मुझे फिर भी ज़्यादा पसन्द है। ऐसी जगह रहकर आदमी कम-से-कम अपने में अपनी तरह तो महसूस कर सकता है।'

दरवाज़ा खुल गया था। श्यामा ने अन्दर क़दम रखकर देखा। एक बड़ा-सा पलंग। तीन-चार उतनी ही बड़ी-बड़ी गद्देदार कुरसियाँ। शेल्फ़ में और मेज़ पर बहुत-सी बेतरतीब किताबें। एक कोने में रखी मेज़ पर स्टोव और चाय का सामान। मोज़े, टाइयाँ और पता नहीं क्या कुछ बिस्तर पर। लगता था कई दिनों से कमरा बुहारा नहीं गया। उसे मंडी के अपने क्वार्टर और इस कमरे में काफ़ी समानता लगी। जब से सिन्दूरी को निकाल दिया था, उसके घर की भी लगभग यही हालत रहती थी। 'कोई नौकर नहीं रखा?' उसने पूछ लिया।

'एक बहुत अच्छा नौकर था। पर वह इस बात से नाखुश होकर छोड़ गया कि उसके लिए इस घर में काफ़ी काम नहीं है।'

एक कुरसी से कपड़े हटाकर उसने श्यामा के लिए बैठने की जगह कर दी। पर श्यामा बैठने से पहले बाहर बालकनी पर चली गई। नीचे थोड़े फ़ासले पर सड़क के उस तरफ़ समुद्र था। ढलते दिन का पीलिया हर चीज़ पर फैल गया था। बड़ी-बड़ी मछलियों-से साए सड़क के आरपार फैले थे। सड़क पर गाड़ियाँ थीं, लोग भी थे, फिर भी लग रहा था जैसे समुद्र और बालकनी के बीच सिवाय खालीपन के कुछ न हो।

वह लौटकर कमरे में आई, तो देखा कुमार ने स्टोव पर केतली रख दी है और स्लाइस काटने की कोशिश कर रहा है। स्लाइस बहुत भद्दे ढंग से कट रहे थे, रोटी दाना-दाना होकर बिखर रही थी। श्यामा सीधे उसके पास चली गई।

'लाओ, मैं काट देती हूँ', उसने कुमार के हाथ से चाकू ले लिया।

'मुझे आज तक रोटी काटना नहीं आया,' कुमार झेंप मिटाने के लिए हँसने लगा।

'तुम बैठ जाओ। मैं चाय बनाकर ले आती हूँ।'

'मैं थोड़ी मदद तो कर ही सकता हूँ।'

'कहा है तुम बैठ जाओ। तुम जिस तरह की मदद करोगे, उसके बग़ैर भी चल सकता है।'

कुमार कुरसी पर आ गया। श्यामा ने नए स्लाइस काटकर मक्खन लगाया और प्यालियाँ धोकर उनमें चाय डाल ली। फिर इधर-उधर देखकर पूछा, 'दूध कहाँ है?'

कुमार उठ खड़ा हुआ। 'दूध शायद नहीं है। मैं अभी जाकर ले आता हूँ।'

'अब रहने दो। इसी तरह पी लेंगे।' श्यामा प्लेट और प्यालियाँ ट्रे में रखकर ले आई। 'रखने की कोई जगह भी तो नहीं है,' उसने पूरे कमरे पर फिर एक नज़र डाल ली। 'अब कह दो कि अभी जाकर एक तिपाई ले आता हूँ।'

'तिपाई है,' कुमार ने जाकर कोने में रखी तिपाई से जल्दी-जल्दी किताबें हटाईं और उसे उठाकर पलंग और कुरसियों के बीच ले आया। 'यह लो।

ट्रे रखकर श्यामा पलंग पर बैठ गई। 'मैं सोचती थी, मैं ही इस तरह फूहड़ ढंग से रहती हूँ। पर तुम तो मुझसे भी...।'

उनकी आँखें देर तक मिली रहीं। जैसे कोई शुरुआत होने को थी जिसकी दोनों को प्रतीक्षा थी।

'इस घर में मच्छर-अच्छर बहुत होंगे।'

'हाँ, बहुत हैं।'

'फिर भी नींद आ जाती है?'

'आ ही जाती है।'

एक अर्ध-विराम। कुरसी और पलंग के बीच के शून्य में वही प्रतीक्षा।

'शाम को दफ़्तर से लौटकर क्या करते हो?'

'कुछ भी नहीं।'

'कुछ भी नहीं माने?'

'माने कुछ भी नहीं। पहले पढ़ा करता था। अब पढ़ना भी छूट गया है!'

'किसी से दोस्ती नहीं है?'

किस तरह की?'

'किसी लड़की के साथ?'

'वह दोस्ती यहाँ इतनी आसानी से हो जाती है और इतनी मामूली शर्तों पर कि मन उससे ऊब गया है। सिर्फ़ एक दोस्ती है जिसके सहारे चल जाता है।'

'किसके साथ?'

'किसी स्त्री या पुरुष के साथ नहीं।'

'तो किसके साथ?'

'तुम हँसोगी।

'फिर भी?'

'आसपास की आवाज़ों के साथ। समुद्र की आवाज़, ट्रैफ़िक की आवाज़, बच्चों के खेलने की आवाज़। और भी तरह-तरह की आवाज़ें। उनसे लगता है ज़िन्दगी चल रही है।'

एक और अर्ध-विराम। दोनों की आँखें एक-दूसरे से हटकर कमरे में कोई दूसरा सहारा खोजती रहीं।

'नौकरी में मन लग गया है?'

'नहीं।'

'तो यहाँ से भी छोड़ दोगे?'

'नहीं, छोड़ने की बात अब नहीं सोचता। कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई नौकरी तो करनी ही है।'

'उसे पास क्यों नहीं रखते?'

'किसे?'

'जिससे ब्याह किया है।'

'बुलाया था उसे।'

'फिर?'

'निभा नहीं।'

'क्यों?'

'नहीं निभा।'

'इस तरह अपनी तो ज़िन्दगी ख्वार कर ही रहे हो, साथ में उसकी भी।'

'सिवाय अपने आदमी किसी की ज़िन्दगी ख्वार नहीं करता,' कुमार के स्वर में तीखापन आ गया। 'अगर किसी को लगता हो उसकी ज़िन्दगी दूसरे की वजह से ख्वार हो रही है, तो उसे बदल लेने का हक उससे किसी ने नहीं छीना।'

'यह इतना ही आसान है क्या?' श्यामा को लगा उसका स्वर अस्वाभाविक हो गया है।

'आसान नहीं है, यह भी एक झूठा विश्वास नहीं? दो आदमी जिस आसानी से ज़िन्दगीभर के रिश्ते में अपने को बाँध सकते हैं, उसी आसानी से उससे मुक्त क्यों नहीं हो सकते? इसलिए कि बाँधने में उन्हें समाज का समर्थन प्राप्त था और मुक्त होने में वे अपने को अकेले महसूस करते हैं?'

श्यामा की आँखों में विद्रोह और तिरस्कार का भाव आया, जो तुरन्त ही आत्मीयता के भाव से ढक गया। 'देखो, मैंने उसे देखा नहीं और न ही उसके बारे में कुछ जानती हूँ। न जानने के कारण विश्वास ही नहीं होता कि कोई है जिसके साथ तुमने उस तरह की स्थिति को भोगा है या उसके बीच से होकर निकले हो। पर यह तुम कैसे कहते हो कि दो व्यक्ति उस विशेष सम्बन्ध से एक-दूसरे के निकट आने, साथ रहने और कई-कई क्षण साथ बाँटने के बाद भी एक-दूसरे से कोरे हो सकते हैं?'

कुमार श्यामा के चेहरे के उतार-चढ़ाव को देखता कुछ देर चुप रहा। फिर बोला, 'एक बात पूछूँ?'

श्यामा ने आँखें झपक लीं।

'तुम इस तरह अपनी ही ज़िन्दगी की वकालत नहीं कर रहीं?'

'मैं डर रही थी, तुम यही बात कह दोगे,' श्यामा का भाव पहले से स्थिर हो गया। 'मैं इन्कार नहीं करती कि मेरे यह कहने के पीछे मेरी अपनी ज़िन्दगी है। पर तुम विश्वास के साथ कह सकते हो कि अकेले रहकर भी तुम उस ज़िन्दगी से कोरे हो सके हो? आज यहाँ बैठकर बात करते हुए भी तुम उसके प्रभाव से मुक्त हो? ऐसा होता, तो तुम्हारे स्वर में इतनी कड़आहट न होती।'

कुमार के चेहरे पर फिर विकृत-सी मुसकराहट फैल गई। 'बात लम्बी हो जाएगी,' वह बोला। 'और तुम्हारे पास समय नहीं है। तुम्हें याद दिला दूँ स्टेशन से आए हमें पौन घंटे से ज़्यादा हो चुका है।'

'मुझे पता है,' श्यामा ने प्याली रखकर रूमाल से मुँह पोंछ लिया। 'उस तरफ़ मैं वक़्त से बँधी हूँ, तो इस तरफ़...किसी-न-किसी चीज़ से इस तरफ़ भी तो बँधी ही हूँ।'

कुमार की मुसकराहट हल्की खुश्क हँसी में बदल गई।

'हँसने की क्या बात है इसमें?'

कुमार जिस तरह उसे देखता रहा, उससे श्यामा की आँखें झुक गईं।

'जो बात मन में है, कह क्यों नहीं देते?'

'यह सच है आदमी किसी भी सम्बन्ध से कोरा नहीं होता। फिर भी कुछ सम्बन्धों को सम्बन्ध मानने से डरता ज़रूर रहता है।'

श्यामा आँखें मूँदकर कुछ देर सिर पीछे किए रही। कुमार उसकी गरदन की हिलती लकीरों में उमड़ते भाव को देखता रहा।

'डरने की बात सही नहीं है,' श्यामा ने आँखें खोल लीं। पल-भर कुमार के चेहरे की बढ़ती बेसब्री को देखती रहकर बोली, 'असल बात कुछ दूसरी ही है।'

'असल बात हमेशा कुछ दूसरी ही नहीं होती? हमेशा?'

'मैं तुम्हें समझा नहीं सकूँगी क्योंकि हर बात शब्दों में नहीं कही जा सकती।'

'बचने के सौ-सौ बहानों में से एक यह भी नहीं है?'

'नहीं, बहाना नहीं है यह। हो सकता है मुझी को शब्द नहीं मिल रहे। पर मैं तुमसे एक बात जान सकती हूँ?'

'पूछ तो सकती ही हो।'

'तुमने ब्याह क्यों किया था?'

कुमार इस तरह हो रहा जैसे इसके बाद अब उसे उठ जाना हो।

'सिर्फ़ इसलिए कि यह भी करके देख लिया जाए, या मन में अपने को उस ज़िन्दगी के लिए तैयार कर लिया था?'

कुमार उठा नहीं। उसका एक हाथ तिपाई पर श्यामा के हाथ के बहुत पास रखा था। वह हाथ थोड़ा पीछे हट गया। उसके अन्दर एक लकीर-सी खिंच रही थी। उसे हर चीज़ से वितृष्णा होने लगी...अपने-आपसे, श्यामा से और उस क्षण से, जिसमें यह बात उससे पूछी जा रही थी।

'दूसरा सवाल तुम्हारा फिर वही होगा कि किया था, तो निभा क्यों नहीं सके? मैंने ब्याह किया था, अपनी इच्छा से, पर एक समझौते के रूप में। करने का कारण शायद वह उतावलापन ही था जिसका दोष तुम मुझ पर लगाती हो। पर समझौता छह महीने से ज़्यादा नहीं चल पाया, इतनी-सी बात है।'

श्यामा जितना सुन रही थी, उससे ज़्यादा अपनी आँखों के हर क्षण बदलते भाव से कहना चाह रही थी। 'यह केवल एक पक्ष है, तुम्हारा पक्ष। पर दूसरे का भी तो अपना पक्ष हो सकता है।'

शब्दों की अदालती ध्वनि ने कुमार की बेसब्री और बढ़ा दी। 'उसका पक्ष इतना ही था कि किसी ने बहुत दिन लटका रखने के बाद उससे कन्नी काट ली थी और वह जल्दी-जल्दी ब्याह करके उस व्यक्ति को छोटा करना चाहती थी। वह उद्देश्य पूरा होने के साथ ही उसके लिए ब्याह का उद्देश्य समाप्त हो गया था। शेष था एक नए व्यक्ति के साथ रात-दिन जूझना जिसके लिए सिवाय विरोध के उसके मन में कोई भावना नहीं थी।'

'वह पहले से तुम्हें जानती नहीं थी?'

'ब्याह से चार महीने पहले तक परिचय नहीं था। उसके पिता के एक मित्र मुझे जानते थे। उनके सुझाव पर ही दोनों ने पहली बार एक-दूसरे को देखा था। देखने के बाद मैंने उस व्यक्ति को लिख दिया था कि मेरी इस सम्बन्ध में रुचि नहीं है। उस पत्र का उत्तर उस व्यक्ति की ओर से नहीं आया। उत्तर आया इसकी ओर से। लिखा था केवल एक बार चेहरा देखकर व्यक्ति किसी के बारे में राय कैसे बना सकता है? वह शायद मेरी समझौते की ही भावना थी जिसने मुझसे उस पत्र का उत्तर दिला दिया। उसके बाद उसके कई पत्र आए। पत्रों की भाषा बहुत अच्छी थी। एक पत्र की इतनी अच्छी कि उसे पढ़कर ही मैंने ब्याह की स्वीकृति भेज दी। यह पता बाद में चला कि वह भाषा किन-किन पुस्तकों से नकल की गई थी। उनमें से अधिकतर पुस्तकें उसे भेंट में दी गई थीं—पहले परिचय के दिनों में, उसी व्यक्ति द्वारा।'

श्यामा जड़ होकर उसे देख रही थी। बहुत प्रयत्न से वह शब्द होंठों पर ला पाई। 'फिर भी जब चाहकर उसने तुमसे ब्याह किया था, तो...?'

'इसका उत्तर तुम्हें वही दे सकती है, मैं नहीं। मुझे उससे सिवाय शरीर के कुछ नहीं मिला। उसे भी मुझसे केवल इतना ही मिला होगा। केवल इतने के भरोसे साथ-साथ जीवन वह शायद ढो सकती थी। मुझसे नहीं ढोया गया।'

'लेकिन...।'

श्यामा के स्वर में कुछ था, अपराध-सा, जिससे कुमार ने अपने से बाहर आकर एक बार उसे देख लिया।

'लेकिन?'

'यह कैसे कह सकते हो कि सिवाय शरीर के तुम दोनों के सम्बन्ध में और कुछ नहीं था?'

'और जो था, वह था केवल एक डर। बात अपने तक रहे, किसी को पता न चले। जितना सड़ना है, अन्दर-ही-अन्दर सड़ो। जो ज़हर चखना है, अन्दर-ही-अन्दर चखो। उसी सड़ाँध और ज़हर से बच्चे पैदा करो और उन्हें भी उसी ढंग से जीने की शिक्षा दो। अपनी स्वाभाविकता के साथ विश्वासघात करो और ऐसा करने की परम्परा को बनाए रखो। जिनसे निभता है, निभ जाता है। मुझसे नहीं निभ सका। उससे कहीं आसान है आठ घंटे मशीन की तरह दफ़्तर में काम करना और नींद आने तक किसी-न-किसी शोर में मन को डुबा रखना। आज को कल करने की समस्या इस तरह भी हल हो जाती है और कुछ बेहतर ढंग से ही हल हो जाती है।'

श्यामा की आँखें बेसहारा हो गई थीं। उन्हें सहारा देने के लिए ही जैसे उसने अपना हाथ बढ़ाकर कुमार के हाथ पर रख दिया। 'यह तुम सचमुच विश्वास के साथ कह रहे हो या..?'

उसकी उँगलियों में भी हल्की धड़कन महसूस की जा सकती थी। कुमार ने कुछ क्षण अपना हाथ पड़ा रहने दिया, फिर आहिस्ता से परे हटा लिया। 'हो सकता है यह सिर्फ़ बौखलाए मन की बकवास ही है और कुछ नहीं। पर यह ज़िन्दगी जानवरों से भी बदतर नहीं कि जिसे आदमी अन्दर से नफ़रत करे, उसके साथ रात-दिन एक घर में रुँधा रहे? जिसके शरीर की गन्ध तक से जी मितलाए, उसके साथ एक बिस्तर में सोने का नाटक करता रहे?'

श्यामा के होंठ सूख गए थे और चेहरा फीका पड़ गया था। वह कुछ क्षण जैसे ठीक से साँस लेने की कोशिश करती बैठी रही। फिर एक दबाव को अपने से परे हटाने की तरह बाँहें झटककर उठ खड़ी हुई। उसे उठते देख कुमार के होंठ सिकुड़ गए। 'सॉरी। मैं भूल ही गया था तुम्हें जल्दी लौटना भी है।'

'मैं जा नहीं रही,' श्यामा कुछ क्षण उसे देखती रहकर स्टोव की तरफ़ चली गई। 'सोचती हूँ एक-एक प्याली चाय और बना ली जाए।'

'लेकिन तुम्हें सचमुच देर हो रही है, इसलिए...।'

'देर तो हो ही रही है। बल्कि हो चुकी है। कुछ और हो जाएगी।'

'पर मैं नहीं चाहूँगा कि मेरी वजह से...।'

श्यामा ने थकी-सी आत्मीयता के साथ उसे देख लिया। 'नहीं, तुम्हारी वजह से नहीं। रुकी हूँ, तो अपनी ही वजह से। तुमने जो कुछ अभी कहा है, उसे सुनकर सोच रही थी कि...।'

वह स्टोव में हवा भरने लगी। उसके स्वर में एक भीगापन था जिससे कुमार उठकर उसके पास आ गया। 'क्या सोच रही थीं?'

ठक् ठक् ठक्...पंप को धकेलता हाथ और जलते स्टोव का तेज़ होता शोर। श्यामा ने उसकी तरफ़ आँखें नहीं उठाईं। 'तुम बैठे रहो वहीं। मैं अभी चाय बनाकर ला रही हूँ।'

कुमार फिर भी रुका रहा। 'लेकिन मुझे जानना चाहिए न...।'

श्यामा की आँखों में एक लपक उठकर मद्धिम पड़ गई। 'क्या जानना चाहिए?'

'कि एकाएक तुम्हारा भाव इस तरह का क्यों हो गया?'

श्यामा केतली चढ़ाकर चायदानी साफ़ करने लगी। इस तरह अभ्यस्त ढंग से जैसे वहाँ खड़े होकर वह सब करना रोज़ का काम हो। कुमार ने केतली छुड़ाकर उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। 'बताओगी नहीं?'

'क्या?'

'कि एकाएक तुम्हें...?'

'मुझे कुछ भी नहीं हुआ एकाएक,' श्यामा ने हाथ छुड़ा लिया। 'तुमसे कहा है तुम वहाँ जाकर बैठो।' और वह जाकर तिपाई से प्यालियाँ उठा लाई।

'अगर तुम्हें मेरी बात से यह लगा है कि...।'

'मुझे तुम्हारी बात से क्या लग सकता था?' श्यामा लगातार आँखें झपक रही थी और अन्दर से उमड़ आती किसी चीज़ को पी जाने की कोशिश में थी।

'मैं अपने जीवन की दुर्घटना को लेकर तुम्हें दोषी नहीं ठहरा रहा था।'

बेसिन में नल के खुलने और बंद होने की आवाज़। प्यालियों के धुलने की आवाज़।

'मैं तुम्हारी दुर्घटना के विषय में नहीं सोच रही थी।'

'अगर यह सोच रही थीं कि एक पुरुष के रूप में मैंने...।'

'संसार में तुम्हीं एक पुरुष नहीं हो।' धुली चायदानी में चाय की पत्ती और ऊपर से उबलता पानी। 'मैं जो बात सोच रही थी, वह किसी और ही को लेकर थी। सोच रही थी कि उस आदमी ने भी मन में जाने क्या सोचकर एक लड़की से ब्याह करने की हामी भरी थी। पर बाद में चलकर उस लड़की से उसे...।'

'तुम्हारा मतलब है...?'

चायदानी ढकने से ढक गई। श्यामा की आँखों ने फिर इधर-उधर दूध की खोज की और नए सिरे से निराश हो गई। 'मतलब तुम समझ ही रहे हो। हम दोनों भी बहुत दिन साथ-साथ रहे थे, परन्तु लगभग ऐसी ही स्थिति में। देव पहले दिन से ही मेरी ओर से जिस तरह उदासीन रहा, सोच रही थी कि उसका कारण...उसका भी कारण क्या यही नहीं था? उसने कभी इस तरह बौखलाकर बात नहीं की, मुझे छोड़कर अलग भी नहीं हुआ, पर बहुत कुछ है जिससे अनुमान हो सकता है कि उसकी ख़ामोश मृत्यु का कारण—वास्तविक कारण...।' वह प्यालियों में चीनी डालने लगी। पर चीनीदानी और चम्मच, दोनों उसके हाथों में काँप रहे थे। कुमार ने चाय प्यालियों में उँडेलनी चाही, तो उसने रोक दिया। 'तुमसे कहा है तुम वहाँ जाकर बैठ जाओ।'

खिड़की के बाहर आकाश का रंग राख-जैसा था जो काँपता हुआ अब गाढ़ा होता जा रहा था। खुट्‌ खुट्‌ खुट्‌ जाने कहाँ पर एक खुटकबढ़ैया किसी काठ को चोंच से काट रही थी। कुमार आकर कुरसी पर बैठ गया। सामने एक दरार थी जो आकाश के काँपते रंग के साथ-साथ काँप रही थी। उसे आश्चर्य हुआ कि वह दरार आज तक उसे क्यों नज़र नहीं आई, हालाँकि वह कुरसी के बिलकुल सामने थी और वह रोज़ कितनी-कितनी देर उस कुरसी पर बैठा रहता था। दरार से हटकर उसकी आँखें श्यामा की पीठ पर स्थिर हो रहीं। श्यामा जिस मानसिक स्थिति में थी, उसका बहुत कुछ अनुमान उसकी पीठ से हो रहा था। उसे उस दिन की याद आई जिस दिन खेतों में से गुज़रते हुए उस पीठ पर बनी बूँदों की जालियाँ देखी थीं। उस दिन उन जालियों के नीचे खाल के रूखेपन में एक बेचैनी-सी महसूस हुई थी। पर इस समय न तो वे जालियाँ थीं, न ही उस तरह की बेचैनी। फिर भी कोई चीज़ वहाँ छटपटा रही थी और छटपटाते हुए धीरे-धीरे निढाल पड़ती जा रही थी।

श्यामा प्यालियाँ लिए हुए आई, तो उसकी आँखों में एक बीमार-सा सूनापन था। प्याली देने के लिए बढ़ा हुआ हाथ भी जैसे उसका नहीं, किसी और का था।

एक लम्बी ख़ामोशी में चाय पी ली गई। चाय पीते हुए दोनों एक-दूसरे के सामने बैठे दो अभियुक्त थे...अपने-अपने लिए भी और एक-दूसरे के लिए भी।

पहली बात श्यामा ने की। प्याली रखते हुए उसी तरह रुमाल से मुँह पोंछकर। 'सचमुच देर हो गई है, इसलिए सोचती हूँ अब मुझे चलना ही चाहिए। ऐसा न हो उस दिन की तरह आज भी...।'

कुमार की ख़ामोशी फिर भी बनी रही। शब्द उसके दिमाग़ में धीरे-धीरे आकर जुड़े। फिर उसने पूछ लिया, 'उस दिन कोई ख़ास बात हुई थी?'

श्यामा ने एक बार पलकें झपक लीं। 'नहीं' ख़ास बात कुछ नहीं हुई। ऐसे ही...।' और वह चलने के लिए उठ खड़ी हुई।

'तुम सचमुच जाना चाह रही हो?'

'सचमुच नहीं तो क्या?'

कुमार ने अनजाने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया, जैसे उसे रोकने के लिए। पर साथ खुद भी उठ खड़ा हुआ।

'ठीक है। अगर लौट जाने का ही तय किया तुमने, तो जाने से पहले फ़ोन करोगी एक बार?'

'कह नहीं सकती। कब जाऊँगी, इस पर है। अगर कल-परसों ही जाने का तय कर लिया, तो...।'

कुमार के हाथ का दबाव बढ़ गया। 'इसका मतलब है तुमसे अब भेंट होने की सम्भावना नहीं।'

श्यामा का सिर हिलने के साथ उसका हाथ हटने लगा, तो श्यामा ने अपने हाथ के दबाव से उसे रोक लिया। 'एकाध दिन तो सामान बाँधने में ही चला जाएगा। आते हुए इतना सारा सामान साथ उठा लाई थी। फिर बेबी के लिए कुछ शापिंग भी करूँगी शायद।'

कुमार की उँगलियाँ उसकी उँगलियों में उलझ गईं। 'एक बात तुमने नहीं बताई।'

श्यामा सुनने के लिए देखती रही।

'वहाँ से छोड़कर यहाँ आ जाने की बात तुमने क्यों सोची थी?'

'वहाँ अपने-आपको सहना मुश्किल पड़ रहा था, इसलिए।'

'तो फिर लौटकर जाने से स्थिति वही नहीं रहेगी?'

श्यामा की आँखें भर आने को हुईं, पर अपने को रोकने के लिए उसने सिर हिला लिया। 'स्थिति तो जो थी, वही रहेगी।'

'तो?'

'फिर भी लौट जाना है।'

'क्यों?'

'क्योंकि मन हो रहा है ऐसा।'

कुमार ने अब उसके दोनों हाथों में उँगलियाँ उलझा लीं। 'पर क्यों हो रहा है?'

'क्योंकि...पता नहीं। सोचा था मन लग जाएगा यहाँ। नहीं लगा।'

'पर थोड़ी देर पहले तुमने कहा था कि और भी कुछ सोच रही हो...अभी तय नहीं है।'

'नहीं...तय ही है अब।'

'वजह उस घर के लोग हैं या...?'

'जो भी सोच लो।'

'पर तुम खुद क्या सोचती हो?'

'मैं?...मैं तो जब भी सोचने लगती हूँ, मुझसे कुछ भी सोचा नहीं जाता।'

'उस दिन की कुछ बात कह रही थीं तुम। उस दिन उन लोगों से किसी बात पर झगड़ा हुआ था?'

श्यामा के होंठ काँपकर रह गए। कहा उसने कुछ नहीं।

'इसका मतलब है मेरा अंदाज़ा गलत नहीं हैं।' कुमार के हाथों की कसन बढ़ गई।

'क्या अंदाज़ा ग़लत नहीं है?'

'कि तुम मन में इस निष्कर्ष तक पहुँच गई हो कि तुम्हारा अब उन लोगों के साथ कुछ भी साझा नहीं है...कि किसी तरह की साझेदारी बना रखने की चेष्टा अपने में एक धोखा है। पर इतने दिन उस धोखे में काट लेने के बाद तुम्हारा स्वाभिमान ही इसे स्वीकार करने से तुम्हें रोकता है।'

श्यामा ने अपने हाथ छुड़ा लेने की कोशिश की, पर कुमार ने छुड़ाने नहीं दिए। 'तुम्हारी कोशिश यहाँ से दूर जाकर फिर किसी तरह उस धोखे को बनाए रखने की ही नहीं है?'

हथेलियों से हथेलियों में जाता एक प्रश्न और कसमसाती खाल। 'हाथ छोड़ दो,' श्यामा अनुरोध के साथ फुसफुसाई। कुमार की उँगलियों के जाल में उसकी उँगलियाँ दर्द कर रही थीं।

'तुम समझती हो इस तरह के धोखे में ज़िन्दगी काट देना सचमुच बड़ी बात है?'

'ज़िन्दगी अब बची ही कितनी है जो...।' श्यामा ने अब काफ़ी ज़ोर लगाकर अपने हाथ अलग कर लिए। पर कुमार के काँपते हाथ उसकी बाँहों पर कस गए। 'यह भी धोखे का तार और फैलाने की ही कोशिश नहीं है?'

कुमार की साँस तेज़ हो रही थी और चेहरा एक स्त्री को पा लेने के पुरुष-भाव से जड़ होता जा रहा था। श्यामा के शरीर में एक-साथ सहानुभूति और वितृष्णा की झुरझुरी दौड़ गई। उसकी बाँहें थोड़ा उसके वक्ष की ओर सिमट गईं। 'देखो, अब मुझे चलना चाहिए।'

'क्यों चलना चाहिए?' कुमार का स्वर काँपने लगा। 'तुम्हें विश्वास नहीं है कि तुम सचमुच से जाना चाहती हो। तुम जानती हो, ज़िन्दगी अन्तिम दिन तक जी जाती है। तुम भी उतना ही जीना चाहती हो जितना मैं या कोई और व्यक्ति। इसलिए तुम्हारे इस हठ के कोई माने नहीं हैं।'

कुमार के बहुत पास आ गए चेहरे को श्यामा ने फिर भी शब्दों से ही परे हटाने की चेष्टा की। 'आदमी जो कुछ भी करता है, जीने के लिए ही करता है। पर एक और दूसरे के लिए जीने का अर्थ अलग-अलग हो सकता है।'

'तुम्हारे लिए जीने का अर्थ क्या है? जैसे-कैसे जीवित रह लेना?'

'और तुम जीने का अर्थ केवल यह समझते हो कि...?' पर श्यामा की बात उसके संघर्ष में खो गई। पहले उसने अपने पैरों का सन्तुलन बनाए रखने का प्रयत्न किया क्योंकि कुमार की बाँहों ने एकाएक उसे अपने में कस लिया था और उसके होंठों को बार-बार चूमते दो होंठ लगातार धौंकनी के-से स्वर में कहे जा रहे थे, 'जीने का अर्थ है...जीने का अर्थ है...।' फिर उसका संघर्ष एक पुरुष के आवेश से बचने के संघर्ष में बदल गया। वह अब अपने पैरों पर नहीं थी, एक शरीर के बोझ के नीचे बिस्तर पर थी जबकि आँख, कान, नाक, होंठ, इन सबके आसपास वही शब्द दाँतों की चुभन के साथ बुदबुदाए जा रहे थे...'जीने का अर्थ है...जीने का अर्थ है...।'

एक अँधेरा-सा था। उस अँधेरे में उसका सिर चकई की तरह घूम रहा था। लगता था अभी वह किसी चीज़ से टकरा जाएगी। परन्तु टकराने का क्षण आ-आकर निकल जाता था। दो हाथ थे जो उसकी पीठ और कन्धों की खाल में कुछ टटोल रहे थे। जैसे कि खाल के अन्दर उन्हें हड्डियों के जोड़ों को छू लेना था। दो घुटने थे जो उसके घुटनों के ऊपर जाँघों के मांस को गूँध रहे थे। 'जीने का अर्थ है...।' उन घुटनों की कोशिश थी अपनी टकराहट से उसे उधेड़ देने की। उसे निर्णय लेना था। अभी। इसी क्षण। एक क्षण की अतिरिक्त देर होने से पहले।

अँधेरा। अँधेरा घूम रहा है। वह घूम रही है। गाड़ी में शरीर से सटी भीड़ और साथ सटती जा रही है। 'कोई बात नहीं। ऐसा भी हो जाता है कभी।' देव के चेहरे पर कोई शिकन नहीं है। सीमा गाल पर हाथ रखे चिल्ला रही है, 'यू...यू...यू...।' मिसेज़ सोहनसिंह बात किए जा रही हैं, 'आई से शामो...!' बेबी बीजी की गोदी में सो गई है। सीमा का इयर रिंग दरवाज़े के पास पड़ा है। टेलीफ़ोन पर कुमार का नम्बर नहीं मिल रहा। देव की मरने के समय की टकटकी जिसके सामने कुछ भी नहीं है।

कुमार की बस के आने का समय हो चुका है। सीमा आईने के सामने खड़ी ब्लाउज की हुकें खोल रही है। खाल में धँसी-सी उसकी रीढ़ के नीचे छोटे-छोटे रोएँ हैं। टब के गुनगुने पानी में बुलबुले उठ आए हैं। अँधेरे में आईने के अन्दर से एक नंगा शरीर उसे ताक रहा है। 'ममी दो-चार दिन कुढ़ लेंगी, फिर अपने-आप ठीक हो जाएँगी।' एक लम्बी शाम और अकेला बरामदा। केतली में पानी खौल गया है, पर दूधदानी में दूध नहीं है। 'कौन है जिसे वहाँ दशहरा देखने के लिए बुलाया था?' देव ने कपड़े उतार दिए हैं और चुपचाप उसके शरीर को बाँहों में जकड़ लिया है। वह तौलिए में मुँह लपेटे खिड़की के पास खड़ी है। रमेश्वरी की हँसी रुकने में नहीं आती। 'कहती थी आजकल एक नया तजरुबा कर रही हूँ।' सीमा उसके ऊपर झुक आई है। उसकी साँसों में वैसी ही गन्ध है जैसी...देव दोस्तों के साथ कहीं चला गया है और उसके लौटने का पता नहीं है। 'तुम अभी नई आई हो, इसलिए...।' पुराने वाल-क्लाक में वक़्त बीतता जाता है। रात के दो, तीन, चार। बीजी दरवाज़े के पास खड़ी हैं। रजिस्टर का पन्ना सामने खुला है। उस पर अभी हस्ताक्षर होने वाले हैं। 'फ्रैंकली स्पीकिंग, मैं तुम्हारी सिचुएशन को भी अच्छी तरह समझ सकती हूँ। यू आर स्टिल यंग एंड...।'

कुमार का एक हाथ पीठ से सरकता हुआ बहुत नीचे आ गया था। उसके मुँह पर पता नहीं कितनी जगह दाँतों के निशान बन गए थे। बस यही वह क्षण था, यही। उसने अपनी घुटती साँस को किसी तरह अन्दर खींचा और उस घिर आए शरीर को पूरी शक्ति के साथ परे धकेल दिया।

खिड़की के परदे पर सुबह का हल्का रंग। दूर किसी दरवाज़े पर हल्की-सी दस्तक। कुमार ने बिस्तर से निकलकर खिड़की खोल ली। ताजी हवा के साथ हल्का उजाला कमरे में भर आया। सुबह का वह रंग उसके लिए नया-सा था। रोज़ तो सुबह खिड़की के आर-पार चमकती धूप की शकल में ही होती थी। चौखटे पर कुहनियाँ रखकर वह बाहर को झुक गया। चौखटा ठंडा और गीला था। शायद रात-भर बूँदाबाँदी होती रही थी।

वातावरण में नमी थी—नमी, जो बाहर की ख़ामोशी जैसी ही थी। समुद्र का फैलाव मैला और सपाट लग रहा था। रात-भर के उनींदेपन के बाद सुबह-सुबह जैसे वह बाँहों में सिर छिपाकर सो गया था। दाईं तरफ गिरजाघर का क्रॉस, अपनी रात-दिन की पहरेदारी से ऊबा, जैसे एक लम्बी अँगड़ाई ले रहा था।

कुमार कितनी ही देर खिड़की के पास खड़ा आकाश में घुलते धूप के रंग को देखता रहा। वह रंग एक-एक जर्रे के अन्दर से उमड़ रहा था। हवा में काँपते जर्रे जैसे बिना पंखों के पक्षी थे जो किसी अज्ञात दिशा में उड़े जा रहे थे—एक-दूसरे में घुल-मिलकर भी एक-दूसरे से अलग और एक-एक पूरी दुनिया के दावेदार।

थोड़ी देर में समुद्र का पानी भी सुबह का रंग पकड़कर चमकने लगा। हल्की-हल्की लहरें उसे फिर किनारे की तरफ़ लाने लगीं। गिरजे का क्रॉस कुछ क्षण लहू के रंग में रँगा रहकर अब पीला पड़ रहा था। रोज़ जैसी एक सुबह की शुरुआत उसके लिए भी हो गई थी।

कल सुबह भी इसी तरह एक शुरुआत हुई थी। परसों भी। हर सुबह एक नई शुरुआत की छटपटाहट लिए आती थी। नए सिरे से मन अपने को अपने मनचाहे रूप में ढालने की कल्पना करने लगता था। उस कल्पना को सार्थक करने के लिए नए सिरे से संघर्ष आरम्भ होता था...हालाँकि शाम होने तक फिर वही थकान शेष रह जाती थी...अगली सुबह आने तक की ऊब और उदासी। फिर उस उदासी को छा लेने वाली नींद...लेकिन नींद की दरारों में से झाँकती एक आशा कि शायद आने वाली सुबह आज से कुछ दूसरी तरह की होगी। और अगर आज-जैसी ही होगी, तो अब उससे लड़ने की और कोशिश नहीं की जाएगी। टूटते सपनों की नींद की पहरेदारी में रात काटकर फिर सुबह, फिर उसी तरह किनारे की तरफ़ लौटने का प्रयत्न, फिर वही गिरजे की पहरेदारी, फिर वही बिना पंखों धूप-रँगे आकाश में उड़ने की मजबूरी...।

खिड़की से हटकर वह स्टोव के पास आ गया। चाय का सामान उसी तरह बिखरा था जैसे श्यामा कल छोड़ गई थी। कमरे के अन्दर जैसे कल की शाम उसी तरह रुकी थी...धूप में चमकते और काँपते जर्रों के बावजूद। इस बीच एक रात आकर चली गई थी, लेकिन उस शाम को अपने में समेटकर नहीं ले जा सकी थी। आँखें नींद के खुमार से भारी थीं। रात-भर नींद आई ही नहीं थी। रात जैसे आकर भी कमरे की दहलीज़ नहीं लाँघ सकी थी और अब सुबह खिड़की के बाहर समुद्रतट के उस तरफ़ रुकी थी।

स्टोव के पास से हटकर वह कुरसी पर आ गया। सामने फिर वही दरार थी...कल की रुकी शाम की एक लकीर। तिपाई पर एक प्याली औंधी पड़ी थी जिससे बह आई चाय की तलछट सूखकर वहीं जम गई थी। श्यामा ने जब उसे झटककर अपने को उससे अलग किया था, तभी उसका पाँव टकरा जाने से वह प्याली औंधी हुई थी। वह एक क्षण था, अन्दर के सुलगते भाव के एकाएक राख में बदल जाने का, जब उसे एक-साथ दोनों से घृणा हुई थी...अपने से भी और श्यामा से भी। उसके बाद उसने पाया था कि वह कुरसी पर बैठा है और अपना चेहरा उसने दोनों हाथों से ढाँप रखा है। हथेलियों से उमड़ता एक बियाबान उसे अपने में गर्क किए ले रहा है। एक कुआँ है, बहुत गहरा, जिसके दलदली तल पर पहुँचकर वह दीवार का सहारा लेने की कोशिश कर रहा है। पर जिधर भी हाथ बढ़ते हैं, उधर दीवार नहीं मिलती। पैरों के नीचे का दलदल उसे अपने में लीलता जाता है। बहुत देर उसी तरह बैठे रहने के बाद, जो कि उसके लिए अन्तहीन समय था, उसने आहिस्ता से हथेलियाँ आँखों से हटा लीं। ख़याल था वह घटना तब तक बीत चुकी होगी। श्यामा जा चुकी होगी और उसे कमरे की ख़ाली दीवारें ही सामने नज़र आएँगी। मगर श्यामा गई नहीं थी। लगभग उसके सामने नीचे फ़र्श पर बैठी थी।

उसके देखने पर भी श्यामा ने उसकी तरफ़ नहीं देखा। वह भी जैसे प्याली की तलछट की ही तरह फ़र्श से जम गई थी।

उसने अपने होंठों को हिलाकर देख लिया कि चाहे, तो उनसे शब्द बोले जा सकते हैं। पर बोल कुछ नहीं सका। दोनों तरफ़ की साँस की आवाज़ कानों में जाती रही।

आखिर वह गले में स्वर ले आया। 'मुझे अफसोस है।'

श्यामा ने आँखें उसकी तरफ़ उठा लीं और चुपचाप उसे देखती रही।

वह फिर बोला, 'तुम्हें बहुत देर हो गई है। चलो, मैं चलकर तुम्हें स्टेशन तक छोड़ आता हूँ।'

श्यामा फिर भी उसी तरह देखती रही। जैसे अपने को और आसपास के वातावरण को समझने में उसे कठिनाई हो रही हो। काफ़ी देर बाद उसके होंठ हिले। 'छोड़ने चलने की ज़रूरत नहीं। मैं चली जाऊँगी।'

फिर एक लम्बी ख़ामोशी जिसमें श्यामा की आँखें उसे छीलती रहीं।

'मैं नहीं जानता क्यों मैंने...।'

'तुम जानते हो।'

'नहीं...।'

'तुमने सोचा था मैं इसीलिए आई थी यहाँ।'

'मैंने पहले से सोचकर कुछ नहीं किया। फिर भी जो हुआ है, उसके लिए मैं...।'

श्यामा की आँखें हवा के आर-पार कुछ टटोल रही थीं। निचले होंठ पर छलछलाई लहू की बूँद को उसने आँचल से पोंछ लिया। 'इसके लिए क्षमा माँग रहे हो मुझसे?'

'मुझे तुम्हारे साथ इस तरह नहीं करना चाहिए था।'

'मेरे साथ कुछ भी नहीं किया तुमने। क्योंकि जो जितना हुआ, उसमें मैं तुम्हारे साथ नहीं थी। काटने को बच्चे भी काट लेते हैं कभी। जानवर भी काट लेते हैं।'

श्यामा की आँखों को झेलना मुश्किल हो रहा था उसके लिए। खिड़की का परदा खींचने के बहाने वह उठने को हुआ, तो श्यामा ने उसे रोक दिया। 'बैठे रहो। मुझे जाने से पहले एक बात क़हनी है तुमसे।'

उसकी कनपटियाँ धड़क रही थीं। वह घुटने जोड़े उन पर हाथ रखे बैठा रहा।

श्यामा की कुहनियाँ घुटनों पर थीं और चेहरा उलटी हथेलियों पर। वह उसी तरह हवा में देखती बात करती रही। 'मैंने तुम्हें बताया था मैंने उन दिनों तुम्हें पत्र लिखा था अपने यहाँ आने के लिए। तब मेरे मन में कोई रुकावट नहीं थी। उस दिन तुम आए होते, तो सम्भव था कुछ भी हो जाता। मैंने अपने को बचाने का कुछ भी प्रयत्न न किया होता। वैसे यह बात भी गलत है शायद। कहना चाहिए कि मैंने तुम्हें बुलाया ही इसीलिए था कि मैं तुम्हारे साथ इस स्थिति को मन में स्वीकार कर चुकी थी। जो संस्कार मन को रोकता था, वह तब तक टूट चुका था। इस बार भी वहाँ से चली थी, तो शायद यही सबसे बड़ा प्रलोभन मन में था कि तुम यहाँ हो। सब छोड़-छाड़कर यहाँ आ रहने की सोचना...लगता है इसके मूल में यही प्रलोभन था। तुमने एक बार कहा था कि सम्बन्धों को दिए गए सब नाम केवल सुविधा के लिए हैं...वास्तविक सम्बन्ध इतने सूक्ष्म होते हैं, और व्यक्ति-व्यक्ति के साथ इतने अलग, कि उन्हें नाम दिए ही नहीं जा सकते। मैं तुम्हारे और अपने सम्बन्ध को बिना नाम दिए उसमें से सब-कुछ पा लेना चाहती थी। उस दिन फ़ोन पर तुमसे मिलने की बात तय की थी, तब भी काफ़ी हद तक यही सोचती थी। आज भी मिलने आई थी, तो निश्चय नहीं कर सकी थी कि तुम मुझे रोक लेना चाहोगे, तो मैं लौट जाने का आग्रह बनाए रख सकूँगी या नहीं। मन में एक दुविधा थी, पर वह और ही कारण से थी। विश्वास कर सको, तो सचमुच यहाँ से लौट जाने का निश्चय मैंने आज तुमसे मिलने के बाद किया है...परन्तु इसी समय नहीं। यह मत सोचना

कि तुम्हारा इस समय का पागलपन इसका कारण है क्योंकि ऐसा नहीं है। इससे अलग परिस्थिति में यह पागलपन मेरा भी हो सकता था।'

उसने कुछ कहना चाहा, पर श्यामा ने उसे अवसर नहीं दिया। 'तुम्हारे जीवन की परिस्थिति आज बदल गई है, यह भी इसका कारण नहीं। उस परिस्थिति को अस्वीकार करने का अधिकार किसी को भी है...मुझे भी था। परन्तु मैंने देव के रहते उस अधिकार का उपयोग नहीं किया। इसका अर्थ है नहीं करना चाहा। देव ने जीवन-भर कड़वी बात मुझसे नहीं की, फिर भी जानती हूँ मेरे साथ जीवन को लेकर कहीं उसके मन में गहरी वितृष्णा थी। मुझमें उसे वह नहीं मिला जो एक स्त्री से उसे चाहिए था। क्या चाहिए था, यह मैं आज भी ठीक से नहीं सोच सकती। ब्याह से पहले उसने जिंदगी देख रखी थी, इसलिए तुम्हारी तरह स्त्री-शरीर की भूख उसमें नहीं थी। फिर भी कोई भूख थी जो मुझसे नहीं मिट पाई...इसीलिए मरने के दिन तक वह आदमी उदास रहा। मुझे तब लगता था उसने मेरे साथ अपने सम्बन्ध को सम्बन्ध के रूप में लिया ही नहीं...केवल मुझे सहते हुए कुछ वर्ष मेरे साथ काट दिए और चला गया। पर आज तुम अपने विवाहित जीवन की बात कर रहे थे, तो पहली बार मुझे देव की उदासीनता का कुछ-कुछ अर्थ समझ में आया। लगा कि उसने मेरे साथ अपना एक निश्चित सम्बन्ध न माना होता, तो शायद मुझसे उसे उतनी निराशा न होती। यह वह नहीं था जिसने अपना सब-कुछ मुझे नहीं दिया...जिसने अपना बहुत कुछ अपने तक समेटकर रखे रखा, वह मैं थी। मैंने ही पहले दिन से खुलकर अपने-आपको उसे नहीं दिया...उसके साथ सम्बन्ध को 'सहने' का सम्बन्ध मानने की शुरुआत मेरी ओर से ही हुई थी। उसने एक खुला पन्ना मेरे सामने रखा था जिस पर मैं कभी ठीक से हस्ताक्षर नहीं कर पाई। मैंने जो कुछ उसे दिया या देना चाहा, उसमें बहुत कुछ कृत्रिम था। पर उसकी उत्तरोत्तर बढ़ती उदासी कृत्रिम न होकर वास्तविक थी। उसने ब्याह की पहली रात को मुझे एक तौलिए में सिर-मुँह लपेटे देखा था...शायद उसी क्षण से लगातार उसकी मृत्यु होने लगी थी। एक बार उसे किसी से कहते सुना था, 'हम जिन्हें सम्बन्ध कहते हैं, वे केवल एक मंच पर अभिनेताओं के आपसी सम्बन्ध हैं, और कुछ नहीं।' तब यह बात मुझे अपने तिरस्कार की तरह लगी थी। पर आज उसकी दृष्टि से इसकी सचाई समझ में आ रही है। तुममें इतनी निर्ममता है कि तुमने एक अवास्तविक सम्बन्ध से अपने को बिलकुल काट लिया है। उसकी दुर्बलता थी कि वह मेरे साथ निर्मम नहीं हो सका। आज तक सोचती थी सुख मुझे नहीं मिला...देव के कारण। पर इस समय लग रहा है मुझसे कहीं अधिक वंचित व्यक्ति वह स्वयं था और कारण मैं थी। वह टाइफायड से पड़ा था, तो कभी उसने ठीक से दवाई भी नहीं खाई। वह शायद यह चाहता ही नहीं था कि... ।'

श्यामा का चेहरा काफ़ी सुर्ख़ हो गया था और माथे पर पसीना झलक आया था। उसने एक बार अच्छी तरह रुमाल से माथे और गरदन को पोंछ लिया। वह श्यामा के चेहरे को देखता मुश्किल से अपने सूखे होंठों को हिला पाया। 'मुझे सचमुच अफसोस है। पता नहीं क्यों और कैसे एक क्षण आ जाता है जब... ।'

श्यामा ने अपने बालों को सहेजकर एक बार आँखों को भी रुमाल से छू लिया। 'मुझे दुख नहीं है। दुख होता यदि मेरा भी इसमें सहयोग होता...जैसा कि उस बार था। उस बार मैंने ऊपर से बुरा माना था, पर अन्दर से मेरी भूख तुमसे कम नहीं थी। पर आज यह मेरे लिए केवल एक दुर्घटना थी जिसमें मैं थोड़ी चोट खा गई हूँ, बस। इस समय मुझे दुख है, तो और ही बात का है। वह तुम्हारे या अपने लिए नहीं, एक और ही व्यक्ति के लिए है। आज तक सोचती थी धोखा मेरे साथ हुआ है। पर आज सोच रही हूँ वास्तविक धोखा जिसके साथ हुआ, वह अपनी ख़ामोश आँखों से मुझे देखने के लिए इस समय जीवित ही नहीं है।'

एक लम्बा विराम जिसमें दोनों की आँखें काफ़ी देर झुकी रहीं। जब उसने आँखें उठाईं, श्यामा उठकर चलने से पहले उसके अपनी ओर देखने की प्रतीक्षा में थी। 'मैं चल रही हूँ अब। यह मत सोचना कि इस घटना के कारण तुम्हारा तिरस्कार करके या तुम्हारे साथ जितना सम्बन्ध था, उसे तोड़कर जा रही हूँ। पर इस समय तुम मुझे छोड़ने चलो, यह मुझे अच्छा नहीं लगेगा। एहसान मानूँगी अगर तुम मुझे यहाँ से अकेली चले जाने दो।'

वह बिना कुछ कहे उसके साथ दरवाज़े तक आ गया। दरवाज़े के पास श्यामा ने फिर एक बार उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। 'हो सकता है फिर भी कभी तुम्हें आने के लिए लिखूँ। पर आओ, तो कोई ऐसी-वैसी बात सोचकर मत आना।'

औंधी प्याली और चाय की सूखी तलछट। कुमार ने प्याली को सीधा करके तिपाई को अच्छी तरह कपड़े से पोंछ दिया। फिर जाकर प्यालियों को धोया और स्टोव जलाकर चाय का पानी रख दिया। खिड़की के पास आया, तो देखा किनारे का बहुत-सा भाग पानी के अन्दर चला गया है। गिरजाघर के क्रॉस ने भी तब तक रोज़ की तरह गम्भीरता का लबादा ओढ़ लिया था। 'हँहँ!' सूखा अस्पष्ट-सा स्वर उसके मुँह से निकला और वह स्टोव के पास लौटकर चाय बनाने लगा। पर चायदानी में पत्ती डालते हुए उसे अपना हाथ काँपता लगा...उसी तरह जैसे कल श्यामा का हाथ काँप रहा था।

# काँपता हुआ दरिया

# पूर्वभूमि

खालका और उसके परिवार से मेरा परिचय सन् चौवन में हुआ। तब मैं एक तरह से पहली बार कश्मीर गया था। एक तरह से इसलिए कि उससे पहले एक बार बचपन में जा चुका था। उन दिनों की कुछ धुँधली यादें मन में थीं, पर इस बार जाकर जिस कश्मीर को देखा, वह मेरे लिए बिलकुल नया था।

बस स्टैंड पर उतरते ही जो आदमी सबसे पहले मिला, वह अब्दुल कादिर था। धुली हुई कलफदार सलवार-कमीज़ और चुस्त कोट में वह साधारण हाँजी लगता था। बात करने का ढंग भी काफ़ी मँजा हुआ था। पहले मुझे यही लगा कि वह कोई पढ़ा-लिखा नागरिक है, जो मेरे नएपन को भाँपकर मेरी सहायता करना चाहता है।

वह मुझे जेहलम के उस पार अपने हाउसबोट में ले गया। उतने अच्छे और सजे हुए हाउसबोट की मैंने कभी कल्पना नहीं की थी। जो किराया उसने बताया, वह मेरी ज़ेब के लिहाज़ से बहुत ज़्यादा था। मैंने यह बात उससे कही नहीं। बहाने से उससे विदा लेनी चाही। पर उसने मेरे संकोच को भाँप लिया। मुझे अपने साथ इस पार, बन्द के किनारे, एक और बोट दिखाने के लिए ले आया। यह मुझे बाद में मालूम हुआ कि वह बोट उसका नहीं, उसके ससुर खालका का है। यह बोट उतना अच्छा नहीं था और उसमें उन दिनों और कोई नहीं था। एक कमरा मैंने ले लिया, बाक़ी दोनों कमरे ख़ाली रहे, इसलिए काफ़ी अकेलापन-सा लगता था।

खालका का डूँगा, जिसमें खाना बनता था और जहाँ वह अपने परिवार के साथ रहता था, मेरी खिड़की से बिलकुल सटा हुआ था। मेरा खाना और नाश्ता उसी खिड़की के रास्ते कमरे में पहुँच जाता था। वहीं से कभी उन लोगों से बातें भी हो जाती थीं।

उस छोटे से डूँगे में वे पाँच व्यक्ति थे। खालका, उसकी पत्नी बेगम, लड़की नूरा, बावर्ची सिद्दीक और ऊपरी काम-काज करनेवाला लड़का मामदा। पहले मेरा ख़याल था कि सिद्दीक और मामदा खालका के नौकर हैं। बाद में पता चला कि एक रिश्ते में उसका मामूजाद भाई है, दूसरा भांजा।

खालका की बड़ी लड़की नज़्मा की शादी को तब सात साल हो चुके थे।

अगस्त के महीने में श्रीनगर में प्रायः उतनी बारिश नहीं होती, जितनी उस साल हुई। सारा-सारा दिन मुझे अकेले हाउसबोट में बन्द रहना पड़ता था। खालका अक्सर अपनी उसी खिड़की के पास आकर बैठा रहता था, जो मेरी खिड़की से सटी हुई थी। कई बार घंटों हम लोग बातें करते रहते। बाद में कई और हाँजियों से भी मेरा परिचय हुआ है, और बाहर से आनेवाले 'विज़िटर्ज़' के बारे में उनका अपना जो एक नज़रिया रहता है, उसे भी मैं अच्छी तरह जानता था। पर खालका उनसे बिलकुल अलग था। ज़िन्दगी से हारे हुए उस आदमी का ज़िन्दगी के बारे में अपना ही एक दर्शन था। उससे बात करते हुए मुझे लगता जैसे हम कोहरे से घिरी हुई एक वादी में भटक आए हों और कोहरा धीरे-धीरे घना होकर हमारे पूरे अस्तित्व को अपने में समाए ले रहा हो। खालका दमे का मरीज़ था। जब साँस चढ़ जाती थी, तो कितनी-कितनी देर एक शब्द भी नहीं बोल पाता था। तब उसके चेहरे की संजीदगी बढ़ जाती थी और वह बेचैन होकर अपनी हर साँस के साथ संघर्ष करता जान पड़ता था।

जब खालका बात न कर पाता या चादर ओढ़कर लेटा रहता, तो बेगम उसकी जगह ले लेती। बेगम की उम्र तब चालीस के करीब रही होगी, पर शरीर से वह इतनी चुस्त और पुरमज़ाक थी कि उसके सामने आते ही कुहासा छँटने लगता था। खालका में जितनी थकान थी, बेगम में उतना ही आत्मविश्वास था। चेहरे पर हलकी लकीरें पड़ जाने के बावजूद वह बहुत सुन्दर लगती थी। उसके इकहरे शरीर में ढलाव ज़रा भी नहीं आया था। वह जब भी सामने आती, मुझे सीधी तराश की रोमन मूर्तियों की याद हो आती। उसकी सीधी-लम्बी गरदन में खम पड़ते मैंने नहीं देखा। बात करते हुए उसके पतले होंठों पर हर वक़्त एक हलकी मुसकराहट बनी रहती। बेगम को कश्मीर की ज़मीन से, हरियाली से और जेहलम से बहुत प्यार था। जेहलम से और जेहलम के बच्चों से। बुलार झील की वह जब भी बात करती, उसकी आँखें भर आतीं। उसी झील में एक छोटे से डूँगे में वह पैदा हुई थी और वहीं उसका बचपन बीता था। बाद में भी, जबकि वह दो बच्चियों की माँ बन चुकी थी, वह कुछ साल वहाँ रही थी। शब्द 'बच्चा' उसके मुँह से सुनने में बहुत ही सार्थक हो उठता था। जिन बच्चियों की वह माँ थी, वे दोनों अब जवान थीं, फिर भी उतनी सुन्दर नहीं लगती थीं।

बेगम के—और खालका के—दिमाग़ में एक ही बात हर वक़्त छाई रहती थी। नूरा की शादी की। अब्दुल कादिर से वे लोग खुश नहीं थे। उस दामाद ने उन्हें जो तकलीफ़ें दी थीं, उनका बयान करते हुए वे फिर से उन्हीं तकलीफ़ों में जीने लगते थे। पर फिर लड़की को लेकर वे इतने चिन्तित थे, उसे जैसे इन बातों से कोई वास्ता ही नहीं था। नूरा की उम्र उस समय सत्रह या अट्ठारह साल की होगी। शरीर और मन,

दोनों से वह काफ़ी स्वस्थ थी। बहते दरिया में वह उसके बहाव की तरह ही जीना चाहती थी। अपनी सहेली जयश्री की कुछ-एक चिट्ठियाँ खुद उसी ने मुझे पढ़ने को दी थीं। बहुत-सी बातें भी उसके बारे में बताई थीं।

जब और कोई न रहता, तो मामदा और सिद्दीक एक-एक करके मेरे कमरे में चले आते। मामदा सिगरेट माँगने के बहाने आता और कई बार बिना बात देर-देर तक हँसता हुआ खड़ा रहता। उधर से आवाज़ पड़ती, तो कहता कि मेरे कमरे में काम कर रहा है। सिद्दीक दुनियाभर की शिकायतें लेकर आता। ज़्यादा शिकायतें अब्दुल कादिर, नज़मा, नूरा और मामदा को लेकर होतीं। जाते हुए हमेशा कहता, ''अभी और बहुत-सी बातें हैं। कभी फुरसत में आकर बताऊँगा। इस वक़्त बहुत काम है। यहाँ का सारा काम मुझे अकेले को ही करना पड़ता है।''

बेगम बुलार का बहुत ही ज़िक्र किया करती थी, इसीलिए कुछ दिन बाद मैं उसे और सिद्दीक को साथ लेकर एक शिकारे में बुलार की यात्रा पर निकल गया। तीन दिन, तीन रातें हम लोग उस शिकारे में साथ रहे। खाना-वाना सब शिकारे में ही होता था। पहली रात जंगल में, दूसरी सोपुर में और तीसरी फिर जंगल में। बेगम खाना बनाती थी, सिद्दीक शिकारा चलाता था। कभी उसे विश्राम देने के लिए बेगम चप्पू सँभाल लेती थी। रात को मैं बेगम से कहानी सुनाने को कहता। पहली रात उसने लैला-मजनू की कहानी सुनाई। दूसरी रात एक कश्मीरी औरत की। यह पता कहानी सुनते हुए ही चल गया कि वह कश्मीरी औरत वह खुद ही है। जब यह बात मैंने उससे कही, तो बेगम अपने ख़ास ढंग से गरदन तानकर हँस दी। बाद में सिद्दीक मुझे बताता रहा कि जो बातें बेगम ने बताई थीं, उनमें कहाँ और कितना (उसके लिहाज़ से) ठीक था, कितना ग़लत था।

उस रात सोपुर में बेगम ने एक तरह से मेरी जान बचाई। किसी वजह से सोपुर में साम्प्रदायिकता उस समय ज़ोर पकड़े थी। कुछ लोग आधी रात को बेगम से पूछने आए थे कि शिकारे में सोया हुआ 'विज़िटर' हिन्दू है या मुसलमान। बेगम ने बिना ज़रा भी घबराहट या हिचकिचाहट के उनसे कह दिया कि मैं उसका चचाजाद भाई हूँ। बाद में पास आकर धीरे से मुझे मेरा नया नाम-पता भी बता दिया : ''कोई पूछे, तो कह देना—मेरा नाम ज़फ़र है और मैं अनन्तनाग में रहता हूँ।'' सुबह होने से पहले ही उसने सिद्दीक को जगाकर शिकारा खोल दिया। सुबह की पहली किरण हमने झील पर उड़ते सफ़ेद कबूतरों के साथ देखी।

सिद्दीक उस इलाके में आकर बहुत उदास हो गया था। उसका पुश्तैनी घर वहीं था और पुश्तैनी ज़मीन भी, जो कि उसने कुछ अरसा पहले बेच दी थी।

वह सारा रास्ता कोई-न-कोई गीत गाता रहा। कुछ गीत मैंने उससे नोट भी किए। मगर भाषा न जानने के कारण उन्हें ठीक से नहीं लिख सका। अर्थ भी वह

ठीक से नहीं बता सका। बाद में गीत कुछ कश्मीरी मित्रों को दिखाए, तो वे भी शब्दों के साथ अर्थ की संगति नहीं बैठा सके। इसका मुख्य कारण मेरी और सिद्दीक की लिखने और लिखाने की विशेषता ही थी। बाद में कुछ गीत नूरा ने भी लिखाए। पर उनकी भी स्थिति वही रही।*

जब कभी अब्दुल कादिर खालका के डूँगे में आता, वे सब लोग गुमसुम हो जाते। एक बार उसमें और सिद्दीक में ख़ासी झड़प हो गई। उस सिद्दीक ने अब्दुल कादिर के कई क़िस्से बताए। वह चाहता था कि मैं उसे अपने साथ उस 'जहन्नुम से बाहर' ले चलूँ, पर उस बोट से बाहर एक भी दिन टिकना उसके लिए असम्भव था।

चौवन के बाद पचपन, छप्पन, उनसठ और इकसठ में भी मैं कश्मीर गया। हर बार खालका और उसके परिवार से भेंट होती रही—सिर्फ़ इकसठ में खालका से भेंट नहीं हुई। चौवन से इकसठ तक कई बार इस कहानी को उठाने की कोशिश की, मगर किसी-न-किसी कारण से हर बार यह प्रयत्न बीच में रह गया। एक बड़ा कारण कश्मीरी मित्रों की दृष्टि भी थी। हिन्दी और उर्दू में कश्मीर के जीवन—विशेष रूप से जेहलम के जीवन—को लेकर कितनी ही यथार्थ और रूमानी कहानियाँ लिखी गई हैं, जो वहाँ रहनेवालों के यथार्थ-बोध को चोट पहुँचाती हैं। इसलिए जब भी कोई ग़ैर-कश्मीरी कश्मीर की कहानी लिखने की बात करता है, तो वे उसके प्रयत्न को सन्देह की दृष्टि देखते हैं। एक बार लगभग दो सौ पन्ने लिख चुकने के बाद भी मैं इस कहानी को रखे रहा क्योंकि जिन लोगों के जीवन की यह कहानी है, उनसे मेरा सीधा सम्पर्क तो नहीं ही रहा। परन्तु दस साल गुज़र जाने पर भी जब इस कहानी की चुभन मन से नहीं गई तो इस बार मैंने लिख डालने का ही निश्चय किया। जानता हूँ कि यह कश्मीर की रूमानी कहानियों में से नहीं है, इसलिए उस दृष्टि से मन में संकोच भी नहीं है। हाँ, बेहतर होता यदि यह कहानी किसी कश्मीरी लेखक के हाथों लिखी जाती। परन्तु जितना मैंने जाना है, कश्मीर में रहते हुए भी हाँजियों के जीवन से वहाँ के बुद्धिजीवियों का लगभग उतना ही सम्बन्ध सम्पर्क है, जितना बाहर के लोगों का। फिर भी इतना मुझे मानना ही चाहिए कि उनमें से कोई यदि इस कहानी

---

* राकेश की डायरी में ऐसे कुछ गीत लिखे हुए हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"बाबा शुक्रदीन लबे दरियाव
निशि वअतित खुश हवाव!
गोंडे गाछे सर करुन, अद मरुद, छुआ मनज़ूर रो।"

(बाबा शुक्रदीन की ज़ियारत बुलार के किनारे है, जहाँ पहुँचने पर शीतल पवन स्वागत करती है और यही हवा बुलार झील के विस्तार में उथल-पुथल भी मचा देती है। मुझे प्रेम-रस का प्याला उसी मस्ताने ने दिया। आओ, दर्शन पाने के लिए ज़ियारतों पर चलें।) —सं

को उठाता, तो तथ्यबोध की दृष्टि से इसे अधिक प्रामाणिकता दे पाता। परन्तु तथ्यबोध ही यथार्थबोध नहीं, इसलिए अपनी सीमाओं का खेद होते हुए भी मुझे विश्वास है कि खालका और उसके परिवार की कहानी इन हाथों से लिखी जाकर यथार्थ की दृष्टि से अप्रामाणिक न होगी—क्योंकि यथार्थ जिन लोगों के जीवन का है, उन्हीं के माध्यम से मैंने उसे जाना है।

कहानी का एक अपना दर्द, एक अपनी कचोट न होती, तो शायद फिर भी मैं इसे लिखने से अपने को बचाए रखता। यह दर्द कहाँ तक एक लेखक की मजबूरी बन सकता है, इसका अनुमान कहानी को पढ़ चुकने के बाद शायद लगाया जा सके। न लिखता तो शायद खालका के साथ ही नहीं, अपने साथ भी मैं न्याय न करता।

**—मोहन राकेश**

"नहीं...नहीं," खालका ने कहा और उसका ज़र्द चेहरा और ज़र्द पड़ गया, डूबी हुई आँखें और डूब गईं। बेगम चुपचाप उसकी तरफ़ देखती रही, उसके होंठ दो-एक बार फड़ककर रह गए। जो बात मुँह तक आई थी, वह उससे कही नहीं गई। लगा कि कहना बेकार है, कहकर वह उसे नहीं, अपने को ही चोट पहुँचा सकती है। उस आदमी को तो अब चोट लगती ही नहीं, कम-से-कम चोट की तरह नहीं लगती। वह गीली मिट्टी का लोंदा है जो पत्थर फेंकने से ढहता-टूटता नहीं। बस, थोड़ा धकस जाता है और पत्थर को ज़िन्दगी भर के लिए छाती में समेट रखता है।

वह उसके पास से हटकर बावर्चीखाने में आ गई। नज़मा समावार से गिलास में चाय डाल रही थी। उसकी त्योरी से अन्दाज़ा नहीं होता था कि वह किससे नाराज़ है–बेगम से, कादिर से या अपने से। दुबला चेहरा, ऐसे लग रहा था जैसे लकड़ी तराशकर बनाया गया हो। आँखों का भाव भी वैसा ही था। जान थी, तो उसके हाथों में ही। सिद्दीक अपनी लोई में गुमसुम चूल्हे के पास बैठा था। आग की लौ में उसका चेहरा सुर्ख नज़र आ रहा था, जैसे कि अन्दर से लहू बाहर फूट आया हो। आँखें जलते कोयलों और उन पर जमा होती राख से कुछ खोज रही थीं। बेगम को बाहर आते देखकर वह पहले से ज़्यादा सिकुड़ गया। बेगम के चेहरे की तरफ़ देखने का हौसला उसे नहीं हुआ।

नज़मा ने चाय का गिलास बेगम के सामने कर दिया। सुर्ख चाय से उठती भाप बेगम की नाक और माथे को सहला गई। उसने आँख के हलके संकेत से मना कर दिया और डूँगे से बाहर चली गई।

नज़मा पहले उसे, फिर अपने हाथ के गिलास को देखती खड़ी रही। फिर जाकर चूल्हे के दूसरी तरफ़ खिड़की के पास बैठ गई। एक घूँट भरकर गिलास को पूरे हाथ से ढककर उसने पास रख लिया। आँखें लोई बनकर बैठे सिद्दीक की पीठ पर स्थिर हो रहीं। उठती-गिरती साँस से लोई में जैसे जान आ गई थी। आग की लौ से सिद्दीक का चेहरा ही नहीं, वह लोई भी बीच-बीच में सुलग जाती थी।

"चाय लोगे?" आँखों से लोई के रेशे अलग करते हुए उसने पूछा। लोई कुनमुनाई। सिद्दीक की आँख का एक कोना उसकी तरफ़ मुड़ आया। नज़मा ने गिलास उठाकर दूसरा घूँट भर लिया।

"बेगम को नहीं दी?" सिद्दीक की नज़र नज़मा को हमेशा की तरह चुभ-सी गई। हमेशा की तरह उसे अफसोस भी हुआ कि उसने सीधे उससे क्यों बात की।

"तुम अपनी बात करो," वह चिढ़कर बोला। "तुम्हें चाहिए, तो समावार लाकर गिलास में डाल लो।" उसकी तरफ़ से आँखें हटाकर वह खिड़की से बाहर देखने लगी। चाय का गिलास उसके हाथ में काँप गया।

न देखते हुए भी उसने देखा कि सिद्दीक ने लोई को थोड़ा खोलकर फिर लपेट लिया है, उसके खिचड़ी बालों के गुच्छे लोई से बाहर झाँककर फिर उसमें सिमट गए हैं। लोई जगह-जगह से फट रही थी और लाल और खाकी कपड़े के पैबन्द उसमें लगे थे। दो-एक जगह नए पैबन्द लगाने की ज़रूरत थी।

सिद्दीक का पूरा चेहरा अब उसकी तरफ़ था—घुटने बाहर को निकले हुए और कुहनियाँ उन पर टिकी हुई। मैली कमीज़ का कॉलर लोई से बाहर नज़र आ रहा था। "खालका से भी पूछ लूँ?" कहता हुआ वह उठ खड़ा हुआ। धारीदार पाजामा लोई से बाहर निकल आया। नज़मा ने उड़ती नज़र से उसे पास से गुज़रते देखा। हमेशा की तरह इजारबन्द दो इकाइयों में, घुटनों तक लटक रहा था। उसने चाय का घूँट भरा, तो कुछ चाय उसके होंठ से ठोड़ी पर बह आई। फिरन की आस्तीन से उसने उसे पोंछ लिया।

सिद्दीक जैसे गया था, वैसे ही क्षणभर में लौट आया। इजारबन्द के दोनों सिरे पास आकर रुके, तो नज़मा का शरीर झुरझुरा गया।

"खालका सो गया है," सिद्दीक बोला। "मैं पहले जाकर एक गिलास बेगम को दे आता हूँ।" भारी समावार तख्ते से ऊपर उठ गया। सिद्दीक के मैले पैर थोड़े फासले पर चले गए।

"तुम अपने लिए डाल लो," नज़मा हवा के लिए खिड़की से बाहर झुक गई। "अम्मा को ज़रूरत होगी, तो मैं जाकर दे आऊँगी।"

सिद्दीक ने गिलास भरकर समावार रख दिया। पलभर खड़ा रहकर वह फिर चूल्हे के पास जा बैठा। "मैं इस घर में कौन हूँ?" गिलास घुटने पर रखे हुए बोला। "मुझे कभी कोई बात कहनी ही नहीं चाहिए। समझ में नहीं आता कि मैं यहाँ रहता ही क्यों हूँ।...हाँ, बताए कोई मुझे कि मैं यहाँ क्यों रहता हूँ!"

"मन नहीं लगता यहाँ, तो क्यों नहीं दूसरी जगह चले जाते?"

गिलास सिद्दीक के घुटने से फ़र्श पर आ गया। हाथ चिमटी से चूल्हे की राख कुरेदने लगे। "यही तो इतने साल तिल-तिल करके इस खानदान के लिए अपने को गलाने का मुझे फल मिला है," वह बोला, "और क्या मिला है मुझे? यहाँ रात-दिन चूल्हा झोंककर मैंने आधे बाल सफ़ेद कर लिए, लेकिन इस बात का सोचनेवाला कौन है? कौन है इस घर में जो सिद्दीक को अपना सगा समझता है? सिद्दीक अपने दोनों हाथ काटकर दे दे, तो भी इस घर का दुश्मन है। अपना जिगर निकालकर रख दे, फिर भी सबका मोहताज़ है। उसका यहाँ रहकर दो वक़्त रोटी खाना भी सबको भारी

लगता है। इस घर में अपना उसी को समझा जाता है जो इनकी बोटी-बोटी खाने को आए। अब्दुल कादिर इस घर का अपना है। वह आज आकर खालका की हड्डी-हड्डी तोड़ गया है, फिर भी अपना है। कल को उसका भाई कासिम भी इनका अपना हो जाएगा। सिद्दीक सब बातों को समझता है। क्या है जो वह नहीं समझता? आज चाहे कितना फ़साद हो, आखिर इस घर का दूसरा दामाद अब्दुल कासिम ही बनेगा। कादिर ने इस बार हड्डियाँ तोड़ दी हैं, तो सारा घर ख़ामोश है। दूसरी बार आकर आँख ही दिखाएगा, तो सब लोग अपने को चुपचाप उसके सामने बिछा देंगे। बेगम खुद उससे पूछेगी कि नूरा के साथ कासिम की शादी के लिएं कौन-सा दिन मुकर्रर किया जाए। खुद ही उसके लिए नमकीन पुलाव की हाँडी भी चढ़ाएगी। नमकीन पुलाव कादिर को बहुत पसन्द है न! नमकीन पुलाव और आबगोश। सिद्दीक उस दिन भी बाहर से लकड़ी काटकर लाएगा और चूल्हे में अपने हाथ जलाएगा। मियाँ अब्दुल कादिर के सामने तश्तरी सजाकर रखेगा। फिर जूठी तश्तरी साफ़ करेगा। सिद्दीक चाहे तनख़्वाह न ले, पर है तो इस घर का नौकर ही। नौकर से ज़्यादा उसकी हैसियत ही क्या है?''

गिलास ऊपर उठ गया। चाय सुड़कती हुई उसके गले से नीचे उतरने लगी। नज़मा की त्योरियाँ गहरी हो गई थीं। वह अपने पर ज़बर करके उसी तरह खिड़की पर झुकी रही। जैसे कि सिद्दीक की बक-बक उसके कानों तक पहुँच ही न रही हो। ''इस घर की खिदमत में सिद्दीक ने ज़िन्दगी के पन्द्रह साल निकाल दिए,'' सिद्दीक की ज़बान धार पकड़ती गई। ''तीस की उम्र में चालीस-पैंतालीस का नज़र आने लगा। ज़रूरत पड़ी, उसने अपना सबकुछ निकालकर इन्हें दे दिया। इस घर का कर्ज चुकाने के लिए अपनी ज़मीन तक बेच दी। मुट्ठी भर भात और साग के अलावा उसने इस घर से कभी कुछ लिया है? पर उससे जो उसे हासिल हुआ, वह सामने है। पन्द्रह साल में अपने लिए वह एक लोई तक नहीं खरीद सका। जो लोई ओढ़कर इस घर में आया था, इसी को ओढ़े हुए एक दिन यहाँ से चला भी जाएगा। यही दौलत इस घर में रहकर उसे हासिल हुई है।''

लोई एकाएक उसके कन्धों से उतरकर नज़मा के सामने फ़र्श पर फैल गई। नज़मा इससे गुस्से में भी चौंक गई। सिद्दीक का फटा हुआ कोट, फटा हुआ स्वेटर, फटी हुई कमीज़–सब बाहर उघड़ आए थे। चेहरा और हाथ-पैर जैसे जगह-जगह लगे हुए पैबन्द थे।

नज़मा खिड़की के पास से उठ खड़ी हुई। सिद्दीक की आँखें ऐसे हो रही थीं जैसे अभी बाहर को फट पड़ेंगी। साथ ही वे उसके शरीर को भी जैसे निगल लेना चाहती थीं। वह आदमी जब भी इस तरह उसकी तरफ़ देखता था, उसे लगता, उसका शरीर सुरक्षित नहीं है।

...उन दिनों की याद ताज़ा हो आती थी जब कादिर से अभी उसकी शादी नहीं हुई थी। सिद्दीक दिनभर किसी-न-किसी बहाने उसके आसपास चक्कर काटता रहता था। जाने-अनजाने, जब भी, उसे जहाँ कहीं से छू लेना चाहता था। खुद अपने हाथ से उसके कपड़े धो देता था। सूख जाने पर खुद ही उसे देने चला आता था। ''देख लो, ठीक धुल गए या नहीं,'' कहता हुआ वह देर तक उन कपड़ों को उसके सामने हाथ से मसलता रहता था...

''तुम्हें इस घर से शिकायत है तो अब्बा से कहो न, मैं अब इस घर की क्या होती हूँ? मेरा घर दरिया के उस पार है। मेहमान की तरह मैं यहाँ आती हूँ, मेहमान की तरह यहाँ से चली जाती हूँ।''

''जाने मेहमान की तरह आती हो या मालकिन की तरह,'' सिद्दीक हाथ बगलों में दबाए उठकर उसके सामने आ खड़ा हुआ, ''इस डूँगे, इस हाउसबोट की मालकिन अब तुम नहीं हो, तो कौन है? तुम मालकिन न होतीं तो आज कादिर इस तरह खालका की हड्डियाँ तोड़कर चला जाता और हम ख़ामोश बने रहते? तुम लोगों के मन में जो बात है वह किसी से छिपी हुई है? कादिर अपने जुआरी भाई कासिम से नूरा की शादी क्यों चाहता है? इसलिए न कि दोनों भाई इस घर के दामाद होंगे, तो यहाँ की पूरी मिल्कियत उनकी हो जाएगी। फिर वे जब चाहें हमें यहाँ से निकालकर बाहर कर सकते हैं। सिद्दीक को ही नहीं, खालका और बेगम को भी। यही है न कादिर का इरादा या कुछ और है? तुम्हारा ख़याल है कि खालका को इसका पता नहीं है? या बेगम को नहीं है? कौन नहीं जानता कि मियाँ कादिर क्या चीज़ है? आज नूरा की कासिम से शादी होगी और कल यह बोट मियाँ कासिम का जुए का कर्ज उतारने में चली जाएगी। आज सिर्फ़ बड़ी बेटी उनकी तरफ़ से लड़ने आती है, कल दोनों बेटियाँ आएँगी। आज बात शादी की है, कल बँटवारे और बोट को बेच देने की होगी। खालका में इतनी जान बाक़ी है कि वह मुँह से भी कुछ कह सके? आज उसने चुपचाप हड्डियाँ तुड़वा ली हैं। कल पगड़ी उतरवाकर चुपचाप उस किनारे पर जा खड़ा होगा। कादिर से उम्मीद है कि वह उसे पानी भी पूछेगा?'' लोई उसने फ़र्श से समेट ली और एक सिरा कन्धे पर डालकर बाक़ी हिस्सा बाँह पर फैला दिया, ''सिद्दीक मियाँ के पास तब भी ज़िन्दगीभर की यह कमाई होगी—फटी हुई लोई और सूखा हुआ शरीर। यह शरीर, जब मैं इस घर में आया था, तब क्या इस तरह सूखा हुआ था? तब में और अब में तुम्हें कुछ फरक नज़र नहीं आता? देखो न आज मेरे इन हाथों को।''

नज़मा के हाथ पकड़कर उसने जबर्दस्ती अपने हाथ उनमें भर दिए। नज़मा ने हाथ हटाने की कोशिश की, तो उसने उन्हें अपने हाथों में जकड़ लिया। कहता रहा, ''और अपने इन हाथों को भीं कभी गौर से देखा है? ऐसे थे तुम्हारे हाथ—फटे-फटे और मुरझाए हुए? किस चाव से बेगम ने तुम्हें पालकर बड़ा किया था? कौन-सी मुराद

थी तुम्हारे मन की जो वह पूरी नहीं करती थी? क्या इसलिए कि तुम भी आकर इस घर के साथ इस तरह की दुश्मनी करो? अभी तुम इक्कीस की नहीं हुई कि तुम्हारे चेहरे की सारी चमक चली गई? कभी अपने चेहरे को देखकर तुम्हें ख़याल नहीं आता कि असल में दुश्मनी तुम किसके साथ कर रही हो?

नज़मा गुस्से से उसके हाथ झटककर अलग हो गई। बीच के कमरे में खालका खाँस रहा था—वह दबी-दबी खाँसी जो कि उसकी छाती की न जाने किस गहराई से उठ रही थी। नज़मा की बात कुछ देर मुँह में रुकी रही। एक नज़र अन्दर की तरफ़ देखकर वह जबड़े सख़्त किए हुए किसी तरह बोली, "तुम्हें शरम-लिहाज़ नहीं है किसी का आज भी? अब्दुल कादिर को इस करतूत का पता चल जाए, तो वह तुम्हें ज़िन्दा नहीं छोड़ेगा।"

सिद्दीक लोई लपेटकर टोपी लगाने लगा, जैसे कि उसे तुरन्त वहाँ से चल देना हो। शरीर उसका आवेश से काँप रहा था, हाथ ठीक से टोपी को सिर पर जमा नहीं पा रहे थे। टोपी पहनकर वह डूँगे के सिरे तक गया, फिर लौट आया। नज़मा तब भी उसी तरह खड़ी थी। वह क्षण, जब सिद्दीक ने उसके हाथों को झिंझोड़ दिया था, अभी उसके लिए बीता नहीं था। सिद्दीक के हाथों की जलन अब भी उसके हाथों में बाक़ी थी। सिद्दीक लौटकर आया, तभी वह उस क्षण से आगे बढ़ पाई। "गए नहीं तुम?" उसने कहा। "कोई चीज़ छूट गई है क्या?"

सिद्दीक पलभर उससे नज़र बचाए रहा, फिर एकटक उसकी तरफ़ देखने लगा। "तुम चाहती हो चला जाऊँ, तो मैं अभी छोड़कर चला जाता हूँ।" वह पिटे हुए स्वर में बोला। "किसी से मैं डरता नहीं हूँ, यह भी मैं तुम्हें बताए देता हूँ। वह कादिर हो या और कोई हो। कोई मर्द की तरह लड़े, तो दो के बराबर मैं आज भी हूँ। मगर इस लड़ाई-झगड़े में पड़कर खालका की जान मैं नहीं लेना चाहता। हाँ, खालका एक बार कह दें तो बन्द के सारे हाँजी देख लेंगे कि सिद्दीक की हड्डी फौलाद की बनी है या नहीं।"

उसका उलटा हाथ एक बार फिर नज़मा के सामने फैल गया। हरी धमनियों की जाली अभी तक काँप रही थी।

"मुझे क्यों दिखाते हो अपना हाथ? मुझे देखने की ज़रूरत नहीं है," कहकर नज़मा अन्दर जाने लगी।

"सुनो," सिद्दीक की आवाज़ एकाएक बैठ गई। नज़मा रुक गई। उसका चेहरा अब काठ का नहीं रहा था। तेज़ साँस से कानों में चाँदी के कनवाज़ हिल रहे थे।

"कहो।"

"देखो, तुम्हें एक बात कहता हूँ..." नज़मा चुपचाप देखती रही। सिद्दीक की आँखें फिरन के अन्दर से झलकते उसके दूधिया मांस पर स्थिर हो रहीं। "तुम...तुम खालका से यह बात तो नहीं करोगी?"

"कौन बात?"

"यही बात। वह बीमार है, उसे तकलीफ़ होगी। मैं सिर से टोपी उतारकर तुमसे माफ़ी माँगता हूँ।"

टोपी सिर से उसके हाथ में आ गई। उसकी लम्बी नाक रुआँसी हो आई थी। लगता था कि चेहरे के किसी भी हिस्से से आँसू टपक पड़ेंगे। "तुम जानती तो हो कि मेरे मुँह से ऐसी बातें क्यों निकल पड़ती हैं!" उसका गला काँप गया, कन्धे आगे को झुक आए।

"मैं कुछ नहीं जानती," नज़मा की आवाज़ में अस्वाभाविक तनाव आ गया।

"मुँह से न कहो, पर दिल से तुम अच्छी तरह जानती हो। अगर खालका और बेगम ने उन दिनों सिद्दीक के दिल की बात को समझा होता..."

"मैं यह बकवास नहीं सुनना चाहती।" नज़मा अन्दर चली गई। खालका उसी तरह खाँसता रहा था। आँखें बन्द थीं। नज़मा पास जाकर उस पर झुकी, तो उसे लगा कि उन बन्द आँखों में नींद शायद नहीं है।

बेगम हाउसबोट की छत पर चली गई थी। वहाँ उसने मिर्चें और मसाले की टिकियाँ सूखने के लिए फैला रखी थीं। कुछ देर वह उन्हें उठा-उठाकर देखती रही, हालाँकि मन उसका, काम करते हाथों से हटकर, जेहलम के रास्ते दूर कहीं चला गया था—वहाँ, जहाँ जेहलम की धार बुलार झील के बीच से होकर पहाड़ियों में सिमटती हुई नीचे उतरने लगती है। धार के साथ-साथ सोपुर पहुँचकर एक चट्टान के पास वह रुक जाती थी। चट्टान पर खड़ी होकर धार के बढ़ते पानी को देखते हुए बचपन में एक बार उसका पाँव फिसला था। इतने बरस बीत जाने पर भी वह फिसलन, वह चोट, वह मिट्टी पर बना पैर का निशान, सबकुछ ज्यों-का-त्यों था—उतनी ही छोटी होकर दरिया की लहराई हुई धार को उन्हीं आँखों से अब भी वह देख लेती थी, उसी तरह धार के पास जाकर मिट्टी रचे पैरों को उसमें धो लेती थी।

चट्टान से थोड़ा हटकर बिफरी हुई धार में हिलता हुआ वह डूँगा था जिसके धार में बह जाने की आशंका से उसका मन काँप जाता था।

रात-दिन उसी डूँगे में वे लोग रहते और सफ़र करते थे—वह और उसका बाप नबी नागू। माँ नहीं थी, घर में कभी उसका ज़िक्र भी नहीं होता था। माँ के नाम से एक हरे फिरन का रंग उसकी आँखों में उभरता था, पर चेहरे और आकार की कोई रेखा नहीं बनती थी। यह भी याद नहीं था कि कब और कैसे वह रंग एकाएक पास से ओझल हो गया। होश आने के बाद से उसने अपने और नबी नागू के अलावा डूँगे में किसी को नहीं देखा था—सिवाय नबी नागू के कई-कई दोस्तों के जो शाम गहरी होने पर उनके यहाँ आ जमते थे और जिनके साथ बैठकर नबी देर-देर तक शराब

पीता, ताश खेलता और गप लड़ाता था। वे लोग इतनी ऊँची आवाज़ में हँसते कि उसका दिल दहल जाता। लगता कि बरसों की सीलन से गले और स्याह पड़े डूँगे के तख्ते उस आवाज़ से छिटककर अलग हो जाएँगे और हाँडी के पास बैठी वह औरों से अलग होकर अकेली धार में बहने लगेगी। नबी सूखा कुलचा चाय में भिगोकर खाता हुआ अपने मैले दाँत उघाड़कर गले से कुछ इस तरह की आवाज़ें पैदा करता था कि आसपास जमा लोग हँस-हँसकर लोटपोट हो जाते थे। लोग हँसते, तो वह होंठ सिकोड़कर अपनी बीस दिन की बढ़ी दाढ़ी को एक उँगली से खुजलाने लगता। फिर अपनी कत्थई आँखों से मुसकराता और एकाएक गला फाड़कर हँस उठता। उसके हँसने पर बाक़ी लोग नए सिरे से हँसना शुरू करते।

ज़िन्दगी थी, झील से दरिया और दरिया से झील में आना-जाना। पास हटते और दूर हटते किनारों को देखना। झील में समाधि लगाए पक्षियों पर पानी उछालना। बाँडीपुर के पास झील के सिंघाड़े चुनना, कमल तोड़ना, शहतीर, ईंटें, मिट्टी और ऐसा ही सामान ढोकर यहाँ से वहाँ ले जाना। निंगल में मछलियाँ पकड़ना। काँटे से मासेर पकड़ने के लिए परेशान अंग्रेज मर्द-औरतों के साथ-साथ घूमना। चूल्हा जलाना, मांस धोना, लग्गी सँभालना। वक़्त मिले, तो नंगे बदन दरिया में डुबकियाँ लगाना। सुबह-शाम, शाम-सुबह नबी नागू की झिड़कियाँ सुनना। रात को झील से होकर आते जिनों-भूतों से आशंकित रहना, दूर की हर रोशनी को किसी जिन का चिराग़ समझना। बाबा शुक्रदीन से मानता मनाना कि वह नबी नागू की नाख़ून बढ़ाने की आदत छुड़ा दें, उसके गंजे सिर पर बाल उगा दें, उसकी हँसी में सलीका ला दें। अपने पैदा होने से पहले गुज़र चुके भाई की याद करना, उससे रूठ जाना कि वह अब तक जीता क्यों नहीं रहा। अपने अकेले खेलों में उसे साथी बनाना, उसकी तरफ़ से खुद ही अपने साथ खेलना। लड़-झगड़कर खुद जीत जाना, फिर मनाते हुए उसे जीत जाने देना। शाम को आनेवाले मेहमानों के न आने की दुआ माँगना, उनके चले आने पर बाबा शुक्रदीन से रूठ जाना। सोने से पहले आसमान की झील में बिखरी सितारों की किश्तियों को इधर-से-उधर चलाना, आँखें मूँदकर उन्हें डूब जाने देना। उस दिन की बात सोचना जिस दिन उसका दूल्हा आकर उसे उस डूँगे से दूसरे डूँगे में ले जाएगा–वहाँ, जहाँ नीली झालर के पर्दे फड़फड़ाते होंगे, रेशमी डोरियों से छोटे-छोटे फुँदने लटकते होंगे। आसमान की किश्तियों में अपनी एक किश्ती को पर्दों से सजाना, डोरियों से बाँधकर किनारे की तरफ़ खींच लाना...।

खालका से निकाह होने पर यह मुराद एक तरह से पूरी हो गई थी। श्रीनगर में उनके हाउसबोट में आकर कुछ दिन तो वह चकाचौंध हो रही थी। हाउसबोट अपने रहने के लिए नहीं था, फिर भी था तो अपना ही–अपने रहने के लिए डूँगे से इतना सटा हुआ कि जब चाहो उसके पर्दों को हाथ से छू लो, जब चाहो, उसके गलीचों पर

सिर रखकर लेट रहो। मगर ख़ालका खुद...वह तो वैसा नहीं था जैसा उसने सोचा और चाहा था।

चचा रमज़ान से डरा-डरा, दबा-दबा वह आदमी, हर वक़्त हर चीज़ को उदास नज़र से देखता रहता था। बात करता था तो ऐसी धीमी दबी हुई आवाज़ में कि एक बार उसे झटक देने को मन होता था। बोट का अकेला वारिस होकर भी वह एक नौकर की तरह रमज़ान के आदेशों का पालन करता था, बल्कि नौकर से भी बदतर, एक-एक पैसे के लिए उसका मोहताज रहता था। रमज़ान की बलगमी आवाज़ किसी के भी जिस्म में सिहरन पैदा कर देती—खालका तो वह आवाज़ सुनने से पहले ही हर काम पूरा कर देने की फिक्र में रहता था। रमज़ान के दढ़ियल चेहरे के सामने पड़ते ही उसके घुटने ढीले होने लगते थे। अपने में खोई हुई उसकी आँखों में आब पहले ही नहीं थी, रमज़ान को देखते ही उनका रहा-सहा रंग भी उड़ जाता था। वह इस तरह बेबसी की नज़र से रमज़ान को देखता था जैसे अपनी एक-एक साँस उसे रमज़ान से भीख में मिलती हो, जैसे रात-दिन मेहनत करके वह सिर्फ़ रमज़ान का कर्ज ही चुकाता हो...।

खालका के तब के चेहरे से आज के चेहरे में ख़ास फ़र्क नहीं आया था—जैसे तब रमज़ान से डरता था, वैसे ही आज अपने दामाद से और हर एक से डरता था। जिस किसी से बात करता था, उसके हाथों में उसकी ज़िन्दगी गिरवी रखी रहती थी। दमे का दौरा उठने पर हर बार वह जैसे उस दुनिया को हाथ लगाकर लौटता था और लौट आने पर खुदा का नहीं, हर किसी का शुक्रगुजार होता था। आज अब्दुल कादिर ने आकर पीट दिया था, तो उसके लिए भी शायद वह किसी-न-किसी का शुक्रगुजार था—क्योंकि पीटनेवाले ने पीटकर ही छोड़ दिया था, जान तो नहीं ली थी।

मिर्चों और टिकियों को समेटकर बेगम उठ खड़ी हुई। छत पर चँदोवा डालकर कुर्सियाँ बिछा दी गई थीं—उन आगन्तुकों के लिए जो पिछले तीन साल से नहीं आए थे। हर साल मार्च के अन्त में चँदोवा ताना जाता, कुर्सियाँ बिछा दी जातीं। नवम्बर के शुरू में उन्हें उठाकर रख दिया जाता। धूल न होने पर भी कभी उन्हें हलके हाथों से झाड़ दिया जाता जैसे कि झाड़ देने से आगन्तुकों के आने की सम्भावना बढ़ जाती हो। धूप और बरसात में आए साल कुर्सियों के रंग फीके पड़ते जाते थे—इस्तेमाल न होने पर भी उनके कपड़े में जगह-जगह सूराख बन जाते थे। हाथ ख़ाली होते, तो बेगम सुराखों को सी दिया करती। किसी एक भी सुराख पर नज़र पड़ जाए, तो खालका की घिरी हुई आँखें और घिर आती थीं—हर बीतते साल के साये उसकी आँखों में गहरी जालियाँ बुन जाते थे। बेगम की कोशिश रहती थी कि वे साये जल्दी-जल्दी गहरे न हों, इन सायों से उसे उतना खालका के लिए नहीं जितना अपने लिए हौल उठता था।

वहाँ से नीचे जाते हुए छत उसे रोज़ से भी अकेली लगी—जैसे कि रोज़ के परिचित अकेलेपन की जगह एक अपरिचित और अजनबी एकान्त ने ले ली हो, आकाश की उमड़ती स्याही में रँगकर वह एकान्त बहुत गाढ़ा और भारी हो उठा हो। भारीपन का अहसास अपने अन्दर भी था, अपने से बाहर भी। आसपास की हर चीज़ रुँधी और रुकी हुई थी—बहते हुए जेहलम की धार भी। धार पर काँपते रोशनी के साँप जैसे अपनी जगह पर जकड़ गए थे। उस पार की टिमटिमाती रोशनियाँ जैसे बुझ-बुझ जाना चाहती थीं। रात अभी उतरी ही थी कि हर चीज़ सोई-सोई नज़र आने लगी थी।

बेगम कुछ देर खड़ी देखती रही। इन्तज़ार करती रही। इन्तज़ार किसी व्यक्ति या घटना का नहीं, न आने और न होनेवाली एक स्थिति का, जिसका आभास हर साँझ को वह आसपास महसूस करती थी। बहती धार पर हलके पैरों चलकर जैसे उस स्थिति तक पहुँचना था—धार के विपरीत संघर्ष करके ऊपर को आते डूँगों और शिकारों में से किसी एक के अन्दर से अपने को पहचान लेना था। एक डूँगा, घनी प्रेत की छाया की तरह, धीरे-धीरे सरकता हुआ पास से जा रहा था। आगे शहतीर भरे थे। पीछे चूल्हे पर हाँडी रखी थी। हाँडी में से हलकी भाप उठ रही थी। बकरी के मांस की गन्ध ही, तीन-चौथाई पके मांस की, डूँगे को चारों तरफ़ से घेरे जैसे उसे आगे-आगे धकेल रही थी—गन्ध और तीन आदमियों की थकी-थकी आवाज़ : ''या पीर! दस्तगीर! या अल्लाह! हिलिल्लाह!''

धार में सलवटें पड़ रही थीं—डूँगे को रास्ता देने में पानी को तक़लीफ़ हो रही थी।

छत से सीढ़ी हाउसबोट की पैंट्री में आती थी। अलमारी में प्लेटें और छुरी-काँटे सजाकर रखे हुए थे। कितने दिन हो गए थे, कितने ही, जब से किसी के लिए उन्हें मेज़ पर नहीं लगाया गया था, किसी ने उन्हें जूठा नहीं किया था। वहाँ से गुज़रते हुए बेगम को लगा कि वह पैंट्री में अकेली न होकर किसी के साथ खड़ी है। वह कोई उसके साथ मिलकर छुरी-काँटों की गिनती करा रहा है और लगातार हँस रहा है। कह रहा है कि इनमें कोई काँटा ऐसा नहीं, जिससे उसने एक-न-एक बार खाना न खाया हो, कि कल का खाना वह तभी खाएगा, जब उसके लिए नए छुरी-काँटे ला दिए जाएँ। वह खुद उसके साथ हँस रही है, मगर उसे डाँट भी रही है कि यह काम उसके करने का नहीं, वह अपने कमरे में जाकर सो जाए। परन्तु इस पर वह मचल उठता है कि वह सोएगा नहीं। जब तक वह चलकर पास नहीं बैठेगी, उलटी-सीधी बातें करके उसे उकता नहीं देगी, उसे नींद नहीं आएगी। वह हँस रहा है, हुज्जत कर रहा है और उसके हाथ से काँटे छीनकर वह उसे कन्धे से धकेलती हुई कमरे की तरफ़ भेजने की कोशिश कर रही है। कह रही है, ''बात मानकर तुम सोओगे नहीं, तो कल सुबह ही मैं तुम्हारा सामान यहाँ से उठवा दूँगी। ख़ान होगे तुम पेशावर में, यहाँ तुम्हारा रौब माननेवाला कोई नहीं है।''

पैंट्री से डूँगे में आते हुए उसे लगता रहा जैसे वहाँ ख़ान को अकेला छोड़कर वह आ रही हो, छुरी-काँटों की गिनती अभी पूरी न हुई हो और डूँगे से समावार लेकर अभी उसे ख़ान के कमरे में जाना हो।

ख़ान के कमरे में, ख़ान के जाने के बाद, अब तक कोई भी आकर नहीं रहा था। तख्ते पर पैर सीधा नहीं पड़ा, इसलिए बेगम थोड़ा लड़खड़ाकर डूँगे में उतरी। डूँगा हिल गया। सिद्दीक ने चूल्हे के पास से आँख उठाकर देखा, फिर इस तरह साग की हाँडी में व्यस्त हो रहा जैसे किसी के आने-जाने से उसे मतलब ही न हो। बेगम भी बिना उसकी तरफ़ देखे पास से निकलकर बीच के कमरे में आ गई। खालका सचमुच सो गया था। मुँह आधा खुला होने से चेहरा बहुत छोटा लग रहा था, छोटा और असहाय। एक बाँह कम्बल से बाहर निकली हुई थी। बेगम ने उसकी बन्द आँखों से आँखें चुराते हुए बाँह को कम्बल में ढक दिया और डूँगे के दूसरी तरफ़ चली गई। नज़मा, बहाव की तरफ़ देखती हुई, वहाँ अकेली बैठी थी।

"नज़मा!"

नज़मा ने घूमकर देख लिया। दरिया की छाया उसकी आँखों में अब भी सिमटी हुई थी।

"नूरा अभी नहीं आई?"

"नहीं।"

"मामदा भी लौटकर नहीं आया?"

"नहीं।"

बेगम की आँखें ज़रा-सी भिंच गईं, माथे पर सलवटें पड़ गईं। "उस कामचोर को तो बस बहाना चाहिए।"

"उससे कहा था नूरा को साथ लेकर आए। हो सकता है इसी में उसे देर हो गई हो। या उसकी वजह से नूरा न आ पाई हो। बदज़ात वहाँ पहुँचा भी होगा कि नहीं, कुछ ठिकाना है?"

"पहुँचा वह ज़रूर होगा। कम-से-कम आज के दिन...।"

"उसे जैसे फ़र्क पड़ता है! कमीने लोगों की औलाद...!"

नज़मा का हाथ अनजाने पास रखी लालटेन की बत्ती को ऊँची-नीची कर रहा था। बत्ती एकाएक बहुत ऊँची होकर चिमनी को स्याह करने लगी, तो उसने हाथ हटा लिया। फिर जल्दी ही उसे ठीक करके लालटेन से थोड़ी परे सरक गई।

बेगम को लगा कि उसकी आँखों में कोई बात है जिसे वह छिपाए रखना चाहती है, या चाहती है कि उससे उस बारे में पूछा जाए, तभी वह बात ज़बान से कहे। उसे क्या कहना है, इसका भी कुछ अनुमान बेगम को था। नज़मा की आँखों की हर लहर से वह परिचित थी। जानती थी कि वह बार-बार पलकें झुकाकर ऊपर उठाती है और

उसकी आँखों के नीचे खसरे के दोनों दाग गहरे होने लगते हैं, तो उसके मन में क्या बात होती है। बात मुँह पर आती है, तो या तो वह साथ रो देती है, या बराबरी का दावा लेकर जवाब-सवाल करने लगती है। बात से बचने के लिए वह वहाँ से हटने लगी, तो नज़मा ने खुद ही आवाज़ देकर उसे रोक लिया।

"मैं जानना चाहती थी कि आज मैं लौटकर अपने डूँगे में जाऊँगी या नहीं।"

"तुम जाना चाहो, तो मैं सिद्दीक से कह देती हूँ वह अभी तुम्हें उस पार पहुँचा दे। रात यहाँ रहना चाहो, तो सुबह मामदा के साथ चली जाना।"

"बात मेरे चाहने की है क्या?"

बेगम को लगा कि नज़मा बराबर से भी ऊपर उठने की कोशिश कर रही है। उसके माथे की लकीरें गहरी हो गईं। "क्यों?"

"उसने कहा नहीं था कि कासिम के साथ नूरा की शादी की बात तय नहीं होती, तो आज से इस डूँगे की दोनों लड़कियाँ यहीं रहेंगी?" बेगम ने कनखी से देख लिया कि सिद्दीक चूल्हे के पास से हटकर वहीं उसके पीछे आ खड़ा हुआ। उसने उसे डाँट दिया, "दूसरों की बातें सुनने के सिवा तुम्हें कोई काम नहीं है?"

सिद्दीक चिढ़ गया। "मैंने बात में अपना नाम सुना था, इसलिए उठकर चला आया। वरना मुझे क्या लेना है तुम लोगों की बातों से? न आता, तो सुनना पड़ता कि जान-बूझकर परे हटकर बैठा रहता है। घर में क्या होता है, क्या नहीं, इससे इसे मतलब ही नहीं है। सिद्दीक घर की बात के बीच में पड़े, तो भी उसकी मुसीबत है, न पड़े तब तो मुसीबत है ही।" और जिस तरह वह लौटकर गया, उससे डूँगे के तख्ते हिल उठे, खालका की बन्द आँखें खुल गईं।

बेगम गुस्से में सिद्दीक से कुछ कहने को हुई, पर खालका की आँख खुली देखकर ख़ामोश रह गई। नज़मा की आँखें अब भी जवाब के लिए रुकी हुई थीं। किसी तरह अपने को सँभालकर उससे उसने कहा, "दोनों लड़कियाँ इस डूँगे में रहेंगी, तो कयामत नहीं ढह जाएगी। शादी से पहले इस घर में तेरे लिए साग-भात बन सकता था, तो आज भी बन सकता है। पर मेरे जीते जी कादिर की मंशा पूरी नहीं होगी। कासिम के साथ नूरा की शादी हरगिज़ नहीं होगी।"

"तो किसी को भेजकर मेरे बच्चों को वहाँ से बुलवा दो। उनके बग़ैर मैं भी हरगिज़ ज़िन्दा नहीं रह सकती।"

नज़मा के खसरे के दाग लाल हो गए थे। जितनी वह उत्तेजित होती थी, दाग उतने ही गहरे हो जाते थे। वह जो बात कहना चाहती थी, वह तो साफ़ थी ही। कादिर ने जाते हुए कहा था कि वह नज़मा को तलाक देकर बच्चों को अपने पास रखेगा, नज़मा को उनकी शक्ल तक देखनी नसीब न होगी।

"तुम्हें अपने बच्चे बहुत अज़ीज़ हैं," बेगम ने चिढ़ती साँस के साथ कहा। "मुझे ही अपनी लड़की अज़ीज़ नहीं है!"

"तुम्हारी एक ही तो लड़की है न!" नज़मा की आवाज़ में जैसे चीख़ भर गई। "मुझे अपनी लड़की तुमने समझा ही कब है? समझतीं, तो मेरी शादी के वक़्त भी ये सब बातें न सोचतीं? उस वक़्त तो अब्दुल कादिर और उसके खानदान को जैसे तुम जानती ही नहीं थीं।"

"जानती थी, इसीलिए तो जानबूझकर तुम्हें उनके घर में ब्याह दिया था। तभी तो उस पाजी को पेट के लड़के की तरह मानकर रात-दिन उसके खाने-पहनने की फिक्र किया करती थी। न जानती, तो यह सब करती? जो कुछ करती थी, उसके डर के मारे ही तो करती थी। जितनी शुक्रगुज़ारी उस मरदूद में है, तुममें उससे कम नहीं है।" नज़मा जहाँ खड़ी थी, वहीं बैठ गई और आस्तीन में मुँह छिपाकर रोने लगी।

"बेगम!" खालका की आवाज़ जैसे गुफा के अन्दर से सुनाई दी।

बेगम ने जवाब नहीं दिया। अन्दर ही अन्दर गुस्से से काँपती हुई नज़मा को देखती रही। "इस तरह रोकर बाप का फातिहा पढ़ने से अच्छा है कि अपने खाविन्द से कहकर दो-चार हड्डियाँ उसकी और तुड़वा दो। जो थोड़ी-बहुत जान बाक़ी है, वह भी निकल जाएगी, तो कोई तुम लोगों से कुछ कहनेवाला नहीं रहेगा। माँ भी जिस काठ पर खड़ी है, उससे बाँधकर उसे दरिया में फिंकवा देना। माँ-बाप के अहसानों का बदला चुकाने का इससे अच्छा रास्ता हो ही क्या सकता है!"

नज़मा की आँखें आस्तीन से उठ गईं। "तुमने उसे मरदूद कहा है। तुम चाहती हो कि वह..."

"हाँ, मैं यही चाहती हूँ। न चाहती, तो उसे दामाद बनाकर घर में लाती? उसकी बीमारी में रात-दिन उसके सिरहाने बैठकर जागती? घर से बचा-बचाकर उसके खेल-तमाशों के लिए पैसे जुटाती? मुझे मालूम होता कि जिस आदमी के लिए मैं यह सबकुछ कर रही हूँ वह जात का इतना कमीना है, तो मैं...तो मैं इस घाट के पास भी उसे फटकने देती?"

"बेगम!" खालका की आवाज़ फिर सुनाई दी, पहले से ऊँची, मगर और भी गहरी। बेगम के पतले होंठ काँपते रहे और वह खालका के पास चली गई। "कुछ चाहिए?" उसने पूछा।

"चाहिए कुछ नहीं," खालका बोला। "तुम नज़मा से कहो कि रोए नहीं। कल तक सब ठीक हो जाएगा।"

"तुम्हारी हड्डी का दर्द कैसा है?"

"अब ज़्यादा नहीं है। दो बार और रूई से सेंक दोगी, तो सुबह तक ठीक हो जाएगा।"

"चाय दूँ?"

खालका ने सिर हिला दिया। "चाय अभी नहीं पचेगी।"

"और कुछ?"

खालका ने फिर सिर हिला दिया। नज़मा आस्तीन से आँखें पोंछती हुई बेगम के पास आ गई।

"रोओ नहीं नज़मा!" खालका ने उठने की कोशिश की, पर उससे उठा नहीं गया। उसका बढ़ा हुआ हाथ नज़मा ने अपने हाथ में ले लिया और उसके पास बैठ गई। "अब्बा, मैं क्या उस घर में वापस नहीं जाऊँगी?" खालका के नज़दीक होकर उसने उसकी बाँह को अपने से सटा लिया। खालका की कमज़ोर उँगलियाँ उसके कन्धे तक उठकर नीचे फिसल गईं।

"क्यों नहीं जा पाओगी? वह तुम्हारा अपना घर है। कौन तुम्हें वहाँ जाने से रोक सकता है?"

"अब्दुल कादिर ने आज जाते हुए कहा नहीं था कि..."

"उसकी फ़िक्र मत करो। कल मैं उसे बुलाकर समझा दूँगा, तो...।"

"मेरे मरने के दिन तक वह इस डूँगे में क़दम नहीं रखेगा," बेगम की आवाज़ काँप गई। तनी हुई गरदन और तन गई। "उससे मार खाकर भी बात करने का शौक अभी बाक़ी है, तो उसके लिए कहीं और जाकर ही तुम्हें बात करनी होगी। तुम्हारी बेटी उसके पैर चाटने के लिए तुम्हें शिकारे में बैठाकर उसके पास ले जाएगी। पर यहाँ इस डूँगे में उसका साया भी नज़र आया, तो देख लेना, किसी-न-किसी की जान पर बन जाएगी।"

खालका कोट और पाजामा पहने लेटा था। पगड़ी पास ही खुली पड़ी थी। नज़मा उसका हाथ वापस उसकी छाती पर रखकर पगड़ी को लपेटने में व्यस्त हो गई। बेगम से उसने आँख नहीं मिलाई। खालका अलबत्ता एकटक बेगम को देखता रहा। बेगम की तरफ़ देखते उसकी आँखें उससे बँधी-सी जाती थीं। वह चाह रहा था कि बेगम की आँख उससे मिल जाए, तो वह हाथ पकड़कर उससे भी पास बैठ जाने को कहे। पर बेगम इसका मौका न देकर बाहर बावर्चीखाने में चली गई।

बेगम को देखते ही सिद्दीक ने लपककर समावार उठा लिया। जल्दी से प्याली में चाय उँडेलता हुआ बोला, "अब उसे सचमुच कभी उस डूँगे में नहीं आने देना चाहिए। ऐसा बेगैरत आदमी मैंने आज तक नहीं देखा।"

बेगम की भवें तन गईं। "तुमसे इस बारे में किसी ने पूछा है?"

"आदमी हमेशा पूछने पर ही दिल की बात कहता है?"

सिद्दीक ने प्याली बेगम की तरफ़ बढ़ा दी। "जिस आदमी की आँखें देख सकती हैं, कान सुन सकते हैं, वह देख-सुनकर भी मुँह से कुछ न कहे, यह क्या मुमकिन है? मैं इतनी बात और कहना चाहता हूँ कि खालका ने अब इस आदमी को

घर में आने दिया, तो मैं एक दिन भी यहाँ नहीं रहूँगा। अपनी इज़्ज़त की मुझे फ़िक्र नहीं...मेरी तो कोई इज़्ज़त है ही नहीं...पर खालका की इज़्ज़त इस तरह खाक में मिलते मैं नहीं देख सकता।''

बेगम ने प्याली उसके हाथ से नहीं ली। अन्दर की तरफ़ इशारा कर दिया, ''जाकर नज़मा को दे दो।''

सिद्दीक पलभर रुका रहा। फिर लोई समेटता हुआ अन्दर चला गया। लोई का एक सिरा नज़मा के कन्धे से छू गया, तो उसने तीखी नज़र से सिद्दीक की तरफ़ देख लिया।

''बेगम ने तुम्हारे लिए भेजी है।'' सिद्दीक का प्यालीवाला हाथ भी नज़मा के कन्धे से छू गया।

''मुझे नहीं चाहिए।''

''बेगम ने कहकर भेजी है।''

''मैंने कहा है, मुझे नहीं चाहिए।'' खालका की पगड़ी ठिकाने से रखने के बहाने नज़मा ने अपना जिस्म समेट लिया।

''तुम्हारी मर्ज़ी।'' सिद्दीक वापस बावर्चीखाने में आ गया और बेगम से बोला, ''वह कहती है, उसे नहीं चाहिए।''

''मैंने सुन लिया है।'' बेगम के कनवाज अन्दर की तरफ़ घूमे और फिर सीधे होकर कुछ देर हिलते रहे। ''तुम बैठकर अपना काम करो।''

''नूरा अभी तक नहीं आई। मैं जाकर पता करूँ?''

''तुम काम करो। वह आ जाएगी।''

''काम सब हो गया है। तुम कहो तो मैं अभी जाकर...''

''मैंने कह दिया है कि तुम्हें कहीं नहीं जाना है। ज़रूरत होगी, तो मैं खुद जाकर पता कर लूँगी।''

''इतनी रात तक नूरा के बाहर रहने से...''

बेगम ने तीखी नज़र से उसे देख लिया...सिद्दीक की ज़बान लड़खड़ा गई। ''मैं हिफाज़त के ख़याल से कह रहा था।''

''मेरी लड़की अपनी हिफाज़त खुद कर सकती है। तुम्हें उसके लिए परेशान होने की ज़रूरत नहीं,'' कहती हुई बेगम डूँगे के सिरे पर चली गई। सिद्दीक की समझ में नहीं आया कि हाथ की चाय का क्या करे, तो उसने उसे वापस समावार में डाल दिया।

डूँगे की छत से जुड़ी हुई खालका की आँखें वहाँ से हटकर अपने पर आईं, तो लकड़ी के फ़र्श पर बेजान-से पड़े शरीर पर उसे तरस हो आया। खाँसी उठने लगी, तो उसने हाथ से छाती को दबा लिया।

लालटेन बुझ गई थी। कोई आहट भी नहीं थी। घाट को छूकर जाते पानी की हलकी आवाज़ थी, या दूर से आते डूँगों और बहचों के चलने की मद्धिम लय, पानी की काँपती सतह के साथ काँपती हुई। हवा से पेड़ों की पत्तियाँ हिलतीं तो उनकी सरसराहट उसे अपनी हड्डियों को सहलाती महसूस होती। खिड़की से दिखाई देता घाट और आकाश का छोटा-सा टुकड़ा, डूँगे की छत की तरह उसके अस्तित्व का ही एक हिस्सा था। कितने बरसों में कितनी तरह उसने उसे जिया था।

घाट ज़्यादा चौड़ा नहीं था। उतनी ही जगह थी जितनी में चार आदमी हुक्का गुड़गुड़ाते हुए बैठकर बात कर सकें। हरे और सुरमई पत्थर इतने चिकने पड़ गए थे कि ज़रा-सी बूँदाबाँदी से ही उन पर से पाँव फिसलने लगता था। घाट से बाँध की सड़क तक जानेवाली लकड़ी की सीढ़ी दो-एक जगह से टूट रही थी, जिससे आते-जाते गिरने का डर बना रहता था। घाट और डूँगे के बीच का तख़्ता इतना गल गया था कि किसी भी समय ऊपर से गुज़रते आदमी के साथ दरिया में बैठ सकता था। सालभर से सिद्दीक से कहा जा रहा था कि उसे बदल दे, पर वह रोज़ बात को कल पर टाल देता था। पीछे स्याह पत्थरों की दीवार घास और काई से जगह-जगह हरी हो आई थी। मेढकों ने उसमें जहाँ-तहाँ सुराख बना रखे थे। पास से गुज़रते शिकारों और बहचों की रोशनी में घाट की स्याही कभी चमक जाती, वरना अँधेरे में डूबा घाट अँधेरे का ही एक हिस्सा बना रहता।

बाँध के ऊपर पेड़ों से घिरे आकाश को बिजली का एक खम्भा बीच से काटता था। बचपन में जब वह खम्भा वहाँ नहीं था, तब आकाश उसे ज़्यादा नज़दीक और ज़्यादा अपना लगता था। जब से खम्भे ने आकाश को दो टुकड़ों में बाँट दिया था, तब से वह उसे बेगाना-सा लगने लगा था। खम्भे को एकटक देखते हुए अक्सर उसके मन में उदासी घिर आती, उसे अपना आप अपने से कटा हुआ लगने लगता। उस खम्भे ने आकाश को ही नहीं, दरिया और घाट को भी कुछ हद तक अजनबी बना दिया था।

आकाश के बँट जाने के बाद ही बेगम उसके साथ वहाँ रहने के लिए आई थी। बेगम को अपने साथ देखते, उसके साथ वहाँ रहते-सोते, एक अजब-सा खला खालका को घेरे रहता। बेगम की खुली हँसी, खुली बातचीत और खुले व्यवहार के सामने अपना घर और अपना आप उसे बहुत छोटा लगता। उम्र में ज़्यादा फ़र्क न होने पर भी अपने को वह बेगम के सामने काफ़ी बड़ा और पुराना-सा महसूस करता। चाहता कि बेगम के खुलेपन का साझीदार बन सके, उसके साथ उसी जैसा होकर जी सके, पर हर कोशिश के बावजूद यह सम्भव न हो पाता। उसकी ज़बान और हाथ-पैर बेगम के सामने जकड़े-से रहते। उन क्षणों में भी, जब बेगम के शरीर की गरमी उसके शरीर को गरमा रही होती, उसे ज़्यादा अहसास अपने ठंडेपन का ही होता। रात को साथ

लेटे हुए बेगम आवेश में उसके होंठों को चूमने लगती, तो कोमल शरीर के रोमांचक आक्रमण को सहते और कहीं अन्दर में उसमें सुख पाते हुए भी वह अपने को सिकुड़ते हुए पाता। कभी अस्फुट शब्दों में उससे कह भी देता, "देखो, आवाज़ न करो। चचा की नींद कहीं खुल गई, तो..."

बेगम मचल जाती। और भी आवेश में उसे चूमने लगती। कहती, "खुल जाने दो उसकी नींद। उसका बस चले तो वह मुझे तुम्हारे पास फटकने भी न दे।"

खालका तब अपने को कमज़ोर पाकर निढाल हो रहता। कोशिश करता कि तख्ते पर टिकी हुई बेगम की कुहनियों को अपने हाथों से सँभाले रहे, उसके घुटनों को अपने घुटनों का सहारा दिए रहे, और जहाँ तक बन पड़े, साँसों की तेज़ आवाज़ को कम्बलों में ढाँपे रहे। बेगम उसकी सतर्कता से झुँझलाकर उसकी गरदन या कन्धे में दाँत गड़ा देती। खालका के गले से हलकी-सी आवाज़ निकलती—पा लेने के सन्तोष और न सह सकने के दर्द की। साथ ही शरीर आशंका से काँप जाता। वह आहट लेने लगता कि साथ के कमरे में रमज़ान करवट तो नहीं बदल रहा। फुसफुसाकर बेगम के कान में कहता कि अब सो जाना चाहिए। मगर बेगम का हठ बढ़ता जाता। खालका सिमटने की कोशिश करके भी सिमट न पाता। बेगम के बढ़ते आवेश के नीचे बेबस पड़ा उन क्षणों के बीत जाने की प्रतीक्षा करता। दुआ माँगता कि इस बीच रमज़ान की नींद न खुल जाए। बेगम उससे अलग होकर सामने की खिड़की की तरफ़ सरक जाती, तो कुछ क्षण वह हाँफता हुआ पड़ा रहता। उधर रमज़ान करवट बदलता या खाँस उठता तो उसका शरीर सुन्न होने लगता।

"तुम आदमी हो? तुम्हें तो घोंघा बनकर पैदा होना चाहिए था," उसे बेगम से सुनना पड़ता। "कोई भी आदमी का बच्चा तुम्हारी तरह नहीं डरता होगा।"

"मैं डरता नहीं," वह उसे समझाना चाहता, "सिर्फ़ बुड्ढे के चिड़चिड़ेपन से बचा रहना चाहता हूँ। तुम जानती हो कि किस तरह बात-बेबात पर वह गला फाड़ने लगता है।"

बेगम और नाराज़ हो जाती। "तुम्हीं हो जो उसकी बकझक चुपचाप सुन लेते हो। तुम्हारी वजह से दूसरों को भी चुप रह जाना पड़ता है।"

"चुप रहने में ही बेहतरी नहीं है? उसके सामने किसी का बस चलता है?" बेगम एक बार तेज़ नज़र से उसे देखकर पास से हट जाती। "कम-से-कम तुम्हारा बस नहीं चलता, इतना मैं जानती हूँ।"

चार साल के फ़र्क से उनके दो बच्चे हुए—दोनों लड़कियाँ। बेगम को दोनों बार निराशा हुई—अपने से कम, खालका से ज़्यादा। लड़का न होने की मुख्य जिम्मेदारी जैसे खालका पर ही हो। नबी का घर छोड़कर इस घर में वह आई थी, तो मन में कहीं यह आशा लिये थी कि भाई के साथ खेल न पाने की हसरत अब वह दूसरी तरह पूरी कर सकेगी। यह भी उसने सोच रखा था कि अपने लड़के का वही नाम रखेगी जो

उसके भाई का था—अहमद। वह बड़ा होगा, तो उसे अपने साथ बुलार में घुमाने ले जाएगी, खुद ही उसे चप्पू सँभालना और मछली पकड़ना सिखाएगी। लड़का ख़ूब गोरा-चिट्टा होगा, ख़ूब सुडौल—चार-चार आदमियों के साथ वह अकेला लड़ जाया करेगा। न तो वह नबी की तरह बेहूदा ढंग से हँसेगा, न रमज़ान की-सी कर्कश आवाज़ में चिल्लाएगा, न खालका की तरह दब्बू बनकर दूसरों की खिदमत करेगा। उसके भरोसे ज़िन्दगी भर वह गरदन तानकर रह सकेगी। उससे ऊँची बात करने या टेढ़ी नज़र से उसे देखने का किसी का हौसला नहीं होगा।

पहली बार लड़की हुई तो उसने किसी तरह मन मार लिया, मगर दूसरी बार वह बरदाश्त नहीं कर सकी।

खालका झुकी आँखों से बेगम के सख़्त-से-सख़्त ताने सुन लेता और काम में लगा रहता। उसका विरोध करके या तेज़ बात उससे कहकर वह उसका दिल नहीं दुखाना चाहता था। तेज़ बात तो उसके मुँह से निकलती ही नहीं थी। प्यार और हमदर्दी से वह बेगम को देखता हुआ ज़्यादा-से-ज़्यादा इतना कह देता, "खुदा की रज़ा यही है, तो हम-तुम उसमें क्या कर सकते हैं? उसकी रज़ा होगी तो अगली बार तुम्हारी गोद लड़के से भर जाएगी। यह भी उसका शुक्र है कि उसने दो बच्चे तो दे दिए हैं। कितने लोग ऐसे नहीं हैं जो बच्चे का मुँह देखने को ही तरस जाते हैं?"

"तुम नहीं कहोगे, तो कौन कहेगा?" बेगम तुनकती। "तुम्हें तो मरा हुआ बच्चा भी मिल जाता तो तुम इसी तरह खुदा का शुक्र बजा लेते।"

"बच्चों की सलामती की दुआ माँगो बेगम! ऐसी बात कभी मुँह से नहीं निकालनी चाहिए। खुदा ने जो कुछ दिया है, उसके लिए शुक्रगुजार न होंगे तो आगे के लिए वह अपना हाथ समेट नहीं लेगा?"

"अपनी कमज़ोरी खुदा पर डालते हुए शरम नहीं आती? आदमी के अन्दर जो होगा, वही तो बाहर आएगा! औलाद आदमी के ख़ून से बनती है। आदमी के ख़ून में वह माद्दा ही न हो, तो खुदा के करने से भी क्या होगा?"

बार-बार खालका को अपमानित होना पड़ता, फिर भी वह सोचता कि शायद अगली बार वह अपनी बात बेगम को ठीक से समझा सके। उधर रमज़ान उसकी लगामें खींचे रखता। बेगम से रमज़ान को हर तरह से शिकायत थी—कि वह ठीक से उसका अदब नहीं करती, कि घर के काम से वह जी चुराती है, कि ज़बान उसकी बहुत तीखी है और बातचीत में वह बड़े-छोटे का लिहाज़ नहीं करती, कि रहन-सहन का सलीका उसे बिलकुल नहीं आता, कि बाप के घर में अकेली लड़की होने से वह बहुत आवारा मिजाज़ हो गई है, कि सुई में डोरा डालने तक की तमीज़ उसे नहीं है, कि खालका जैसा बेग़ैरत आदमी ही ऐसी औरत को सिर पर चढ़ाकर रह सकता है—कोई और होता तो कब का उसे उसके बाप के घर छोड़ आता। पर बेगम के सामने

कुछ कहने की हिम्मत रमज़ान की भी नहीं होती थी। बेगम मुँह से भले ही कुछ न कहती, पर एक ऐसी नज़र से उसे देख लेती थी कि रमज़ान की पसलियाँ चटकने को हो आती थीं। वह अपने लबादे में सिमटा उसके पास से हट जाता और जो कुछ कहना होता, मुँह में बुदबुदाता रहता। बाद में सारा गुबार वह खालका के सिर पर निकाल लेता।

पर एक दिन जब बेगम और रमज़ान के बीच सीधे चखचख हो गई। और रमज़ान ने खालका से कह दिया कि वह उसी वक़्त जाकर बेगम को नबी के यहाँ छोड़ जाए, तो खालका बहाने से वहाँ से निकलकर फिर लौटकर नहीं गया।

बात मामूली-सी थी। बगतुओं का लड़का कादिर अक्सर उनके यहाँ आया करता था। उस सोलह साल के लड़के से बेगम को ख़ास ही लगाव था। उस दिन बेगम ने उसे खाने के लिए रोक लिया था और उसके लिए आबगोश चढ़ाया था। पर इससे पहले कि हाँडी में गोश्त पकता, रमज़ान उबलकर आपे से बाहर हो गया। कादिर के साथ बेगम का नाम जोड़कर उसने जो कुछ कहा, वह उतना अप्रत्याशित नहीं था जितना बेगम का फ़र्श पर कलछी पटककर खड़ी हो जाना और सीधी ज़बान से रमज़ान का हिसाब तय करने लगना। बरसों से जितनी बातें छाती में रुकी हुई थीं, वे सब बेगम ने कह डाली थीं। आखिर यह कहकर उसने बात समाप्त की थी कि सोलह साल के कादिर से, जिसे वह अपने बच्चे की तरह मानती है और जिससे अपनी बड़ी लड़की का निकाह करने की सोचती है, उसका नाम जोड़कर बात करनेवाला आदमी, आदमी नहीं, नाबदान का कीड़ा है, बल्कि उसे कीड़ा कहना भी कीड़े का अपमान करना है।

खालका पास ही खड़ा सुन रहा था। जब इसके जवाब में रमज़ान के फेफड़े धौंकने लगे, तो वह बाँध की मुँडेर पर चला गया। रमज़ान ने पुकारकर उसे नीचे बुलाया, तो वह मोटर स्टैंड तक हो आने की बात कहकर वहाँ से उठ आया। उसके बाद ज़िन्दगी भर रमज़ान की शक्ल उसने नहीं देखी।

वहाँ से उसके जाने और लौटकर आने के बीच सात साल गुज़र गए थे। जब वह गया, तब नज़मा ग्यारह साल की थी। और नूरा सात साल की।

सात साल खालका कलकत्ते में रहा। कलकत्ते के एक शाह साहब—शाह मुहम्मद अनवर—एक साल पहले उनके हाउसबोट में ठहरे थे। वे शाहख़र्च आदमी थे, उससे ज़्यादा शाहज़बान। खालका के साथ रमज़ान के व्यवहार से वे बहुत चिढ़ा करते थे। तभी वे खालका को अपने साथ ले जाने को तैयार थे। कश्मीरी ढंग से पके गोश्त, ख़ास तौर से आबगोश्त, गोश्ताबा और यखनी, उन्हें इतने पसन्द थे कि उन्हीं के लिए वे एक कश्मीरी बावर्जी साथ रख लेना चाहते थे। खालका तभी चला जाना चाहता था, पर रमज़ान के डर के मारे इस बात को ज़बान पर नहीं ला पाया था। शाह साहब

जाते हुए अपना पता उसे एक कार्ड पर लिखकर दे गए थे। कह गए थे कि जब वह चाहे उनके पास चला आए, उसके लिए जगह उनके पास हमेशा रहेगी। वह फटा हुआ कार्ड, शाह साहब के साथ उतरी हुई उनकी तसवीर के साथ, हर वक़्त खालका की बास्कट की ज़ेब में रहता था।

रसद खरीदने के लिए जो पैसे उसकी ज़ेब में थे, उनसे वह कलकत्ता पहुँच गया। एक दिन घूमने-भटकने के बाद शाह साहब का घर उसने ढूँढ़ लिया। शाह साहब ने इस तरह उसे लिया जैसे वह पहले से ही उस घर में मुलाज़िम हो। पहले दिन से ही बाग़ और बावर्चीखाने का काम उसे सौंप दिया गया।

बिलकुल और तरह की दुनिया थी वह। और ही तरह के वहाँ के नाते-रिश्ते थे। खान-पान, बातचीत, रहन-सहन सबकुछ और तरह का था। पहले छह महीने उसका मन नहीं लगा। वह हर वक़्त घर और जेहलम के लिए ललकता रहा। हुगली के किनारे जाकर उसका मन उदास हो जाता। वहाँ पर तैरती पालवाली नावें उसे और अजनबी बना देतीं। वह रोज़ शाह साहब से इजाज़त लेकर लौट जाने की सोचता मगर जब उनके पास यह बात कहने जाता, तो और ही बात कहकर चला आता।

धीरे-धीरे उस ज़िन्दगी की आदत होने लगी। वहाँ के नाते-रिश्ते पहले से कम बेगाने लगने लगे।

लड़ाई के दिन थे। कलकत्ते में हर वक़्त जापानियों के हमले का खतरा बना रहता था। उस खतरे के बीच रहना, हर वक़्त मौत और ज़िन्दगी के बीच की पटरी पर चलना, उसके मन को और ही तरह से बाँधने लगा। उसका मन रोज़ इन्तज़ार करता आसमान से बमबारी होने की, आसपास की बड़ी-बड़ी इमारतों को तहस-नहस होते देखने की। ऊपर हवाई जहाज़ों की गूँज और नीचे फ़ौजी दस्तों के जूतों की आवाज़ उस घड़ी को हर रोज़ नज़दीक लाती महसूस होती। जब सुनने को मिलता कि कलकत्ते पर शायद हमला नहीं होगा, तो इस बात पर वह विश्वास न करना चाहता।

दो-एक बार जापानी हवाई जहाज़ आए भी। उसे लगा कि अब ज़्यादा इन्तज़ार नहीं करना होगा। लड़ाई की शुरुआत अब होनेवाली है। मगर शुरुआत होकर भी नहीं हुई। लड़ाई कलकत्ते की सरहद को छूकर ही लौट गई।

शाह साहब के घर में हर तरह का आराम था। जब चाहे, तब छुट्टी भी मिल जाती थी। मगर उसका मन. अन्दर ही अन्दर किसी चीज़ के लिए छटपटाता रहता था। वह खुद नहीं समझ पाता था कि वह छटपटाहट क्या है, किस चीज़ के लिए है। उससे पूछा जाता कि वह छुट्टी लेकर घर क्यों नहीं हो आता, तो वह अपने को भी ठीक से जवाब न दे पाता कि वह क्यों वहाँ से नहीं जाना चाहता।

बेगम की याद अक्सर आती थी। नज़्मा और नूरा की भी। तो क्या वह इसलिए लौटकर नहीं जाना चाहता था कि बेगम का सामना करने का हौसला उसमें नहीं था?

उसे यह भी तो मालूम नहीं था कि उसके चले आने के बाद रमज़ान ने बेगम को वहाँ रहने दिया था या सचमुच नबी के पास भेज दिया था। पर वापस न जाने का कारण इतना ही तो नहीं था...।

शाह साहब के यहाँ रहते उनकी आया एलिस से उसकी अच्छी आशनाई हो गई थी। साथ-साथ उनके क्वार्टर थे। रंग काला होते हुए भी एलिस के गदराए शरीर में अपना ही एक आकर्षण था। रहती भी वह ख़ूब बन-ठनकर थी। दूसरे नौकर कहते थे कि नौकरी तो उसके लिए बहाना है, असली आमदनी उसे फ़ौजी बैरकों से है। कई बार रात-रात वह अपने क्वार्टर से गायब रहती। पूछने पर कहती कि अपनी मौसी और मौसेरी बहनों से मिलने जाती है। मौसेरी बहनों की बात पर सुननेवाले मुसकरा देते।

औरत के शरीर को कितनी तरह के सहारे देकर रखा जा सकता है, यह उसे पहली बार तब मालूम हुआ जब एक रात एलिस बाहर से पिए हुए लौटी और ग़लती से अपने क्वार्टर की जगह उसके क्वार्टर में चली आई। उस रात उसे सँभालने-सँभालने की कोशिश में उसे कई तरह की नई जानकारी हासिल हुई। एलिस की साँसों की तेज़ बू कितने ही दिन उसके दिमाग़ से नहीं निकल पाई।

एलिस अपने बाहर आने-जाने के बारे में जो कुछ भी कहती थी, उस पर वह सहज ही विश्वास कर लेता था। इस पर भी कि दूसरे लोग उससे जलते हैं, इसलिए बिना वजह उसकी बदनामी करते हैं। वे उसे पाना चाहते हैं पर वह उन पर थूकना भी पसन्द नहीं करती। थोड़े पैसे जमा हो जाएँ, तो वह शादी करके घर बसा लेगी। इन कमीने लोगों के बीच नहीं रहेगी। अपना घर हो जाएगा, तो आया का काम भी नहीं करेगी। टाइपिंग सीखकर दफ़्तर की नौकरी करेगी।

''तुमने अब तक शादी क्यों नहीं की?'' एक रात खालका की बाँह पर सिर रखे हुए उसने पूछा। खालका के मन में कील-सी गड़ गई।

''मैं शादीशुदा हूँ,'' उसने कहा, ''मेरे दो बच्चियाँ भी हैं।''

''तुम झूठ बोल रहे हो।''

''नहीं, मैं बिलकुल सच कह रहा हूँ।''

एलिस सिर उठाकर उसके ऊपर झुक आई। हाथ से उसकी बाँह की मांसपेशियों को टटोलती रही। ''तो तुम कभी उनसे मिलने क्यों नहीं जाते? कभी उनका ज़िक्र क्यों नहीं करते?''

''ऐसे ही। कभी मौका ही नहीं आया।''

''नहीं, यह बात नहीं है। बात कुछ और ही है।'' खालका चुप ही रहा अपने से और एलिस से दूर हटकर दीवार के हाशिए में कुछ खोजता रहा।

''मैंने भी एक बार शादी की थी,'' एलिस दाँत उघाड़कर मुसकराई। ''दो महीने के लिए।''

खालका चौंक गया। आँखें उसकी दीवार से हट आईं। "दो महीने के लिए?"
"मतलब, दो महीने रही वह शादी। फिर मैंने उसे तलाक दे दिया।"
"क्यों?"
"वह मुझे बहुत डाँटता था...और घर के अन्दर बन्द रखना चाहता था। एक दिन मुझे गुस्सा आ गया, तो मैंने पानी का जग उस पर दे पटका और उसके घर से चली आई।"
खालका को अपने पर एलिस का वज़न कुछ भारी महसूस हो रहा था। वह थोड़ा एक तरफ़ को सरक गया। पर एलिस की गरम साँसें उससे दूर नहीं हुईं।
"तुम तलाक लेकर दूसरी शादी क्यों नहीं कर लेते?"
"दूसरी शादी...?"
"हाँ, क्यों नहीं? तुम इतने जवान आदमी हो। स्वभाव के इतने अच्छे हो फिर अच्छी नौकरी पर हो। कोई भी औरत तुमसे शादी करना अपनी खुशक़िस्मती समझेगी।"
खालका के मुँह से शब्द साफ़ नहीं निकले। गले से हलकी आवाज़ पैदा होकर रह गई।
कई रातें उसे ठीक से नींद नहीं आई। अधनींदेपन में बार-बार वह अपने को डूँगे में लौटते और रमज़ान की गालियों का सामना करते देखता। बेगम के माथे पर दूर से ही त्योरियाँ नज़र आतीं और पास जाने की उसकी हिम्मत न होती। नज़मा और नूरा को प्यार करने लगता तो वे उसके हाथों से छूट-छूट जातीं। फिर वह हुगली के किनारे पहुँच जाता और वहाँ एलिस की बाँहें उसे कसने लगतीं। वह जितना छूटने का प्रयत्न करता, उतना ही बाँहें कसती जातीं। अकेले में वह अपनी मांसपेशियों को टटोलकर देखता, बाँहों और जाँघों की मज़बूती का जायजा लेता। मन में विश्वास भरने लगता तो रमज़ान फिर गालियाँ बकता हुआ सामने आ खड़ा होता, बेगम उसकी तरफ़ पीठ किए बाँध की मुँडेर के साथ-साथ चलती हुई दूर-दूर होती जाती।
एक और बात सोचकर उसका मन बैठने लगता। इतने दिन एलिस से सम्बन्ध रखने पर ही उसका कुछ परिणाम क्यों नहीं निकला? क्या बेगम की बातें ही सच थीं कि उसके ख़ून में वह माद्‌दा ही नहीं जिससे...। पर एलिस ने कभी उससे ऐसी शिकायत क्यों नहीं की?...फिर नूरा और नज़मा आख़िर उसी की तो बेटियाँ थीं!
एक बार उसने एलिस से पूछा लिया, "तुम्हें डर नहीं लगता?"
"कैसा डर?"
"हमारे बीच में जो कुछ होता है, उससे किसी दिन...किसी दिन कोई मुसीबत भी तो खड़ी हो सकती है।"
एलिस हँस दी। "मैं नहीं जानती थी कि तुम इतने डरपोक हो।"

डरपोक! उसे लगा जैसे यह बात एलिस के नहीं, बेगम के मुँह से सुन रहा हो।

"वैसे डरने की बात नहीं," एलिस बोली, "वह झंझट ही मैंने ख़त्म कर रखा है।" खालका अवाक् उसकी तरफ़ देखता रहा। एलिस ने बात उसे ठीक से समझा दी। "मैं नहीं चाहती थी कि रोज़-रोज़ की परेशानी मन में बनी रहे।"

खालका को लग रहा था जैसे उसके हाथ-पैरों में ख़ून रहा ही न हो, या उसकी जगह किसी भुरभुरे पदार्थ ने ले ली हो।

"तुम फिर से शादी करोगी, तो तुम्हें बच्चे की ख्वाहिश नहीं होगी?"

"बिलकुल नहीं!"

"कभी नहीं?"

"कब्बी नहीं।"

"पर मैं तो...मैं तो सोचता था कि..."

एलिस ने उसके गाल में उँगली गड़ा दी। "तुमने ज़िन्दगी अभी देखी नहीं है। देख लोगे, तो जान जाओगे कि जिस ख्वाहिश की इतनी कीमत देनी पड़े, उसे मन से निकाल फेंकना ही अच्छा है।"

सूखा दरिया...उतरा हुआ पानी...जमकर बर्फ़ हुई, झील डल...बर्फ़ में मुरझाए हुए कमल...बेबस बाँहों की तरह झुके-झुके कमलनाल...।

वह जितना इन सपनों को मन से निकाल फेंकना चाहता, उतना ही उनका जमघट मन में बढ़ता जाता। वह देखता कि वह अपने डूँगे की छत पर बैठा है और बर्फ़ के पिघलने और दरिया के फिर से भर जाने की राह देख रहा है। बर्फ़ीली झील पर धूप के इन्द्रधनुष झिलमिलाते, बर्फ़ नरम पड़ने लगती कि सहसा उसकी नींद टूट जाती। सामने मटियाली दीवार पर जामुन के साए सिर हिला रहे होते।

रात के आख़िरी पहर में वह प्रायः रोज़ ही नए सिरे से ज़िन्दगी शुरू करने की बात सोचता। सोचता कि एलिस से कहे, तो क्या वह कलमा पढ़कर उससे शादी करने को तैयार नहीं हो जाएगी? और वह न तैयार हो कलमा पढ़ने को, तो क्या वह खुद ही उसकी ख़ातिर बपतिस्मा स्वीकार नहीं कर सकता?

मगर सुबह होने के साथ ही यह बात ओछी लगने लगती। वह और बपतिस्मा! वह भी एलिस जैसी लड़की के साथ शादी करने के लिए?

शाम के वक़्त एलिस उसे सुन्दर लगती। लगता कि उसके साथ वह पूरी ज़िन्दगी काट सकता है। मगर सुबह नाश्ते के वक़्त उसके शरीर और चेहरे में सौ-सौ दोष नज़र आने लगते। लगता कि उस जैसे स्वभाव की औरत के साथ चौबीस घंटे भी तो नहीं काटे जा सकते।

एलिस का शरीर उसके शरीर से सटा होता तो वह बेगम के शरीर की तुलना में उसकी विशेषताओं का विश्वास अपने को दिलाया करता। पर ज्यों ही वह पास से हटती, वे विशेषताएँ भी साथ ही मन में ओझल हो जातीं। बाद दोपहर उसे अक्सर अपने और एलिस से नफ़रत हुआ करती। मगर शाम होते-होते उसकी सौन्दर्य-भावना का तराजू फिर पलटा खा जाता।

एक दिन सुबह उठने पर पता चला कि एलिस को नौकरी से जवाब मिल गया है और वह रात को ही क्वार्टर छोड़कर चली गई है। उसे यह भी लगा कि सब लोग उसकी तरफ़ भी सन्देह और आशंका की नज़र से देख रहे हैं। कारण उसकी समझ में नहीं आया। किसी से पूछने का हौसला भी नहीं हुआ। शाह साहब का नाश्ता लेकर उनके कमरे में गया, तो उन्होंने नाश्ता एक तरफ़ रखवा दिया और कुछ देर स्थिर दृष्टि से उसे देखते रहे।

"तुम्हें घर से आए कई साल हो गए," कहते हुए शाह साहब की आँखें हाथ के अखबार की तरफ़ झुक गईं। "इस बीच तुमने बीवी-बच्चों की कभी ख़बर तक नहीं ली। तुम्हारा मन कभी उनके पास जाने को नहीं करता?"

खालका की आँखें गलीचे पर बने दाग़ को देखने लगीं। एक बार उसी के हाथ से वहाँ चाय छलक गई थी। तब वह नया-नया आया था। "सोचता था कि हुजूर जब खुद ही ठीक समझेंगे, तब एकाध महीने की छुट्टी लेकर हो आऊँगा।"

शाह साहब ने अख़बार का पन्ना पलटा, फिर उसे तह करके रख दिया। "मैंने हाल ही तुम्हारे चचा को श्रीनगर चिट्ठी लिखी थी कि तुम यहाँ मेरे पास काम कर रहे हो। वहाँ से कल ही जवाब आया है।" खालका को लगा कि गलीचे का दाग़ पहले से गहरा हो गया है। उसके घुटने कमज़ोर पड़ रहे थे। मन हो रहा था कि वहीं फ़र्श पर बैठ जाए।

"क्या लिखा है?" उसने खुश्क होते गले से पूछा।

"खत सिद्दीक नाम से किसी आदमी ने लिखा है। कुछ अरसा पहले तुम्हारे चचा की मौत हो चुकी है। बोट की देखभाल आजकल तुम्हारा दामाद अब्दुल कादिर कर रहा है।"

दाग एक से दो, दो से तीन होने लगे। अपने काँपते घुटनों को सँभालना खालका को असम्भव लगा, तो वह उकड़ूँ होकर बैठ गया। "अब्दुल कादिर से नज़्मा की शादी हो गई है?"

शाह साहब अख़बार रखकर कुर्सी से उठ खड़े हुए। "तुम्हें इसकी भी खबर नहीं? कितनी शर्म की बात है!...तुम आज ही रात की गाड़ी से वापस जा रहे हो। मैं चिट्ठी लिखकर वहाँ पता दिए देता हूँ।"

शाम को अपने बिस्तर और बक्से के साथ हावड़ा स्टेशन की भीड़ में बैठे हुए खालका के घुटने काँप रहे थे। चलने से पहले वह कई ऐसी बातें सुन आया था

जिन्होंने अन्दर से उसे और निढाल कर दिया था। दूसरे नौकरों से पता चला था कि एलिस की नौकरी एक ख़ास वजह से छुड़ाई गई। शाह साहब की बच्ची की ज़बान पर कुछ ख़तरनाक क़िस्म के छाले निकल आए थे। डॉक्टर ने बताया था कि इसका कारण किसी ऐसे व्यक्ति का चूमना ही हो सकता है जो गम्भीर रूप से सिफलिस जैसी बीमारी से पीड़ित हो। यह एलिस ही हो सकती थी, क्योंकि बच्ची की देखभाल उसी के सुपुर्द थी। उसे यह भी बताया था कि उसके साथ एलिस के सम्बन्ध की बात शाह साहब बहुत दिनों से सुन रहे थे और बहुत पहले से उसे वापस श्रीनगर भेज देने की सोच रहे थे।

स्टेशन पर बैठे खालका को महसूस हो रहा था जैसे उसके शरीर में चींटियाँ रेंग रही हों। यह अहसास नया नहीं था, पहले भी कितनी बार उसे ऐसा महसूस हुआ था। यह सोचकर कि शायद ठीक से न नहाने की वजह से ऐसा हो, वह कई दिन अच्छी तरह साबुन रगड़-रगड़कर नहाता रहा था। मगर नहाकर भी वह अहसास जाता नहीं था। कई बार यह सोचकर कि शायद शारीरिक भूख की वजह से ऐसा हो, वह उस अससास को एलिस के शरीर में डुबो देने की कोशिश करता था।

पर आज वह अहसास अहसास नहीं रहा था, एक ख़तरा बनकर दिमाग़ पर छा गया था। उसे न सिर्फ़ शरीर में जलन महसूस हो रही थी, बल्कि यह भी लग रहा था जैसे एक तेज़ बू—एलिस के शरीर की बू से मिलती-जुलती—उसकी खाल के रेशे-रेशे में से बाहर फूट रही हो। वह जलन और वह बू अपने में लिये हुए बेगम के पास उसका वापस जाना क्या ठीक था?

गाड़ी प्लेटफार्म पर आ गई, और भीड़ का रेला गाड़ी की तरफ़ बढ़ा, तो भी वह जड़-सा अपनी जगह पर बैठा रहा, घूमते पहियों पर सवार होकर सफर करने की जगह मन ही मन उन पहियों को अपने पर से गुज़रते देखता रहा। पिछली पटरी से गुज़रते एक इंजन की भाप ने उसे पूरा ढक लिया, तो अचानक उसे वहाँ से उठने का ध्यान आया। जब तक भाप छँटी, तब तक उसने अपना सामान सामने के डिब्बे में रख दिया था।

हलके पैरों की आहट सामने की खिड़की के पास आकर रुकी और वहीं रुकी रही।

खालका आहट पहचानता था—बेगम के पैरों की हर आहट का अलग-अलग अर्थ भी जानता था। आँखें बन्द रहते हुए भी उसने जैसे देख लिया था कि दरवाज़ा पार करते हुए बेगम झुकी है, एक बार आँख बचाकर उसने उसकी तरफ़ देखा है, फिर उसकी तनी हुई गरदन झटके के साथ दूसरी तरफ़ मुड़ गई है और अपने काँपते होंठों को बात कहने से रोककर वह खिड़की के पास चली गई है।

"बेगम!"

जवाब नहीं मिला, तो खालका को लगा कि उसकी आवाज़ छाती में ही घरघराकर रह गई है, बाहर सुनाई नहीं दी। गला साफ़ करने की कोशिश करते हुए उसने करवट बदली। दुखती हड्डी में सोया हुआ दर्द जाग आया, जिसे उसने माथे की शिकन से पी लेना चाहा।

''बेगम!'' उसने फिर आवाज़ दी। बेगम उसकी तरफ़ पीठ किए चौखट के सहारे खड़ी थी। सड़क के लैम्प की रोशनी में फिरन का उड़ा-उड़ा रंग धीरे-धीरे साँस ले रहा था।

खालका पल भर देखता रहा। फिर पास जाने के लिए खड़े होने की चेष्टा करने लगा, तो फिरन की पीठ खिड़की की तरफ़ मुड़ गई, बेगम का चेहरा सामने आ गया। ''क्या बात है?'' बेगम ने कहा, ''कहीं जाना है क्या?''

उठने की चेष्टा में खुले हुए घुटने फिर जुड़ गए और खालका ने दीवार के तख्ते से टेक लगा ली। रोशनी का एक छोटा-सा वृत्त बेगम के चेहरे पर रुका हुआ था। चेहरे की खाल आज भी उतनी ही चिकनी लग रही थी जितनी कि बरसों पहले। बिनाई के रेशे ज़रा भी तो ढीले नहीं पड़े थे। पल भर आँख मूँदकर खालका ने उठती साँस को किसी तरह रोका, फिर आँख से ही बेगम को पास आने के लिए इशारा किया। साथ ही हलके से कहा, ''यहाँ आओ।''

बेगम के पास आने पर खालका ने अपना हाथ उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। मगर बेगम ने हाथ नहीं पकड़ा, वैसे ही पास बैठ गई। खालका का हाथ ढीला होकर वापस घुटने पर चला गया।

''तुम कुछ कहना चाहते थे?'' बेगम ने पूछ लिया।

''इतना ही कहना चाहता था कि उस बात को लेकर तुम अब तक इतनी परेशान क्यों हो?''

''किस बात को लेकर?''

''उसी बात को। कादिर ने जवानी के जोश में अगर एक नाजायज़ हरकत की भी है, तो...''

''मैं उस बात को लेकर परेशान नहीं हूँ।''

''तो क्यों अब तक इस तरह हो रही हो?''

खालका ने अब उसका हाथ अपने हाथ में लिया, तो बेगम ने हाथ हटाया नहीं। वैसे ही आत्मसमर्पण में उसके हाथ में रहने दिया जैसे कई साल से, कभी-कभी, अपने को रहने देती थी। आँखें उसकी फिर भी खालका को जैसे अभियुक्त के रूप में देखती रहीं। ''तुम्हें किसी की परेशानी से उलझन क्यों होने लगी?'' उसने कहा, ''ज़िन्दगी में यह पहली परेशानी तो है नहीं।''

खालका की आँखें झुकीं, उठीं, फिर झुक गईं। बेगम की नज़र और उसके शब्दों के सामने वह हमेशा की तरह अपने को सिमटते पा रहा था। वर्षों का इतिहास बेगम

की एक नज़र या एक शब्द में नए सिरे से उसे छू जाता था। कुछ देर बेगम का हाथ उसके हाथ में ढीला-सा पकड़ा रहा, फिर एक कमज़ोर दबाव के साथ उसने उसे थोड़ा-सा कस लिया। ''क्या मैं नहीं जानता,'' उसने कहा, ''कि मेरी वजह से तुम्हें आज तक कितनी तकलीफ़ें उठानी पड़ी हैं? तुम्हारी जगह कोई और होती, तो जाने कब की छोड़कर चली गई होती।''

बेगम के माथे पर हलकी सलवटें उभर आईं। हाथ उसने खालका के हाथ से छुड़ा लिया। ''ज़िन्दगी भर यही सब बातें करने के सिवाय कुछ और भी करोगे तुम?''

खालका की आँखों में आँसू आ गए। कुछ देर चुपचाप आँखें झपकता रहा। फिर बोला, ''तुमने सँभाला न होता, तो शायद इतनी भी बात करने के लिए आज ज़िन्दा न होता।''

''अब सो रहो। सुबह उठकर अभी जाने और किस-किस मुसीबत का सामना करना है। अब तक जो कुछ हुआ है, वह तो अभी शुरुआत ही है।''

''सुबह सिद्दीक को भेजकर कादिर को बुला लेना। मैं उससे...''

''तुम्हें उससे कोई बात नहीं करनी है। जो बात करनी होगी, मैं खुद कर लूँगी पर जिसकी वजह से बात करने की ज़रूरत पड़ रही है पहले उसे तो लौट आने दो।''

खालका को लगा कि बेगम की आवाज़ में, उसकी आँखों के आसपास और नाक के सिरे पर कोई चीज़ काँप रही है। उसका हाथ बढ़कर बेगम के कन्धे पर चला गया। वहाँ स्पर्श की तह के नीचे भी वह चीज़ उसी तरह काँप रही थी। बेगम का चेहरा उस समय वह दुलहन का-सा लग रहा था जो ब्याह के पहले दिन लगभग इसी तरह उसके पास बैठी थी। कुछ बैठी हुई आवाज़ में उसने कहा, ''लड़की अब तक नहीं आई, तो सुबह लौट आएगी। वह अपने फूफा के यहाँ गई है, किसी बेगानी जगह पर नहीं। खुद तुम्हीं ने उसे भेजा है। रात हो जाने से उन लोगों ने आने नहीं दिया होगा। मामदा का कुछ भरोसा नहीं कि वह वहाँ पर पहुँचा भी होगा या नहीं। तुम सिद्दीक से कह देतीं, तो वह कब का उसे लेकर आ गया होता।''

बेगम बिना आँख झपके उसे देखती रही, फिर खिड़की के बाहर घाट के साथ-साथ रेंगकर जाते पानी को देखने लगी। एक बड़ा-सा लौंदा घाट और डूँगे के बीच आकर अटक गया था। किसी क्षण पानी उसे डुबो देता, पर दूसरे क्षण वह फिर बाहर नज़र आने लगता। वहाँ से उसकी नज़र वापस खालका की तरफ़ आई, तो मुँह खोले वह एकटक उसकी तरफ़ देख रहा था।

''मैं तुम्हें बताना नहीं चाहती थी,'' उसने कहा, ''तुम रात भर सो नहीं पाओगे, इसलिए। पर यह भी तो नहीं सोच पाती कि तुम्हें न बताऊँ, तो बताऊँ किसे? न बताने से चल सकता, तो जैसे भी होता अपने पर ज़बर किए रहती।''

बेगम की ठोड़ी झुक गई थी। गरदन की लकीरें गहरी हो गई थीं। चेहरे की हर जुम्बिश के साथ जैसे हवा में कोई चीज़ फड़फड़ा उठती थी। खालका ने मुँह का थूक निगला, तो वह गले के साथ चिपक-सा गया। अन्दर से एक चुभती हुई नोक ऊपर को आ रही थी। हाथ की हिलने-डुलने की शक्ति पहले से कम हो गई थी। ''कोई और बात हुई है क्या?'' उसने नोक से अपने को बचाते हुए पूछा।

लगा कि बोलने में उतना परिश्रम न करता, तो शायद शब्द भी गले में ही चिपके रह जाते।

''तुम्हारी लड़की अपने फूफा के डूँगे में नहीं है। मामदा के साथ वह कबकी वहाँ से चली आई है।''

चुभती हुई नोक खालका के गले में आकर अटक गई, ''तुमसे किसने कहा है?''

''मैं उसे लाने के लिए खुद वहाँ गई थी।''

''तुम वहाँ गई थीं?'' खालका की हड्डी को पीछे ज़्यादा ठोस सहारे की ज़रूरत महसूस होने लगी। ''और वह वहाँ नहीं है?''

बेगम ने अपने काँपते होंठों को थोड़ा सिकोड़ लिया।

''वे दोनों वहाँ से शिकारे में चले थे?''

बेगम के माथे पर शिकन काँप गई।

''शिकारा तुम्हें रास्ते में नज़र नहीं आया?''

बेगम की आँखें झपक गईं। नीचे की एक शिकन ऊपर की शिकन में खो गई।

''तुमने किसी से पता करने की कोशिश नहीं की?''

''नहीं।''

''क्यों?''

''क्योंकि मैं नहीं चाहती थी कि इस पार के आधे हाँजी यहाँ आकर जमा हो जाएँ। लोग आकर तरह-तरह की बातें पूछते, तो क्या जवाब देते तुम उन्हें? कि लड़की बदचलन और आवारा है जो इतनी-इतनी रात तक एक जवान लड़के के साथ बाहर रह जाती है? दो दिन में यह बात सोपुर और बारामूला तक पहुँच जाती, तो ज़िन्दगी भर तुम किसी के सामने सिर उठा पाते?''

''मगर, बेगम...''

''तुम इस बात की फ़िक्र न करो। वह उसे लेकर कहीं नहीं जा सकता इतना तो मामदा को मैं जानती ही हूँ। ज़्यादा-से-ज़्यादा जाएगा, तो नगीन या चिनार बाग़ तक। थोड़ी देर में हिनहिनाता यहीं लौट आएगा।''

''फिर भी अगर...''

बेगम उठ खड़ी हुई, ''अगर और कुछ देर वह लौटकर नहीं आता, तो सुबह उसकी खाल तुम मेरे हाथ में देख लेना। यह बात वह भी जानता है कि बेगम अगर अब्दुल कादिर जैसे आदमी के मुँह पर थूक सकती है, तो उस जैसे पिल्ले का ख़ून भी पी सकती है।''

खालका खुले मुँह से देख रहा था। उसका मुँह बन्द हो गया, आँखें फ़र्श के तख़्ते में डूब गईं। बेगम उस गठरी बने शरीर को कुछ देर तक देखती रही। फिर वहाँ से हटकर डूँगे के पिछले हिस्से में चली गई। वहाँ देखा कि नज़मा एक पतवार सिर के नीचे रखे सीधी लेटी है। उसकी आँखें खुली देखकर बेगम ने हलके से उसके सिर को हाथ से छू दिया।''

''नज़म!''

नज़मा कुछ क्षण उसे एकटक देखती रही, फिर अपने में सिमटती हुई उठ बैठी।

''तुम्हें नींद नहीं आई?''

''नहीं।''

कुछ देर ख़ामोशी रही। फिर नज़मा ने पूछ लिया, ''तुम क्या कह रही थीं अभी?''

स्वर की चुनौती ने बेगम को चौंका दिया, ''क्या कह रही थी?''

''कि नूरा उस डूँगे से मामदा के साथ...'' ,

''मैं जो कह रही थी वह तो तुमने सुन ही लिया है। अब उसमें और तुम्हें क्या जानना है?''

''जानना यह है कि क्या आज नूरा की खाल भी तुम उसी तरह खींचोगी, जिस तरह...''

''मैं क्या करूँगी, क्या नहीं, यह मुझे तुमसे नहीं पूछना है। तुम किस शह पर बात कर रही हो, मैं जानती हूँ। पर बेहतरी इसी में है कि आज की रात अपनी ज़बान पर काबू रखो। और जो कुछ कहने-सुनने को होगा, वह कल सुबह कह-सुन लिया जाएगा।'' और बेगम तुरन्त ही वहाँ से चली आई। खिड़की के रास्ते हाउसबोट पर आते हुए उसे लगा जैसे नज़मा की चमकती आँखें अँधेरे में उसका पीछा कर रही हों, पीछे से आकर उसके शरीर में खुभ जाना चाहती हों, उसकी आँखों के स्याह घेरे शरीर पर जगह-जगह अपनी छाप छोड़ जाना चाहते हों। चिलुक् चिलुक् चिलुक्—एक मछली दो-तीन बार पानी की सतह से उछली और गहरे में डूब गई। बेगम को लगा जैसे वह आवाज़ भी मछली के उछलने और बोट के टकराने की न होकर उसके अन्दर से किसी चीज़ के सिर उठाने और डूब जाने की हो। बाँहों को फिरन में समेटे हुए वह पैंट्री में आ गई।

पैंट्री में सिद्दीक की चटाई बिछी थी, पर वह खुद वहाँ नहीं था। लोई इस तरह बिखरी थी जैसे ओढ़ने के बाद एकाएक उसे पैरों से हटा दिया गया हो। बेगम ने एक

बार गैलरी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमकर देख लिया। सिद्दीक बोट में नहीं था।

गैलरी की उस खिड़की के पास आकर वह रुक गई, जिससे बहते पानी की धार दूर तक नज़र आती थी। कितनी-कितनी बार वह रुककर ख़ामोश बहते पानी को देखती रहती थी, कितने-कितने साये पानी की सतह पर मँडराते रहते थे। उन दिनों एक रात उसे वहाँ देखकर ख़ान ने कहा था, "दरिया में कोई चीज़ खो गई है क्या, बेगम? तुम्हारी आँखें हर वक़्त इसमें क्या ढूँढ़ती रहती हैं?"

वह मुसकराई थी। "हाँ, कोई चीज़ खो गई है।" उसने कहा था, "पर यह मालूम नहीं कि वह क्या चीज़ है।"

"तुम जानती तो हो कि क्या चीज़ है, पर बताना नहीं चाहतीं–इसलिए कि कहीं कोई ढूँढ़कर ला न दे।"

इस पर वह हँस दी थी, ख़ान के भरे चेहरे को देखती रही थी–इतनी देर कि ख़ान को अपनी आँखें हटा लेनी पड़ी थीं। फिर उसी तरह धार को देखते हुए उसने कहा था, "तुम नहीं जानते, यह दरिया मेरा कितना अपना है! मेरे दिल में इसके लिए जो मुहब्बत है, वह मुझे अपनी माँ से मिली है।"

ख़ान बात समझ नहीं पाया। हठ करने लगा माँ के बारे में जानने के लिए। यह भी कि किसी दिन साथ चलकर वह उसकी माँ से ज़रूर मिलेगा। वह हँसती रही। बोली, "तुम मेरी माँ से मिलने चलोगे? जानते हो वह यहाँ से कितनी दूर रहती है?"

"कितनी भी दूर रहती हो। तुम्हें एक दिन मुझे ज़रूर ले चलना पड़ेगा।"

"पूरा एक दिन और एक रात शिकारे में चलकर वहाँ पहुँचोगे।"

"बस, इतना ही? एक दिन और एक रात का सफर तो कुछ ख़ास नहीं।"

"तुम इतना लम्बा सफर करके उसके पास पहुँचो, और वह तुम्हारी खातिर करने की जगह तुम पर हाथ-पैर चलाने लगे, तो? मेरी माँ को अक्सर पागलपन के दौरे पड़ते हैं।"

ख़ान फिर ज़िद पकड़े रहा। रोज़ कहता कि किस दिन वह उसे अपनी माँ के पास ले चल रही है। आखिर एक दिन चलने की तैयारी हो गई। सुबह-सुबह नूरा, सिद्दीक और ख़ान के साथ वह शिकारे में निकल पड़ी।

ख़ान के साथ वह सफर...क्या उसे वह कभी भूल सकती थी?

गेट से निकलने के बाद ही ख़ान का मन उदास होने लगा था। घास-फूस से ढके लकड़हारों के डूँगे, काले फिरन, नंगी गोरी टाँगें और बहाव के साथ-साथ बढ़ती किनारों की मुफलिसी।

ख़ान की आँखें कभी ऊँचे कगारों पर रुकी रहती हैं, कभी पानी में तैरती बतखों पर, कभी चप्पू चलाती नूरा के चेहरे पर और कभी सड़े-गले बहचों की खिड़कियों पर, जिनमें से एक-एक पूरे परिवार की पीली ख़ामोश आँखें उन्हें ताकती हुई पास से गुज़र

जाती हैं। शिकारा अपनी लय में आगे बढ़ता जाता है—दड़ाक् शप् दड़ाक् शप् दड़ाक् शप्। बीच में कोई बतख बोल उठती है, ''कुआक्-कुआक्...''

दूर की पहाड़ियों पर नज़र जमाए हुए ख़ान कहता है, ''ख़ुदा का करिश्मा है यहाँ की कुदरत—और यहाँ का इनसान—यह शायद इनसान का करिश्मा है।''

नूरा हँसने लगती है, तो ख़ान ख़ामोश हो रहता है। फिर पूछ लेता, ''बेगम, तुम कभी कश्मीर से बाहर नहीं गईं?''

''कश्मीर से बाहर?'' वह भी हँसती है, ''हाँजी की बेटी के मुँह से घर का कोई मर्द यहाँ से जाने की बात भी सुने, तो उसे हलाल कर देगा। हाँजी की बेटी पानी में पैदा होती है और पानी में ही मर जाती है। इस दरिया की मछली फिर भी दूसरे दरिया में जा सकती है, पर हाँजी की बेटी यहाँ से बाहर नहीं जा सकती।''

''शिकारा बढ़ता जाता है। ख़ान किनारे से गुज़रते लोगों से बात करना चाहता है। किसी से वक़्त पूछता है। एक कहता है, ''बजा होगा नौ-दस!'' सौ-पचास गज़ पर दूसरा कहता है, ''बजा होगा दो-ढाई।''

शादीपुर। खाना खाने के लिए शिकारा रोक दिया गया है। सिद्दीक चिनारों के आसपास मँडरा रहा है। ''क्या खो गया है, सिद्दीक?'' ख़ान उससे पूछता है।

सिद्दीक बताना नहीं चाहता। बहुत पूछने पर कहता है, ''ऐसे ही देख रहा हूँ। अब वह मिल थोड़े ही न सकता है!''

''पर गुम क्या हुआ है?''

''ग्यारह रुपया, नकद।''

''अभी?''

सिद्दीक खिसियाना हो जाता है। ''अभी नहीं। पहले। बहुत दिन पहले। उस बार भी इसी तरह इधर आया था।''

''कब की बात है यह?''

''बार-टाइम की।''

शिकारा आगे चलता है। सामने—सबसे पीछे बादल हैं—धुँधले और सफ़ेद। उनसे आगे धुँधली-धुँधली पहाड़ियाँ हैं। उनसे आगे सफ़ेद चिनार और बेंत के पेड़। उनसे आगे कच्ची मिट्टी और घास-फूस के घर। उनसे आगे खुला पानी। फिर तैरती हुई बतखें। फिर शिकारे का कोना। कोने में वह सुर्ख चेहरा। कितनी-कितनी देर ख़ान की आँखें उससे मिली रहती हैं। वह न जाने क्या सोच रहा है!

हो—ओ...! हो—ओ...! बच्चों की कतारें कगार पर दौड़ती नज़र आती हैं। उनके पीछे घड़ों और नंगी टाँगों की पंक्तियाँ हैं। हो—ओ...! हो—हो...!

ख़ान का ध्यान बँटाने के लिए वह दूर की एक पहाड़ी की तरफ़ इशारा करके कहती है, ''वह पहाड़ी देखते हो?''

ख़ान चौंककर उस तरफ़ देखता है और सिर हिलाता है।

"मेरी माँ वहीं रहती है।"

"पता है कितनी देर में वहाँ पहुँचोगे?" नूरा हँसकर पूछती है। सिद्दीक चुपचाप चप्पू चलाए जाता है। कमीज़ उसने निकाल दी है। ढलती धूप में उसकी बाँहें और कन्धे चमक जाते हैं।

"दो-एक घंटे तो और लग ही जाएँगे," ख़ान दूरी का अन्दाज़ा करके कहता है। नूरा लोट-पोट हो जाती है। ख़ान को यह जानकर विश्वास नहीं होता कि वहाँ पहुँचने के लिए आज के अलावा कल भी सफर करना होगा।

ईंटें, बजरी और शालि ढोकर ले जाते हुए बहच। ख़ान को इस पर भी विश्वास नहीं आता कि उन्हें बारामूला से श्रीनगर पहुँचने में एक-एक महीना लग जाता है। एक बहच में से कोई पूछ लेता है, "कहाँ जा रही हो बेगम?"

"अपने मायके।"

"कब लौटकर आओगी?"

"परसों।"

"बस, एक ही दिन में?"

वह जवाब नहीं देती।

"नबी से हमारा सलाम कहना।"

वह फिर भी कुछ नहीं कहती।

"आज हवा बहुत तेज़ है।"

"हाँ, बहुत तेज़ है हवा।"

"सँभलकर जाना। शिकारा कहीं हवा में उलट न जाए।"

"हमारा शिकारा नहीं उलटेगा। अपने बहच की ख़ैर मनाओ।"

"दरिया में रहते कोई डर नहीं है। मौत के फ़रिश्ते तो झील में रहते हैं।"

"मगर कभी-कभी वे दरिया में भी चले आते हैं—पके शालि को देखकर।"

"ख़ैर, सँभलकर जाना। खुदा हाफिज़!"

"खुदा हाफिज़!"

ख़ान गौर से उस आदमी को देखता रहता है। फिर बहच के निकल जाने पर कहता है, "कितना डरावना चेहरा है इस आदमी का।"

साँझ के साये में ख़ान के बाल सुनहरे नज़र आते हैं। वह उससे कहती है, "यह कश्मीरी बच्चा जब पैदा हुआ था ख़ान, तो इसका हुस्न देखने लायक था। पर बड़े होने पर इसके हुस्न को इसकी ज़िन्दगी ने खा लिया है। आज यह मज़दूरी कम करता है, चोरी-चकारी ज़्यादा। यहाँ तक कि डरती हूँ, बात करने-करने में यहाँ से कोई चीज़ उड़ाकर न ले गया हो।"

सिद्दीक अपनी कमीज़ की ज़ेब टटोलकर उसे गले में पहन लेता है।

हवा तेज़ होती जाती है। दरिया में ऊँची लहरें उठने लगती हैं। शिकारा डगमगाने लगता है।

''कैसा लग रहा है ख़ान?''

''अच्छा लग रहा है बेगम!''

''ऐसी तेज़ हवा में किश्ती चलाने से ही हाँजी का ख़ून बनता है। देखो न सिद्दीक का चेहरा कितना सुर्ख हो रहा है! बिलकुल बँदरिया के बच्चे की तरह। क्यों सिद्दीक, तू मेरा बच्चा है न?''

सिद्दीक मुसकराती नज़र से एक बार उसे और नूरा को देख लेता है। चेहरा उसका सचमुच सुर्ख हो उठता है। गले से हुंकारने की-सी आवाज़ निकलती है। चप्पू वह और तेज़ चलाने लगता है।

दोनों किनारों से कई-कई आँखें—रुकी-रुकी और डूबी-डूबी शिकारे को गुज़रते देखती रहती हैं। तूफ़ान बढ़ता जाता है। सिद्दीक शिकारे को किनारे-किनारे ले चलता है।

''माँ, अब कहीं रुकेंगे नहीं?'' नूरा तूफ़ान से डरी-डरी-सी पूछ लेती है।

''नहीं।''

''अब रात भी हो रही है, क्यों न किसी गाँव में रुक जाएँ? सुबह आगे चलेंगे।''

''नहीं, रात भर इसी तरह चलते रहेंगे।''

''रात को कहीं पहुँचकर पहाड़ तोड़ना है क्या?''

''पहाड़ नहीं तोड़ना है, ख़ान को मेरी माँ से मिलना है।''

हर सौ-पचास गज़ पर दरिया में मोड़ आ जाता है। शिकारे को बहुत सँभालकर चलाना पड़ता है। झुटपुटे में मक्की की पकी बालियाँ और गनार के लाल फूल सिर धुनते नज़र आते हैं।

''जेहलम के ये मोड़ बहुत ही ज़ालिम हैं,'' वह ख़ान से कहती है, ''इतने कि इनकी ख़ूबसूरती किसी की भी जान ले सकती है।''

ख़ान के चेहरे पर हलकी मुसकराहट आ जाती है—उदास मुसकराहट। गनार की कुछ झड़ी हुई पंखुड़ियाँ हवा से उनकी तरफ़ उड़ आती हैं।

शिकारा मछुओं की किश्तियों में घिर जाता है। बीस-बीस जाल एकसाथ फेंके जा रहे हैं, जैसे वे उनके शिकारे को भी अपनी लपेट में ले लेंगे।

''यह नाला बाँडीपुर को जाएगा?'' सिद्दीक एक मछुए से पूछता है। तेज़ लहरों ने उसे भी डरा दिया है।

''नहीं, दरिया के रास्ते ही जाना पड़ेगा।''

''इस वक़्त ज़्यादा खतरा तो नहीं?''

"इस वक़्त खतरा नहीं, तो और किस वक़्त होगा?"

सिद्दीक चप्पू रखकर अपनी बाँहों को झटक लेता है। एक मछुआ किश्ती पास लाकर कुछ मछलियाँ उन्हें दे जाता है। नूरा की आँखें सहमी हुई हैं। "डर नहीं, खुदा ख़ैर करेगा," वह मछलियाँ उसे देती हुई कहती है, "माँ भी क्या याद करेगी कि बेटी किस तूफ़ान में मिलने आई थी।"

ख़ान बिलकुल ख़ामोश है। वह उसे ख़ामोशी से बाहर निकालना चाहती है। "ख़ान!"

"बेगम!"

"डर तो नहीं लगता?"

"डर! डर किस बात का?"

"फिर इतने ख़ामोश क्यों हो?"

"ऐसे ही–एक बात सोच रहा था।"

"क्या बात सोच रहे थे?"

"अपने बारे में, अपने घर के बारे में, और न जाने क्या?"

वह कुछ क्षण उसे देखती रहती है। पूछना चाहती है कि उस वक़्त वह घर के बारे में क्यों सोच रहा है?

"चाहो तो रात भर के लिए किनारे पर रुक जाते हैं। इससे आगे हमें अब कोई बस्ती, कोई गाँव नहीं मिलेगा।"

"यही तो सोच रहा था। बिना बस्ती और बिना गाँव के अगर ज़िन्दगी भर इसी तरह चलते रहा जा सके–रात-दिन, दिन-रात..."

"गोड़े गाछे सर करून, अद मरून, छ्या मनजूर रो। (पहले मुझे मैदान सैर करना है, उसके बाद ही मुझे मरना स्वीकार है)।" वह सहसा शिकारे में खड़ी हो जाती है। हवा से सिर का कपड़ा उड़-उड़ जाता है।

दड़ाक् शप् दड़ाक् शप् दड़ाक् शप् की आवाज़ और ख़ामोशी...लहराता हुआ पानी ख़ामोश...दोनों तरफ़ के किनारे ख़ामोश...पहाड़ों की चोटियाँ ख़ामोश...सफ़ेदे की पत्तियाँ ख़ामोश...उन पर झुका हुआ तीज का चाँद ख़ामोश...सिद्दीक, नूरा, ख़ान और वह खुद, सब ख़ामोश...।

दो बड़े-बड़े मगरमच्छ मुँह उठाए सामने से चले आ रहे हैं। दोनों लकड़ी ढोनेवाले बहच हैं। शिकारा उनके दरम्यान से होकर निकलता है।

"बड़ा दरिया! बड़ा दरिया!" सिद्दीक चिल्ला उठता है। किनारे दूर चले गए हैं। चाँदनी में चमकता खुला पानी ही सामने है।

"यहाँ जेहलम का पाट कितना चौड़ा हो गया है!" ख़ान कहता है।

"यह जेहलम नहीं है, वोलार है, वोलार झील, समुन्दर!" सिद्दीक ख़ान को

बताने लगता है। कहता है कि यही वह समुन्दर है जिसमें एक बार बड़ा तूफ़ान आया था। हज़रत नूह ने अपने बेड़े में खलक को बचाया था।

ख़ान सिद्दीक को समझाना चाहता है कि यह समुन्दर नहीं है, समुन्दर इससे कहीं बड़ा होता है। पर सिद्दीक अपनी ही बात पर अड़ा रहता है। ''इससे बड़ा समुन्दर और कहाँ है? इससे ऊँची लहरें और कहाँ उठती हैं? यही समुन्दर दुनिया का सबसे बड़ा समुन्दर है। हज़रत नूह इसी समुन्दर के उस किनारे पर रहते थे, बाँडीपुर के पास।''

बात अभी चल ही रही है कि शिकारा एक जगह दलदल में फँस जाता है।

''क्या हुआ?''

''यहाँ उथला पानी है। शायद सिंघाड़े के घने खेतों में आ फँसे हैं।''

''अब तो रात भर यहीं रहना होगा,'' सिद्दीक जैसे इत्मीनान के साथ कहता है, ''सुबह से पहले शिकारा आगे नहीं चल सकेगा।''

''क्यों नहीं चल सकेगा?'' वह आगे जाकर लग्गी सँभाल लेती है। ''देखो, अभी कैसे दलदल से बाहर निकलता है! एक चप्पू तुम हाथ में रखो, दूसरा ख़ान को दे दो। नूरा उधर के सिरे पर रहेगी। आओ ख़ान!''

और शिकारा धीरे-धीरे रेंगने लगता है।

''या पीर!<br>
दस्तगीर!<br>
ला इल्लाह!<br>
हिलिल्लाह!''

कुछ ही मिनटों में शिकारा खुले पानी में आ जाता है। अब दूर-दूर तक किनारे की रेखा नज़र नहीं आती। पानी बहुत गहरा है। लहरों के थपेड़े खाकर शिकारा बार-बार उलटने को हो जाता है। हिलती बाँहों के सिवाय सिद्दीक के शरीर में कोई गति नज़र नहीं आती। वह जैसे काठ हो गया हो। ख़ान के बाल उड़ रहे हैं। उसे जैसे हवा का ही अहसास हो, पानी में उठती लहरों का नहीं। नूरा चुप बैठी है। कभी उसकी तरफ़ देख लेती है, कभी ख़ान की तरफ़।

''ख़ान, पूरी ज़िन्दगी सचमुच इसी तरह रहना पड़े तो रह सकते हो?''

''एक क्यों, कई ज़िन्दगियाँ इसी तरह रहना पड़े तो रह सकता हूँ।''

''तो क्यों नहीं किसी हाँजी लड़की से शादी करके यहीं रह जाते?''

''कोई हाँजी लड़की मुझसे शादी करने को तैयार हो तो कौन कम्बख़्त यहाँ से लौटकर पेशावर जाना चाहेगा?''

दूर, बहुत दूर, पहाड़ी के ऊपर हलकी रोशनी झिलमिलाती है। सिद्दीक की आँखें उसी पर स्थिर हो रहती हैं।

"वह रहा क्यूनुस गाँव!" वह कहता है।

"वह रोशनी देख रहे हो, ख़ान?" वह पहाड़ी की तरह संकेत करके कहती है, "वह—वहाँ पहाड़ी के ऊपर। वह बाबा शुक्रदीन की ज़ियारत है। वहीं नीचे हमारा गाँव है—क्यूनुस गाँव।"

ख़ान सहसा उत्साहित हो उठता है। "अब तो जल्दी ही वहाँ पहुँच जाएँगे न? बेगम, तुम्हारी माँ देखने में कैसी लगती है? तुम्हारी ही तरह ख़ूबसूरत है?"

वह हँसती है। "क्यों सिद्दीक, कैसी लगती है मेरी माँ? मुझसे कहीं ज़्यादा ख़ूबसूरत नहीं है?"

नूरा के मुँह से चीख़ निकल पड़ती है। शिकारा उलटते-उलटते बड़ी मुश्किल से सँभलता है। वह सिद्दीक को हटाकर चप्पू अपने हाथ में ले लेती है।

"बाबा शुक्रदीन! लबे दरियाव! निशि व अतित खुश हवाव!
जलजल वोलरिकेन मेदानन!
मसमे दित नभ मस्तानन!
दीदार सांडौ अस्तानन!

(बुलार के किनारे बाबा शुक्रदीन की ज़ियारत है, जहाँ पहुँचने पर ठंडी हवा स्वागत करती है। यही हवा बुलार के विस्तार में उथल-पुथल मचा देती है। मुझे प्रेम-रस का प्याला उसी मस्ताने (बाबा शुक्रदीन) ने दिया है। आओ, उसके दीदार के लिए उसकी ज़ियारत पर चलें।)

"बेगम, तुम्हारी माँ तुम्हारी तरह खुशमिजाज़ भी है?" ख़ान पूछता है।

"खुशमिजाज़?" वह तेज़-तेज़ चप्पू चलाती हुई कहती है, "अपनी आँखों से इसे देख नहीं रहे हो तुम? यह झील, यह बुलार ही तो मेरी माँ है।"

झील ने ऐसा तूफ़ान एक बार पहले भी झेला था। तब भी इसी तरह ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही थीं...इसी तरह शिकारा डगमगा रहा था...इसी तरह दूर पानी में डूबी-डूबी कोई एकाध रोशनी लहरों पर पहरा दे रही थी...।

उस दिन शाम को साथ ही तूफ़ान के आसार बनने लगे थे। माल लाने या शिकार करने के लिए झील में गए बहच, डूँगे और शिकारे दरिया में वापस आने लगे थे। एक दिन पहले तेज़ बारिश हुई थी। बूँदाबाँदी उस वक़्त तक चल रही थी। दरिया का रंग दोपहर से ही मटमैला हो रहा था; दिन ढलने के साथ-साथ रंग गहरा होता गया था। उथले पानी में तैरती बतखें किनारे की तरफ़ लौट आई थीं। घिरे आकाश के साये में, धार की सलवटें तेज़ होती जा रही थीं, लग रहा था जैसे एक गहरी ख़ामोशी दरिया पर उतर आई हो। दो-एक जानवरों की लाशें लहरों के धक्के खाती पास से गुज़र गई थीं। निंगल के पास बेंत का घना जंगल जैसे सज़दे में झुका-झुका जाता था। पास से

सुनाई देती आवाज़ें दूर जान पड़ती थीं। गहरे धब्बे-से लगते थे सब लोग—लग्गियाँ और चप्पू चलाते हुए, सामान ढकते हुए, किनारे लगने की जगह ढूँढ़ते हुए।

उन्हीं धब्बों में एक धब्बा था, जो अपने अर्थात् नबी के डूँगे की तरफ़ बढ़ता नज़र आया था। एक मुद्दत हो गई थी फिर से उसी डूँगे को अपना डूँगा, अपना घर, माने हुए। रेशमी फुँदनोंवाली किश्तियाँ अब आकाश में नहीं चलती थीं। टूटे-फूटे, मैले-पुराने, स्याह गले-सड़े तख़्तों, दो वक़्त के मोटे चावल और हर वक़्त की नबी की झिड़कियों के अलावा ज़िन्दगी में कुछ रह ही नहीं गया था। काम करना, शराब की बहक में नबी को अबा-तबा बकते सुनना और नूरा को जिस किसी तरह आँख के घेरे में रखना, बस इससे बाहर ज़िन्दगी का कोई मतलब, कोई मकसद रह ही नहीं गया था। एक बार रमज़ान का डूँगा छोड़ आने के बाद वह लौटकर वहाँ नहीं गई थी—रमज़ान की मौत के बाद भी नहीं। नज़मा और कादिर ने खत लिखे थे। सिद्दीक लिवा ले जाने भी आया था, वह वहाँ गई नहीं, नूरा के चाहने, ज़िद करने और नबी के सौ-सौ तानों के बावजूद। कादिर से उसने कहला दिया था कि वह हाउसबोट और डूँगा किसी भी कीमत पर बिकवा दे—वह अब लौटकर श्रीनगर नहीं आएगी। उसके बाद से कादिर ने कोई ख़बर नहीं दी थी। उसकी भेजी हुई दो-दो चिट्ठियों का जवाब भी नहीं दिया था। साँझ के झुटपुटे में कभी-कभी उसे बाँध के घाट की, अपने डूँगे की आसपास हिलते सायों की और ऊपर मुँडेर पर मूरत की तरह जमकर बैठे आदमी की याद आती, पर साग की हाँडी में झाग को हिला-हिलाकर वह अपने को उससे बाहर ले आने की कोशिश करती। आधी रात को नबी खर्राटे भर रहा होता, या नूरा नींद में बड़बड़ा रही होती, तो अचानक आँख खुल जाने से वह खिड़की के साथ सटकर देर-देर बहते पानी को देखती रहती। पानी की हलकी आवाज़ फिर उसे श्रीनगर के उसी घाट की तरफ़ ले जाती, घाट के स्याह पत्थरों पर रोशनियाँ झिलमिलातीं, मुँडेर पर बैठा आदमी एकटक अपनी तरफ़ देखता नज़र आता। वह उसकी आँखों से आँखें बचाने की कोशिश करती, अपने को व्यस्त रखकर उसकी नज़र को भुला देने की कोशिश करती, मगर जब भी एकाध बार उस तरफ़ देख लेती, तो पाती कि वह वहीं उस तरफ़, लैम्प पोस्ट पर हाथ रखे बैठा है, उसी तरह पथराई आँखों से उसे देख रहा है—कुछ ऐसी उम्मीद के साथ कि एक बार भी अगर फुसफुसाकर उसे बुला लिया जाए, या उसका नाम ही ले लिया जाए, तो वह वहाँ से उठकर लकड़ी की सीढ़ी पर पाँव रखता हुआ घाट पर उतर आएगा, बीच के तख़्ते से होकर डूँगे में पहुँच जाएगा और पास आकर बास्कट के बटन खोलता हुआ धीरे से कहेगा, ''बेगम!''

उस आदमी का नाम साँस में बनकर गले तक आता, होंठों तक भी आ जाता, पर मुँह से न निकल पाता। यों दिन में कई-कई बार वह नाम वहाँ सुनाई दे जाता था—

ज़्यादातर नबी के मुँह से। किसी-न-किसी बहाने नबी खालका का ज़िक्र बात में ले आता था और उस ज़िक्र के शुरू होते ही उसकी ज़बान में रवानी आ जाती थी तब वह दो-दो घंटे खालका और उसके सब पुरखों को याद किया करता। गालियाँ चुक जाने पर नई-नई गालियाँ ईजाद करने लगता। "सूअर और कुतिया के मेल की औलाद...वह हरामखोर आदमज़ाद है ही नहीं...आदमज़ाद होता, तो इस तरह अपनी औरत और औलाद को छोड़कर चला जाता? बरसाती मिट्टी से पैदा हुआ मेंढक का नुत्फा...रुई के पेट से पानी के झाग की सन्तान...।"

वह इस बात को लेकर कभी नबी से नहीं उलझती थी। और किसी बात को लेकर भी नहीं उलझती थी। इस तरह बाप का ज़िक्र सुनकर नूरा की भौंहें तन जातीं, तो गहरी नज़र से देखकर वह उसे भी कुछ कहने से रोक देती थी। नूरा नबी की पीठ के पीछे मुँह बनाती और हाथ तानती रहती। कभी नबी की नज़र उस पर पड़ जाती, तो थोड़ा धौल-धप्पा भी हो जाता।

पहले नबी थोड़ा-बहुत काम कर लिया करता था, अब उसने वह भी छोड़ दिया था। एक वक़्त खाने और एक वक़्त पीने के अलावा और किसी चीज़ से उसे सरोकार ही नहीं था। साग-भात का ख़र्च चलाने के लिए वह खुद कुटाई-पिसाई करती थी, नूरा को सिंघाड़े बीनने के लिए भेजती थी। नबी अक्सर दोपहर से ही घर से गायब रहता। लौटकर आता, जब आसपास के डूँगों में ज़्यादातर चूल्हे बुझ चुके होते। नूरा अक्सर उसके आने से पहले ही सो जाती थी, या कम-से-कम सोने का बहाना करके पड़ जाती थी। शाम को नबी के दोस्तों की मजलिस अब उस डूँगे में नहीं, सतारा के घर में जमती थी—सतारा की बीवी के गुज़रने के बाद से वह घर नबी तथा कुछ और लोगों के लिए एक सराय की तरह हो गया था। वह वहीं गप्प करते थे, ठर्रा चढ़ाते और पड़े रहते। जब उनमें से एक उठकर अपने घर या डूँगे की तरफ़ चलता, तो उसकी जगह दूसरा वहाँ आ पहुँचता। कई बार नबी को लौटने में आधी रात हो जाती। तब नशे में धुत डूँगे में आकर वह इस तरह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता और खाने की माँग करता कि आसपास के डूँगों में सोए लोग करवटें बदलते और नाराज़गी से गाली देने लगते। वह नबी को खाना देकर बिना कुछ कहे नूरा के पास जाकर लेट जाती। कभी नूरा गुस्से में करवट बदलकर दूर हट जाती, कभी उसे बाँहों में लेकर अपनी गीली आँखें उसकी छाती से पोंछने लगती। अक्सर उसे कौंचती कि क्यों उसे लेकर वह श्रीनगर नहीं चलती। अब, जबकि रमज़ान का डर भी नहीं है, तो क्यों वे लोग वहाँ कुत्तों की-सी ज़िन्दगी काट रही हैं। कभी वह नूरा को डाँटकर चुप करा देती, कभी बातों से बहलाने की कोशिश करती। कहती कि वे लोग वहाँ से चली जाएँगी, तो नबी अपने बुढ़ापे और मुफ़लिसी के दिनों में चार दिन भी ज़िन्दा नहीं रह पाएगा। नूरा इससे और चिढ़ती कि उस आदमी की उन सारी हरकतों के बावजूद क्या उसे

ज़िन्दा रखने के लिए ही वे लोग वहाँ रह रही हैं? रमज़ान की तुलना में नूरा नबी को कहीं बदतर इंसान समझती थी और यह बात अक्सर कह भी देती थी।

उस दिन भी नबी, दोपहर को जाने के बाद तब तक लौटकर नहीं आया। जाते हुए हवा के रुख और पानी के रंग को देखकर पल भर के लिए रुका ज़रूर था। एक नज़र झील की तरफ़ देखकर बड़बड़ाया था, "आज किसी-न-किसी की मौत आएगी!" और एक बार अपने मैले दाँत उघाड़कर बारिश की झीनी जालियों में से होता हुआ वह बाज़ार की तरफ़ चल दिया था। किनारे पर नहाते नंगे बच्चों में से दो-एक ने उसकी दूर जाती गंजी खोपड़ी की तरफ़ जीभें निकाली थीं। फिर नूरा सिंघाड़ों की टोकरी लिये हुए आ गई थी, और एक-दूसरी की तरफ़ देखती हुई वे दोनों देर तक ख़ामोश बैठी रही थीं।

झील के आकाश में हिलती रेखाएँ तब तक धुँधली और स्याह पड़ गई थीं—स्याही को धुन्ध ने ढक लिया था, धुन्ध को स्याही ढकती जा रही थी। दूर से पास आता वह धब्बा छोटे से बड़ा होते-होते बहुत बड़ा हो गया था। पर ज्यों ही अपने शिकारे को डूँगे की तरफ़ लाते उस व्यक्ति का चेहरा साफ़ होने लगा, वह एकाएक अपनी जगह से हटकर अन्दर चूल्हे के पास चली आई। चूल्हे पर कुछ भी पक नहीं रहा था—राख की हलकी परतों के सिवाय उस वक़्त आसपास भी कुछ नहीं था। मन में और हाथ-पैरों में जो कँपकँपी भर गई थी, उस पर वह काबू पाने की कोशिश कर रही थी। नूरा सामने ही बैठी थी। एक बार मन हुआ था कि नूरा को देखने के लिए बाहर भेज दे, पर बिना कुछ कहे वह एक सिकड़ी लेकर राख को हिलाने लगी थी। शरीर का रोयाँ-रोयाँ इन्तज़ार कर रहा था—उस क्षण का जबकि पास आता हुआ वह शिकारा सहसा डूँगे के साथ आ टकराएगा, और एक आदमी उससे उतरकर डूँगे में आकर, आवाज़ देगा। या शायद...शिकारा डूँगे के पास से होकर आगे निकल जाएगा और पीछे से देखने पर पता चलेगा कि आनेवाला आदमी वह नहीं, कोई और था जो कि झीनी बूँदों में घिरकर आगे बढ़ता हुआ धब्बे में बदल गया है और वह धब्बा धीरे-धीरे छोटा होता हुआ धार के कई-कई धब्बों में ओझल होता जा रहा है...।

कितने ही क्षण गुज़र गए, राख को हिलाते हुए। इतने कि शिकारे के निकलकर आगे चले जाने का लगभग विश्वास हो गया। तभी डूँगे के साथ-साथ अपने दिल पर एक हलकी चोट का अहसास हुआ था। निश्चय हो जाने पर कि शिकारा वहीं आ लगा है, आँखें राख में बनी लकीरों में जड़ी रह गई थीं।

एक-एक आहट तब अपने अन्दर महसूस की थी—महसूस ही नहीं की, उसकी कई-कई गूँजें भी अपने अन्दर से सुनी थीं।

"बेगम!"

धमनियाँ उस आवाज़ को सुनकर झनझना उठी थीं। आँखें फिर भी राख की लकीरों से हटकर उस तरफ़ मुड़ नहीं सकी थीं। अपने पर गुस्सा आ रहा था, क्योंकि

ज़ब्त रखने पर भी आँसू उमड़ आए थे। आँसुओं की धुन्ध में नूरा को अपनी जगह से चौंककर उठते देखा था। वह लगभग दौड़ती हुई जाकर उस आदमी से लिपट गई थी। "माँ, देखो कौन आया है।" उसने पास से गुज़रते हुए कहा था। फिर भी वह अपनी जगह से हिली नहीं। उसी तरह राख की लकीरों को धीरे-धीरे छेड़ती रही।

कई क्षण बीत गए। खालका उस बीच नूरा के सिर और माथे को चूमता रहा। फिर नूरा ने वहीं से कहा, "माँ, मैं नबी नाना को बुलाने जा रही हूँ। अभी सतारा के घर से उसे लेकर आती हूँ।"

उसने हाँ-ना कुछ नहीं कहा। इतना ही देखा कि नूरा बच्चों की तरह उछलकर भीगती हुई जल्दी-जल्दी बाज़ार की सीढ़ियाँ चढ़ गई है।

कुछ देर ख़ामोशी रही। फिर पैरों की परिचित आहट उसके पीछे आकर रुक गई।

"कैसी हो बेगम?"

"खुश हूँ।" और वह चूल्हे के पास से उठ खड़ी हुई। उस आदमी की तरफ़ मुड़कर अब भी उसने नहीं देखा।

"तुम्हें बुरा तो नहीं लगा?" खालका की आवाज़ पहले से धीमी पड़ गई।

"क्या?"

"मेरा इस तरह यहाँ चले आना, बिना खबर दिए।"

उसने कहना चाहा कि जाते वक़्त क्या तुम मुझे खबर देकर गए थे, पर होंठ भींच वह ख़ामोश रही। फिर पल भर बाद में पूछ लिया, "सूखा जोड़ा साथ लाए हो?"

"हाँ, शिकारे में है।"

"पहले बदल लो, नहीं ठंड खा जाओगे—परदेश में।"

खालका पल भर चुप रहा। फिर बोला, "मैं तुम्हें साथ ले जाने के लिए आया हूँ, बेगम!"

"मुझे?"

"हाँ, तुम्हें और नूरा को।"

"कहाँ ले जाने?"

"श्रीनगर। अपने डूँगे में।"

"क्यों?"

"क्योंकि वह तुम्हारा अपना घर है। देखो, तुम आज इस बात के लिए ना नहीं करोगी। पहले जो भी कुछ हुआ है, उसके लिए मैं तुमसे माफ़ी माँगता हूँ।"

"देखो, कपड़े बदल लो। रात का वक़्त है, बीमार पड़ जाओगे। मैं तब तक समावार गरम करती हूँ।"

खालका ने कपड़े बदल दिए, तो चाय का गिलास उसके हाथ में देते हुए पुराने दिनों की याद हो आई थी—ख़ास तौर से उस दिन की जबकि पहली बार चाय की

प्याली उसके हाथ से लेते हुए खालका देर तक उसके हाथ को अपने हाथ में थामे रहा था। तब खालका के हाथ उतने रूखे नहीं थे, न ही उन पर हरी जालियाँ नज़र आती थीं। अपने हाथ भी उतने मैले और कटे-फटे नहीं थे।

''चाय ठीक बनी है?'' खालका को चुपचाप बड़े-बड़े घूँट भरते देखक़र उसने पूछ लिया।

खालका ने सिर हिलाया और आँखें झपक लीं। ''एक मुद्दत के बाद ऐसी चाय पी रहा हूँ।''

''अब तो इसकी आदत नहीं रही होगी,'' वह बोली। ''नूरा आ जाए, तो उससे अभी सूखी पत्ती और चीनी मँगवाती हूँ।''

''यहाँ आकर भी सूखी पत्ती और चीनी की चाय पिऊँगा? मैं तो इस सुर्ख नमकीन चाय के लिए तरसा करता था।''

खालका का चेहरा काफ़ी मुरझाया हुआ लग रहा था। गालों की लकीरें पहले से गहरी हो गई थीं। माथे पर और आँखों के नीचे दाग़ पड़ गए थे। आगे के दो दाँत भी कुछ और तरह के लग रहे थे। जितनी बार नज़र उसके चेहरे की तरफ़ जाती थी, कहीं-न-कहीं, कुछ-न-कुछ बदला हुआ नज़र आता था।

''और चाय दूँ?''

''नहीं। अब इस वक़्त नहीं। बाद में ले लूँगा।''

वह उठने लगी। ''तुम्हारे लिए भात चढ़ा दूँ? हम लोगों के लिए तो सुबह का बना रखा है।''

पर खालका ने हाथ पकड़कर उसे रोक लिया। कहा, ''अभी बैठो। मुझे कुछ बात करनी है। नबी के आ जाने पर तो कुछ भी बात नहीं हो पाएगी। अच्छा ही है जो इस वक़्त वह यहाँ पर नहीं है...।''

''उसके होने-न-होने से कुछ फ़र्क नहीं पड़ेगा, बल्कि ज़्यादा अच्छा होगा कि तुम उसके आ जाने पर ही बात करो।''

खालका का चेहरा फीका पड़ गया। ''और सब बात मैं चलते हुए तुम्हें रास्ते में समझा सकता हूँ। इस वक़्त मैं इतना ही चाहता हूँ कि सुबह यहाँ से चलने के बारे में नबी से तुम्हीं कह दो। उसके लिए अकेले में मुझसे मिन्नत करा लो, पर नबी के सामने...।''

''तुम्हें किसी की मिन्नत करने की ज़रूरत नहीं।'' कहती हुई वह उठ खड़ी हुई। ''नबी को इस बारे में क्या कहना है, यह तुम उसी से जान सकते हो। उसकी मर्ज़ी या ज़बान पर न मेरा बस है, न किसी और का ही, मैं अपनी बात तुम्हें अभी बताए देती हूँ। सात साल पहले मैं तुम्हारे डूँगे से आई थी, तो उसे आख़िरी बार छोड़कर ही आई थी। यह घर न होता, तो भी वहाँ मैं हरगिज़ न रहती। आज रमज़ान के गुज़र जाने पर वहाँ की मिलकियत सँभालने भी मुझे नहीं जाना है। आज जहाँ और जिस

हाल में हूँ, वहीं और उसी हाल में, अब ज़िन्दगी भर मुझे रहना है। हाँ, तुम्हारी लड़की जाना चाहे, तो उसे तुम साथ ले जाओ। एक की शादी मैंने कर दी थी, दूसरी की तुम कर देना। पर वह भी अगर यहीं रहना पसन्द करे, तो उसकी शादी का बन्दोबस्त भी मैं जिस किसी तरह कर दूँगी। किसी को उसके लिए मदद करने नहीं आना होगा। जिस तरह अब आए हो, उसी तरह निकाह के वक़्त पास बैठने के लिए चाहे चले आना।"

उसके बाद खालका कितनी ही बातें कहता रहा, पर वह अनसुनी करके अपने काम में लगी रही। चूल्हा अभी ठीक से सुलग भी नहीं पाया था कि नबी बाज़ार से ही गाली बकता हुआ आ पहुँचा। नूरा शायद उसके डर के मारे उसके साथ डूँगे पर नहीं आई।

नबी ने खालका को जैसे देखकर भी नहीं देखा, उसके सलाम का जवाब भी नहीं दिया। सीधे चूल्हे के पास आकर खड़ा हो गया। "क्या तय किया है तुमने?" उसने छूटते ही पूछा। "तुम इस हरामी के पिल्ले के साथ इसके डूँगे में वापस जाना चाहती हो?"

बिना नबी की तरफ़ देखे वह चूल्हे में सिकड़ियाँ लगाती रही। बोली, "मैंने ऐसा कुछ तय नहीं किया।"

"नहीं किया, तो पहले तय कर लो। उसके बाद इस घर में चूल्हा जलाना। मैं बताए देता हूँ कि यहाँ, अपने घर में, अपनी थाली में मैं एक कुत्ते को भात खिला सकता हूँ, सूअर को खिला सकता हूँ, इस आदमी को नहीं खिला सकता। मेरी नज़र में यह आदमी, आदमी नहीं जानवर है, बल्कि जानवर से भी बदतर है। इसके पहले कि यह मेरे मुँह लगे, इससे कह दो, यहाँ से चला जाए। मैं मैला खा सकता हूँ, पर उस खानदान में किसी को पानी नहीं पूछ सकता।"

"यह सब मुझे सुनाने की ज़रूरत नहीं," वह बोली। "जिसे सुनाना चाहते हो, वह तुम्हारे पास बैठा है। सीधे उसी से बात क्यों नहीं करते?"

"मैं और इससे बात करूँ?" नबी गरजता रहा। "मेरा यह जूता, यह भीगा हुआ जूता भी इनके खानदान में किसी से बात नहीं करेगा...मैं इससे बात करूँगा? यह सोचकर आया होगा कि रमज़ान मर गया, अब नबी भी मरनेवाला है। क्यों न लगे हाथों उसके डूँगे पर कब्ज़ा पा लिया जाए। पर इसे बता दो कि नबी अभी बीस साल और नहीं मरने का। और जब मरेगा तो अपना डूँगा और शिकारा तो क्या, एक तिनका भी इनके लिए नहीं छोड़कर जाएगा—एक कच्चा और काना तिनका भी नहीं। नबी नागू शराबी है, जुआरी है। अपने मरने के दिन तक वह अपना सबकुछ खुद ही खा-पीकर साफ़ कर जाएगा। जो नबी एक बार छोड़ने के बाद ज़िन्दगी भर अपनी औरत के मुँह नहीं लगा, उसके मरने के दिन भी उसे देखने नहीं गया—वह इसके मुँह लगेगा? इससे दोस्ती करेगा? इसे अपने घर में मेहमान बनाकर खाना खिलाएगा? नबी

नागू और कुछ भी करे, यह ज़लील काम कभी नहीं करेगा—कभी नहीं। जिस्म में जाना रहते एक बार भी नहीं।''

हवा और बारिश के बावजूद एक अजब ख़ामोशी घिर आई थी। झील की तरफ़ से आती नावों की आवाज़ें लगभग रुक चुकी थीं। छत से बाहर डूँगे के खुले हिस्से में मद्धिम और मरी-मरी रोशनियों के उजाले से अँधेरा चमक रहा था। ऊपर आसमान और नीचे गले-सड़े तख्ते भी।

सिकड़ियों ने आग पकड़नी शुरू कर दी थी। तभी कोने में बैठा आदमी गीले कपड़ों का बकुचा बगल में लिये आहिस्ता से उठ खड़ा हुआ। छत से बाहर पहुँचने तक उसने किसी से कुछ कहा नहीं। वहाँ से हलके से मुड़कर उसकी तरफ़ देखा और चलते-चलते कहा, ''मैं एकाध दिन ही अब रुकूँगा श्रीनगर में। फिर वापस चला जाऊँगा। कादिर से तुमने कह ही रखा है, बोट और डूँगे के लिए कोई ग्राहक ढूँढ़ने को। वह बाद में उसका इन्तज़ाम करता रहेगा।''

नबी की बकझक खालका के उठने और चलने के साथ ही रुक गई थी। खालका ने शिकारे में उतरकर उसकी रस्सी खोलते हुए फिर एक बार उन लोगों की तरफ़ देख लिया और कहा, ''अच्छा, खुदा हाफिज़!''

सिकड़ियाँ तब धू-धू जल रही थीं। आग की लपट छत को छूना चाह रही थी। वह जिस तरह बैठी थी, कुछ देर उसी तरह बैठी रही। फिर चुपचाप उठकर उसने छींटे देकर आग बुझा दी। स्याह लकड़ियों पर पानी की बूँदें कुछ देर तड़पती रहीं।

बाहर निकलकर उसने नूरा को आवाज़ दी। नूरा किनारे पर नहीं थी। शायद अन्दर की बातचीत से बचने के लिए पास के किसी डूँगे में चली गई थी।

लौटते हुए उसकी आँखें पहली बार नबी की आँखों से मिलीं। नबी का मुँह आधा खुला था, माथे पर गहरी त्योरियाँ थीं। जितना कुछ उसे कहना था, वह सब कहने का मौका ही उसे नहीं मिला था। रुका हुआ गुस्सा उसकी आँखों में मँडरा रहा था।

''चला गया है वह?'' नबी ने इस तरह कहा जैसे उसके साथ यह एक नई गुस्ताख़ी की गई हो।

''तुम्हारे सामने ही तो गया है।''

''तुम्हारा ख़याल है कि वह रात-रात में झील पार करके वापस जाना चाहेगा?''

''यह तो वही जानता होगा। मैं कैसे कह सकती हूँ?''

''जिस किसी की मौत आई होगी, वही ऐसी रात में झील पार करके जाएगा... लोग मुझे बनकर दिखाते हैं...सुबह यहीं किसी घाट पर वह कुलचा चबाता नज़र न आए, तो मुझसे कहना।''

तब पहली बार उसके मुँह से एक ऐसी बात निकल गई, जिसकी कि खुद उसे अपने से आशा नहीं थी। ''तो उस हालत में तुम जाकर कुलचा उससे छीन लेना और

उसे दरिया में फेंक देना। जो चाह तुम्हारी इस तरह पूरी नहीं होगी, वह उस तरह पूरी हो जाएगी।"

नबी देर तक बकझक करता रहा। पर उसके बाद फिर दूसरी बात उसने बेगम से नहीं कही। वह चुपचाप सुनती रही और काम करती रही। नूरा लौटकर आई तो खालका को वहाँ न देखकर हैरान हुई। नूरा के पूछने पर भी कुछ जवाब उसने नहीं दिया। नबी चाहता था, वह कुछ कहे, पर जब वह इस तरह ख़ामोशी अख़्तियार किए रही, तो चिढ़कर नबी ने उससे भी कितना कुछ बुरा-भला कह डाला। यह भी कि उसे बहुत गुमान है अपना, तो क्यों अब तक उसके यहाँ पड़ी हुई है? क्यों नहीं अपनी लड़की को लेकर खुद भी वहाँ से चली जाती?

काफ़ी देर गला फाड़ने के बाद नबी थककर सो गया। अक्सर जब उसे बहुत गुस्सा आता था, तो तकिए पर सिर रखकर वह खर्राटे भरने लगता था। नूरा लेटकर कुछ देर करवटें बदलती रही, फिर उसे भी नींद आ गई। पर वह सो नहीं पाई। सोचती रही, उस आदमी के बारे में जो उस समय झील की तूफ़ानी लहरों में शिकारा चला रहा था...बाबा शुक्रदीन की ज़ियारत के पास से गुज़रता हुआ अपनी जान की ख़ैर मना रहा था...अँधेरे और बरसात की वजह से उसे रास्ता भी शायद नहीं सूझ रहा था...पर लौट आए, इसका भी चारा उसके पास नहीं था।

वह उस आदमी को लहरों से संघर्ष करते, उनके साथ ऊपर-नीचे और उनमें डूबते-उतराते देखती रही। पानी की सतह पर अब एक धब्बा भी नहीं था...लहरों के झाग जितना अस्तित्व भी उसका उस समय किसी को नज़र नहीं आ सकता था। उसे लगा कि वह आदमी उस समय उससे कहीं निरीह है जितना कि वह रमज़ान की ज़िन्दगी में उसके सामने नज़र आया करता था या जितना अभी कुछ ही देर पहले वहाँ उसके सामने बैठा नज़र आ रहा था।

बेगम कुछ देर सोने की कोशिश करती रही, फिर उठकर बैठ गई। बारिश थम चुकी थी। रात के सन्नाटे में दरिया की आवाज़ दूर की गूँज की तरह सुनाई देती थी। लगता था, दूर से कोई लहर उठती आ रही है जो अभी उससे आ टकराएगी... लहर की आवाज़ में एक आदमी की आवाज़ मिली होगी...नबी उस आवाज़ से चौंककर जाग जाएगा और फिर से गाली बकने लगेगा...आवाज़ तब तक लौटकर दूर जा चुकी होगी और क्रमशः और दूर होती जाएगी...।

सोने पर नबी के होंठ पूरे बन्द नहीं होते थे—एक पतली दरार से उसके मैले दाँत बाहर नज़र आते रहते थे। खर्राटे भरने पर उसका पूरा शरीर हिल-हिल जाता था। इस आदमी के लिए प्यार या ममता का भाव उसके मन में कब का मर चुका था—बल्कि वह भाव कभी था, इसी में कई बार उसे सन्देह होता था। बचपन में मन में एक आतंक-सा रहता था। बाद में उसकी जगह सहानुभूति ने ले ली थी। पर इन कुछ

सालों में सहानुभूति भी नहीं रही थी—रह गई थी एक उदासीनता, जो कि उतनी ही अपने प्रति भी थी जितनी उसके प्रति। इन सालों में जैसे सोचना ही नहीं, महसूस करना भी उसने छोड़ दिया था।

नबी जिस तरह सोया था, उससे उसके चेहरे का दायाँ हिस्सा ही सिर्फ़ नज़र आ रहा था—दाँतों की आधी लकीर के साथ। वह उसके पास गई, जैसे कुछ कहने के लिए, पर पास जाकर मन बदल गया। उसे लगा जैसे वह सोया हुआ व्यक्ति एक साँस लेते मांसपिंड के अलावा और कुछ भी न हो; कुछ भी अर्थ न रखता हो; उसके लिए ही नहीं, किसी के भी लिए। और उस मांसपिंड के लिए किसी चीज़ का कोई अर्थ न है—न साँस लेने का; न सोने-जागने का, न किसी के पास होने-न-होने का, न इस क्षण का, न आनेवाले कल के किसी क्षण का...।

वह उसके पास से हट आई और एक पुरानी टूटी हुई लालटेन की चिमनी से कालिख साफ़ करने लगी।

...उस वक़्त रात आधी बीत चुकी थी जब उसने हलके से छूकर नूरा को जगाया। नूरा बड़बड़ाकर उठी, तो उसे उसने दबे पैरों अपने साथ बाहर आने को कहा। नूरा ने आकर देखा कि एक गठरी, एक लालटेन, एक कनस्तर और रसद की एक टोकरी शिकारे में रखी है, तो वह पलभर आँखें झपकती रही। "हम लोग कहीं चल रहे हैं?।" उसने पूछा।

नूरा की बात का उत्तर न देकर वह शिकारे की रस्सी खोलने लगी।

"कहाँ चल रहे हैं?" नूरा ने फिर पूछ लिया।

"श्रीनगर! तुम्हारे अब्बा के पास।"

"इस वक़्त रात को?"

उसने शिकारे में बैठकर चप्पू सँभाल लिए। "हाँ, इसी वक़्त। तुम्हें डर तो नहीं लगेगा?"

नूरा ने मुँह से कुछ नहीं कहा, पर चेहरे से लगा कि इस वक़्त सफ़र करने की बात उसे पसन्द नहीं है।

"तुम न चलना चाहो, तो यहीं रुक जाओ। मैं बाद में बुला लूँगी।" उसे यह भी लगा कि इस तरह नबी बिलकुल अकेला नहीं रहेगा...।

"मैं यहाँ अकेली रहूँगी? उसके पास?" नूरा ने डूँगे में उस तरफ़ देखा जहाँ नबी सोया हुआ था और मुँह बिचका दिया। "तुम न होतीं, तो मैं आज तक कभी एक दिन भी न रहती।"

शिकारा खुला, तो नबी अन्दर बड़बड़ाता हुआ करवट बदल रहा था। यह आवाज़ और करवट रास्ते भर पीछा करती रही।

...बादल फट गया था। आसमान की हलकी लौ पानी की सतह पर उतर आई

थी। पर स्याही उसमें कम नहीं हुई थी। शिकारा झील के खुले पानी में आ गया था, फिर भी नूरा उसी तरह ख़ामोश बैठी थी।

"तुम इतनी चुप क्यों हो?" बेगम ने पूछा। "नींद लग रही है क्या?"

"नहीं तो।"

"फिर क्या बात है?"

"कुछ नहीं...तुम्हें चलना ही था, तो कुछ देर पहले ही नहीं चल सकती थीं क्या? अब्बा के साथ।"

वह ख़ामोश रहकर चप्पू चलाती रही।

"या सोने से पहले मुझे बता ही देतीं, तो मैं...मैं जाकर कुछ लोगों से मिल आती। अब पता नहीं कभी उनसे मिलना होगा या नहीं।"

वह किन लोगों से मिलकर आना चाहती थी यह उसने उस लड़की से नहीं पूछा। कुछ एक चेहरे उसके सामने आए...मेहर, अजीज़ा, रशीद और सिराज़ के–ख़ास तौर से सिराज़ का। सत्रह-अट्ठारह साल का वह छरहरा-सा लड़का था। जिन आँखों से नूरा की तरफ़ देखा करता था, उनका कुछ-कुछ अर्थ भी वह जानती थी। उसने खुद उसके बारे में कई बार सोचा था, पर वह लड़का उम्र के लिहाज़ से उसे नूरा के लिए काफ़ी छोटा लगता था–नहीं, उम्र के लिहाज़ से उतना नहीं जितना क़द-काठी के लिहाज़ से। नूरा पन्द्रह की होकर भी शरीर से इतनी भरी हुई थी कि अट्ठारह से कम ही नहीं लगती थी। पिछले एक साल में तो उसके शरीर की गोलाइयाँ कहीं अधिक उभर आई थीं। वह चप्पू चलाती दूर से आ रही होती, तो उसे देखकर ख़ुशी भी होती थी, चिन्ता भी होने लगती थी। डर लगता था कि और दो साल में यह लड़की क्या-से-क्या नहीं हो जाएगी। पर सिराज...वह...बहुत दुबला था। क़द भी उसका ऊँचा नहीं उठा था। कादिर जैसे आदमी के बराबर खड़ा कर दिया जाए, तो बिलकुल खरगोश जैसा नज़र आए। कादिर चाहे, तो उसे एक झपट्टे में दबोच ले। नहीं, नूरा को ऐसे लड़के से ब्याहने की बात वह सोच भी नहीं सकती थी। नूरा के लिए वह ऐसा लड़का चाहती थी जिसके सामने कादिर भी ओछा पड़े। दोनों बराबर खड़े हों, तो कादिर को गरदन उठाकर देखना पड़े...।

"श्रीनगर जाकर इसी साल मैं तेरी शादी कर दूँगी," उसने नूरा के गमगीन चेहरे पर आँखें जमाए हुए कहा। नूरा ने जैसे सुनकर भी नहीं सुना। चेहरे या आँखों से भी उसने इस बात में दिलचस्पी ज़ाहिर नहीं क़ी थी।

"तेरे अब्बा पर बात नहीं छोड़ूँगी," उसने कहा, "तेरा अब्बा तो वोलार नाग की तरह है। सारी ज़िन्दगी टालमटोल करते काट देगा।"

गहरे पानी में आकर शिकारा डोलने लगा था। रह-रहकर लहरों के छींटे उन्हें भिगो जाते थे। झील में एक ही बत्ती नज़र आ रही थी। पर कभी वह सामने नज़र

आती थी, कभी पीछे की तरफ़ चली जाती थी। उसने एक चप्पू रखकर टोकरी से थोड़े चावल निकाले और पानी में छोड़ दिए। शिकारा एक बार ज़ोर से हिचकोला खा गया। उसने जल्दी से कुछ और चावल पानी में छोड़ दिए।

"हम लोग वोलार नाग के पास से ही जा रहे हैं," शिकारे को किसी तरह सँभालकर वह फिर बात करने लगी। अपनी आवाज़ सुनकर उसे खुद कुछ तसल्ली मिल रही थी। "वोलार नाग रात के वक़्त किसी को अपने ऊपर से बिना चावल छोड़े गुज़रकर नहीं जाने देता। वह सब चश्मों का राजा है, इसलिए हर माँझी से शालि की भेंट लेता है। वोलार नाग की भी एक बेटी है। तुम्हारे जितनी बड़ी। तुम्हारी ही तरह ख़ूबसूरत बल्कि तुमसे ज़्यादा ख़ूबसूरत। लेंलाब की घाटी में एक और बड़ा चश्मा में—बडशाह नाग। उसे अपने पर बड़ा नाज़ है और अपने को वह भी बड़ा बादशाह समझता है।

"वोलार नाग की बेटी से वह शादी करना चाहता है। पर वोलार नाग उसे अपनी बेटी शादी में देता नहीं। हर बार छह महीने के लिए टाल देता है। वसन्त में कहता है, पतझड़ में आना और पतझड़ में कहता है, वसन्त में आना। बडशाह नाग हर छह महीने के बाद गुस्से से फुंकारता हुआ आता है—अपनी ताकत दिखाने के लिए चट्टान, पेड़, पशु और पुल वगैरह भेंट में लेकर, पर वोलार नाग फिर भी नहीं मानता। उसे फिर अगले छह महीने के लिए लौट जाना पड़ता है। वोलार नाग कयामत के रोज़ तक इसी तरह उसे टालता रहेगा। कयामत के रोज़ उसकी बेटी की शादी बडशाह नाग से होगी और उसके साथ ही सारी दुनिया तबाह हो जाएगी।"

ऊँची लहर के एक थपेड़े के बाद शिकारा किसी तरह उलटते-उलटते बचा। उसकी आवाज़ और ऊँची हो गई। "लड़केवाला हो, तो वह कभी वोलार नाग के ऊपर से बचकर नहीं जा सकता। उसका डूँगा-शिकारा जो भी हो, वह ज़रूर डूब जाएगा..." और फिर जैसे हवा, आसमान, पानी और दूर झिलमिलाती रोशनी सबको सुनाती हुई ज़ोर से कहने लगी, "पर हमें कोई ख़तरा नहीं। लड़कीवालों को वोलार नाग कभी कुछ नहीं कहता। उनको बल्कि किसी भी तरह से खतरा हो, तो वह उनकी रखवाली करता है। वोलार नाग हमेशा लड़कीवालों की रखवाली करता है।"

हवा की वजह से आवाज़ में कोई गूँज पैदा नहीं हुई। उसने जल्दी-जल्दी कलमा पढ़कर कुछ और चावल पानी में छोड़ दिए। दूर की रोशनी का रुख अब जल्दी-जल्दी बदल रहा था। शिकारे के अन्दर काफ़ी पानी भर आया था। क्या सचमुच वोलार नाग उस दिन उन्हें माफ़ नहीं करना चाहता था? बार-बार रुख बदलती रोशनी क्या उसी के किसी जिन का चिराग था। वह चिराग क्या उनकी ज़िन्दगी के चिराग बुझाने को ही जल रहा था?

तभी दूर, उस रोशनी में भी आगे, बहुत दूर पानी तक झुके आसमान में एक फीका-सा रंग दिखाई दे गया—सुबह का रंग। उसने आँखें झपककर एक बार फिर देख

लिया। पौ फट रही थी। अँधेरे का जिन अब अपने चिराग से उन्हें गुमराह नहीं कर सकता था।

नूरा ने इस बीच कोई बात नहीं की। जब सुबह का रंग थोड़ा और निखर गया, तो डिब्बे से शिकारे का पानी निकालते हुए उसने इतना ही पूछा, ''माँ, अब्बा के शिकारे में शालि था?''

नूरा की बात से उसका दिल धड़कने लगा। ''ज़रूर होगा,'' उसने जैसे अपने को विश्वास दिलाते हुए कहा। ''सफ़र में वह रसद लेकर नहीं आया होगा?''

''...क्या पता, लौटते वक़्त के लिए लेकर आया हो।''

''ज़रूर लेकर आया होगा। नबी नागू के स्वभाव को वह जानता नहीं है?''

नूरा ने पहली बार ऐसी बात कही जिससे लगा कि वह लड़की अब सचमुच बड़ी हो गई है। ''अगर जानता, तो उसे आना ही नहीं चाहिए था।''

नूरा की बात मन में चुभी क्योंकि उसका अर्थ कुछ दूसरा भी हो सकता था। साथ ही मन में एक डर भी समा गया। सचमुच खालका को इस वक़्त अकेले जाने देना क्या ग़लती नहीं थी? इतनी दूर से आने पर नबी ने जिस तरह खालका का अपमान किया, जिस तरह वापस चले जाने के लिए उसे मजबूर किया, इसे चुपचाप देखते जाना, सुनते जाना और अपनी तरफ़ से कुछ न कहना—यहाँ तक कि चलते हुए खालका ने जो बात कही, उसका जवाब तक न देना—यह क्या उस आदमी के साथ—गुज़रे दिनों की भारी कटुता के बावजूद ज्यादती नहीं थी? क्या सोचता हुआ वह आदमी वहाँ से चला होगा? अँधेरे में तूफ़ानी झील पार करते हुए क्या-क्या ख़याल उसके मन में आ रहे होंगे? क्या उसे भी किसी चिराग ने गुमराह किया होगा? क्या उसका भी शिकारा वोलार नाग से होकर गुज़रा होगा?

उजाले के स्पर्श से पानी की सतह चमकते पारे-सी हो गई थी। जहाँ-तहाँ कमल और सिंघाड़ों के हरे-हरे द्वीप अँधेरे की धुन्ध से बाहर आ रहे थे। बीच-बीच में कुछ स्याह दाग नज़र आते थे—ख़ाली शिकारे, सिंघाड़े चुनते हुए लोग, पंख फड़फड़ाते पक्षी। रात के तूफ़ान के बाद झील पर एक गहरी उदासी घिरती आ रही थी।

झील से दरिया में आने तक दो-एक जगह औंधे और टूटे हुए शिकारों को देखकर हौल-सा उठा, पर पास जाकर निश्चय किया कि उनमें वैसा शिकारा कोई नहीं है, जैसा कि पिछली शाम श्रीनगर से आया था। फिर भी झील से विदा लेते समय वह एक आतंकभरी दृष्टि से उस पानी की तरफ़ देखती रही, देखती रही...।

दरिया का पानी अभी काफ़ी मैला था और कगारों की ऊँचाई से दो-दो फुट ही नीचे था। उसमें धार से ऊपर की तरफ़ शिकारा ले जाना आसान नहीं था। कई जगह उन्हें बिलकुल किनारे-किनारे होकर चलना पड़ता, कई जगह रस्से और लग्गी की मदद लेनी पड़ती। कोई मर्द साथ न होने से रस्से से शिकारा खींचने में बहुत तरद्दुत

पड़ता। पूरा दिन बारी-बारी और कई बार साथ-साथ धार से संघर्ष करके भी रात तक वे सुम्बल से आगे नहीं पहुँच पाई। सुम्बल में एक परिचित हाँजी ने बताया कि उसने खालका को कल जाते हुए तो देखा था, पर अब तक उधर से आते नहीं देखा। इससे मन इतना डरा कि रात के बाद अगली दोपहर तक वे वहीं रुककर खालका के शिकारे की राह देखती रहीं। पर जो सैकड़ों डूँगे और शिकारे सोपुर की तरफ़ से आए, उनमें खालका का शिकारा नहीं था।

"अब दिन-दिन में सोपुर तक जाकर देख लें?" नूरा ने पूछा। उसकी बातों से लगता था जैसे वह खालका के लिए माँ से ज़्यादा परेशान हो।

वह अब भी इस बारे में सोच रही थी। पर नूरा की बात की उसने हामी नहीं भरी। अब लौटकर नबी के डूँगे में जाने का क्या अर्थ होगा, यह वह जानती थी। नबी के गंजे सिर और मैले दाँतों का सामना अब वह ज़िन्दगी भर नहीं कर सकती थी–और हौसला करके अगर वापस चली भी जाए, तो फिर वहाँ से लौटकर तो कदापि-कदापि नहीं आ सकती थी।

"नहीं," उसने कहा। "आज रात तक जैसे भी हो, हमें श्रीनगर पहुँच जाना चाहिए। इन लोगों ने भले ही न देखा हो, पर वह ज़रूर कल शाम से पहले ही यहाँ से निकल गया होगा। तुम्हें मालूम नहीं–वह उलटी धार में भी बहुत तेज़ शिकारा चला सकता है। ज़बान से वह आदमी जितना ख़ामोश है, हाथ-पैरों से उतना ही मज़बूत है।...फिर जाते हुए उसने जो बात कही थी उससे यह न हो कि हम लोगों के पहुँचने से पहले ही वह श्रीनगर छोड़कर चला जाए।"

और फिर जैसे अपने ही मन को सहारा देने के लिए कहा, "वह जिस हालत में वहाँ से आया था, उसमें यहाँ या और कहीं रुकता भी कैसे?...उसकी तो कोशिश बल्कि यही रही होगी कि किसी भी दोस्त या वाकिफ़कार से उसका सामना न हो।"

सुम्बल से शादीपुर तक दोनों लगभग ख़ामोश रहीं। नूरा जाने क्या सोच रही थी। शिकारा चलाते हुए उसकी बड़ी-बड़ी आँखें भीग जाती थीं। "क्या सोच रही हो?" उससे पूछा, तो भी वह सिर हिलाकर चुप रही। लगता था, उसकी आँखें जैसे अब भी पहाड़ियों की ओट में ओझल हुई झील के विस्तार में भटक रही हों–जैसे वह अब भी हवा में काँपते कमल और पंख फड़फड़ाते पक्षियों को देख रही हों–जैसे टूटे और औंधे पेड़ शिकारे अब भी उसके सामने तैर रहे हों...। दरिया के आसपास दूर तक का जंगल उस लड़की की आँखों में समा गया लगता था। जाने वह खालका के बारे में ही सोच रही थी या और किसी के बारे में...जंगल के सायों में किसी चेहरे को पहचान लेना असम्भव था।

"क्या बात है?" एक बार फिर उससे पूछ लिया, "किसके बारे में सोच रही हो तुम?"

"किसी के बारे में नहीं," नूरा ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया। "अब तो श्रीनगर पहुँचने के बारे में ही सोच रही हूँ।"

शादीपुर तक आते-आते शाम हो गई थी और वे दोनों काफ़ी थक भी गई थीं। एक मन हुआ कि रात भर के लिए वहाँ रुककर सुबह आगे चलें, पर मन में जल्दी श्रीनगर पहुँचने की ऐसी उतावली भर रही थी कि बिना उस विषय में बात किए, जैसे एक ख़ामोश समझौते से ही, वे कुछ देर बाद वहाँ से चल दीं। सात साल बाद उन परिचित किनारों के बीच से गुज़रते हुए; थकान के बावजूद, अपने में कुछ ताज़गी महसूस करने लगी। कल जैसे सोपुर से श्रीनगर न जाकर आज के रुकाव से गुज़रे हुए दिनों की हलचल में लौट रही हो—धार को काटते चप्पुओं की आवाज़ उसे पिछले वक़्त की तरफ़ वापस ले जा रही हो। उस इलाके के चिनार और बेंत...सब जैसे उन दिनों के परिचित थे जो तब से अब तक उस वक़्त को अपने में रोके खड़े थे जिस वक़्त वह वहाँ से निकलकर सोपुर की तरफ़ गई थी। गँदले पानी से लहराते पेड़ों के साये जैसे कतार बाँधे उसे लौटते देख रहे थे और एक-दूसरे की तरफ़ सिर हिला रहे थे। किनारे से लगातार एक आवाज़ सुनाई दे रही थी, "मिमी...मिमि-मिमि-मिमि-मिमि-मिमि-...!"

पानी उतर रहा था, इसलिए शिकारा चलाना पहले जितना मुश्किल नहीं था। किनारे भी अब पहले की तरह सुनसान और उदास नहीं थे। पेड़ों की लटकी पंक्तियों के अलावा कई-कई लोग साँझ के झुटपुटे में आते-जाते नज़र आने लगे थे। कभी कोई बस, जीप या कार दाएँ कगार के उस तरफ़ से धूल उड़ाती गुज़र जाती थी। कुछ लड़कियाँ एक-दूसरी के पीछे दौड़ रही थीं। एक आदमी मछलियों की बहँगी उठाए जा रहा था। एक औरत अपने छोटे-से बच्चे को बाँहों में लिये, उसे दरिया में डुबकियाँ दे रही थी। बच्चा कुलबुलाता हुआ हाथ-पाँव पटकता था, फिर आँखें मूँदे और जिस्म को अकड़ाए हुए पानी में डुबकी खाता था, फिर बाहर निकलकर साँस आते ही रोने लगता था...।

वह देर तक उस बच्चे को देखती रही...तब तक जब तक कि दरिया में मोड़ आ जाने से वह बिलकुल आँखों से ओझल नहीं हो गया। उसके बाद भी उतरते अँधेरे में वह एक सपने की तरह उसे देखती रही—उसी तरह हाथ-पैर पटकते साँस रोकते और फिर चिल्लाते हुए...। चप्पू उस वक़्त उसके हाथों में थे। वह जैसे एक नए जोश के साथ उन्हें चलाने लगी। नूरा ने एक बार आश्चर्य के साथ उसकी तरफ़ देखा और पूछ लिया, "इस तरह चलाओगी तो जल्दी नहीं थक जाओगी?"

"हाँजी की बेटी होकर तू थकने की बात करती है?" वह बोली। "जितनी जल्दी चलेंगे, उतनी ही तो जल्दी घर पहुँचेंगे।"

और चप्पू चलाते हुए महसूस करती रही जैसे कि वह बच्चा, हाथ-पैर पटकता हुआ, उसके शरीर में डुबकियाँ ले रहा हो—बार-बार साँस रोककर शरीर में जाता हो और फिर बाहर आकर उसी तरह हाथ-पैर पटकने और चिल्लाने लगता हो...कभी

उसका चेहरा उसे कादिर की तरह लगता, कभी सिराज़ की तरह और कभी-कभी बिलकुल खालका की तरह! इस बच्चे में खालका का चेहरा देखकर उसके रोएँ खड़े हो जाते और वह और भी उत्साह के साथ चप्पू चलाने लगती। बच्चे का चेहरा छोटे से बड़ा होने लगता। उसकी मसें भीग जातीं और वह मुसकराता हुआ पास आकर चप्पू उसके हाथ में से ले लेना चाहता। फिर वह उतरकर किनारे पर चला जाता और शिकारे की रस्सी खींचता हुआ दौड़ने लगता। फिर मछलियों के ढेर लिये हुए उसके पास आ जाता और हठ करने लगता कि वह और सब काम छोड़कर पहले उसके लिए मछली तल दे...फिर वह कमीज़ की बाँहें चढ़ाकर किसी से उलझ पड़ता और उसे दरिया में गोते देने लगता, फिर जाकर बाँध की मुँडेर पर बैठ जाता और ख़ामोश आँखों से बिजली के खम्भे की तरफ़ देखने लगता...और यहीं से सपना टूटता और बच्चा फिर दरिया में डुबकियाँ लेने लगता है...।

...श्रीनगर से बहुत पहले ही रोशनी से सुलगते आकाश को देखकर उसने कहा, ''लो आ गया श्रीनगर। अब घंटे-दो घंटे में ही अपने हाउसबोट में पहुँच जाएँगे।''

हाउसबोट को अपना कहने से मन में धक्का-सा लगा—फिर अनागत की आशंका से मन काँप-सा गया। वह सोचने लगी कि खालका को जब पता चलेगा कि नूरा को लेकर उसके पीछे-पीछे चली आई है, तो वह कैसा महसूस करेगा, डूँगे से बाहर आकर पहली बात क्या कहेगा। उसके बाद जब वे अकेले एक-दूसरे के सामने होंगे तो वही खालका से क्या बात कर पाएगी। जो गुमान लेकर वह सात साल नबी के डूँगे में रह गई थी, इस तरह आकर क्या उसने खुद ही उसे खत्म नहीं कर दिया था? मगर...मगर इसके अलावा और वह कर भी क्या सकती थी?

रात आधी के करीब बीत चुकी थी जब उनका शिकारा 'गुले यासमीन' से टकराया। सोचा था, शायद बोट को पहचानने में कुछ दिक़्क़त हो, पर दरिया के मोड़ और सफ़ेद आकार के परदों ने एक पल की भी दुविधा नहीं होने दी।

''सिद्दीका!'' लालटेन ऊँची उठाकर नूरा ने आवाज़ दी। दूसरी या तीसरी आवाज़ पर सिद्दीक आँखें मलता हुआ खिड़की के पास आया। ''कौन बेगम?'' उसे देखकर सिद्दीक को ज़्यादा आश्चर्य नहीं हुआ। हाथ बढ़ाकर सामान पकड़ते हुए उसने फिर पूछा, ''खालका साथ नहीं है?''

''वह अब तक पहुँचा नहीं?'' नूरा ने कनस्तर सिद्दीक को देने के लिए ऊँचा उठा दिया था, पर उसका हाथ सहसा नीचे को लटक आया।

''वह अलग से आया है क्या?''

वे दोनों कुछ नहीं कह सकीं। नूरा के हाथ-पैर काँपने लगे थे। उसे परे हटाकर वह खुद सिद्दीक को सामान पकड़ाने लगी। कुछ वकफ के बाद बोली, ''हाँ, वह दूसरे शिकारे में आया है। हो सकता है, रात हो जाने से रास्ते में कहीं रुक गया हो।''

कहने को तो कह दिया, पर हाथ उसके अपने भी जवाब दे रहे थे। किसी तरह जब वे डूँगे में पहुँच गईं, तो नूरा की अवहेलना देती आँखों का सामना करना उसे मुश्किल लगा। अचानक, बिना वजह ही उसने नूरा को डाँट दिया, "अब सो जाओ। बातें भी करनी हों, सुबह करना।"

सिद्दीक पूरी स्थिति को समझ नहीं पा रहा था और उस बारे में कुछ पूछना चाहता था। उसे भी मालकिन के अन्दाज़ में उसने झिड़क दिया, "तुम भी अब खड़े मत रहो। सुबह जल्दी उठकर कितने ही काम करने होंगे।"

उनसे तो सोने को कह दिया, पर खुद उसे नींद नहीं आई। उसी जगह जहाँ कि जाने से पहले लेटा करती थी, लेटकर सोचती रही, सोचती रही। कहीं सचमुच ही तो कोई दुर्घटना नहीं हो गई थी? अगर ऐसा होता, तो क्या उसका मन इसकी शहादत न देता? क्यों उसे अब भी विश्वास था कि खालका की जान सलामत थी और उसे सुबह तक ज़रूर वहाँ पहुँच जाना था।

जो-जो बातें खालका से कहने की सोची थीं, वे एक-एक करके दिमाग़ में आती रहीं। कोशिश करती रही कि उन्हीं बातों को सोचे, दूसरी बात दिमाग़ में न आने दे। पर ज्यों-ज्यों वक़्त बीतता जा रहा था, मन में छिपा हुआ डर उसके दिमाग़ को पूरी तरह छाए ले रहा था। सुबह हुई तो वह उसी तरह खुली आँखों से छत की तरफ़ देखती हुई पड़ी थी—मन ही मन खालका की सलामती की दुआएँ मानती हुई—चाहती हुई कि नबी की कही हुई बात ही सच निकले कि खालका उस रात सोपुर से चला ही न हो, कि सुबह वह फिर नबी के डूँगे में गया हो और उसे वहीं पता चल गया हो कि वह नूरा को साथ लेकर वहाँ से चली आई है। पर सुबह-सुबह जब उसकी आँख झपकने लगीं, तो अचानक उसे जागकर उठ जाना पड़ा। सिद्दीक ने आकर बताया कि खालका का शिकारा भी आ पहुँचा है।

हुआ सबकुछ उसी तरह था, जैसे कि वह तब चाह रही थी। उसे सही-सलामत सामने देखकर आशंका दूर हुई, तो मन में एक टीस भी उठी। क्यों, क्यों उस आदमी की बात को सच होने दिया था? क्यों उसे अपनी जान इतनी प्यारी थी कि वह रात को झील पार करने का हौसला नहीं कर सकता था?...जो काम वे लोग औरतें होकर कर सकीं, वह मर्द होकर नहीं कर सकता था?

और उसे लगा जैसे आज भी वही दिन हो, जिस दिन खालका मुँडेर पर बैठा डूँगे की तरफ़ देख रहा था, और फिर वहीं से उठकर चला गया था—जैसे तब से आज तक एक भी दिन नहीं बीता था और वह आदमी बिलकुल वैसा, बिलकुल वैसे ही, मुँडेर से उठकर लकड़ी की सीढ़ी से होता हुआ उसके सामने आ खड़ा हुआ था। खालका ने अब भी पूछा, "कैसी हो बेगम?" तो उसने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप उसके सामने से चली गई।

उसके बाद पूरा दिन वह उसके सामने पड़ने से बचती रही। आधी रात को जब सब लोग सो गए थे, तो खालका के हाथ का स्पर्श अपने सिर पर महसूस करके वह उठ बैठी।

''बेगम!''

दिन भर का बाँध—बल्कि इतने सालों का बाँध—तब एकाएक टूट गया। अपने उमड़ते हुए आँसुओं को उससे रोक नहीं गया और खालका के कन्धे पर सिर रखकर वह फूट पड़ी।

खालका चुपचाप उसके बदन पर हाथ फेरता रहा। वह उसके साथ सटती गई, सटती गई। खालका के शरीर की वह परिचित गन्ध...उसके हाथों का वह परिचित स्पर्श...उसकी साँसों की वह परिचित लय...उसे फिर लगा कि वह उलटी धार में शिकारा चलाती हुई उस तरफ़ आ रही है...फिर एक बच्चे को बार-बार बहते पानी में डुबकियाँ दी जा रही हैं...कि बच्चा बारी-बारी सहमता और चिल्लाता है, चिल्लाता और सहमता है...कि उसके कई-कई चेहरे हैं, पर वास्तविक चेहरा उसका खालका का-सा है...कि वह उसके पास खड़ा भुट्टा चबा रहा है, जिससे उसका छोटा-सा मुँह बार-बार खुलता और बन्द होता है...कि वह तुक्का फेंककर उससे लिपटने को उसकी तरफ़ बढ़ा आ रहा है...।

''मैं जानता हूँ कि तुम्हें मेरे पीछे कितनी तकलीफ़ उठानी पड़ी है...'' खालका कह रहा था।

''मैं यह सब नहीं जानती...मैं कुछ भी नहीं जानती...'' उसने अपने को कहते पाया। ''तुम्हें अगर छोड़कर जाना ही था, तो कम-से-कम इतना तो करते कि मेरी रखवाली के लिए अपना एक वारिस तो मुझे दे जाते।...पर तुम देकर गए मुझे सिर्फ़ बोझ...दो-दो लड़कियों का...और अब भी तो वही बोझ मेरे ऊपर छोड़कर चले जाना चाहते थे। फर्ज करो मैं न आती, तो तुम तो...तुम तो छोड़कर चले ही जानेवाले थे।''

और जब उसने पाया कि खालका की बाँहें उसके गिर्द नहीं कस रही हैं, तो उसने खुद उन्हें अपने गिर्द कस लेना चाहा। ''बताओ, यही तुम्हारी मर्दानगी थी? बोलो!''

पर उसकी कोशिश के बावजूद खालका के ढीले हाथ और ढीले हो गए। एक तरह से खालका ने अपने को बिलकुल उससे अलग कर दिया। वह चुँधियायी-सी कुछ क्षण उसकी तरफ़ देखती रही।

''मुझे अपने बारे में तुम्हें बहुत कुछ बताना है,'' खालका आँखें दूसरी तरफ़ किए हुए बोला। ''मैं आज इस लायक नहीं रहा कि तुमसे...।''

वह खालका पर झुकी-सी लेटी थी, सहसा उठकर बैठ गई। ''तुम क्या कहना चाहते हो मुझसे?'' आँखों से जैसे वह उसके एक-एक रोंये को टोहती हुई बोली।

"और जो कहना चाहते हो, क्या वही कहने के लिए सोपुर से मुझे लाने आए थे?"

खालका के चेहरे पर स्याही पुत गई थी। वह मरी-सी आवाज़ में बोला, "देखो, मैं इलाज करूँगा। हो सकता है, ठीक भी हो जाऊँ।...पर तुम्हारी ज़रूरत मुझे कितनी है, और क्या है, यह तुम क्या नहीं जानती?"

वह उठ खड़ी हुई। लग रहा था जैसे उसके लहू में किसी ने जहर छोड़ दिया हो। "जानती क्यों नहीं?" उसने सारी कड़आहट ज़बान पर लाकर कहा। "मैं नहीं जानूँगी तो और कौन जानेगा?" और वहाँ से निकलकर बाहर खुली हवा में आ गई। गहरी ख़ामोश रात थी। दूर तक कोई रोशनी, कोई आवाज़ नहीं–सिवाय आसमान में दस्तकें देती एक हलकी-हलकी आवाज़ के :

"बाल यार! क़ाल यार! या पीर! लाइल्लाह! हिलिल्लाह!"

बरसों से यह आवाज़ हवा में उसी तरह ठहरी हुई थी; बरसों से वे साये रात को उसी तरह दरिया की सतह पर मँडराया करते थे। वहीं से हाउसबोट की उसी खिड़की के पास खड़े-खड़े बेगम ने न जाने कितनी बरसातों का पानी पास से गुज़रता देखा था, बोट से टकराकर उसे हिलाता, मैला गँदला पानी, जो कि कुछ ही गज़ दूर जाकर पानी नहीं रह जाता था–बहते हुए गाढ़े अँधेरे में बदल जाता था...।

पिछले पुल की तरफ़ से अँधेरा बहता हुआ आता था और अगले पुल की तरफ़ निकल जाता था। ज़िन्दगी हर आज की रात के बाद, हर कल की रात तक, उन दो पुलों के बीच रुकी-सिमटी रहती थी। मौसम बदलने के साथ पानी घटता-बढ़ता रहता था, उसी हिसाब से घाट के साथ बोट की ऊँचाई-निचाई का रिश्ता भी बदलता रहता था, पर इन परिवर्तनों से ज़िन्दगी में अन्तर कुछ नहीं आता था–सिवाय इसके कि हर गुज़रते साल् के साथ चेहरे कुछ-कुछ बदल जाते थे।

वहाँ खड़े-खड़े कुछ देर वह भूली रही थी कि क्यों वहाँ खड़ी है, क्यों एकटक दो पुलों के बीच सिमटे अँधेरे को देख रही है। अपने वहाँ होने का अहसास भी तब हुआ था, जब सिद्दीक की छाया को दो-एक बार पास से गुज़रते, रुकते और फिर निकल जाते देखा था। वह जाने कहाँ से आकर चुपचाप अपने बिस्तर में लेट गया था। तब शायद वह अपने को सोपुर के डूँगे में देख रही थी–वहाँ से चलने के लिए सामान बाँधते हुए...।

और दूसरी बार अहसास हुआ, जब पीछे की तरफ़ से एक शिकारा बोट से आ टकराया।

"माई।"

मामदा की आवाज़ उसे अँधेरे से बाहर ले आई। मुड़कर उसने शिकारे की तरफ़ देखा, तो पहले उसकी नज़र मामदा पर नहीं, नूरा पर पड़ी जो कि अभी शिकारे में अपनी जगह से उठी नहीं थी–अपनी चमकती आँखें उसके चेहरे पर स्थिर किए जैसे

अब भी उसका जायजा ले रही थीं। मामदा अपनी आँखें बचाए हुए शिकारे को धीरे-धीरे बोट के साथ-साथ सरकाता हुआ उसके नज़दीक ला रहा था।

बेगम उन दोनों को देखती रही। कोई बात उसके मुँह से नहीं निकली। बहुत पास आकर नूरा अपनी जगह से उठी और उसी खिड़की के रास्ते बोट में आ गई। मामदा ने मुँह से कुछ कहा—शायद शिकारा घाट से बाँधकर आने की बात—और चप्पुओं से छींटे उड़ाता हुआ आगे निकल गया।

नूरा बिना कुछ कहे डूँगे की तरफ़ जाने लगी, तो बेगम के मुँह से पहली बात निकली, ''ठहरो इधर।''

नूरा रुक गई। बेगम चार क़दम चलकर उसके सामने आ गई।

''कहाँ थी तू अब तक?''

नूरा की आँखें एक बार झपक गईं। रुकती-सी आवाज़ में बोली, ''वहीं थी डल गेट पर समदू फूफा के डूँगे में।''

''वहीं थी तू? हैं...'' बेगम ने उसकी बाँह पकड़कर झिंझोड़ दी। ''आधी रात तक वहीं बैठी फूफीजान से कहानियाँ सुन रही थी। है न?''

नूरा ने विरोध नहीं किया। बाँह छुड़ाने की कोशिश भी नहीं की। एक बार अपने निचले होंठ को ज़बान से छू लिया कि वहाँ ज़्यादा सोजिश तो नहीं। बेगम के हाथ ने जिस तरह उसकी बाँह को जकड़ रखा था, उसका असर अब भी उसे अपनी रग-रग में महसूस हो रहा था। नगीन के किनारे चिनार के साये में वह जिस संघर्ष में से गुज़रकर आई थी, उसे अपने में सँभाल सकने के लिए इस तरह झटक दिया जाना उसे काफ़ी सहायक लग रहा था। अगर उससे कुछ न कहा जाता, तो शायद अपने को काबू में रखकर वह किसी से एक बात भी न कह पाती।

बेगम की आवाज़ से सिद्दीक सहसा कुनमुनाकर उठ गया। अपनी जगह रुककर वह पलभर दोनों को देखता रहा—फिर डूँगे में जाकर उसने खालका को जगा दिया। ''नूरा लौट आई है, मामदा के साथ।'' उसने बहुत धीमी आवाज़ में कहा, जैसे कि किसी चोर के घर में घुस आने की सूचना दे रहा हो। ''तुम उठकर बेगम को रोको, नहीं तो दोनों को वह आज जान से मार डालेगी।''

पर इसके पहले कि खालका सिद्दीक के हाथ का सहारा लेकर खड़ा होता, बेगम नूरा को साथ लेकर डूँगे में आ गई।

''तुम्हारी लड़की कह रही है कि वह अब तक फूफा के डूँगे में थी,'' कहते हुए बेगम ने उसे पीठ से धकेलकर खालका के सामने कर दिया। ''वहाँ इसकी फूफी इससे धान छँटवा रही थी। अब तुम इसे थोड़ा पुचकार दो, जिससे बेचारी की थकान कुछ दूर हो जाए। फूफी का काम करते-करते देखो अपने हाथ-मुँह सब नीले कर आई है। एक बार इसके चेहरे को तुम ज़रा गौर से देखो।''

बेगम ने खालका के पास रखी लालटेन उठाकर नूरा के चेहरे के पास ला दी, तो नूरा ने अनायास एक हाथ से अपने होंठों को ढक लिया।

"कहाँ थी तू अब तक? बोल।" खालका ने बोलने में इतना ज़ोर लगा दिया कि उसकी आवाज़ बीच में ही टूट गई। "तेरी माँ खुद देखकर आई थी, वहाँ समदू के डूँगे पर। कहाँ गई थी तू वहाँ से? और कहाँ रही इस वक़्त तक? इस आधी रात तक? बोल?"

नूरा बिना कुछ कहे आँखें झपकती हुई खालका की तरफ़ देखती रही।

"अगर तू इस तरह नहीं बोलेगी तो तुझे दूसरी तरह से बुलवाना पड़ेगा।" अब की खालका आवेश में अपने से ही उठ खड़ा हुआ। घुटने काँप रहे थे, फिर भी किसी तरह वह अपने को सँभाले रहा। "और वह हरामी कहाँ है?" उसने सिद्दीक से कहा। "उसे भी ज़रा मेरे सामने लेकर आओ।"

"वह यहाँ नहीं है। शिकारा घाट पर छोड़कर ऊपर कहीं चला गया है।" बेगम ने आँखें उठाकर देखा। नज़्मा भी उठकर वहीं पास आ खड़ी हुई थी। नज़्मा से आँखें मिलते ही नूरा की बाँह पर कसा हुआ उसका हाथ ढीला पड़ गया। और उसने नूरा को थोड़ा अपनी आड़ में कर लिया। खालका के लिए अब और खड़े रहना मुश्किल हो रहा था, इसलिए हाथ से उसने खिड़की का सहारा ले लिया। "अच्छा है, अगर वह खुद ही चला गया है," वह बोला, "नहीं तो अभी इसी वक़्त उसके तीन टुकड़े करके मैं उसके माँ-बाप के सुपुर्द कर आता।" आख़िरी शब्दों तक आते-आते उसकी आवाज़ चीख़ की तरह से हो गई और हाँफता हुआ खिड़की के सहारे उसी जगह बैठ गया। सिद्दीक और नज़्मा के हाथ उसे सहारा देने के लिए हिले, पर उनके पैर अपनी-अपनी जगह से आगे नहीं बढ़ पाए।

"देख रही है बाप की हालत?" बेगम नूरा के चेहरे पर आँखें गड़ाए हुए बोली। "जो कुछ उसकी जान पर बीत रही है, किसकी वजह से बीत रही है?...और जिसकी खातिर बीत रही है, वह लड़की कितनी होनहार है कि आधी रात को अपनी आबरू मिट्टी में मिलाकर फिर वापस आ रही है। यहाँ आने की बजाय वहीं कहीं दफ़न क्यों नहीं हो गई तू?"

नूरा की आँखों में एक बार बिजली-सी तड़प गई, पर वह उसी तरह ख़ामोश बनी रही। होंठों पर रखा उसका हाथ धीरे-धीरे नीचे को सरक गया। खालका के मुँह से बात नहीं निकल पा रही थी। वह अपनी सुलगती हताश आँखों से उन तीनों की तरफ़ देखता रहा।

"यही करनी करनी थी तुझे, तो क्यों नहीं बाप से कह दिया? किसी भी कुत्ते के साथ तेरी शादी कर देता।" बेगम ने इस बार उसके फिरन को गले से पकड़कर हिला दिया। "या शादी न करता, तो तेरा कीमा करके खैरात बाँट देता...तू वापस क्या यह

सोचकर आई है कि इसके बाद भी वह तुझे अपने घर में रहने देगा? तुझे गले से लगाएगा न, कि तूने उसकी इज़्ज़त में चार चाँद लगा दिए हैं?...तुझमें इतना हौसला बाक़ी है कि तू आकर उसके सामने इस तरह खड़ी हो, और खड़ी रहे? खालका बनतू की लड़की—और एक मर्द के साथ रात काटकर भी उसके सामने आँखें खुली रखे।...मैं तेरी माँ न होती, तो कुछ मुझे भी शक होता कि तू इस नेक आदमी की औलाद है या किसी...किसी मैला खानेवाले सुअर की...या किसी..."

सिद्दीक ने बात के बीच में ही बेगम का हाथ दबा दिया। "आहिस्ता बात करो, नहीं तो आसपास के डूँगे में लोग जान जाएँगे। तुम खुद ही खालका से कह रही थीं कि...।"

बेगम ने एक बार चीरती नज़र से सिद्दीक की तरफ़ देख लिया। गुस्से में भी यह बात उसके ज़ेहन में उभर आई कि जब वह खालका से बात कर रही थी, उस वक़्त सिद्दीक तो वहाँ नहीं था। फिर उस आदमी ने कैसे उसकी बात सुन ली थी?

"लोग सुनें या न सुनें, इसकी फ़िक्र मुझे होनी चाहिए, तुम्हें नहीं। तुम्हारा या और किसी का यहाँ इस वक़्त कोई काम नहीं। मुझे तुममें से किसी की मदद की ज़रूरत होगी, तो मैं तुम्हें बुला लूँगी।"

सिद्दीक ने नज़मा की तरफ़ देखा। नज़मा एक नज़र खालका और बेगम पर डालकर उसी वक़्त वहाँ से हट गई। जाते-जाते कोई बात उसने मुँह से कही। पर इतनी स्पष्ट नहीं कि ठीक से किसी को सुनाई दे जाए। सिद्दीक मगर साफ़ बड़बड़ाया, "तुम लोगों की बरबादी अब होकर रहेगी, यह मुझे साफ़ नज़र आ रहा है। सिद्दीक तो क्या सिद्दीक का खुदा भी तुम लोगों के बचाव के लिए कुछ नहीं कर सकता।" और ज़ेब से एक बीड़ी निकालकर उसे सुलगाता हुआ वह डूँगे से चला गया।

कुछ देर बेगम, नूरा और खालका, तीनों अपनी-अपनी जगह जड़ हुए रहे। फिर खालका ने नूरा की तरफ़ से मुँह फेरकर अपना चेहरा लकड़ी की दीवार में गर्क कर दिया।

नूरा को महसूस हुआ कि अब वह बेगम के साथ वहाँ अकेली रह गई है—रात के गहरे सायों में चमकती हुई बेगम की दो आँखों का ही उत्तर अब उसे देना है।

"कहाँ गई थी तू उसके साथ?" बेगम की आवाज़ में तीखेपन की जगह अब संजीदगी ज़्यादा थी।

नूरा की ज़बान लड़खड़ा गई। "उसने कहा था...कहा था कि नगीन से होते हुए घर वापस चलेंगे।"

"क्यों? नगीन में किसी के यहाँ जश्न हो रहा था?"

"नहीं। उसने कहा था कि..."

"क्या कहा था उसने? ज़बान को लकवा क्यों मार गया है?"

नूरा आँखों से सहारा ढूँढ़ती रही–घाट के पत्थरों से, पानी पर झिलमिलाती रोशनियों से। "उसने कहा था कि वह मुझसे कुछ बात करना चाहता है।"

"वह तुझसे कुछ बात करना चाहता था! अलग से! अकेले में! रात के वक़्त! और आज रात को ही!...मैं जानती हूँ, वह क्या बात करना चाहता था!"

नूरा ने इस बार खालका की तरफ़ देखा–कि शायद उसकी आँखों से कुछ सहारा मिले, मगर खालका करवट बदल लेने के बावजूद उनकी तरफ़ नहीं देख रहा था। उसका एक हाथ माथे पर था, दूसरा छाती पर और आँखें उसकी इस तरह चढ़ी हुई थीं, जैसे दिमाग़ से उनका ताल्लुक टूट गया हो। नूरा के होंठ कुछ कहने के लिए काँपे, मगर काँपकर ज़र्द पड़ गए। उसके हलक में इतना मवाद जमा हो गया था कि उसे गले पर हाथ रख लेना पड़ा।

"बताया नहीं तूने कि क्या बात करना चाहता था वह तुझसे?"

"तुम उसे बुला लो," नूरा किसी तरह कह पाई। "मैं उसके सामने ही बात करना चाहूँगी।"

"उसके सामने बात करना चाहोगी! उसके! उसे आने तो दो मेरे सामने–अगर जीते-जी फिर वह एक आवाज़ भी मुँह से निकाल सके! या तुम्हीं मुँह से उसके सामने एक लफ़्ज बोल सको! उसके सामने!"

खालका की आँखें अब बेगम के चेहरे पर आ टिकीं। बहुत सोच-सोचकर जैसे वह किसी फैसले पर पहुँच पाया था। "इससे अब कोई बात कहने-पूछने की ज़रूरत नहीं," वह कमज़ोर पर अधिकारपूर्ण स्वर में बोला–"मैंने फैसला कर लिया है। कल ही मैं कासिम से इसका रिश्ता तय किए देता हूँ। तुम भी अब इसमें और दख़ल मत देना। इस लड़की को मैं एक दिन भी कुँवारी घर में रखने को तैयार नहीं हूँ।"

बेगम की भौंहें तन गईं। पल भर उसे खुद अपनी उठती-गिरती साँस की आवाज़ सुनाई देती रही "मैं जानती थी तुम बहुत बुज़दिल हो," आखिर उसने कहा। "पर इतने बुज़दिल हो, यह नहीं जानती थी।"

खालका की आँखें झुक गईं। बेगम को लगा कि मिट्टी के लोंदे में एक और पत्थर जा धँसा है। "क्योंकि आज एक के बाद दूसरे आदमी ने भी तुम्हें ज़लील किया है, इसलिए दूसरी ज़लालत से बचने का यही तरीका है कि पहली ज़लालत को भूलकर उस आदमी के क़दमों में जा गिरो। इससे बढ़कर और खुद्दारी किसी में क्या होगी!"

खालका ने सिर ऊँचा किया और कुहनियों के बल सीधा होकर बैठ गया। बेगम को यह स्वाभाविक नहीं लगा, क्योंकि अक्सर ऐसे मौकों पर वह आगे बात नहीं कर पाता था।

"खुद्दारी से तुम्हारा यह मतलब है कि मैं अपने जीते-जी, अपनी आँखों के सामने, अपने खानदान की मिट्टी पलीद होते देखता रहूँगा, तो ऐसी खुद्दारी मुझे नहीं चाहिए।" आवाज़ उसकी फिर रुक रही थी, पर किसी तरह कोशिश करके वह आगे बोलता रहा, बोलता रहा। "यह खुद्दारी ही तो है, जो मैं हर रोज़ आँखों से कितना कुछ देखता हूँ, कानों से कितना कुछ सुनता हूँ फिर भी ख़ामोश बना रहता हूँ। कोई पेड़-पत्थर क्या बरदाश्त करता होगा जो मैं यहाँ रहकर करता हूँ। कादिर ने तो मुझे एक ही हाथ लगाया है—इतने बरसों में आज पहली बार—पर जिनकी मार मुझे रात-दिन सहनी पड़ती है—बिना हाथ की मार—उन्हें मेरी खुद्दारी का बहुत ख़याल रहता है। आज तक सबकुछ मैं ख़ामोशी से सहता आया हूँ, पर अब और सहना मेरे बस का नहीं है। मैं इस लड़की की ख़ातिर इतने दिनों से रुका हुआ हूँ—और दरअसल ,लड़की की भी ख़ातिर नहीं, सिर्फ़ तुम्हारी ज़िद की ख़ातिर। मुझे इस दुनिया में और किसी चीज़ से कुछ लेना-देना नहीं है—बस इस लड़की को दूसरे घर भेजकर हज के लिए निकल जाना है। यह बोट और इसमें जो भी सामान है, वह सब तुम लोगों का है—तुम लोग इसके लिए मरो-खपो, लड़ो-झगड़ो, मुझे इससे कोई मतलब नहीं है। मुझे हज के लिए जो रुपया चाहिए, उसका इन्तज़ाम मैं अपने आप कहीं से कर् लूँगा—उतना रुपया मुझे शाह साहब से ही कर्ज़ हुसैनी के तौर पर मिल जाएगा। कर्ज़ हुसैनी से हज के सवाब के हक़दार ही तो वे होंगे न! हों! यहाँ से जाकर कम-से-कम इस रोज़-रोज़ की ज़हमत से तो मुझे छुटकारा मिल जाएगा। मैं सुबह ही शाह साहब को चिट्ठी लिख रहा हूँ। तुम्हें मेरे यहाँ रहते लड़की का निकाह करना है, तो कल कादिर को बुलाकर उससे बात पक्की कर लो। नहीं करना है, तो मेरे जाने के बाद जो मन में आए करती रहना। न मैं तुमसे पूछने आऊँगा, न तुम्हें मुझे बताने की ज़रूरत पड़ेगी। न मुझे ज़िन्दा वहाँ से लौटकर आना है और न ही यह सब तमाशा आकर देखना है। न जाने कौन-सी कम्बख़्ती थी, जो उस बार भी मुझे यहाँ वापस ले आई थी। न आता, न रात-दिन यह खुद्दारी का पत्थर सिर पर लादे घूमता।" और निढाल होकर बाँह पर छाती रखे वह खिड़की के चौखट पर झूल गया।

झूल न जाता, तो बेगम को लगता कि वह खालका के नहीं, किसी अजनबी के मुँह से यह सब सुन रही थी। इतनी बात, और इस तरह, उस आदमी ने ज़िन्दगी में कभी नहीं की थी। अगर वह बिना निढाल हुए यह सब कह सकता, और बरसों पहले से कह सकता, तो ज़िन्दगी का रुख कुछ दूसरा ही न होता? तब क्यों वह सोपुर में किसी और के आसरे अकेली रही होती—और क्यों उसने कादिर, ख़ान या किसी भी और से ज़िन्दगी में कुछ उम्मीद की होती? वह कई पल चुपचाप सुन्न हुई उसे देखती रही। चाहती रही कि वह चौखट से सिर उठाकर फिर कुछ कहे, उसी तरह उसी

आवाज़ में कुछ और गुबार बाहर निकाले, मगर खालका एक बार झुका, तो झुका ही रहा; चौखट पर रखा सिर फिर देर तक नहीं उठ पाया।

बेगम देखती रही और रोके हुए आवेश से अन्दर ही अन्दर काँपती रही। प्रतीक्षा करने पर भी खालका का सिर नहीं उठा, तो उसका आवेश दुगुना-चौगुना होने लगा। "तुम्हें यहाँ कोई पत्थर ढोने को नहीं कहता," उसने कहा। "तुम्हारे पत्थर ढोने में हमें जो कुछ हासिल है, वह न ही हो, तो अच्छा है। तुम्हारा मन हज पर या जहाँ कहीं जाने को हो, तुम चले जाओ। मगर कासिम के साथ शादी तुम इस लड़की की नहीं, इसके ताबूत की ही करके जा सकोगे!" फिर एकाएक नूरा की तरफ़ देखकर उसे उसके कन्धे से झिंझोड़ दिया। "और तू किस उम्मीद में मेरा मुँह ताक रही है? जिस कमीनजाद को तू अपना खसम बनाना चाहती है, उसे भी तेरी लाश ही हासिल होगी–बल्कि उससे पहले उसकी खुद की लाश दफ़नाई जा चुकेगी।"

झिंझोड़ने से नूरा का शरीर हिला पर पैर अपनी जगह कायम रहे। हलके से अपना पटका उतारकर उसने सिर के बालों को झटक लिया। साँस उसकी भी फूल आई थी, पर जो कुछ उसे कहना था, वह उसकी आँखों से और रोंये-रोंये से कहा जा रहा था। शब्दों की शायद उसे ज़रूरत ही नहीं रही थी।

"यह किस तरह देख रही है मेरी तरफ़?" बेगम से उसका देखना सहा नहीं गया। "अगर आज रात के बाद सुबह का मुँह देखना है, तो वह लिहाफ़ पड़ा है, जाकर चुपचाप उसमें दफ़न हो जा। सुबह तक जो भी फैसला होना होगा तेरी तक़दीर का, वह अपने आप हो जाएगा।"

पर नूरा अपनी जगह से हिली नहीं। उसी तरह खड़ी देखती रही।

"मैंने क्या कहा है? तूने सुना नहीं है?"

नूरा का चेहरा पहले से कुछ सख़्त हो गया। पर उसने आँख तक नहीं झपकी।

"तो तुझे दूसरी तरह से अपनी बात सुनानी पड़ेगी?"

नूरा फिर भी उसी तरह मूरत बनी रही।

बेगम ने उसके कान उँगलियों के बीच लेकर उसका चेहरा दोनों हाथों से दबा लिया और उसे हिलाती हुई बोली, "तो तू सिवाय इस तरीके के और किसी तरह से नहीं सुनेगी? हाँ!"

पर नूरा ने दाँत भींचे हुए एक ही झटके से उसके हाथ अपने चेहरे से हटा दिए और फिर चुपचाप उन्हीं आँखों से उसे देखती रही। झटका खाकर बेगम को एकसाथ दोहरा अहसास हुआ–एक उस लड़की के अपने से कहीं ताकतवर होने का और दूसरा–जो बहुत गहरे तक उसके अन्दर उतर गया–अपने बीत जाने का। गुस्से के मारे उसका मन हुआ कि रसोईघर से एक लकड़ी लाकर उस लड़की को बुरी तरह पीट दे, पर दूसरा अहसास इस तरह छा गया था कि वह फिर उसे हाथ से छू भी नहीं सकी।

"तुझे इस घर में नहीं रहना है?" आवाज़ में तीखापन बनाए रखने के लिए उसे कोशिश करनी पड़ी।

"नहीं।"

"दरिया में डूब मरना है।"

"तो क्यों नहीं...!"

पर इस बीच ही खालका की आँखें ऊपर उठ गईं। "यह...यह तुझे दरिया में डूबकर मरने भी नहीं देगी। यह तो तुझे रस्सी से बाँधकर अपने पास बिठा रखेगी जब तक कि दो साल, दस साल, बीस साल में इसका वह...वह इसका ख़ान लौटकर नहीं आता, जिसे इसको अपना...जिसे इसको तेरा...शौहर बनाना है।"

बेगम की त्योरियाँ गहरी हो गईं। नाक फड़कने लगी। "शरम नहीं आती तुम्हें लड़की के सामने इस तरह की बात करते?"

"शरम ही तो नहीं आती," कहते हुए खालका ने मुँह फेर लिया। "शरम आती तो अब तक क्या-क्या न कर दिया होता।"

नूरा बिना दोनों में से किसी की भी तरफ़ देखे कुछ देर खड़ी रही, फिर डूँगे के पिछले हिस्से में चली गई, जहाँ नज़मा के बराबर उसका बिस्तर बिछा था। नज़मा सीधी लेटी थी, पर उसके आ जाने पर उसने करवट बदल ली।

बेगम प्रतीक्षा करती रही कि शायद खालका फिर आँखें उठाकर उसकी तरफ़ देखे। पर खालका अब पहले से भी ज़्यादा सिमटा, बिलकुल काठ की तरह पड़ा था। वह पहले कुछ देर अपने बिस्तर पर बैठी रही, फिर कम्बल ओढ़कर लेट गई। फिर सहसा ध्यान आ जाने से उसने कम्बल चेहरे से हटाकर सिद्दीक को आवाज़ दी। सिद्दीक तुरन्त वहाँ चला आया, जैसे कि आवाज़ की प्रतीक्षा ही कर रहा हो।

"वह आदमी अभी आया तो नहीं?" बेगम ने पूछा।

"कौन, मामदा?"

"वह नहीं तो और कौन?"

"अभी नहीं आया।"

"जब आए, मुझे ख़बर कर देना।"

"तुम न कहतीं, तो भी मैं उसके आते ही ख़बर कर देता। तुम समझती हो, मैं रात भर सोने जा रहा हूँ? सिद्दीक जब तक उस आदमी की मरम्मत नहीं कर लेगा, उसे नींद नहीं आएगी।"

"उससे कुछ भी कहने से पहले तुम्हें मुझे ख़बर देनी है। अब जाओ।"

और सिद्दीक के जाते ही उसने फिर से अपना सिर-मुँह कम्बल में लपेट लिया।

एक-एक क्षण करके रात बीत रही थी...हर क्षण जो कि बीतने के साथ हाथ से फिसलता जाता था। खालका ने कितनी ही बार सिर-मुँह ढाँपकर पड़ी आकृति की

तरफ़ देखा...देखा कि शायद वह अभी हिले...अभी और बात करे...क्योंकि उन दोनों के बीच तो बात अभी हुई नहीं थी...बिना उनके बीच की एकान्त बातचीत के बात समाप्त कैसे हो सकती थी? नूरा के सामने इतना कुछ कह लेने के बाद भी बहुत कुछ था जो अभी बाक़ी था, जो अभी मन में घुमड़ रहा था...जो आज और उसी समय कहा जाना चाहिए था...क्योंकि इतने बरसों में पहली बार आज वह लिहाज़ की दीवार तोड़ पाया था...अपनी कमज़ोर स्वीकृति के कुहासे को पार कर पाया था। आज वह कुछ भी कह सकता था...सभी कुछ कह सकता था। पर बेगम ने अपने को दूर कर लिया था...ताब नहीं थी उसमें कि सुन सके। जिस तरह कि वह बरसों से सुनता आया था उस तरह आज, सिर्फ़ आज एक बार ही सुन सके। पर साथ ही मन कहीं बँधा हुआ भी था, अफ़सोस और पश्चात्ताप से...कि इतने बरसों से एक नाज़ुक धागे का जो सिरा हाथ में सँभाले था, उसे आज उसने छूट जाने दिया था और छूटने के झटके से शायद वह कहीं से टूट भी गया था...।

उसने चेहरे का रुख बदला, करवट बदली। दो-तीन बार खँखारकर बेगम का ध्यान अपनी तरफ़ खींचने की कोशिश की। मगर बेगम जिस तरह पड़ी थी, पड़ी रही। पर एक हलकी-सी जुंबिश से उसने अपने जागते होने का अहसास उसे करा दिया।

उसने एक बार आवाज़ देकर बेगम को बुलाना चाहा, पर विचारों के जमघट के बीच आवाज़ जैसे जकड़कर रह गई थी। वह नाम जो कि इतना परिचित था, उस वक़्त ज़ुबान के लिए बेगाना पड़ रहा था...और एक और नाम जो कि अजनबी था... जिसके साथ जुड़े चेहरे को वह सोचा करता था कि वह बिलकुल भूल चुका है...वह दिमाग़ में मँडरा रहा था...बुझती लालटेन के इर्द-गिर्द चक्कर काटते कीड़े की तरह... अन्देशा होता था कि वह अभी चिमनी से चिपक जाएगा और फिर हमेशा-हमेशा के लिए उसी तरह चिपका रहेगा।

ख़ान!

वह खुद ही मोटर स्टैंड से एक दिन उस आदमी को बोट में लाया था। ऊँचे डीलडौल का गोरा आदमी था। खुशमिज़ाज। हँसता, जैसे दरिया की लहर घाट से आ टकराए। उनके यहाँ आकर दो दिन में ही जैसे उनके घर का आदमी हो गया था। उन दिनों काम करनेवाला कोई आदमी उनके यहाँ नहीं था। मामदा अभी आया नहीं था और सिद्दीक बीमार था। बावर्चीखाने का सारा काम बेगम सँभालती थी, बाज़ार का और खिलाने का काम वह खुद करता था। कुछ हाथ नूरा भी बँटा देती थी, पर वह जवान लड़की को अकेले आदमी के कमरे में ज़्यादा आने-जाने देना नहीं चाहता था। सैंतालीस का जुलाई महीना था। ख़ान के सिवाय उन दिनों बोट में और कोई नहीं था। बँटवारे के डर से बहुत कम टूरिस्ट उस साल आए थे। ख़ान जब आया, तो एक ही

कमरा उसने लिया था, पर चार रोज़ बाद उनकी हालत देखते हुए, उसने पूरे बोट का किराया देना मंज़ूर कर लिया था।

उनके यहाँ आनेवाले और टूरिस्टों से बिलकुल अलग तरह का आदमी था वह। न अंग्रेज़ों की-सी साहबियत, न पंजाबी-गुजरातियों का-सा लिजलिजा नख़रा। कई बार गोश्त बनाने वह खुद बावर्चीखाने में पहुँच जाता और बेगम को पेशावरी ढंग से मुर्गा-मटन बनाना सिखाया करता। जब वह अपने हाथ से गोश्त बनाता, तो खिलाता भी सबको खुद ही...मेज-कुरसी पर बैठकर चीनी के बरतनों में खाने की बजाय खाता भी उन्हीं के बीच बैठकर इनैमल की तश्तरियों में। जब खुद न बनाता, तब भी वहीं बावर्चीखाने में आकर बेगम से कश्मीरी ढंग से गोश्त बनाना सीखता रहता...कहा करता कि अगले साल आएगा, तो वे सब चीज़ें भी उन्हें अपने हाथ से बनाकर खिलाएगा।

पर पराए आदमी का इस तरह घर में घुल-मिल जाना अच्छा भी लगता था...नहीं भी लगता था। महसूस होता था, जैसे उतने दिनों के लिए अपनी स्वाभाविक ज़िन्दगी स्थगित हो गई हो...जैसे वह उस डूँगे के मालिक न होकर खुद किसी के यहाँ मेहमान बनकर ठहरे हों। जब आठ-दस रोज़ इस तरह से गुज़र चुके, तो सुम्बल चिट्ठी लिखकर उसने सिद्दीक को बुला लिया। सिद्दीक अभी कमज़ोर था, पर उसकी तबीयत ठीक हो चुकी थी। सोचा था कि सिद्दीक के आने के बाद बावर्चीखाने का काम उसके सुपुर्द हो जाएगा, तो ज़िन्दगी अपने पहले ढर्रे पर लौट आएगी। पर हुआ बिलकुल उससे उलटा। बावर्चीखाने का ज़्यादा काम तो सिद्दीक के सुपुर्द हो गया, पर बेगम अब सारा-सारा दिन ख़ान को लेकर और भी व्यस्त रहने लगी। अब ख़ान की कमीज़ों के बटन लगाए जा रहे हैं, अब उसके लिए नमदे, गब्बे और पेपर-मेशी के फूलदान खरीदे जा रहे हैं। इस वक़्त उसे अपने साथ लेकर बाज़ार जा रही है, तो उस वक़्त बाज़ार के लोग सामान दिखाने बोट में चले आ रहे हैं। वह जब भी बाहर से लौटकर आता, पता चलता कि बेगम या तो किसी काम से ख़ान के कमरे में है, या उसे साथ लेकर बाहर गई है, दो घंटे में वापस आएगी। मन में उसे बहुत झुँझलाहट होती। पर ख़ान के सामने वह कुछ भी कह न पाता। अकेले में एकाध बार उसने बेगम से बात करनी चाही, तो उसे बहुत संक्षिप्त उत्तर मिल गया। "किसी एक आदमी के लिए यह सब करके ज़िन्दगी में एक बार मैं अपना चाव पूरा कर सकती हूँ, तो क्यों न करूँ? बाप और खाविन्द ने तो कभी मौका नहीं दिया कुछ करने का। भाई रहा नहीं, लड़का हुआ नहीं...तो किसी के लिए दो-चार चीज़ें खरीदकर मुझे अपना शौक पूरा कर लेने दो। और अपने पैसे से तो उसके लिए कुछ खरीदती नहीं। जो कुछ खरीदना होता है उसी के पैसे से तो खरीदा जाता है।"

किसी भी आगन्तुक की खरीदी चीज़ों में उन्हें कमीशन मिल सकता था दस फीसदी कम-से-कम। पर बेगम की इस खरीदारी में वह भी हासिल नहीं था। "तुम्हारे

लिए या अपने लड़के के लिए खरीदती, तो उसमें से कमीशन लगती?'' वह कहती। एक दिन जब बहुत देर हो गई बाज़ार से लौटने में, तो वह कह बैठा, ''मुझे तो लगता है कि बाप, खाविन्द, दामाद इन सबसे ज़्यादा वह तुम्हारा सगा है।''

बेगम इस पर चमक उठी। ''हाँ, है वह मेरा सगा! तुम सबसे ज़्यादा। बोलो, अब तुम्हें क्या कहना है?''

''मुझे कुछ नहीं कहना है। कहने का असर हो, तो आदमी कुछ कहे!''

बेगम तमतमा उठी, ''कुछ कहने से पहले आदमी आदमी तो हो।''

उसकी आँखें उठीं, झुकीं और अपने में खो गईं। पास से हटते हुए उसने कहा, ''तुमसे तो बात करना गुनाह है। क्या पता, कब क्या बात तुम्हारी ज़बान पर आ जाए। तुम्हारा आदमी तुम्हारे लिए आदमी नहीं है, आदमी वह जो...''

''सुनो,'' बेगम ने पीछे से कहा।

वह रुक गया और झुके चेहरे तथा उठी हुई आँखों से उसे देखता रहा।

''तुम...तुम...आज भी तुम मुझ पर शक करते हो? उस औरत पर जो तुम्हारी ख़ातिर सात साल अकेली सोपुर में सड़ती रही है?''

''मैंने यह कहा है?''

''नहीं कहा, तो और क्या मतलब है तुम्हारा? क्या यही सब कहने-सुनने के लिए उस दिन मुझे लाने सोपुर आए थे?''

उसका चेहरा फीका पड़ गया। ''तुम धीमी आवाज़ में बात नहीं कर सकतीं?''

''क्यों करूँ मैं धीमी आवाज़ में बात? मैं कोई चोर या गुनहगार हूँ, जो धीमी आवाज़ में बात करूँ? हाँ, तुम एक हो जिसे खुदा ने ऊँची आवाज़ में बात करने का हक नहीं दिया। जाने कौन-से गुनाह की मार है जो कभी तुम्हें खुलकर बात नहीं करने देती।''

और एक दिन किसी बात के सिलसिले में बेगम ने कहा, ''मैं उसे क्या समझती हूँ क्या नहीं, उससे क्या चाहती हूँ क्या नहीं, यह जानने की तुम्हें शायद ज़रूरत नहीं। तुम अपने सिवाय ज़िन्दगी में कभी किसी की फिक्र रखते भी हो? पर मुझे तो फिक्र है कि मेरे घर में जवान लड़की है। एक लड़की को हाँजियों के यहाँ देकर जो कुछ पा लिया है, वह अब और मुझे नहीं चाहिए।''

वह समझ नहीं पाता था कि बेगम क्या चाहती है। क्या वह ख़ान को अपना दामाद बनाने की सोच रही थी? वे लोग क्या अपनी लड़की को बिरादरी से बाहर, शहर से बाहर, भेज सकते थे? बेगम क्या इतनी ही बेसमझ थी कि इतनी-सी बात भी नहीं सोच सकती थी?...और सिद्दीक कभी-कभी जो बात दबे-दबे कहता था...कहता नहीं, जिसकी तरफ़ इशारा करता था? सोभाना और लस्सू का नाम लेकर घाट की जिन चेमेगोइयों का जिक्र करता था? हालाँकि उन लोगों को वह गाली ही देता था, पर उसके कहने के अन्दाज़ से यह नहीं झलकता था कि कुछ हद तक वह

खुद भी उन बातों में विश्वास करता है? घुमाकर बात इसलिए करता है कि सीधे से कहने का उसका हौसला नहीं पड़ता।

...आधी रात को कई बार वह चौकन्ना होकर उठ जाता। महसूस होता कि पास ही कहीं किसी के पैरों की आवाज़ सुनी है। पर देर-देर तक इन्तज़ार करने पर भी बोट से टकराते डूँगे या डूँगे से टकराते शिकारे के सिवाय कोई आवाज़ सुनाई न देती। करवट बदलने का हौसला न पड़ता, इसलिए वह उसी तरह लेटे-लेटे हाथ को लकड़ी के फ़र्श पर धीरे-धीरे सरकाता...तब तक सरकाता रहता जब तक कि वह बेगम के शरीर से न छू जाता। छू लेने पर बेगम के शरीर में अगर कसमसाहट होती, तो वह खाँसने लगता...जैसे कि खाँसने में ही हाथ उधर जा लगा हो।

कोई कारण सन्देह का न मिलता...कई बार सन्देह से अपना आप ओछा और छोटा भी लगता...पर वह किसी भी तरह उसे मन से निकाल न पाता। रात-दिन के हर काम में, हर बातचीत में, हर तेवर और मुसकराहट में कहीं अन्दर की सतह पर एक हलकी मगर दर्दभरी लय...दूर किसी पहाड़ी के ढाए जाने की हवा में खोई आवाज़ जैसी...हमेशा चलती रहती। वह सिर्फ़ बेगम को ही नहीं, कभी-कभी नूरा को भी सन्देह की लपेट में लेकर देखने लगता। वह लड़की उस आदमी के सामने उतना खुलकर क्यों हँसती है? क्यों चलते हुए अपना फिरन टखनों से घुटनों तक उठा लेती है? क्यों जब सिद्दीक उस आदमी के कमरे में चाय लेकर जाने लगता है, तो उसके हाथ से ट्रे लेकर कहती है, "मैं दे आती हूँ।"

उसकी इच्छा होती कि जितनी जल्दी हो सके, वह आदमी वहाँ से चला जाए... हालाँकि वक़्त अच्छा नहीं था और जल्द किसी नए टूरिस्ट के आने की सम्भावना भी नहीं थी। वह बात ही बात में ख़ान से पूछ भी लेता, "अब तो हिन्दुस्तान- पाकिस्तान का बँटवारा होने में बहुत थोड़े दिन रह गए हैं। आपके घर के लोग आपके लौटने की फ़िक्र नहीं करते होंगे? आपके यहाँ होने से हमें हालाँकि बहुत आसरा है, फिर भी इसलिए कह रहा हूँ कि..."

ख़ान उसकी बात पर हँस देता। कहता कि उसके घर के लोग कभी उसके लिए फ़िक्र नहीं करते। जानते हैं कि हर हालत में वह अपनी देखभाल कर सकता है; और कि बँटवारा हो जाने के बाद हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में फिर कोई झगड़ा नहीं रह जाएगा। आज आपस में जो नफ़रत है, बँटवारे के बाद वह दूर हो जाएगी। ख़ान बयालीस के दिनों के अपने संस्मरण सुनाने लगता, जब उनके कॉलेज की यूनियन ने आन्दोलन में ख़ूब बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था और जलूस के साथ नारे लगाते हुए पुलिस की लाठियाँ खानी पड़ी थीं। "हम लोगों के अन्दर जितना गन्दा मवाद था, वह सब इन दिनों निकल गया था," वह कहता, "अब हम लोग साफ़ दिल और साफ़ दिमाग़ से अच्छे पड़ोसियों की तरह साथ-साथ रहने की बात सोच सकेंगे।"

जिन दिनों वह सोच रहा था कि ख़ान अब दो-चार दिन में ही वापस चला जाएगा, उन्हीं दिनों बेगम ने उसके साथ बुलार की यात्रा का कार्यक्रम बना लिया था। पहले सिद्दीक के साथ जाने की बात नहीं थी, पर खुद उसी ने हठ करके सिद्दीक को साथ भेज दिया था। "मैं तुम्हें ऐसे नहीं जाने दे सकता," उसने बेगम से कहा था, "रास्ते में जाने कब क्या तकलीफ़ आन पड़े। ऐसे में एक जानकार मर्द का साथ होना ज़रूरी है।"

तीन दिन, तीन रातें वह डूँगे में अकेला रहा। किसी के साथ बात करने का उसका मन नहीं होता था, किसी के साथ उठने-बैठने या कहीं आने-जाने को भी जी नहीं करता था। वह दिन भर लेटा रहता या छत पर जाकर हुक्का गुड़गुड़ाता हुआ आसमान की तरफ़ देखता रहता। आसमान का खुलापन उन दिनों और भी खुला लगता था, जैसे कि दूर-दूर तक उसके दरवाज़े खोल दिए गए हों। उन दरवाज़ों से वह आसमान की गहरी, धुँधली और रहस्यमय दुनिया में प्रवेश कर सकता था—दूर पहाड़ियों पर ढले-झुके रंगीन बादलों को पार करके उनसे आगे, बहुत आगे, उस दुनिया तक जा सकता था, जहाँ किसी चील के पंख नहीं पहुँच पाते। पर जब साँझ गहराने लगती और आसमान के दरवाज़े बन्द होने लगते, तो उसे मजबूर होकर घाट के छोटे-से आँगन में लौट आना पड़ता। छत से उतरकर सुनसान डूँगे में दियासलाई से रोशनी करनी होती और देखना होता कि सुबह के खाने में से इस वक़्त के लिए क्या और कितना बचा है।

तीसरी रात आने तक उसका धीरज छूटने लगा। लगने लगा कि अब और इन्तज़ार वह नहीं कर सकता...इन्तज़ार से आगे भी चार मंज़िलें लाँघकर वह उस मुकाम तक आ पहुँचा है, जहाँ हर चीज़ एक रुकावट में बदल गई है...अपनी एक-एक साँस से वक़्त के एक-एक लम्हे तक। जैसे कि उसके सिवाय ज़िन्दगी में और सबकुछ बीत चुका हो...एक तूफ़ान ने उसके घर के लोगों को ही नहीं, सारी दुनिया को निगल लिया हो और डूँगे के अँधेरे में बैठा वह...अकेला वह उस बीती हुई ज़िन्दगी का गवाह हो और मन-मारे उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहा हो, जबकि बाक़ी दुनिया के साथ, उसी की तरह से भी बीत जाना होगा...।

चौथे रोज़ सब लोग सही-सलामत लौट आए। बुलार के तूफ़ान का क़िस्सा सबकी ज़बान पर था। ख़ान बेगम की तारीफ़ करते नहीं थकता था कि मौत के मुँह में भी उसने उनका हौसला टूटने नहीं दिया। जब झील की लहरों में शिकारा उलटने को हो रहा था, तो उसकी हिम्मत थी, जो उन्हें बचाकर क्यूनुस के किनारे तक ले गई थी। बीच में एक क्षण भी ऐसा नहीं आया जब बेगम का विश्वास डगमगा गया हो, या उसके मज़ाक में फ़र्क आया हो।

बेगम बुलार से एक नई योजना लेकर लौटी थी। ख़ान कुछ दिनों के लिए वहाँ से पेशावर जाएगा, और फिर वहीं लौट आएगा। अपना बोट खरीदकर वहीं रहेगा।

जिन-जिन लोगों के बोट बिकाऊ हैं, उन सबसे पता करना होगा। उनसे बात करनी होगी। बोट इस पार के चालू बोटों में से नहीं होगा। उस पार के रईसी बोटों में से कोई एक बोट देखना होगा। 'फ़िरदोस' के मिस्टर और मिसेज़ बर्टन वहाँ से छोड़कर जाने की सोच रहे थे। उनसे बात करनी होगी। सफ़ेद रंग का वह बोट ख़ान को बहुत पसन्द था। सामान भी उसका बहुत अच्छा था। बुराई एक ही थी कि कादिर के बोट के बहुत पास था। पर वहाँ से उसे हटाया जा सकता था। इधर के किसी घाट पर अच्छी-सी जगह देखी जा सकती थी। ख़ान को क़ीमत की परवाह नहीं थी। बीस-पच्चीस-तीस हज़ार तक वह कुछ भी ख़र्च कर सकता था। बस उसके जाने से पहले बात तय हो जानी चाहिए थी।

...अगस्त शुरू हो चुका था। ख़ान कह रहा था कि सितम्बर के पहले नहीं, तो दूसरे हफ्ते तक वह ज़रूर लौट आएगा। पूरी सरदी वहीं रहेगा। बर्फ़ के दिनों में काँगड़ी लेकर बैठा करेगा। फिरन पहना करेगा। कोई उसे पहचान भी नहीं सकेगा कि वह बाहर से आया है या वहीं का रहनेवाला है।

"दो महीने में तुम मुझे अपनी ज़बान सिखा दोगी न?" वह बेगम से कहता।

"क्यों नहीं सिखा दूँगी? नूरा से तुम मौजूर के गीत सीखना। तुमने कभी सुना नहीं...कितना अच्छा गाती है यह लड़की!"

नौ अगस्त का दिन था शायद...जिस दिन ख़ान को वहाँ से जाना पड़ा—बोट की बात तय होने से पहले ही। घर से बुलावा आ गया था। वे सब उसे मोटर स्टैंड पर छोड़ने गए। चलते वक़्त बेगम का हाथ थामे हुए ख़ान की आँखें भर आईं। लौटकर डूँगे में आने के बाद बेगम से उस दिन कुछ खाया नहीं गया।

ख़ान के जाने के बाद एक ख़ला का अहसास खुद उसे भी होने लगा। वह नुक्ता जिसके गिर्द ज़िन्दगी चक्कर काट रही थी, एकाएक बीच से निकल गया था। जितने दिन ख़ान वहाँ था, शरीर और मन दोनों से व्यस्तता रही थी—शरीर से ज़्यादा मन से। सुबह उठने के साथ ही ख़ान के चाय-नाश्ते की फिक्र शुरू हो जाती थी—साथ ही अन्दर की वह जद्दोजहद...जो रात होने तक मन को निढाल कर देती थी। पर अब न वैसी व्यस्तता थी, न वह जद्दोजहद—कम-से-कम उस रूप में नहीं थी। ज़िन्दगी की अपनी स्वाभाविकता, जो ख़ान के आने से पहले थी, वह भी फिर लौटकर नहीं आई थी। हालाँकि फ़र्क किसी चीज़ में नहीं था। उसी तरह सुबह उठना, उसी तरह खाना-पीना और उस तरह यहाँ से वहाँ आना-जाना होता था, मगर कुछ था, जो आसपास की हवा से...बल्कि अपने अन्दर कहीं से...गुम हो गया था।

बेगम से बहुत कम बात होती थी। करनी पड़े, इस मजबूरी से दोनों ही बचना चाहते थे। आमने-सामने पड़कर भी बिना एक-दूसरे की तरफ़ देखे, बिना एक-दूसरे की तरफ़ ध्यान दिए, पास से निकल जाने में ही सुविधा लगती थी। फिर भी जब कभी

बहस होती, उसी की तरफ़ से होती। बढ़ते हुए अजनबीपन से बाहर आने की कोशिश उसी को करनी पड़ती। बेगम गरदन को ज़रा-सा मोड़कर उसकी बात का जवाब दे देती। फिर अपने काम में व्यस्त हो रहती। उसे हर बार अहसास होता कि बात करके उसने अपने को छोटा किया है। मगर रात-दिन की अस्वाभाविक ख़ामोशी उसे इस तरह कचोटती कि फिर एक बार बात करने—एक बार फिर से शुरुआत कर देखने से वह अपने को न रोक पाता।

मगर शुरुआत हो नहीं पाती थी। किसी भी तरह नहीं हो पाती थी। ख़ान के साथ बुलार से होकर आने के बाद से बेगम ने जैसे अपनी दुनिया बिलकुल अलग कर ली थी। उस दुनिया में उसे नूरा और ख़ान को लेकर अलग रहना था, अलग तरह से ही उन दोनों के साथ अपने भविष्य की रूपरेखा बनानी थी। उस दुनिया में वह—ख़ालका—एक अनावश्यक प्रसंग की तरह था, जिससे बेगम को ख़ास मतलब नहीं था। वह उसके साथ ज़िन्दगी काट रही थी, आगे भीं काट सकती थी—मगर अब से उसकी दुनिया में रहकर नहीं, उसे अपने साथ अपनी दुनिया में रखकर।

ख़ान के लिए हाउसबोट खरीदने की बात ख़ान के चले जाने के बाद भी बेगम के दिमाग़ पर छाई रही थी। बर्टन परिवार के अलावा और कुछ लोगों की बोट भी वह देख आई थी। सिद्दीक तथा कुछ और लोग उसके इस शौक़ में शामिल थे। उसे आकर बताते रहते थे कि कहाँ कौन बोट किस क़ीमत पर बिक रहा है। बेगम खुद देखने जाती और घर आकर घंटों उसके साज़-सामान की कीमतें जोड़ती रहती। वह सोचे हुए थी कि ख़ान का ख़त आने तक कम-से-कम तीन-चार बोटों का पूरा ब्यौरा उसे लिख भेजेगी...।

मगर हालात ऐसे थे कि आज का तैयार किया ब्यौरा कल-तक ग़लत हो जाता था। ज्यों-ज्यों पन्द्रह अगस्त का दिन पास आ रहा था, हर नई अफवाहों के साथ बोटों की कीमतें घटने-बढ़ने लगती थीं। सुबह जिस बोट की क़ीमत अट्ठारह हज़ार बताई जाती, शाम तक पता चलता कि वह बाईस हज़ार में बिक गया है। इससे पैदा हुई निराशा अभी मन से दूर न हो पाती कि पता चलता, वह बोट फिर सत्रह हज़ार में बिकाऊ है; और यही नहीं उससे अच्छा दूसरा बोट जो परसों तक बीस हज़ार का था, अभी हाथों हाथ पन्द्रह हज़ार में ख़रीदा जा सकता है।

सिद्दीक बहुत उत्साहित होकर ये ख़बरें लाता था। बेगम सुनकर कभी उत्साहित और कभी हताश हो उठती। उसका बस चलता तो बिना ख़ान के खत की प्रतीक्षा किए वह किसी-न-किसी बोट का सौदा तय कर डालती। पर अब मजबूरी थी। ख़ान का खत आने तक ही नहीं, खुद ख़ान के लौटकर आने तक उसे इन्तज़ार करना था। तब तक ब्यौरा ही जमा कर सकती थी, और वह ऐसा खेल था, जिसमें दिन में दो-दो बार खुद अपने से हार जाती थी।

और हर गुज़रते दिन के साथ बेचैनी बढ़ती जाती। क़ीमतों की वज़ह से उतनी नहीं, जितनी दूसरी अफवाहों की वजह से। नौ अगस्त को ख़ान गया था। तेरह-चौदह से पहले तो उसका खत आ ही नहीं सकता था। पर लोग कह रहे थे कि चौदह-पन्द्रह अगस्त के बाद उस तरफ़ से कोई खत आना मुमकिन ही नहीं होगा। उधर से खत डाला भी जाएगा, तो वह पानेवाले तक नहीं पहुँचेगा। आने-जाने के रास्ते भी हमेशा के लिए बन्द हो जाएँगे। जिसे जाना हो, पन्द्रह से पहले ही चला जाए। बेगम इन बातों से परेशान होकर भी इन्हें स्वीकार नहीं करना चाहती थी। उसे अफ़वाहों से ज़्यादा भरोसा ख़ान की बात पर था–कि एक बार बँटवारा हो जाने के बाद फिर बहुत जल्दी सुलह-सफ़ाई हो जाएगी। उसकी सबसे बड़ी दलील यही थी कि अनपढ़ हाँजी जो कुछ कहते हैं, वह ख़ान जैसे पढ़े-लिखे आदमी की बात से ज़्यादा सही कैसे हो सकता है? इसलिए वह लोगों से लड़ भी पड़ती थी। ''यह सब झूठ बात है,'' वह कहती, ''ऐसे लड़ाई-झगड़े पहले क्या नहीं हुए? रास्ते चार दिन चाहे बन्द रहें, पर हमेशा के लिए बन्द नहीं हो सकते हैं। बँटवारा होगा, तो ज़मीन के दो टुकड़े नहीं हो जाएँगे।''

बेगम के मुँह से ऐसी बातें सुनकर वह संजीदा हो जाता। कादिर बेगम का मज़ाक उड़ाता। जान-बूझकर बात में ख़ान का जिक्र लाकर अपनी चुस्त सलवार के बल ठीक करता हुआ कहने लगता, ''महाराजा हरिसिंह को चाहिए कि दस दिन के लिए हुकूमत की बागडोर बेगम के हाथ में सौंप दें। बस, फिर दस दिन में ही पेशावर के सब ख़ान कश्मीर में आ बसेंगे और यहाँ के हाँजी पेशावर जाकर अंगूर बेचने लगेंगे!''

बेगम कादिर की बात से चिढ़कर भी उसके मुँह पर ख़ामोश रहती। कादिर के प्रति उसके व्यवहार में पहले से ज़्यादा रूखापन आ गया था। पहले जिन बातों पर उससे झगड़ने लगती थी, अब उन्हें सुनकर भी अनसुनी कर जाती। ख़ान के जाने के बाद कादिर का उनके यहाँ आता-जाना काफ़ी बढ़ गया था। बेगम के मन की बात का अन्दाज़ा शायद उसे भी था और वह इस टोह में था कि पेशावर से सचमुच कोई ख़त आए तो उससे बात छिपी न रहे। इन्हीं दिनों कासिम के साथ नूरा के रिश्ते की बात भी उसने चला दी थी। बात सुनकर बेगम के माथे पर एक शिकन आई, मगर उस वक़्त कादिर के सामने मुँह से कुछ ज़ाहिर नहीं होने दिया।

पन्द्रह अगस्त का दिन आकर बीत गया। एक-एक करके और भी कितने ही दिन निकल गए। इस बीच ख़ान का कम-से-कम एक तो खत आना ही चाहिए था, जो कि नहीं आया। डाक का वक़्त होने पर बेगम हर रोज़ सिद्दीक को पोस्ट ऑफिस पता करने भेजती। सिद्दीक घंटा डेढ़ घंटा लगाकर लौटता और रोज़ घर की सीढ़ी से ही सिर हिलाकर बता देता कि खत नहीं आया। बेगम तब तक उत्सुकता से उस तरफ़ देख रही होती, मगर पता चलने के बाद फौरन अपने को किसी-न-किसी काम में

व्यस्त कर लेती, ज़ाहिर करना चाहती कि चिट्ठी न आने का उसके मन पर कोई ख़ास असर नहीं है। आज नहीं आई, तो कल आ जाएगी।

पर उस दिन बेगम के लिए अपने को सँभाले रखना असम्भव हो गया, जिस दिन सिद्दीक ने आकर बताया कि कादिर भी रोज़ उस वक़्त पोस्ट ऑफिस में डाक का पता करने आया करता था, पर अब दो-एक दिन से नहीं आ रहा। यह नामुमकिन नहीं कि उसके नाम आई चिट्ठी उसी ने वहाँ से हथिया ली हो।

बेगम सुनकर सिद्दीक पर उबल पड़ी। ''तो तुम वहाँ खड़े क्या करते रहते थे? तुमने पूछा नहीं कि हमारे नाम आई चिट्ठी किसी और के हाथ में क्यों दी गई?''

''तुम्हारा ख़याल है सिद्दीक यह सब पूछे बग़ैर ही वहाँ से चला आता है?...पर मुझे लगता है, डाकिए को भी उसने अपने साथ मिला रखा है। डाकिया कहता है, उसे कुछ मालूम नहीं। कब किसकी चिट्ठी आई, यह वह कैसे याद रख सकता है?''

''याद रख सकता है या नहीं, यह सब पता चल जाएगा।'' बेगम का चेहरा सुर्ख़ हो गया। ''मेरी चिट्ठी अगर उस कमीने के हाथ में दी गई होगी, तो मैं दोनों को जेल भिजवाए बिना चैन नहीं लूँगी।''

सिद्दीक इस बात से थोड़ा सहम गया था, क्योंकि उसने अपने जाने यह बात शायद बहुत साधारण समझकर कही थी; बल्कि शायद चापलूसी में ही कह दी थी।

मगर बेगम के मन में इस बात को लेकर एक बार सन्देह का बीज पड़ गया, तो फिर ज़िन्दगी भर नहीं निकल सका।

पोस्ट ऑफिस में बेगम ने खुद कई चक्कर लगाए। डाकिए से हर तरह की जिरह की, खुद जाकर पोस्ट मास्टर से मिली। वहाँ से भी तसल्ली नहीं हुई, तो कादिर को बुलाकर उसकी डाँट-फटकार की। कादिर कसमें खाता रहा कि उसने उनकी कोई चिट्ठी पोस्ट ऑफिस से नहीं ली, मगर साथ ही ख़ान को लेकर अबा-तबा जो कुछ मुँह में आया, बकता रहा। ''तुम्हार ख़याल है हमारे जीते-जी इस घर की लड़की किसी पठान को सौंप दी जाएगी और हम ख़ामोश बने रहेंगे?'' उसने कहा। ''वह आदमी अब आकर क़दम तो रखे यहाँ, हम उसकी हड्डी-पसली एक न कर दें तो!...हम तो सोचते थे कि अमीर आदमी है, दस दिन आकर रहा है, इसीलिए उसके ख़त में इतनी दिलचस्पी है। यह किसने सोचा था कि घर में रखकर लड़की के साथ उसे ऐश कराने के इरादे हैं। और यह भी किसे मालूम है कि अभी इरादे ही हैं, या बात इससे आगे बढ़ चुकी है! अगर सचमुच अपना मुँह काला कर चुके हो, तो साफ़-साफ़ क्यों नहीं बताते! मैं जाकर लड़की को उसके पास पेशावर छोड़ आता हूँ। दस और हाँजियों को

भी साथ लेता जाऊँगा ताकि लड़की को उसके सुपुर्द करने से पहले पता चल जाए कि उसके जिस्म में ख़ून कितना है और पानी कितना!''

सिर-फुटव्वल उसी दिन हो जाती अगर वह बीच में पड़कर कादिर को डूँगे से बाहर न ले जाता। कादिर ने भी इतनी समझदारी कर ली कि डूँगे से बाहर निकलकर सड़क पर उस तरह बकझक नहीं की। चलते हुए वह इतना ही कहता रहा, ''देखो, अब इस लड़की को ज़्यादा दिन कुँवारी नहीं रखा जा सकता! अब की ईद तक तुम्हें इसकी शादी कर ही देनी होगी। क़ासिम में चार ऐब हो सकते हैं, पर आजकल कौन ऐसा लड़का है जिसमें कोई ऐब नहीं? हाँजियों के और लड़कों से किस लिहाज़ में वह बुरा है?''

वह उस वक़्त कादिर का दिमाग़ ठंडा रखना चाहता था, इसलिए उसकी हर बात पर सिर हिलाता रहा। कहता रहा कि चार दिन में बेगम का गुस्सा उतर जाने पर वह उससे बात करेगा। जब अपने घर में ही क़ासिम जैसा लड़का है, तो किसी और से लड़की को ब्याहने की बात सोची ही कैसे जा सकती है?

बाँध के उस सिरे तक वह कादिर के साथ-साथ चलता गया। वहाँ से कादिर को उस पार भेजकर वापस आया, तो इसकी टाँगें दर्द कर रही थीं। आँखों में गनूदगी छाई थी। आकर तकिये पर सिर रखकर लेटा, तो फिर कई दिन होश-हवास खोकर लेटा ही रहा। बाद में लोगों ने बताया कि वह घंटों बड़बड़ाता रहता है। एक दिन हालत यहाँ तक पहुँच गई थी कि उसके जीने की उम्मीद भी छोड़ दी गई थी। पर उसे लगा था जैसे एक लम्बी, बहुत लम्बी रात में वह लगातार एक सपना देखता रहा हो... कलकत्ते का फुटपाथ—जहाँ वह भीड़ से बचता हुआ एक तरफ़ चल रहा है...एस्प्लेनेड की तरफ़ से फ़ौजी दस्ते के जूतों की आवाज़ आ रही है...हवाई जहाज़ों की गूँज सुनाई दे रही है...लोग दीवारों के पीछे छिपने के लिए दौड़ रहे हैं...अचानक पास ही कहीं एक बम फटा है और वह लहूलुहान होकर फुटपाथ से सड़क पर जा गिरा है...सड़क सुनसान हो गई है और दूर-दूर तक कोई इनसान नज़र नहीं आता...वह चिल्लाना चाहता है, मगर उसके गले से आवाज़ नहीं निकलती...उसकी गरदन एक तरफ़ को लुढ़ककर वहीं पथरा गई है...उसके हज़ार कोशिश करने पर भी सीधी नहीं होती...फिर एक तख़्ता है जिस पर डालकर कुछ लोग उसे लिये जा रहे हैं...वह उसका जनाज़ा है...वह तख़्ते से उठना चाहता है...कहना चाहता है कि वह अभी मरा नहीं, ज़िन्दा है...मगर उठ सके, या बोल सके, इतनी ताकत उसमें नहीं है...वह अब एक गड्ढे में है और लग रहा है कि अभी गड्ढे को मिट्टी से पाट दिया जाएगा...वह पड़ा-पड़ा इन्तज़ार कर रहा है, मगर मिट्टी ऊपर से नहीं डाली जाती... तभी एक हाथ धीरे-धीरे माथे को सहलाने लगता है...अब वह गड्ढे की जगह बिस्तर पर है और करवट बदल रहा है...एलिस का नंगा शरीर उसके शरीर पर झुका है और वह उससे लिपटकर पूछ

रही है कि उसके लिए वह कश्मीर से क्या तोहफ़ा लाया है...बाहर से शाह साहब की आवाज़ सुनाई दे रही है...वह डर रहा है कि शाह साहब को पता न चल जाए कि वह वहाँ लौट आया है, और एलिस के साथ बिस्तर में लेटा है...बाहर से उसे बुलाया जा रहा है...वह एलिस के नंगे शरीर को ऊपर से हटाकर बाहर आता है...बाहर आते ही शाह साहब से नहीं, रमज़ान से सामना होता है। रमज़ान उसे देखते ही गाली बकने लगता है और उसकी बाँह पकड़कर उसे घसीट ले चलता है...सामने दरिया है...हुगली नहीं जेहलम...रमज़ान उसे दरिया में धकेल देना चाहता है...एक औरत अपनी किश्ती में बैठी ख़ामोश आँखों से सब देख रही है...वह नीले रंग का फिरन पहने है और उसके कानों में चाँदी के कनवाज़ हैं...पानी में धकेल दिए जाने पर वह उस किश्ती की तरफ़ तैरने लगता है...मगर वह किश्ती उससे दूर-दूर हटती जाती है...आगे घना जंगल है...किश्ती ग़ायब हो जाती है, वह जंगल में भटकने लगता है...।

जब होश में आया, तो पता चला कि कई हफ्ते बुख़ार में पड़ा रहा है। उस वक़्त बेगम उसके सिरहाने बैठी थी। पहली बात जो उसने बेगम से पूछी थी, वह थी, ''ईद में कितने रोज़ बाक़ी हैं?''

''बहुत रोज़ बाक़ी हैं,'' बेगम ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा। ''तुम अभी से ईद की फिक्र क्यों करने लगे?''

ईद...पर ईद से कुछ रोज़ पहले ही आसमान का रंग बदलने लगा था।

एक दिन बारिश हुई थी...हलकी बूँदाबाँदी। दूसरे दिन सलेटी रंग की ज़िन्दा भाप आसपास घिर आई थी...बाँध के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, टीन की छतों के ऊपर, दरिया के आर-पार। आदमी, नावें, पेड़ सब कोहरे में डूबी, हिलती हुई धुँधली लकीरों में बदल गए थे। सामने का पुल और सड़क पर बिजली के खम्भे आसमान को नापते सिलसिलेवार स्याह निशानों जैसे नज़र आ रहे थे। अपने हाथ-पैरों से लेकर पहने हुए कपड़ों तक सबकुछ इतना ठंडा हो गया था कि उसी दिन से आनेवाले बर्फ़ानी दिनों का अहसास होने लगा था। वह दिन भर ऊनी पाजामा पहने, काँगड़ी लिये सिमटकर बैठा रहा था।

धीरे-धीरे कोहरे के रंगों में घुल-मिलकर शाम गहरी हुई थी...शाम का गहराना जिस्म के और हिस्सों से ज़्यादा नंगे हाथ-पैरों और उकड़ूँ घुटनों को महसूस हुआ था। अभी छह नहीं बजे थे कि आसपास रात की तारीकी घिर आई थी...उसके साथ-साथ एक और तारीकी जो पिछले दो दिन से ठंडे माहौल को और भी ठंडा बना दे रही थी। बाँध के उस तरफ़ से आई कई तरह की ख़बरें घाट के सन्नाटे में फुसफुसाहट भर जाती थीं। परसों सुना था कि पाकिस्तान की सरहद से बहुत-से कबाइली दस्ते... अफ़रीदी, वज़ीरी, महसूद और दूसरे...कृष्णगंगा का पुल पार करके लूटमार के इरादे से मीरपुर और पुंछ के इलाके में आ दाख़िल हुए हैं। कल ख़बर आई थी कि वे सिर्फ़

लूटमार के लिए नहीं, सारे काश्मीर पर कब्ज़ा करने के लिए उस तरफ़ आ रहे हैं... कि उनमें सिर्फ़ कबाइली ही नहीं, पाकिस्तानी फ़ौज के सिपाही भी शामिल हैं, जो मोटरों और ट्रकों में दोमेल-बारामूला की सड़क से इस तरफ़ को बढ़े आ रहे हैं...कि वे सब तरह की मशीनों, तोपों और गोले बारूद से लैस हैं...और कि मुजफ्फराबाद तक आते-आते उन्होंने कई गाँव जला दिए हैं और कितने ही लोगों को नंगा खड़ा करके गोलियों से उड़ा दिया है और आज पता चला था कि वे लोग उड़ी तक आ पहुँचे हैं और अब, किसी भी वक़्त, बारामूला और सोपुर पहुँच सकते हैं।

दशहरे का दिन था...फिर भी बाँध पर बहुत कम लोग आते-जाते नज़र आ रहे थे। हवा की ठिठुरन में एक वीरानी-सी भरी थी—रुकी और सहमी हुई-सी वीरानी... जैसे कि शहर की ज़्यादातर आबादी शहर से बाहर चली गई हो।

दरिया में भी कोई ख़ास हलचल उस दिन नहीं थी...सिवाय यहाँ वहाँ की रोशनी के, या उन हलकी-हलकी आवाज़ों के जो दरबार के सिलसिले में नीचे की तरफ़ जाते शिकारों में से सुनाई दे जाती थी। धुन्ध की वजह से रोशनियाँ बुझी-बुझी-सी नज़र आती थीं—आसमान में इधर-उधर बिखरे बेजान धब्बों जैसी...और आवाज़ें उस ख़ामोशी में बहुत अजनबी लगती थीं।

डूँगे के सर्द अँधेरे में वे लोग ख़ामोश बैठे थे। खाना जल्दी खा लिया गया था। दोनों लालटेनें, बेगम के कहने से सिद्दीक ने बुझा दी थीं। बेगम का शायद ख़याल था कि सब लोग जल्दी से सो जाएँगे, पर नींद किसी की भी आँखों में नहीं थी। सब अपनी-अपनी जगह बैठे, एक-दूसरे से आँखें हटाकर देख रहे थे...बीच-बीच में कभी एक-दूसरे की तरफ़ भी देख लेते थे। शायद एक ही बात सबके मन में थी, जो वे एक-दूसरे से कह नहीं पा रहे थे। आख़िर सिद्दीक ने, आँखों से हरेक के चेहरे की टोह लेते हुए, पहली बात कही थी, "तो अब...अब उसका क्या होगा, मेरी ज़मीन का?'

सिद्दीक का इस तरह ख़ामोशी को तोड़ना किसी को अच्छा नहीं लगा...उसे तो बिलकुल ही नहीं। उसके घुटनों में ख़ून जम गया था। उन्हें सीधा करके वह चुपचाप सिद्दीक की तरफ़ देखता रहा। सिद्दीक की बात का जवाब बेगम ने दिया, "तुम्हें इस वक़्त भी अपनी ज़मीन की सूझ रही है?"

सिद्दीक इससे थोड़ा आगे को सरक आया। बोला, "मेरे पास सिवाय उस ज़मीन के और है ही क्या? तुम्हें और ख़ान को सोपुर छोड़कर वहाँ गया था, तो मुझे बारह सौ मिल रहा था उसका, पर मैंने नहीं लिया कि वही तो चीज़ है जिसके आसरे मैं घर बसाने या कुछ भी करने की सोच सकता हूँ। ज़मीन बेच दूँगा, तो मेरे पास क्या रह जाएगा? और ज़मीन के सिलसिले में कभी बारामूला तक आना-जाना हो जाता है...ज़मीन ही चली गई तो मैं फिर कभी बारामूला किसलिए जाऊँगा? और अब अगर यह सच है कि उधर के लोग..." और यह कहते हुए सिद्दीक की आवाज़ धीमी हो

गई।...''अगर यह सच है कि कबाइली लोग वह सब करने इधर आ रहे हैं जो कि लोग कहते हैं, वे कर रहे हैं और कल तक अगर सचमुच बारामूला पर उनका क़ब्ज़ा हो जाता है, तो मुझे सोचना नहीं चाहिए कि मेरी ज़मीन का क्या होगा? ज़मीन के काग़ज़ तब कौन मुझसे देखेगा और वह वापस किस तरह मिलेगी?''

''तुम्हारी ज़मीन!'' बेगम की आवाज़ में पहले से ज़्यादा कड़वाहट आ गई। ''तुम्हें सिवाय अपनी ज़मीन के दुनिया में और किसी चीज़ से वास्ता भी है? बारामूला और सोपुर में लोगों की जान पर क्या गुज़रेगी, इससे तुम्हें कुछ भी मतलब नहीं, मतलब है सिर्फ़ इससे कि तुम्हारी उस चार बीघा ज़मीन का क्या होगा!''

''चार बीघा?...'' सिद्दीक के चेहरे की सिकुड़नें गहरी हो गईं। ''नौ बीघा ज़मीन है मेरी वहाँ पर...कम-से-कम भी होगी तो आज वह दो हज़ार की होगी। जिसने बारह सौ दाम लगाया था, उसने सोचा होगा कि मुझे ज़मीन की कीमत का कुछ अन्दाज़ा ही नहीं है। पर मैं कितना भी बेवकूफ़ क्यों होऊँ, इतना नहीं हूँ कि दो हज़ार की ज़मीन बारह सौ में किसी को दे दूँ। और तुम उसे ज़मीन कहती हो, पर सिद्दीक के लिए वह ज़मीन नहीं, उसकी जान है। ज़मीन ही हाथ से चली गई तो सिद्दीक के पास रह क्या गया? समझ लो कि उसकी जान भी साथ ही चली गई!''

''तो क्यों नहीं रातोंरात वहाँ चले जाते?'' बेगम ने तल्ख होकर कहा। ''जाकर ज़मीन पर औंधे लेट रहना ताकि उसे कोई उठाकर न ले जाए।'' इस पर हलकी-सी हँसी नूरा के गले से सुनाई दी, तो बेगम ने उसे भी डाँट दिया।

बेगम की परेशानी को उस वक़्त सिर्फ़ वही समझ रहा था। जानता था कि बेगम वह बात अपने मुँह से नहीं कहेगी...अपने मन की कमज़ोरी किसी के भी सामने ज़ाहिर नहीं होने देगी। परेशानी की झलक बेगम की बातचीत में कल से ही मिल रही थी—तभी से जब कबाइलियों के बारामूला और सोपुर की तरफ़ बढ़ने की ख़बर पहली बार सुनी गई थी। उसने कल भी चाहा था कि बेगम से उस बारे में बात करे, पर इसका मौका ही उसे नहीं मिल पाया था।

''तुम्हारी ज़मीन अपनों की जान से ज़्यादा कीमती नहीं है,'' घुटने को हाथ से मलते हुए उसने सिद्दीक से कहा। ''बारामूला में तुम्हारे ही कितने रिश्तेदार हैं। सोपुर में बेगम का मायका है। नबी नागू अकेला है वहाँ पर...इस उम्र में अब इतनी जान भी नहीं है उसमें कि खतरे के वक़्त वहाँ से निकलकर चला आए...या किसी महफ़ूज़ जगह पर जा रहे। मैं तो सोचता हूँ कि हममें से कोई आदमी वहाँ जाकर उसे साथ ला सके, तो...''

''वह यहाँ हरगिज़ नहीं आएगा,'' बेगम ने बात बीच में ही काट दी। ''उसे अकेले मरना मंज़ूर होगा, मगर किसी के भी जाने से वह श्रीनगर नहीं आएगा, और

न ही एक दिन भी हम लोगों के साथ आकर यहाँ रहेगा। उसकी बेटी को अपना इतना मान है कि वह उस दिन के बाद उससे मिलने नहीं गई...उसे खुद को अपना कितना मान है, यह क्या यहाँ किसी को मालूम नहीं?''

''तुम भी अगर चलो,'' वह बोला, ''और मैं तुम्हारे साथ चलूँ, तो हो सकता है। उसे आने के लिए राज़ी किया जा सके...।''

''वह फिर भी नहीं आएगा,'' कहते हुए बेगम का चेहरा दूसरी तरफ़ हट गया। ''किसी भी हालत में वह यहाँ आने के लिए राज़ी नहीं होगा।'' फिर पल भर ख़ामोश रहने के बाद उसने कहा, ''और मैं ही क्यों उसे लाने जाऊँगी? उस दिन आई थी, तो ज़िन्दगी भर के लिए उसे छोड़कर ही तो आई थी। उसके लिए भी उसकी लड़की उसी दिन मर-खप गई...उसका बस चलेगा, तो वह मुझे अपना कफ़न तक नहीं छूने देगा।''

सिद्दीक बाँहें लपेटकर बैठ गया था और बारी-बारी से दोनों की तरफ़ देख रहा था। नूरा उँगली से तख़्ते पर लकीरें खींच रही थी। सिवाय उसकी हिलती हुई सफ़ेद उँगली और सब लोगों की उठती-गिरती साँसों के और कहीं कोई और हरकत नज़र नहीं आ रही थी। नीचे घाट पर मुर्गियाँ कुड़कुड़ा रही थीं। सिद्दीक रात के लिए उन्हें डूँगे में लाना भूल गया था। उनके पंखों की फड़फड़ाहट हवा में लगातार चलती एक छटपटाहट की तरह महसूस होती थी। एक बार आँखें उठाकर उसने सिद्दीक की तरफ़ देखा। सिद्दीक मुर्गियों को किनारे से लाने के लिए उठ खड़ा हुआ। पर उसके डूँगे से नीचे जाने और लौटकर आने के बीच ही एक बहुत बड़ी घटना हो गई। दरिया पर फैली धुन्ध में झिलमिलाती सबकी सब रोशनियाँ एकाएक गुल हो गईं। दरिया की काँपती हुई सतह भी कुछ देर अँधेरे में ओझल हो रही।

सिद्दीक अभी शायद घाट पर ही था...क्योंकि तख़्ते पर आते हुए उसके पैरों की हड़बड़ाहट का अन्दाज़ा सभी को हुआ। डर भी लगा कि वह तख़्ते से कहीं नीचे तो नहीं जा गिरा। पर इससे पहले कि कोई भी अपनी जगह से उठता, सिद्दीक दोनों कुड़कुड़ाती मुर्गियों को छाती से सटाए, हिलते हुए डूँगे में उनके सामने आ खड़ा हुआ...एक बिना चेहरे के स्याह बुत की तरह। ''सारे शहर की बत्तियाँ गुल हो गई हैं,'' उसके गले से डरी और बैठी आवाज़ सुनाई दी। ''आज...दरबार के दिन...शहर की सारी बत्तियाँ गुल हो गई हैं।''

मुर्गियाँ सिद्दीक की बाँहों में कुड़कुड़ा रही थीं। उँगली एक ही जगह पर रुकी हुई हलके-हलके काँप रही थी। बेगम की आँखें जैसे अँधेरे को चीरकर पहले पुल के पास कुछ देखना चाह रही थीं। सिद्दीक ने जैसे खड़े-खड़े बात की थी, वैसे ही बुत की तरह खड़ा रहा। और उसकी टोपी डूँगे की छत को छू रही थी। बाहर धुन्ध के बड़े-बड़े लच्छे कच्ची बर्फ़ के लोंदो की तरह दरिया की सतह पर धीरे-धीरे चल रहे थे।

एक सवाल उस वक़्त शायद उन सबकी ज़बान पर आया था, उनमें से किसी ने वह पूछा ही नहीं। साँस रोके इन्तज़ार करते रहे कि शायद अभी रोशनियाँ फिर से जल जाएँ...पर रोशनियाँ उस वक़्त की बुझी, छब्बीस रोज़ बाद तक नहीं जलीं।

गहरे अँधेरे में ही उस बार की ईद आई...और बिना रोशनियों के ही उस बार की दीवाली हुई। मगर ईद और दीवाली के बीच जितना कुछ हुआ...और उसके बाद में...वह उनमें से किसी ने कभी ख़्वाब में नहीं सोचा था।

महोरा के बिजलीघर पर कबाइलियों ने कब्ज़ा कर लिया था। और दो ही दिन में मारधाड़ करते बारामूला तक आ पहुँचे थे। उधर टंगमार्क की तरफ़ से भी उनके बढ़ आने की ख़बर थी और लग रहा था कि अब कबाइली दस्ते श्रीनगर की सरहद में दाख़िल होने को ही हैं। कई-कई लोग तो कहते थे कि वे लोग एक तरफ़ शालटैंग और दूसरी तरफ़ हवाई अड्डे तक आ पहुँचे हैं। पर इस बीच जल्दी-जल्दी कई और तब्दीलियाँ हुईं जिन्होंने लड़ाई का रुख पलट दिया। महाराजा हरिसिंह ने रियासत जम्मू कश्मीर को हिन्दुस्तान में शामिल करना मंजूर कर लिया। और उससे अगली सुबह दर्जनों हवाई जहाज़ आसमान में मँडराते नज़र आने लगे। इससे पहले कि एक भी कबाइली चेहरा श्रीनगर में नज़र आता, हिन्दुस्तानी फ़ौजों ने उन्हें खदेड़ना शुरू कर दिया। एक नाम, जो उन दिनों सबकी ज़बान पर था, वह था कर्नल राय का। सुना जाता था कि यह कर्नल राय की मोर्चेबन्दी ही थी कि जो लड़ाई श्रीनगर की हदों में दाख़िल नहीं हो सकी। पर तभी ख़बर आई कि हमलावरों की भारी तादाद में घिर जाने से कर्नल राय हलाक हो गए। एक बार फिर अन्देशा हुआ कि शायद आज या कल श्रीनगर के अन्दर मार-काट होने लगे, पर तब तक काफ़ी असला और सिपाही हिन्दुस्तान से आ गए थे। हमले के पन्द्रहवें या सोलहवें रोज़ दुश्मन से उनकी तरफ़ एक भयानक मुठभेड़ हुई...श्रीनगर से सिर्फ़ चार मील बाहर...और उसके बाद अगले रोज़ की दोपहर तक, हिन्दुस्तानी फ़ौजों ने फिर से बारामूला पर कब्ज़ा कर लिया। दो दिन बाद ही उन्होंने हमलावरों को उड़ी से उस तरफ़ पहुँचा दिया।

और लोगों के लिए यह सब तो नया था, उसके लिए नहीं। उसे लग रहा था जैसे वह फिर से कलकत्ते में जापानी हमले के दिनों में जी रहा हो...या वही दिन लम्बे होकर आज तक चले आए हों। रात को अँधेरा उसी तरह रहता था, हालाँकि अँधेरे को चीरती हुई सायरन की ख़ौफ़नाक आवाज़ सुनाई नहीं देती थी। उसकी जगह सुनाई देती थीं रीगल और अमरीश के पास से गुज़रते हुए जुलूसों के नारों की आवाज़ें :

"हमला आवर होशियार!
नेशनल कॉन्फ्रेंस है तैयार!"

या :

"शेरे-काश्मीर का क्या इरशाद?
हिन्दू मुस्लिम सिख इत्तिहाद!"

इनके अलावा हज़ारों नारे..."आवामी राज ज़िन्दाबाद!...नेशनल कॉन्फ्रेंस ज़िन्दाबाद!...और ऊँचे सुर में सब आवाज़ों से ऊपर उठती एक आवाज़..."बोल कि लब आज़ाद हैं तेरे...।"

वह घर से बहुत कम बाहर निकलता था...सिर्फ़ उसी दिन बाहर गया था जिस दिन पंडित नेहरू ने लाल चौक में तक़रीर की थी...शेख अब्दुल्ला का हाथ हाथ में लिये हुए कहा था, "ये हाथ असल में अब्दुल्ला के हाथ नहीं, हिन्दुस्तान और काश्मीर के हाथ हैं...।" और उस दिन भीड़ में धक्के खाता हुआ वह मुश्किल से अपने डूँगे तक वापस पहुँच पाया था।

उन दिनों भी रात को उसे देर तक नींद न आई। अँधेरे में दूर से सुनाई देती आवाज़ें और बाँध से चुपचाप गुज़रते पैरों की आहटें रात-रात भर उसके दिमाग़ में गूँजती रहतीं। उसे लगता कि वह बरसों से अँधेरे और आहटों के बीच जागता हुआ उसी तरह करवटें बदल रहा है...कि वह कितना ही क्यों न चाहे, उनसे बचकर कहीं नहीं जा सकता। अँधेरे का घेरा उसे एक कैदखाने की तरह लगता। अपनी साँसों पर उसे बे-तरह दबाव महसूस होता। लगता कि कई चेहरे हैं जो उसे चारों तरफ़ से घेरे हुए हैं...बेगम, नबी, नूरा, कादिर, सिद्दीक, ख़ान...वह भागकर कहीं चला जाए, वे चेहरे उसके साथ जाएँगे...सिर्फ़ उनके नाम दूसरी जगह और हो जाएँगे...शाह साहब, एलिस, मजीद। अँधेरा हर जगह उसी तरह रहेगा...चाहे एक जगह उसकी आवाज़ खौफ़नाक साइरन की हो और दूसरी जगह जुलूस के नारों की। लड़ाई भी हर जगह उसी तरह चलेगी...हमलावर चाहे जापानी सिपाही हों, या पाकिस्तान से आए हुए कबाइली...।

दिन में उसे अपने से चिढ़ होती कि वह इस तरह की बातें क्यों सोचता है। तब वह अन्दर से कोशिश करता है कि रात का फिर उस तरह आना, किसी तरह वह अपने को उस दम घोटते सन्नाटे से बचाकर रख सके। इसके लिए वह दिन भर घर के छोटे-छोटे कामों में दिलचस्पी लेता...नूरा और नज़्मा से बातें करता...नज़्मा के बच्चे से खेलता। पर जब कादिर सामने पड़ जाता, तो रात का सन्नाटा दिन में भी उसकी कनपटियों पर चोटें करने लगता। कादिर ने उसके बाद मुँह से बात नहीं की थी, पर उसकी आँखों से ही लगता था जैसे वह एक ही बात हो जिसे कहने के लिए वह मौक़े की तलाश में हो...जैसे कि मौका मिलते ही एकाएक उसे उस पर झपट पड़ना हो। जितना ही उसका मन कादिर से डरता, उतने ही प्यार से वह उससे बात करने की कोशिश करता...पास से गुज़रते हुए कभी उसकी पीठ थपथपा देता, कभी दूर से उससे आँख मिल जाने पर बिना मतलब मुसकरा देता।

सिद्दीक ने बारामूला जाने का फैसला कर लिया था...जाकर एक बार वह अपनी ज़मीन को देख लेना चाहता था। सब लोग मना कर रहे थे कि उन दिनों वहाँ जाने में खतरा है, पर सिद्दीक पर यह धुन इस तरह सवार थी कि किसी का कुछ भी कहना बेमानी था। तभी सोपुर से खबर आई कि वहाँ किसी को भी नबी नागू का कुछ पता नहीं है...कि एक रात वह काफ़ी बीमार था, पर अगली सुबह किसी ने उसे डूँगे में या कहीं आसपास नहीं देखा। किसी का कहना है कि निंगल का पादरी उसे अपने साथ बारामूला के अस्पताल में ले गया था...और किसी का ख़याल था कि वह खुद ही अपना बुचका लेकर श्रीनगर के लिए निकल पड़ा था। यह बात कबाइलियों के हमले से पहले की थी...उसके बाद उसका क्या हुआ यह किसी को मालूम नहीं था। जिस दिन यह खबर मिली, उस दिन बेगम सबसे अलग-थलग बैठी रही...किसी की भी बातचीत में उसने हिस्सा नहीं लिया। वह देख रहा था कि बेगम के चेहरे की पतली जिल्द के पीछे कोई चीज़ लगातार काँप रही है...जैसे हलके आँसुओं की एक धार आँखों के अन्दर की तरफ़ टपक रही हो। वह कुछ देर बेगम के सामने जाने से बचता रहा, फिर चुपचाप उसके पास आकर बैठ गया। "मैं सोचता हूँ सिद्दीक के साथ मैं भी सोपुर तक चला जाऊँ," कहकर दाएँ हाथ के नाख़ूनों को वह बाएँ अँगूठे से मसलता रहा।

"क्यों?" बेगम की आवाज़ उसे बहुत ठंडी लगी, जैसे उसे इस चीज़ में कोई दिलचस्पी ही न हो।

"ऐसे ही।...तो सिद्दीक का साथ हो जाएगा, दूसरे वहाँ पर पता कर लूँगा। अगर नबी बारामूला के अस्पताल में हुआ, तो एक बार वहाँ जाकर उससे भी मिल लूँगा।"

उसका ख़याल था कि बेगम उसे मना करेगी...एक बार तो कम-से-कम कहेगी ही कि उसे नहीं जाना चाहिए। पर काफ़ी देर ख़ामोश बाहर की तरफ़ देखने के बाद बेगम धीरे से बोली, "पर उस अस्पताल में भी तो सुना है काफ़ी कुछ हुआ है।"

सुना बहुत कुछ जा रहा था...कि कबाइलियों ने उस अस्पताल में कइयों को कत्ल करके सारी इमारत को तहस-नहस कर दिया है...कि उस अस्पताल की जगह अब एक मुर्दाघर ने ले ली है। पर वे सब कानों सुनी बातें थीं, जो कि ग़लत भी हो सकती थीं।

"सुना तो है," वह बोला, "पर जितनी बातें कान पर पड़ती हैं, वे सभी तो सच नहीं हैं। इस वक़्त सिद्दीक साथ में है, इसलिए जा भी सकता हूँ। बाद में अकेले जाना और मुश्किल होगा।"

बेगम ने इस पर कुछ नहीं कहा। डबडबाई आँखों को सँभालते हुए उसे एक खुलेपन का अहसास हुआ...कि कम-से-कम कुछ दिन तो अब वह कादिर

की बाँधती हुई आँखों से दूर रह सकेगा। "तो कल के लिए सामान तैयार कर लेते हैं," उसने कहा, "कल जल्दी उठकर सुबह से पहले ही शिकारे में निकल जाएँगे।"

धूप से चमकते पानी में धीरे-धीरे रेंगता शिकारा। आसपास की हरियाली में जगह-जगह स्याह दाग—जले हुए घरों, बहत्सों और चिनारों के। किनारे की घास में तड़पकर दम तोड़ता एक मोटा, लम्बा काला साँप। पानी और मिट्टी से उठती पतझड़ की खुशबू, दरिया की सतह पर तैरते झाग के चकत्ते। तपते सूरज की दोपहर और घिरते बादलों की शाम। बहाव के रुख में अकेले जाते शिकारे की मनहूस-सी आवाज़। बाईं तरफ़ सड़क पर कुछ टूटी-फूटी, नंगी पिचकी हुई लाहिरयाँ।

मोगमीर से छोटा रास्ता पकड़कर रात होने से पहले ही वे लोग सोपुर पहुँच गए। रास्ते में कितने-कितने लोगों ने हैरानी के साथ उन्हें गुज़रते हुए देखा था...जैसे कि उनका बहाव के रुख में जाना किसी अनहोनी के ग़ार में ज़िन्दा दफ़न होने के बराबर हो।

निंगल के मुहाने के पास बेंत के जंगल की ज़मीन अब भी जगह-जगह लाल थी। वहाँ पर पता चला कि कुछ दिन पहले बहुत-से लोगों को उस जगह जमा करके कबाइलियों ने उनका कत्लेआम किया था...उस कत्लेआम से ही उन्होंने वहाँ अपनी फ़तह का जश्न मनाया। दूर-दूर तक कुछ जले-अधजले घर नज़र आते थे, कुछ घुन-खाए-से घास के ढेर और राख की बालियों में बदले हुए खेत। ज़्यादातर लाशें पिछली रात से पहले वहाँ से हटा दी गई थीं, पर उनके काफ़ी दिनों तक सड़ते रहने की बू अब भी हवा में समाई थी। कुछ हाथ-पैर जो कटकर अलग हो गए थे, अब भी यहाँ-वहाँ पड़े सड़ रहे थे। चलते-फिरते लोग आसपास बहुत कम नज़र आते थे।

उनका शिकारा नबी के डूँगे से लगा, तो डूँगे के तख़्तों में से वैसी ही आवाज़ पैदा हुई जैसी कि बहुत दिनों के बाद किसी के आने पर एक ख़ाली घर से पैदा होती है। डूँगे के अन्दर जाकर देखा, तो वहाँ कुछ सामान भी नहीं था...कपड़े, बर्तन तो अलग, चूल्हा तक कोई उठाकर ले गया था। डूँगे के गले हुए तख्तों को भी किसी ने तोड़ने की कोशिश की थी...दो-एक जगह से उसकी कीलें निकली हुई थीं और औज़ार की चोट से लकड़ी के अन्दर की सफ़ेदी बाहर निकल आई थी। सिवाय एक मछली के सड़े हुए टुकड़े के, रसद का कोई सामान भी नहीं था।

"रात को हम लोग कहाँ सोएँगे?" सिद्दीक ने उससे पूछा। "इस डूँगे के अन्दर?"

"और कहाँ सो सकते हैं?" कहते हुए उसकी आवाज़ थोड़ी खिंच गई। उसे ख़याल आया कि अगर नबी इस वक़्त डूँगे में मौजूद होता, तो क्या वह इतनी आसानी से रात को वहाँ सोने की बात कह सकता था?

वह रात, और बारामूला से लौटकर उससे अगली रात, उसने वहीं नबी के डूँगे में लगभग जागते हुए काटी।

वह खुद वहाँ था, सिद्दीक साथ में था, फिर भी उसे लग रहा था जैसे डूँगा बिलकुल ख़ाली हो। बहाव में डूँगे के हिलने से वह खालीपन और ज़्यादा महसूस होता था। लगता था जैसे आसपास की सारी बस्ती वहाँ से उठ गई हो। रह गया हो ख़ाली जंगल, दरिया और दो बहते हुए तख़्ते जिन पर वे दो आदमी लेटे हों।

दिन भर में कई वाकिफ़-नावाकिफ़ लोगों से उसकी मुलाक़ात हुई थी। उनसे कई तरह की बातें उसने सुनी थीं। बात करते हुए हर आदमी की आँखों में एक दहशत नज़र आती थी...एक खौफ़...जैसे कि मुँह से कही हुई बात पलटकर उसकी ज़बान पकड़ सकती हो। वे सब बातें जंगल में भिनभिनाते कीड़ों की तरह अब उसके आसपास मँडरा रही थीं।

वह बार-बार उन बातों को सुन रहा था और खुद अपने मन में उन्हें दोहरा रहा था। हर बात के पीछे छिपे हुए कई-कई चेहरे थे...ज़र्द और तमतमाए हुए चेहरे, डरे हुए और डरावने चेहरे...जो पल-दो पल् के लिए आँखों के सामने झलककर फिर अँधेरे में गुम हो जाते थे।

कभी-कभी उसे लगता कि उसका सिर सिर नहीं, एक वज़नदार पत्थर है जिस पर कोई हाथ तरह-तरह की लकीरें खींचकर मिटाता जाता है। मिटने पर लकीरें चाहे नहीं रहतीं, पर उनकी स्याही फिर भी पत्थर पर पुती रह जाती है। उसका मन होता था कि कुछ देर अपना सिर दरिया में डुबाए रखे, जिससे सारी स्याही निकल जाए और पत्थर एक बार धुलकर साफ़ हो जाए।

दरिया की आवाज़ ही एक चीज़ थी जो हमेशा जैसी थी, हालाँकि उसे लग रहा था कि वह आवाज़ भी और चीज़ों के साथ अब तक बदल जानी चाहिए थी। उसके कान बार-बार उस आवाज़ को सुनते थे कि शायद आसपास घिर आए जंगल का असर उसमें भी हो। कभी वैसा भ्रम होता भी था, पर पल दो पल से ज़्यादा नहीं। वह भी शायद इसलिए कि डूँगे के चरमराने और पेड़ों के सरसराने की आवाज़ उस आवाज़ में आ मिलती थी। सिद्दीक अपनी गठरी का तकिया बनाए पास में सोया था। उसका मुँह खुला था और साँस आवाज़ के साथ आ-जा रही थी। दिन में बारामूला की गलियों में से गुज़र रहे थे, तो कितनी ही बार उसे उस आदमी से चिढ़ हुई थी। जले-अधजले घरों के पास से गुज़रते हुए, और फटेहाल लोगों की मातमी नज़रों के सामने भी उस आदमी को बस एक ही धुन समाई थी...अपनी ज़मीन की।

उसकी ज़मीन सलामत थी...कबाइली उसे अपने साथ उठा नहीं ले गए थे...इस खुशी ने और किसी चीज़ का अहसास ही उसके अन्दर नहीं रहने दिया था। ज़मीन देख आने के बाद से वह तन-मन से बहुत हलका महसूस करने लगा था। बात-बात

पर इस तरह मज़ाक कर देता था कि कई बार उसे उस आदमी को टोक देना पड़ा था। टोकने पर कुछ देर वह ख़ामोश रहता, पर थोड़ी ही देर में फिर उसी रौ में बह जाता। गिरजे की तहस-नहस हुई इमारत में पहुँचकर भी जब उसका मज़ाक नहीं रुका, तो उसने उसे बुरी तरह डाँट दिया था। पर अब उस आदमी को खुले मुँह सामने पड़े देखकर उसे उसके साथ अपने सलूक के लिए अफसोस हो रहा था। साथ एक बेचैनी भी महसूस हो रही थी। सिद्दीक का सूखा चेहरा, सिर और दाढ़ी के सफ़ेद बाल, मैल-जमी पुतलियाँ और नींद में बेबस पड़े जिस्म का रूखापन और दुबलापन, यह सब जैसे वह आज पहली बार देख रहा था।

पहली ही बार उसे महसूस हो रहा था कि सिद्दीक अब काफ़ी उम्र का हो गया है और ज़िन्दगी में बिना कुछ भी हासिल किए अपने अकेलेपन में ही बीतता जा रहा है। कई बार उसका मन हुआ कि उसे आहिस्ता से जगाकर बात करे। एक बार हलके से उसे आवाज़ भी दी, पर फिर अचानक अपनी आवाज़ को बीच में ही रोक लिया। सिद्दीक उसकी आवाज़ से जागा नहीं, इससे उसने एक बार खुलकर साँस ली। उसे लगा कि उस आदमी के एक सुख में तो वह दिन भर खलल डालता रहा है। अब उसके दूसरे सुख...नींद के सुख...में ख़लल डालकर उसने एक और जुर्म कर दिया होता।

सिद्दीक के चेहरे से ध्यान हटाकर उसने अपने को जैसे और भी अकेला कर लिया। पर तब सिद्दीक की जगह एक और आदमी उस अकेलेपन में झाँकने लगा। डूँगे के अन्दर, बाहर और आसपास उस आदमी की मौजूदगी का अहसास वैसे हर पल बना रहा था...मौजूदगी का नहीं, ग़ैर मौजूदगी का। नबी वहाँ नहीं था...उसके पैरों की आहट और धुआँधार गालियों की बौछार शायद हमेशा के लिए वहाँ से गुम हो चुकी थी। वह नहीं था, इसलिए शायद उसका वहाँ होना ज़्यादा महसूस हो रहा था... हवा के हलके-से-हलके झोंके में, डूँगे पर पानी के हलके-से-हलके थपेड़े में, अपनी करवट में और दूर से सुनाई देती पनचक्की की आवाज़ में नबी वहाँ से जैसे गया नहीं था, वहाँ के वातावरण में घुलमिल गया था। जैसे पास ही कहीं वह दम साधे खड़ा था, और किसी भी वक़्त खाँसता हुआ सामने आ सकता था। वह, खालका, जैसे लेटा हुआ उसका इन्तज़ार ही कर रहा था...कि अभी घाट से पैरों की आहट सुनाई देगी... और अभी एक तीखी और कसैली आवाज़ उसके कानों में पड़ेगी।

नबी का क्या हुआ, वह कहाँ होगा, और कहीं होगा भी या नहीं, यह वह कुछ भी नहीं सोच पा रहा था। सोपुर और बारामूला में चौबीस घंटे बिताकर अब भी उस बारे में वह उतना ही जानता था, जितना चलने से पहले श्रीनगर में जान चुका था। नबी काफ़ी दिन डूँगे में बीमार पड़ा रहा था। बहुत कम वह डूँगे से बाहर निकलता था। यूँ भी एक तरह से वह बिलकुल अकेला पड़ गया था। जितने लोगों के साथ

उसका उठना-बैठना था, वे सब तब तक एक-एक करके मौत के मुँह में जा चुके थे। वह अकेला डूँगे में पड़ा रहता था और किसी तरह अपने लिए थोड़ा साग-भात बनाकर खा लेता था। आसपास से कोई उसके लिए मछली या भात ले आता, तो वह उसे देखते ही गाली बकने लगता। कई बार अकेले में भी गाली बकता रहता। ज़्यादातर उसका और बेगम का नाम लेकर। डूँगे की खिड़की पर हाथ रखे वह घाट की तरफ़ झाँक रहा होता, तो कोई भी उसके सामने न पड़ना चाहता। तब जो भी नज़र आ जाता, उसकी सात पुश्तें वह सबको गिनवाने लगता। घाट पर खेलते बच्चे उसे चिढ़ाया करते थे। बाद में वे भी उससे खौफ़ खाने लगे थे। एक दिन जब उसके पास रसद नहीं रही, वह अपने बदन दिखा-दिखाकर खिड़की से लोगों को पुकारता रहा। पहले तो किसी को उसकी बात समझ में ही नहीं आई। बाद में, उसका मतलब जान लेने पर भी, काफ़ी देर किसी की उसके पास जाने की हिम्मत नहीं हुई।

लोगों ने बताया था कि जिस रात नबी वहाँ से ग़ायब हुआ, उससे पहली शाम को निंगल का पादरी डूँगे में उसे देखने आया था। पादरी को देखते ही उसका गालियों का ताँता फिर शुरू हो गया। पादरी बिना इस तरफ़ ध्यान दिए, उसके बेजान-से हाथ-पैरों को टोहता हुआ काफ़ी देर उसके पास बैठा रहा। जाते हुए पादरी ने लोगों से कहा कि अगली सुबह वह उसे अपने साथ बारामूला के अस्पताल में ले जाएगा। नबी उसके जाने के बाद और भी ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता रहा। रात हुई, तो बकझक करता हुआ वह अपना सामान गठरी में बाँध रहा था। कह रहा था कि देख लेगा कौन उसकी मर्जी के खिलाफ़ उसे अस्पताल में ले जाता है! वह वहाँ पड़ा ही इसलिए है कि बेगम एक दिन लौटकर वहाँ आए और अपनी आँखों से उसका मुरदा वहाँ सड़ता हुआ देखे। पादरी उसके लिए एक मछली छोड़ गया था। उसे उसने छुआ तक नहीं। अगले दिन से वह अपने डूँगे में नज़र नहीं आया। पर पादरी भी उस दिन सुबह से अपने हाउसबोट में दिखाई नहीं दिया। उसके दो-तीन रोज़ के अन्दर कबाइली दस्ते वहाँ आ पहुँचे। उसके बाद किसी को किसी की खबर नहीं रही।

खालका को लग रहा था जैसे नबी, सिद्दीक और वह सब वहाँ तख़्तों पर लेटे हों और फुल-बूटों की कतारें उन्हें रौंदती हुई ऊपर से गुज़रती जा रही हों। या वे लोग अपनी पोटलियाँ लिये कच्ची सड़क पर चल रहे हों और बन्दूकों के कुन्दे चारों तरफ़ से घेरते आ रहे हों। बारामूला में उसने जो कुछ देखा-सुना था, उससे मरे हुए और ज़िन्दा लोगों के बीच फ़र्क करना ही उसे मुश्किल लगा था। नबी नबी नहीं था, वह खुद खुद नहीं था, सब एक फ़सल की बालियाँ थीं, जिन्हें कभी भी चुन-बटोरकर टुकड़े-टुकड़े किया जा सकता था। और बारामूला में देखी एक इमारत...जो बार-बार उसके दिमाग़ में उभर आती थी। उस उजड़ी हुई इमारत में घूमते हुए, इधर-उधर से

सुनी बातों के छोटे-छोटे टुकड़े आपस में जोड़ते हुए जैसे उसने खुद वहाँ की घटनाओं के बीच जीकर देख लिया था। उसे लगा कि नबी...या नबी की जगह वह खुद...अस्पताल के जनरल वार्ड में लेटा है। एक नर्स से इंजेक्शन लगवाने के लिए उसने अपनी कमीज़ की बाँह ऊपर चढ़ाई। नर्स इंजेक्शन की सुई बाँह से छुआने ही जा रही है कि बाहर से हो-हल्ला सुनाई देता है। सुई कुछ देर जहाँ की तहाँ रुकी रहती है, फिर वापस तश्तरी में चली जाती है। कोई घबराया हुआ बाहर से अन्दर आता है। पता चलता है कि कबाइलियों का एक दस्ता दीवार लाँघकर अस्पताल में आ दाखिल हुआ है।

चारों तरफ़ खलबली मच जाती है। साथ औरतों के वार्ड से, गोली चलने की आवाज़ सुनाई देती है। एक औरत चीख़ उठती है तभी दूसरी गोली दागी जाती है। आसपास से दौड़ते पैरों की आवाज़ें सुनाई देती हैं। किवाड़ खुलते और बन्द होते हैं। एक औरत जल्दी-जल्दी बात करती है। पर एक और गोली की आवाज़ से उसकी आवाज़ बन्द हो जाती है।

वह...या नबी नागू...अब बिस्तर में नहीं हैं। बरामदे के एक खम्भे के पीछे छिपकर बाहर देख रहा है। बाहर कई चेहरे नज़र आते हैं। हर चेहरे के साथ बन्दूक का एक कुन्दा है। उसकी नंगी बाँह अभी तक नंगी है। वह किसी तरह उसे ढाँपने की कोशिश करता है। लगता है कि बन्दूक की एक ठंडी गोली अभी उसे चीरनेवाली है।

दीवार पर कई और चेहरे हैं। एक आदमी दौड़ता हुआ आता है और कबाइलियों को अन्दर उतरने से रोकता है। कई गोलियाँ एकसाथ चलती हैं। उस आदमी के साथ कई और भी जिस्म गिरकर तड़पने लगते हैं। बन्दूक का एक कुन्दा एक औरत की तरफ़ तन जाता है। ''जो कुछ तुम्हारे पास हो निकालकर रख दो।''

''मेरे पास कुछ नहीं है।''

''जो कुछ है, दे दो। नहीं तो गोली मार दूँगा।''

''मेरे पास कुछ नहीं है।''

''रुपया-पैसा, सोना...कुछ भी निकालकर दे दो।''

''मेरे पास कुछ नहीं है।''

एक आदमी दौड़ता हुआ बरामदा पार करना चाहता है। एक कुन्दा उसे रोक देता है। ''तुम कहाँ जा रहे हो?''

दौड़ता हुआ आदमी रुक जाता है। ''मेरी बीवी अन्दर है। उसके पास जा रहा हूँ।''

''तो जाओ उसके पास।'' और धाँय की आवाज़ के साथ वह आदमी वहीं लुढ़क जाता है।

"यह अस्पताल है," एक औरत चिल्लाकर कहती है। "तुम लोग यहाँ यह सब क्यों कर रहे हो?" औरत की बाँहों में एक बच्चा है। उसे वह अच्छी तरह अपने साथ सटा लेती है।

धाँय-धाँय-धाँय...कई गोलियाँ एकसाथ उसकी बात का जवाब देती हैं। एक आवाज़ पूछती है, "यह बच्चा किसका है?"

"मेरा बच्चा है," औरत कहती है।

"यह तुम्हारा बच्चा नहीं है।"

"मैं कह रही हूँ, मेरा बच्चा है।"

"नहीं, काली चमड़ी का बच्चा तुम्हारा नहीं हो सकता। इसे ज़मीन पर रख दो।"

"यह दो दिन का बच्चा है। इसे मैं ज़मीन पर कैसे रख सकती हूँ?"

धाँय...और औरत फटी-फटी आँखों से अपने को और हाथ के बच्चे को देखती रह जाती है।

आसपास काँच फूटते हैं। अलमारियाँ टूटती हैं। दवाइयाँ और चीड़-फाड़ के औज़ार इधर-उधर फेंके जाते हैं। जो भी किसी कुन्दे के सामने पड़ जाता है, वह वहीं ढेर हो जाता है। एक औरत को बाँह से घसीटा जाने लगता है, तो कोई चिल्लाकर कहता है, "उसे मत छुओ। उसके पेट में बच्चा है।"

"तुम उधर खड़े रहो।" एक गरज बाक़ी सब आवाज़ों को छा लेती है।

"उसे मत छुओ। वह..."

"कहा है, अपनी जगह पर खड़े रहो। वरना एक और लफ़्ज़ ज़बान से नहीं बोल पाओगे।"

"सबको लाइन में खड़ा करके गोली मार दो," एक और आवाज़ गूँजती है। कई-एक कुन्दे सबको घेरने लगते हैं।

खम्भे के पीछे छिपा आदमी...वह...या नबी नागू...सिर से पैर तक काँप जाता है। नहीं जानता कि उसे भी वह हुक्म मानना चाहिए या नहीं। यह भी नहीं जानता कि किसी ने उसे वहाँ छिपे देख लिया है या अब तक नहीं देखा। हुक्म फिर सुनाई देता है, "सब लोग यहाँ खड़े हो जाओ...एक लाइन में।" वह काँपता हुआ खम्भे के पीछे से निकल आता है। एक कुन्दा उसकी तरफ़ उठ जाता है। वह पूरी ताकत बटोरकर कहता है, 'मैं नहीं हूँ।"

"बको नहीं, लाइन में खड़े हो जाओ।"

वह अपने को देखता है। लाइन में खड़े लोगों को देखता है। सोचता है कि गोलियाँ किस तरफ़ से चलाई जाएँगी। लगता है कि उसके जिस्म पर अब कोई कपड़ा नहीं है। वह बिलकुल नंगा लाइन में खड़ा है। पसलियाँ जिस्म में तन गई हैं। पर पसली को लग रहा है कि गोली उसी को चीरकर जाएगी। मगर गोलियाँ नहीं चलतीं।

लाइन में खड़े लोग इन्तज़ार करते खड़े रहते हैं। एक और आदमी के हुक्म से बन्दूकों के कुन्दे झुक जाते हैं।

"बन्दूकें रख दो।"

पर बन्दूकें रखी नहीं जातीं।

"सब लोग अस्पताल की इमारत से बाहर चले जाओ।" पर कोई बाहर जाने को तैयार नहीं होता।

"अस्पताल की इमारत में तुम्हें लूट-मार करने की इजाज़त नहीं है। मैं तुम्हें हुक्म दे रहा हूँ। तुम हुक्म के खिलाफ़ काम नहीं कर सकते।"

वह आदमी आगे बढ़ जाता है। लाइन में खड़ी एक औरत मुसकराती है। बन्दूक का एक कुन्दा उसके सीने से छू जाता है। "अपना सोने का दाँत निकालकर दे दो," उससे कहा जाता है।

औरत मुँह पर हाथ रख लेती है। कहती है, "यह दाँत नहीं निकल सकता। यह नकली दाँत नहीं है। मेरे असली दाँत पर सोना चढ़ा हुआ है।"

औरत को लाइन से बाहर खींच लिया जाता है। उसका मुँह खोलकर जबर्दस्ती चाकू से दाँत निकालने की कोशिश की जाती है। तभी, वही अफसर दौड़ता हुआ आ जाता है। "रुको," वह कहता है, "इस औरत को छोड़ दो।" मुँह से हाथ का दबाव हट जाता है। अफसर लाइन में खड़े सब लोगों से वहाँ से हट जाने को कहता है। "सब लोग अन्दर चले जाओ। कोई भी यहाँ बाहर नज़र न आए। वरना तुम लोगों की हिफाज़त की जिम्मेदारी मेरे ऊपर नहीं होगी।"

लोगों के वहाँ से हट जाने पर भी वह...या नबी नागू...अन्दर नहीं जाता। उसे लगता है कि अन्दर पहुँचने पर सबको वहीं गोली मार दी जाएगी। वह किसी तरह फिर उसी खम्भे की ओट ले लेता है। कबाइलियों का दस्ता वहाँ से हट जाता है, तो वह अस्पताल की इमारत से बाहर को चल देता है। बाहर निकलते हुए दो कबाइलियों को एक औरत को खींचने की कोशिश करते देखता है। "माशूक, तुम हमारे साथ चलो। हम तुमको बहुत-बहुत पैसा देगा।"

"मुझे छोड़ दो," औरत चिल्लाती है। "मैं मिशन की औरत हूँ। अस्पताल की सिस्टर हूँ।"

"तुम हमारा माशूक है, हम तुमको अपने साथ ले जाएगा।"

"मैं नहीं जा सकती। मैं नहीं जाऊँगी।" और उस जद्दोजहद के बीच वह सड़क पर आ जाता है।

वह नहीं जानता कि वह क्या चाहता है। मरना चाहता था, पर मौत सामने थी, तो दहशत से काँप रहा था। तब किसी भी तरह मौत से बचना चाहता था। अब ज़िन्दा बच आया है, तो उसे ज़िन्दगी से नफ़रत हो रही है। मौत का ख़ौफ़ और

ज़िन्दगी से नफ़रत...इन दोनों दबावों के बीच एक और घटना आँखों के सामने आती है। बिखरे बालोंवाला एक आदमी है। मकबूल शेरवानी। कबाइलियों ने उसे बाज़ार के एक खम्भे के साथ बाँध दिया है। हाथों में कीलें ठोंक दी हैं। सामने गिरजाघर का सलीब चमक रहा है। उस आदमी से कहा जाता है कि वह हमलावरों के हक में नारे लगाए। वह आदमी नारे लगाने से इनकार करता है। इस पर चौदह गोलियाँ उसका जिस्म छलनी कर देती हैं। टीन का एक पतरा उसके माथे में ठोंककर ऊपर लिख दिया जाता है, "इस गद्दार का नाम मकबूल शेरवानी है। यह इसकी गद्दारी की सजा है!"

अस्पताल के अन्दर और बाहर ज़िन्दगी और मौत, दोनों एक-सी नज़र आती हैं। मन होता है कि ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता हुआ आवारा कुत्ते की तरह सड़कों पर घूमने लगे। पर ऐसा वह कर नहीं पाता। बाहर नहीं रहा जाता, तो अस्पताल की इमारत में लौट जाता है। वहाँ रहना मुश्किल लगता है, तो फिर बाहर निकल आता है।

चारों तरफ़ लाशें हैं...घरों में, गड्ढों में, पेड़ों के नीचे, अस्पताल के कम्पाउंड में, बरामदे में, कमरों में। बच्चों के वार्ड में कितनी ही लाशें हैं। कटे-फटे हाथ-पैर और चीख़ते-कराहते हुए चेहरे। बिजली के बल्ब टूट गए हैं, इसलिए मोमबत्तियाँ जला दी गई हैं। मोमबत्तियों के काँपते उजाले में नन्हे हाथ-पैर हिलते हैं। बच्चे दूध के लिए रो रहे हैं...उन्हें पिलाने के लिए दूध नहीं है। वार्ड के बाहर ज़ख्मी लोगों की भीड़ है। भीड़ में अस्पताल और बस्ती के ही नहीं, ऐसे भी बहुत-से लोग हैं जो पहली बार बन्दूकें लिये वहाँ की दीवारें लाँघकर अन्दर आए थे। एक चेहरा उस भीड़ में उसका अपना भी है...हालाँकि उसके जिस्म पर कोई घाव नहीं है। कुछ लोग चादरें फाड़-फाड़कर पट्टियाँ तैयार कर रहे हैं। उसके पास आकर पूछा जाता है कि जिस्म पर कहाँ पट्टी होगी। वह अपनी बाँह उघाड़कर देखता है। कमीज़ के बटन खोलकर देखता है। उसके जिस्म पर कोई ज़ख्म नहीं है। फिर वह कैसे उस भीड़ में आ शामिल हुआ है? ज़ख्म अगर नहीं है, तो उसे इतना दर्द क्यों महसूस होता है? क्यों लगता है कि गोलियाँ खा-खाकर उसका शरीर लहूलुहान हो रहा है? वह हाथ से शरीर को जगह-जगह छूकर देखता है। नहीं, कहीं कोई घाव नहीं है। तो फिर वह क्या कहे कि उसे पट्टी कहाँ बाँधी जाए? पर अगर वह चुप रहेगा, तो शायद अभी उसे बाहर निकाल दिया जाएगा कि वह बिना ज़ख्म के वहाँ पट्टी कराने चला गया है।

ख़ालका ने आँखें खोलीं, सुबह हो रही थी। कुछ कुड़कुड़ाती बतखें डूँगे के पास से गुज़रकर जा रही थीं।

सिद्दीक का मुँह उसी तरह खुला था। सिर्फ़ उसने करवट बदल ली थी। धीरे से हिलाकर उसने उसे जगा दिया। सिद्दीक उठकर इस तरह आँखें झपकने लगा जैसे अचानक उसे अँधेरे से रोशनी में ले आया गया हो।

"तैयार हो जाओ," उसने सिद्दीक से कहा। "अभी थोड़ी देर में हम वापस चल देंगे।"

"आज ही?" सिद्दीक अचकचा गया।

"और नहीं महीना भर यहाँ पड़े रहेंगे?"

सिद्दीक आँखें मलने लगा। "मैं सोचता था कि..."

वह सिद्दीक की तरफ़ देखता रहा कि "क्या सोचते थे?"

"सोचता था कि अगर...अगर दो एक दिन मैं और यहाँ रुक जाऊँ, तो..."

"तो क्या होगा?"

"मैंने रात को सोचा है, ज़मीन का सौदा करके ही वापस जाऊँ। उतने पैसे में एक अच्छा-सा डूँगा खरीद लूँगा और श्रीनगर में अपना काम शुरू कर सकूँगा।"

"तुम रुकना चाहो, रुक जाओ," उसने उठते हुए कहा। "मैं आज चला जाऊँगा। तुम बाद में जब चाहो, आ जाना।"

सिद्दीक सिर खुजलाता हुआ कुछ सोचता रहा। बोला, "तुमसे एक बात और भी पूछना चाहता था।"

"क्या?"

"इस डूँगे का अब क्या करोगे?"

वह बाहर देखने लगा। यह सवाल उसके मन में भी था। पर सिद्दीक का पूछना उसे अच्छा नहीं लगा। "मैं क्या कर सकता हूँ?" उसने कहा। "जिसकी मिलकियत है, वही जो चाहेगी, करेगी।"

"तो तुम इसे श्रीनगर ले जाओगे? गली हुई लकड़ी है। यह तो यहीं जिस दाम में बिक जाए, बेच देना चाहिए।"

उसने सिद्दीक की तरफ़ नहीं देखा। बतखें क्वाक्-क्वाक् करती डूँगे के सिर पर आ गई थीं। "मैं इसे श्रीनगर भी कैसे ले जा सकता हूँ?" उसने कहा। "बेगम से बात किए बग़ैर मैं इस बारे में कुछ नहीं कर सकता।"

"मैं तुमसे एक बात कहता हूँ," सिद्दीक भी उठकर खड़ा हो गया। "तुम ज़िन्दगी में कोई काम मर्दों की तरह नहीं करोगे।"

"तुम अपनी ज़बान बन्द रखो," उसका चेहरा गुस्से से तमतमा उठा। "मुझे जो करना है, वह मैं ज़्यादा जानता हूँ।"

"मुझे पता है तुम क्या जानते हो," सिद्दीक लोई लपेटकर सामने आ गया। "तुम डूँगे को यहीं लावारिस छोड़कर श्रीनगर चले जाओगे। पीछे चाहे लोग इसका एक-एक तख़्ता उखाड़ लें।"

"डूँगा मेरा नहीं है," उसकी आवाज़ में तुरशी आ गई। "बिना बेगम से पूछे इसे

बेचने या कुछ भी क़रने का मुझे हक नहीं है। यह भी कैसे कह सकते हैं कि नबी ज़िन्दा नहीं है?''

''हाँ, कैसे कह सकते हैं? सोपुर में किसी को उसका पता नहीं। बारामूला में किसी ने उसको देखा नहीं। श्रीनगर में उसकी सूरत नज़र नहीं आई। अब एक बार खुदा के घर में जाकर और देख लेना चाहिए।''

''तुम अपना काम करो,'' कहता हुआ वह सिद्दीक के पास से हट आया। ''मेरी, नबी की या डूँगे की फिक्र करने की तुम्हें ज़रूरत नहीं।''

अकेला सफ़र! धार के खिलाफ़ ऊपर जाने की जद्दोजहद। सिवाय जंगल के, किसी मुकाम पर वह रुका नहीं। सिवाय दुआ-सलाम के, किसी ने उससे बात नहीं की। मन हो रहा था कि आगे भी कोई ऐसा मुकाम न आए, जहाँ लोगों के बीच उसे रुकना पड़े। अपना घर भी नहीं। वह धार किसी तरह उसकी ज़िन्दगी जितनी बड़ी हो जाए, जिससे वह लगातार चलता रहे, और दम तोड़ने के मुकाम पर पहुँचकर किसी किनारे से लगे।

अगली रात नाव अपने घाट पर जा पहुँची। बेगम घाट पर ही थी। जैसे उसे पता था कि वह उसी वक़्त वापस पहुँचेगा।

डूँगे में आने तक दोनों में बातें नहीं हुईं। अन्दर पहुँचकर बेगम जलती काँगड़ी उसकी तरफ़ बढ़ाने लगी, तो उसने धीरे से कहा, ''नबी की वहाँ भी कोई ख़बर नहीं मिली।''

''मुझे ख़बर मिल गई है,'' बेगम बोली। ''तुम्हारे जाने के बाद क्यूनुस से चिट्ठी आ गई थी। एक हाँजी के हाथ गाँववालों ने भेजी थी।''

''नबी क्यूनुस में है?''

''लिखा है, वहाँ आया था। हालत बहुत ख़राब थी। चार-पाँच रात मेरी माँ के मायके में पड़ा रहा। मेरा और माँ का नाम ले-लेकर जाने क्या-क्या बोलता रहा! ईद की सुबह उसने वफ़ात पा ली।''

वह देखता रहा कि शायद बेगम की आँखों में कुछ नमी नज़र आए। बेगम का हाथ अपने हाथ में लेने की भी उसने कोशिश की। पर बेगम अचानक उसके पास से उठ खड़ी हुई। ''मैं अभी चाय बनाकर लाती हूँ,'' कहकर वह बावर्चीखाने में चली गई।

बेगम लौटकर आई, तो उसके चेहरे पर कोई ऐसा भाव नहीं था, जिससे उसके मन की बात का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सके। वह समावार से प्याली में चाय डालने लगी, तो उसने पूछ लिया, ''तुम एक बार क्यूनुस जाना चाहोगी?''

बेगम ने सिर हिला दिया। ''मैं वहाँ जाकर क्या करूँगी? माँ के मायकेवालों से कभी मिली नहीं। और किसी को भी वहाँ नहीं जानती।'' कुछ देर दोनों चुप रहे। फिर बेगम ने पूछा, ''सिद्दीक कब तक आएगा?''

"कह नहीं सकता," वह प्याली में देखता हुआ बोला। "कह रहा था कि ज़मीन बेचकर आएगा। हो सकता है कल-परसों में आ जाए। या अभी दस दिन न भी आए।"

"तुम उसे किसी के हाथ एक रुक्का भेज सकते हो?"

"तुम उसे क्या लिखवाना चाहती हो?"

"कि डूँगा वहीं किसी को बेच दे। कोई सामान उसमें हो, तो वह भी वहीं किसी को दे दिला दे।"

वह कुछ देर चुप रहकर धुएँ के छल्लों को बनते-टूटते देखता रहा। फिर बोला, "सामान तो उस डूँगे में अब कुछ नहीं है। ख़ाली डूँगा है। सोचता था कि तुम अगर एक बार खुद वहाँ चली जातीं...।"

"मुझे वहाँ नहीं जाना है," कहते हुए बेगम ने समावार उठा लिया। "तुमसे हो सके, तो सिद्दीक को लिखकर वह डूँगा वहीं किसी को बिकवा दो। न हो सके, तो रहने दो। मैं बाप के जीते-जी उस घाट का मुँह देखने नहीं गई, तो अब डूँगे के पैसे उगाहने वहाँ जाऊँगी?"

बेगम चली गई, तो भी वह देर तक प्याली पर मरते धुएँ को देखता रहा। प्याली उठाकर चाय उसे पीनी है, यह बात उसके ज़हन में ही नहीं आई।

"मैं क्या चाहता हूँ?" अक्सर उसके मन में सवाल उठता पर साथ ही वह अपने को जवाब भी दे लेता, "खुदा ही जानता है, मैं क्या चाहता हूँ।"

डूँगे में रहते हर वक़्त उसका मन करता कि वहाँ से उठे और कहीं और चला जाए। पर डूँगे से बाहर आते ही एक दहशत उसे घेर लेती और मन डूँगे में लौटने को होने लगता। उन दिनों का हौसला अब उसमें नहीं था जब एकाएक घर से निकलकर कलकत्ता के लिए चल पड़ा था। तब मन में अनजानी ज़िन्दगी का एक आकर्षण था। अब उसने जैसे सबकुछ देख लिया था और किसी भी तरह की ज़िन्दगी के लिए मन में आकर्षण बाक़ी नहीं था। घर में और घर से बाहर सब जगह सभी कुछ एक-सा था। बाहर जाकर ज़िन्दगी को बल्कि और बदतर ही बनाया जा सकता था। इसलिए बेहतर था कि वहीं रहकर जैसे-तैसे उसे ढोता रहे। पर ढोना भी इतना आसान नहीं था कि मन चुपचाप उसे स्वीकार कर ले।

वह एक कोने में ख़ामोश बैठा रहता। आसपास बूँदें पड़तीं और सूख जातीं। कभी हलकी बरफ़ के जाल गिरते और पिघल जाते। आसमान में रोज़-रोज़ एक-से रंग बनते और मिटते रहते...ख़ाली या बर्फ़ानी बादलों के, धूप और उजाले के, अँधेरे और झुटपुट के। उन सब रंगों में दरिया और डूँगे के साथ-साथ वह खुद अपने को भी बार-बार रँगते देखता...हर बार इस वक़्त के रंग से निकलकर दूसरे वक़्त के रंग में रँगे जाने की प्रतीक्षा करता। उसे लगता कि जितने रंग उसे छूकर निकल जाते हैं वे

सब कहीं उस पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं। उन रंगों के लौटकर आने पर वह वही नहीं होता...पहले से कुछ बदल चुका होता है, कुछ बीत चुका होता है। कभी पानी में तैरते ज़र्द पत्तों में से किसी एक को वह हाथ में ले लेता, घुटने से मलकर सुखाता रहता, और फिर सूख जाने पर पानी में बहा देता।

किसी की नज़र उस पर होती, तो वह अपने हाथ-पैरों को छूकर देखता। उसे महसूस होता कि हर गुज़रते दिन के साथ उनमें ज़र्दी बढ़ती जा रही है, मांस की सलवटें गहरी होती जा रही हैं, खाल नरम पड़ती जा रही है। उसे छाती में एक रुकाव-सा महसूस होता है और वह अपनी जगह से हटकर बाहर निकल आता। नूरा और बेगम से बात करते हुए उनके मांस के कसाव को देखता। यह भी की सर्दी बीतने के साथ दरिया में पानी फिर भर रहा है...डूँगा अपनी निचली सतह से फिर घाट की सतह की तरफ़ उठ रहा है। वह देर-देर तक दरिया के ख़ामोश बहाव को एकटक देखता रहता। फिर एक साँस के साथ वहाँ से हटता हुआ बेगम से कहता, "सोचता हूँ, मैं शाह साहब को फिर से चिट्ठी लिख ही दूँ।"

बेगम जानती थी कि वह शाह साहब को चिट्ठी लिखने की बात क्यों कहता है। वह उसकी तरफ़ ठीक से देखती भी नहीं और आहिस्ता से जवाब देती, "हाँ, लिख दो। अगर अपने पैसे से हज पर नहीं जा सकते, तो दूसरे का पैसा लेकर जाने में क्या बुराई है? इतना ही तो है कि हज का सवाब तुम्हें नहीं, उसे मिलेगा जिससे कर्ज़ लेकर जाओगे। पर इससे क्या होता है? तुम्हारा मकसद हज करना तो है नहीं। मकसद तो इतना है कि किसी तरह हम लोगों से पिंड छुड़ाकर चले जाओ। वह मकसद तुम्हारा पूरा हो जाएगा।"

शाह साहब को उसने कई दिन पहले एक चिट्ठी लिखी थी। तब शाह साहब ने जवाब दिया था कि वह जब भी हज पर जाना चाहे, वे उसे उसके खर्चे का रुपया कर्ज़ हुसैनी के तौर पर दे देंगे। इसका मतलब था कि रुपया लौटाने की मजबूरी नहीं होगी। पर कहा जाता था कि कर्ज़ हुसैनी अगर लौटाया न जा सके, तो हज की सवाब हज करनेवाले को हासिल नहीं होता था। वह बेगम की बात से ख़ामोश होकर अपनी जगह पर लौट आता। उम्मीद करता कि बेगम शायद पास आकर और भी कुछ कहे। पर बेगम के लिए बात वहीं ख़त्म हो जाती—उसके बाद उसका ज़िक्र तक ज़बान पर न लाती।

बेगम के हाथ में उन दिनों रुपया था। इतना तो था ही किंग्ब उससे वह हज के लिए जा सके। कुछ रुपया नबी का डूँगा और शिकारा बेचकर मिला था। कुछ सिद्दीक अपनी ज़मीन बेचकर लाया था तो उसने बेगम के पास रख रखा था। सिद्दीक डूँगा रहन रखकर वह रुपया उसे हज को देने के लिए तैयार था। कहता था कि वह लौटकर दो साल की कमाई से धीरे-धीरे उसका कर्ज़ उतार दे। पर बेगम यह

बात सुनकर ही चिढ़ जाती। कहती कि जब कमाई ही नहीं होगी, तो वह लोग कर्ज़ कैसे उतारेंगे? और रुपए की ज़रूरत सबसे पहले उन्हें लड़की की शादी के लिए है। अगर कर्ज़ लेना होगा, तो हज के लिए नहीं, उस मौक़े के लिए लेंगे। काम की हालत जितनी ख़राब थी उससे क्या कहा जा सकता था कि लड़की की शादी कब और कैसे कर पाएँगे? गनीमत थी कि कादिर काम की तलाश में कुछ अरसे के लिए श्रीनगर से बाहर चला गया था, वरना उसने तो अब तक कहर ढा दिया होता। जाते हुए भी उसने कहा था कि इस मन्दी में एक-एक हाउसबोट की कमाई से उनका ख़र्च नहीं चलेगा। दोनों हाउसबोट एक घाट पर बाँधकर उन्हें अपना खाना-पीना एक जगह कर लेना होगा। भुखमरी ने वहाँ से जाने के लिए मजबूर न कर दिया होता, तो अब तक न जाने कितनी बार इस बात को लेकर उसने तमाशा खड़ा किया होता।

सर्दियों के बाद गर्मियाँ भी आकर गुज़रने लगीं, पर एक भी टूरिस्ट उस साल उनके यहाँ नहीं आया। आसपास के सब हाउसबोटों में वही हालत थी। झुंड-के-झुंड हाँजी सुबह-सुबह बस के अड्डे पर जा जमा होते। कोई एक भी टूरिस्ट किसी भी बस से उतरता नज़र आ जाता, तो उसे अपने यहाँ ले जाने के लिए सबमें धींगामुस्ती शुरू हो जाती। नतीजा उसका यह होता कि आनेवाला उन सबको डाँटकर किसी होटलवाले के साथ चला जाता। सिद्दीक भी हर सुबह बस के अड्डे पर जाता और दोपहर को माथे पर त्योरियाँ डाले लौट आता। आकर बताता कि अड्डे पर रोज़ क्या-क्या हुड़दंग मचता है। किस तरह लोग एक-एक दो-दो रुपए देकर एक-दूसरे के गाहकों के सौदे करते हैं। वह यह भी बताता कि कुछ हाँजी अपने साथ लड़कियों की तसवीरोंवाले कार्ड लेकर जाते हैं। आनेवालों को तसवीरें दिखा-दिखाकर अपने यहाँ चलने के लिए फुसलाना चाहते हैं। सिद्दीक की बातें सुनकर लगता जैसे उसे ज़्यादा दुख इस बात का हो कि उसके पास इस तरह की कोई तसवीर क्यों नहीं होती। "बात करने में सिद्दीक किसी से कम नहीं है," वह कहता। "मगर बात से बात का मुकाबला हो, तब तो मैं भी देख लूँ। पर वे कमीनजाद मुकाबला करते हैं फ़हश और नंगी तसवीरों से। जाने कहाँ-कहाँ से लाकर हरामखोरों ने कार्डों पर चिपका रखी हैं। तसवीरें दिखाकर लोगों को साथ ले जाते हैं और रास्ते में उनका आधा सामान गुम कर देते हैं। अब आदमी देखता रहे तसवीर को और रोता रहे अपने सामान को। यह धन्धा अब काम करनेवाले हाँजियों के हाथ में रह कहाँ गया है? यह तो आजकल कुछ गुंडों के हाथ में है जिनके पास में अपने बोट भी पता नहीं हैं कि नहीं।"

बेगम सिद्दीक से उलझ पड़ती, जैसे कि टूरिस्टों के न आने की ज़्यादा ज़िम्मेदारी सिद्दीक पर ही हो। कहती कि वह चुपचाप खड़ा तमाशा देखता रहता होगा। किसी के पास जाकर उससे बात ही नहीं करता होगा। सिद्दीक इस पर लम्बी सफ़ाई देने लगता। उन लोगों के हवाले देता जो अड्डे पर उसके साथ थे और जिन्होंने उसे

लड़ाई-झगड़ा करते देखा था। पर लड़ने-झगड़ने से क्या होता है? वह कहता कि, "आनेवाले की नज़र वहाँ किसी शरीफ हाँजी पर तो पड़ती ही नहीं। उसकी नज़र पड़ती है उन हाथों पर जो ऊँचे उठ-उठकर तसवीरोंवाले कार्ड उसकी तरफ़ झलकाते हैं, और उन आँखों पर जो उन्हें तरह-तरह के गन्दे इशारे करती हैं। ऐसे में सिद्दीक बेचारा करे तो क्या करे? उसके पास अपनी टोपी के सिवाय किसी को दिखाने को होता ही क्या है?"

बेगम बड़बड़ाकर ख़ामोश हो जाती। वह खुद देखती थी कि आसपास के हाउसबोट भी उसी तरह ख़ाली रहते हैं। हाँजियों के हर परिवार में से एक-न-एक आदमी कमाई के लिए बाहर चला गया था, पर उनके घर में तो कोई बाहर जानेवाला भी नहीं था। आए दिन आसपास के किसी-न-किसी डूँगे या हाउसबोट के टूटने, बिकने की ख़बर उन्हें मिलती। क्योंकि कोई भी ख़रीददार नहीं था। इसलिए बहुत-से लोग अपने बोट लकड़ी के दाम बेच रहे थे। पहले सोभाना का बोट टूटा था। उसके बाद लस्सू, सतारा, जफ़ारा कई लोगों ने अपने बोट तुड़वाने शुरू कर दिए थे। पहले अन्दर के सामान का नीलाम उठता। सड़क पर सामान निकलवाकर उसकी बोली लगवाई जाती। फिर आरे और हथौड़े लेकर बोट की खिड़कियाँ-दरवाज़े अलग किए जाने लगते। जिसका बोट टूटता, वह कुछ इस तरह से फ़ारिग नज़र आता जैसे अपने घर के सब लोगों को कब्र में दफ़ना आया हो। हर बोट के साथ एक परिवार भी लगभग टूट जाता। लड़कियों को लोग जिस किसी के पल्ले बाँध देते। लड़के मज़दूरी करने पंजाब या आसपास के रियासती इलाकों की तरफ़ निकल जाते। छोटे बच्चों को वे मिन्नत के साथ दूसरों के घरों में रखवा देते। जिन लोगों के बोट सही-सलामत थे, उनका रुतबा उन दिनों काफ़ी बढ़ गया था। यह मामूली बात नहीं थी कि बिना कमाई के वे अपने लिए दो वक़्त का साग-भात जुटा लेते थे।

उन्हीं दिनों वह लड़का उनके यहाँ आया था...मामदा।

मामदा उनकी रिश्तेदारी में से ही था।...उसके फूफाजाद भाई का छोटा लड़का। उन लोगों ने पहले अपना हाउसबोट तुड़वाया था, फिर अपना डूँगा बेच दिया था। परिवार में मामदा के अलावा उसका बाप, ज़बारा, बड़ा भाई रशीदा और एक छोटी बहन थी। माँ चार साल पहले मर चुकी थी। डूँगा बेचने के बाद बाप और भाई मज़दूरी के लिए बाहर जाना चाहते थे। लड़की छोटी थी...सिर्फ़ दस साल की। उसे उन्होंने एक और रिश्तेदार के यहाँ रख दिया था। मामदा अट्ठारह साल का था। पर उसका एक पैर ज़रा दबता था, इसलिए वे उसे मज़दूरी के लिए साथ नहीं ले जाना चाहते थे। जिस दिन ज़बारा ने उससे पहले-पहल बात की, तो उसने किसी तरह उसे टाल देना चाहा था। उसका ख़याल था कि बेगम इसके लिए राज़ी नहीं होगी। वह

बात करके दोनों तरफ़ से शर्मिन्दा नहीं होना चाहता था। पर ज़बारा बहुत आजिजी के साथ पैर पड़ने लगा तो उसने डरती ज़बान बेगम से बात चलाई। मन में था कि इस तरह मना करने की ज़िम्मेदारी अपने सिर से टालकर वह बेगम के सिर डाल सकेगा। पर बेगम को पहले से ही इस बात का पता था। वह जाने सिद्दीक से या किससे इस बारे में सुन चुकी थी। वह बात कह चुका, तो बेगम ने सिर्फ़ इतना ही पूछा, ''तो वे उसे किस दिन छोड़ने आएँगे?''

''मैंने उनसे अभी हामी नहीं भरी,'' वह अचकचाकर बोला। ''सोचा था तुमसे बात कर लूँ। इस वक़्त एक और आदमी का बोझ सिर पर ले लेना हमारे लिए कहाँ तक मुनासिब होगा?''

''इस तरह सोचोगे, तो अपना पेट भरना भी शायद मुनासिब नहीं लगेगा,'' बेगम ने कुछ चुभते ढंग से कहा। ''जो मुसीबत आज उन पर पड़ी है, वह कल को हम पर भी पड़ सकती है। तुम उनसे कह दो कि जब भी उन्हें जाना हो, लड़के को यहाँ छोड़ जाएँ। जहाँ चार आदमी खानेवाले हैं, वहाँ एक और से कितना फ़र्क पड़ जाएगा!''

और दूसरे रोज़ मामदा अपने फटे हुए ढीले कोट में हँसता हुआ उनके सामने आ खड़ा हुआ था।

अजीब लड़का था वह। बात-बेबात पर हँसता रहता। कुछ भी पूछा जाए तो जवाब बाद में देता, हँसना पहले शुरू कर देता। कई बार तो सिर्फ़ हँसकर रह जाता, बाद में धीरे से कह देता, ''क्या कहा था? मैंने सुना नहीं।''

''सुना नहीं था, तो हँस किस बात पर रहा था?'' उसे डाँटा जाता।

इस पर वह और हँसता। ''सुना नहीं था इसलिए हँस रहा था।''

दिन भर उसे सब तरफ़ से डाँट-फटकार पड़ती। सबसे ज़्यादा सिद्दीक उसे डाँटता। उसका किया कोई भी काम सिद्दीक को पसन्द न आता। मामदा भी जान-बूझकर सिद्दीक को चिढ़ाता रहता था और हरएक का बताया काम ठीक से कर देता। बेगम के पास शिकायत पहुँचती, तो वह पास आकर हाथ झाड़ता हुआ कहता, ''उसने जैसे बताया, वैसे मैंने कर दिया। खुद को तो उसे कुछ आता-जाता नहीं। जो काम ठीक हो जाता है, वह कहता है उसने ठीक बताया था। जो गलत हो जाता, वह कहता है दूसरे ने गलत कर दिया है।''

उस घर में रहकर उस पर अहसान किया गया है, यह बात उसके ज़हन में कहीं नहीं थी। उसका बरताव पहले दिन से ही ऐसा था जैसे वह और सबसे ज़्यादा उस घर की हर चीज़ का हकदार हो। खाने-पीने के मामले में वह न सिर्फ़ बेतकल्लुफ़ी बरतता बल्कि छीना-झपटी तक पर उतर आता। सबसे ज़्यादा छीना-छपटी नूरा से करता। कहता कि जब उसे एक बोटी गोश्त दिया गया है तो नूरा को दो बोटी कैसे दिया जा सकता है? वह उम्र में नूरा से बड़ा है। उससे भी बड़ी बात यह है कि उसे

भूख ज़्यादा लगती है। "मैं तो दिन भर काम करता हूँ," वह कहता। "यह क्या करती है? दिन भर खाती है और शिकारा लेकर घूमती है। मेरे बाप के घर में होती, तो वह दिन भर इससे धान कुटवाता। यहाँ पर तो कोई इससे काम करने को कहता ही नहीं है।"

कभी-कभी उसकी बदतमीज़ी हद से बढ़ जाती। आँख निकालकर वह बेगम के सामने खड़ा हो जाता और कहता कि उसे इस घर में रहकर अपनी हड्डियाँ नहीं दुखानी हैं, उसे उसके बाप और भाई के पास भेज दिया जाए।" बेगम झल्लाकर उसे वहाँ से चले जाने को कहती, तो वह ताव में आकर घाट की सीढ़ियाँ चढ़ जाता और सारा-सारा दिन वहीं आसपास बाँध के चक्कर काटता रहता। रात होने तक खुद ही वापस आकर चूल्हा जलाने लगता। कभी ज़्यादा देर तक लौटकर न आता, तो बेगम जाकर उसे बुला लाती। सिद्दीक को इससे और झुँझलाहट होती। वह कहता, "क्यों जाती हो उसे बुलाने? हरामखोर को पड़ा रहने दो न एक दिन ऊपर सड़क पर। सुबह तक हड्डियाँ पथरा जाएँगी, तो अपने-आप इसके होश ठिकाने आ जाएँगे।"

"ज़्यादा बढ़-चढ़कर बात करने की ज़रूरत नहीं," बेगम सिद्दीक को डाँट देती। "वह मेरे घर में रहता है, तुम्हारे घर में नहीं।"

सिद्दीक इससे उतना कुढ़ता नहीं, जितना अन्दर से दुख जाता। यह एक ऐसी बात थी जो हमेशा उसे कचोट जाती थी। वह बेगम को कितनी बार समझाता था कि उसे सिद्दीक से इस तरह सलूक नहीं करना चाहिए। इसके अलावा सिद्दीक का और घर था ही कौन-सा? इतने सालों से वह अपने सब नाते-रिश्ते भूलकर उनके यहाँ रह रहा था। उसकी जो तनख़्वाह बनती थी, वह भी बेगम के पास जमा रखता था। और जमा भी तो सिर्फ़ कहने की ही बात थी। एक दिन अगर वह अपना हिसाब माँग बैठता, तो बेगम के पास था इतना जो उसे अदा कर सकती? उन दिनों बल्कि वह सरमाया भी, जो नबी का डूँगा और सिद्दीक की ज़मीन बेचकर हाथ में आया था, धीरे-धीरे ख़र्च होता जा रहा था। बेगम बताती कुछ नहीं थी, और न ही वह कभी इस बारे में उससे कुछ पूछता था। पर बेगम के माथे की शिकन से ही उसे पता चल जाता था कि हाथ में पैसे की क्या स्थिति है। ज़रूरत पड़ने पर आसपास के हाँजियों को छोटे-मोटे कर्ज़ भी बेगम ने दिए थे, जिनके लिए यह सोचना भी नामुमकिन था कि उनमें से एक पैसे की भी वसूली उन्हें हो सकेगी।

एक दिन बेगम बहुत परेशान थी, तो उसने कहा, "तुम कहो तो मैं भी कुछ दिनों के लिए मज़दूरी के लिए बाहर चला जाऊँ?"

"तुम जाओगे?" बेगम चिढ़े हुए स्वर में बोली, "इस उम्र में मज़दूरी करोगे? तुम्हारे हाथों में इतनी ताकत भी है कि पाँच सेर बोझ यहाँ से उठाकर वहाँ रख सको?"

''मैं इसलिए कह रहा था कि इस साल की तरह अगला साल भी इसी तरह ख़ाली हो गया तो... ।''

''तो मैं जाकर कहीं मज़दूरी करूँगी, तुम बैठे-बैठे इतना सोच तो लेते हो, पर जिस आदमी के हाथ-पैर ठीक चलते हैं, उसे तो यह बात कभी ध्यान में ही नहीं आती ।''

बात सिद्दीक सुन रहा था। वह हाथ का काम छोड़कर उनके बीच आ खड़ा हुआ। तमतमाए चेहरे से बोला, ''सिद्दीक के हाथ-पैर चलते हैं, तभी तो न इस घर की दो वक़्त की रोटी भी चल जाती है। वह काम न करता, तो देखता कैसे यहाँ सबका गुज़ारा होता है।''

बात ज़्यादा बढ़ गई होती, अगर वह सिद्दीक को अपने साथ बाहर न ले जाता। सिद्दीक बाँध पर आकर भी काफ़ी देर बकझक करता रहा। ''मैं जानता हूँ वह मुझे क्यों यहाँ से भेजना चाहती है। उस हरामी को भेजने की बात उसके दिमाग़ में कभी नहीं आती जो यहाँ दूसरे का खा-खाकर मुटिया रहा है। देखा था उसका चेहरा जब पहले दिन यहाँ आया था? और आज देखो उसे। उसका बाप भी उसे देखे तो पहचानने में धोखा खा जाए। यह बात मैं इस घर में आज से देख रहा हूँ? शुरू से ही यहाँ यही हाल है। कोई-न-कोई यहाँ इन्हें पालने को ज़रूर चाहिए। बस उम्र उसकी अट्ठारह या बीस हो। सिद्दीक का सबसे बड़ा कोढ़ यही है कि उसकी उम्र तीस से ऊपर है। यह कोई नहीं सोचता कि अपनी उम्र के अच्छे साल भी वह यहीं रहकर इनकी चाकरी करता रहा है। कभी उसने इनसे कुछ माँगा नहीं है। जो उसका हक बनता है, वह भी नहीं माँगा! उसने जिस तरह इनकी ख़िदमत की, वह किसी का सगा बेटा भी तो करके दिखाए, इन्हें घर में बेटा चाहिए...बेटा नहीं, जाने कौन इन्हें चाहिए। दूसरा कोई भी वह बेटा हो सकता है, सिद्दीक नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्दीक की उम्र बीस साल की नहीं है। और वह इतना बेग़ैरत भी नहीं है कि शरम- लिहाज़ ताक पर रखकर कुत्ते का सूँघनी सूँघता फिरे। सिद्दीक मुँह से कुछ नहीं कहता, पर कौन-सी बात है जो वह समझता नहीं है?''

वह तब तक ठहराव से बात करता रहा था। पर सिद्दीक की इस बात से उसे लगा जैसे एक मुश्किल चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते वह अपने आख़िरी क़दम पर आ गया हो। ''तुम चाहते क्या हो?'' उसने रुककर कहा। उसे लगा कि उसके घुटने काँप रहे हैं और धड़कन बढ़ गई है।

''मैं क्या चाहता हूँ? चाहने को अब मेरे पास रह ही क्या गया है?''

''तुम छोड़कर जाना चाहते हो, चले जाओ। तुम्हारा जितना पैसा बनता है, उसका हिसाब तुम आज ही कर लो। और ज़्यादा बकझक करने की ज़रूरत नहीं।''

सिद्दीक पल भर फटी-फटी आँखों से उसे देखता रहा। बोला, "तुम मुझसे जाने को कह रहे हो? तुम कह रहे हो यह बात?"

"हाँ, मैं कह रहा हूँ यह बात," वह बोला, "तुम अपना पैसा लो और चले जाओ।"

"तुम दोगे मुझे पैसा? है तुम्हारे पास पैसा?"

"मेरे पास है या नहीं, इससे तुम्हें मतलब? दो दिन में यह डूँगा और हाउसबोट सबकुछ बिक जाएगा। तुम्हें तुम्हारा पैसा मिल जाएगा। उसके बाद तुम जहाँ जाना चाहो, चले जाओ। ये दो दिन भी अगर बाहर रहना चाहो, तो खुशी से रह लो।"

वह वहीं से लौट पड़ा। सिद्दीक कुछ देर अपनी जगह रुका रहा, फिर उसके पीछे-पीछे चला आया। घाट की सीढ़ी के पीछे-पीछे पास आकर उसके सामने खड़ा हो गया।

"अब तुम क्या चाहते हो?" उसने पूछा।

सिद्दीक ने टोपी उतारकर हाथ में ले ली थी। उसकी आँखें गीली थीं। "मैं कुछ नहीं चाहता," वह बोला, "अगर मेरे मुँह से कोई गलत बात निकल गई है, तो उसके लिए तुम मुझे माफ़ कर दो।"

उसने कुछ नहीं कहा। सीढ़ी से उतरकर डूँगे में आ गया। बेगम को उसका चेहरा शायद काफ़ी बदला हुआ लगा क्योंकि उसकी आँखें उसके चेहरे से हटी नहीं। सिद्दीक तब तक उतरकर घाट पर आ गया था।

"वह क्या चाहता है?" बेगम ने अन्दर आकर पूछा।

"परसों तक हमें उसका हिसाब कर देना होगा। मैंने उससे कह दिया है कि वह यह घर छोड़कर चला जाए।"

"उसे जाना है, चला जाए," बेगम बोली, "हिसाब के लिए पैसा जब हाथ में होगा, तब उसे अदा कर दिया जाएगा।"

"मैंने उससे कह दिया है कि परसों तक मैं उसका पूरा पैसा अदा कर दूँगा।"

"तुम्हारे पास हो तो अदा कर देना, मेरे पास उसे देने के लिए पैसा नहीं है।"

वह बिना आँख झपके कुछ देर बेगम के चेहरे के उतार-चढ़ाव को देखता रहा। फिर बोला, "ठीक है। मैं ही अदा कर दूँगा। दो दिन में तुम सब अपने ठिकाने का इन्तज़ाम कर लो। यह डूँगा और हाउर बोट मुझे आजकल में ही किसी के हाथ बेच देने हैं।"

बेगम की साँस तेज़ हो गई थी। नूरा और मामदा हाउसबोट की खिड़कियों से उस तरफ़ देख रहे थे। सिद्दीक हाथ बगलों में दबाए घाट पर सिर झुकाए खड़ा रहा था।

"और इन्हें बेचने के बाद खुद तुम्हें कहाँ रहना है?"

"मुझे जहाँ भी रहना हो, इससे किसी को कोई मतलब नहीं है। मेरी ज़िन्दगी अब खुदा के हाथ में है। मुझे जहाँ भी जाना होगा, चला जाऊँगा।"

"तुम्हें जहाँ जाना है, मुझे मालूम है। हम सबको दर-बदर करके खुद तुम हज करने चले जाओगे। यही न?"

उसकी साँस रुक रही थी। बात उसके मुँह से साफ़ नहीं निकली। सहारे से बैठते हुए किसी तरह उसने कहा, "हाँ, यही। यहाँ जिस दोज़ख में तुम लोगों ने मुझे डाल रखा है, उससे बाहर निकलना ही मेरे लिए हज के बराबर है। मेरे लिए असली हज का दिन वह होगा जिस दिन मेरी साँस निकलेगी। और तुम लोगों के लिए...तुम लोगों के लिए भी वही दिन असली निज़ात का दिन होगा।"

और उस दिन उनके बीच घिर आई चुप्पी अभी टूटी नहीं थी कि उस पार कादिर के हाउसबोट में आग लग गई।

दरिया में खड़े बोट में आग लगना अस्वाभाविक-सी घटना थी। ऐसा उन्होंने कभी सुना भी नहीं था। उस दिन अपनी आँख से न देखा होता, तो शायद वह कभी विश्वास ही न कर पाते। उस वक़्त आधी रात थी। मामदा ने चिल्लाकर उन्हें जगा दिया था। उस दिन क़ासिम भी अपने हाउसबोट में नहीं था। शाम को किसी काम से अनन्तनाग गया था। नज़मा और उसके बच्चे अपने डूँगे में अकेले थे।

पहले कुछ देर वे तय नहीं कर पाए कि आग कादिर के हाउसबोट में लगी है या किसी और हाउसबोट में। सिद्‌दीक कह रहा था कि वह कादिर के साथवाला बोट है। बेगम ने उन दोनों की बात में हिस्सा न लेकर मामदा और नूरा से शिकारा खोलने को कह दिया था। आसपास से और भी कई हाँजी दरिया पार कर रहे थे। आग हाउसबोट की खिड़कियों से उठकर अब छत को लपेट रही थी। जले हुए शहतीर और परदे दरिया में गिरते और गिरकर स्याह हो जाते। कुछ लोग बालटियाँ लेकर हाउसबोट पर पानी उलीच रहे थे।

"बेगम!" शिकारा खुल गया, तो उसने अपने और बेगम के बीच की ख़ामोशी तोड़ने की कोशिश की।

बेगम ने आँखें उठाकर उसकी तरफ़ देखा, पर कहा कुछ नहीं।

"मैं भी साथ चल रहा हूँ," वह बोला।

बेगम ने फिर भी मुँह से कुछ नहीं कहा। चुपचाप शिकारा डूँगे से लगा दिया। उसने शिकारे में पैर रखा, तो पीछे सिद्‌दीक भी उसमें उतर आया।

"पानी में खड़े बोट में आग कैसे लग सकती है! ऐसा आज तक कभी हुआ ही नहीं," उसने चलते शिकारे में जैसे अपने से कहा।

पर अपनी आवाज़ वह खुद भी नहीं सुन सका। नूरा और मामदा चिल्लाकर उस पार के हाँजियों से पूछताछ कर रहे थे। हाउसबोट के पीछे से आग की एक लम्बी लकीर फिसलकर आगे आ रही थी। नूरा शिकारे में लगभग खड़ी होकर जैसे बाहर

को उछलने जा रही थी। "नज़मा! नज़मा!" और मामदा कह रहा था, "वह उन्हीं लोगों का डूँगा है। किनारे से टूटकर पानी में बह रहा है।"

बेगम जल्दी-जल्दी चप्पू चला रही थी और साथ ही बुदबुदा रही थी, "या खुदा! या रसूल!" उसकी आवाज़ काँप रही थी और वह शायद तय नहीं कर पा रही थी कि उसे शिकारा डूँगे की तरफ़ ले जाना चाहिए या हाउसबोट की तरफ़।

आग में काफ़ी नुकसान हुआ था। गनीमत यही थी कि नज़मा और उसके बच्चे सही-सलामत बच गए। आग कैसे लगी, यह बात किसी तरह तय नहीं की जा सकी। अन्दाज़ा था कि उस पार के किसी हाँजी की ही शरारत थी। कादिर और क़ासिम से दुश्मनी रखनेवाले लोगों की वहाँ कमी नहीं थी।

आग लगने के अगले रोज़ नज़मा उनके डूँगे में बेगम की बाँह से सटकर रो रही थी, तो बेगम उससे कह रही थी, "अपनी माँ के जीते-जी तुझे किस चीज़ की फिक्र है? यह घर और डूँगा क्या तेरा अपना नहीं? दस दिन के अन्दर उधर के हाउसबोट और डूँगे की भी मरम्मत हो जाएगी। हज़ार-बारह सौ का ख़र्च ही तो है, वह सब मैं कर दूँगी। कादिर के पास जब होगा, मुझे लौटा देगा। और न भी लौटा सके, तो क्या है? आखिर माँ-बाप अपने बच्चों के लिए ख़र्च करते ही रहते हैं।"

मामदा उस वक़्त भी जाने किस बात पर खिलखिला रहा था। सिद्दीक अपनी लोई में लिपटा ख़ामोश आँखों से उनकी तरफ़ देख रहा था। उसका मन हुआ था कि वह सिद्दीक को अपने साथ सटा ले। कहे कि कुछ देर वह खुलकर रो ले। कब तक इस तरह बैठा बुझी-बुझी आँखों से उन्हें देखता रहेगा?

# परिशिष्ट

# नीली रौशनी की बाँहें...

सागवान के कठघरे के बाहर फिर एक शाम उतर आई थी। कुमार ने घड़ी की तरफ़ देखा और सामने का रजिस्टर बन्द कर दिया। शरीर और मन की थकान इस बात की गवाह थी कि दिन—काम का दिन—पूरा हो चुका था, हालाँकि दिन का काम अभी बहुत बाक़ी था। कोई दिन ऐसा नहीं आता था जिस दिन दिन के सब काम पूरे हो जाएँ। हर आज आनेवाले कल के लिए काम की कुछ-न-कुछ विरासत छोड़ जाता था।

वह कुर्सी से उठा, तो उसे लगा कि रीढ़ की हड्डी रोज़ की तरह कुछ-कुछ ऐंठ गई है। कनपटियाँ और आँखों के पपोटे भी रोज़ की तरह दर्द कर रहे थे। सिर ऐसे हो रहा था जैसे उस पर मोटे काग़ज़ का खोल चढ़ा दिया गया हो। उसने आँखों को झपका कि शायद इस कसरत से उनमें कुछ ताज़गी लौट आए और माथे को हाथ से मल लिया। ये दोनों काम भी रोज़ कुर्सी से उठने पर वह अनायास ही कर डालता था। मगर दिमाग़ की जकड़ इस पर भी ज्यों-की-त्यों बनी रहती थी और वह ज़ंग खायी मशीन-सा केबिन से बाहर निकल आता था।

केबिन से बाहर आकर उसने एक बार फिर घड़ी की तरफ़ देखा। पाँच बजकर पाँच मिनट हुए थे। साढ़े पाँच बजे श्यामा से मिलने की बात थी। रेशम भवन में वह जगह उसने जान-बूझकर चुनी थी। इस ख़याल से कि वहाँ ग्राहक ज़्यादा नहीं आते और भरी शाम में भी कई बार वहाँ एक पूरा कोना ख़ाली मिल जाता है। कई बार उस बड़े से ख़ाली हॉल में उसने बिलकुल अकेले बैठकर भी चाय पी थी। जब भी वह अपने दिमाग़ के जमघट से निकलना चाहता था, तो वहाँ चला जाता था। मगर आज पहला मौक़ा था, जब किसी और को उसने वहाँ बुलाया था—और पहला ही मौक़ा था, जब उस जगह के साथ वह मन में समय की पाबन्दी की बात जोड़ रहा था। आज तक वह जगह समय के घेरे से बाहर थी। आज पहली बार वह उसे उस घेरे में ले आया था।

लिफ़्टमैन ने सलाम किया, मगर उसने जैसे उस आदमी को देखा ही नहीं। चुपचाप उसके पास से गुज़र कर ज़ीने पर आ गया और नीचे उतरने लगा। उसे लग

रहा था जैसे वह कोई बहुत बड़ा बोझ कन्धों पर लेकर चल रहा हो। कन्धों पर नहीं, सिर पर। वज़न उसे सिर पर ही महसूस हो रहा था। कुछ झुँझलाहट भी हो रही थी कि ख़्वाहमख़्वाह वह यह वज़न क्यों महसूस कर रहा है! आखिर श्यामा से ही तो मिलने जा रहा था—उसी लड़की से जिसके साथ कभी उसने लगातार कई-कई घंटे, कई-कई दिन बातें करते हुए काट दिए थे। अब अगर वह बदली भी होगी, तो कितना बदल गई होगी?

एक शब्द उसके दिमाग़ में अटक गया था—लड़की! श्यामा लगभग उसके बराबर की उम्र की थी और वह खुद तीस को छूने जा रहा था। फिर भी वह श्यामा के बारे में सोच रहा था, एक लड़की के रूप में ही। क्या परोक्ष रूप से वह अपने को विश्वास दिलाना चाहता था कि वह खुद भी अभी लड़का ही है—थकी हुई आँखों, जकड़े हुए सिर और ऐंठी हुई रीढ़ की हड्डी के बावजूद?

ज़ीने पर कई लोग आ-जा रहे थे, उसे हैरानी हुई कि ज़ीने पर इतनी भीड़ क्यों है। वह तो ख़ैर अपनी बदहवासी में लिफ़्ट से जाना भूल गया था। एक मंज़िल उतरने के बाद उसे अपनी ग़लती का अहसास हुआ था, मगर वहाँ से लिफ़्ट लेकर वह लिफ़्टमैन की व्यंग्यभरी नज़र का सामना नहीं करना चाहता था। एक मंज़िल वह उतर ही आया था, बस चार मंज़िल और उतरना था, मगर और इतने लोगों को क्या हुआ था कि वे ज़ीने के रास्ते से नीचे और ऊपर को जा रहे थे? और पाँच बज चुकने पर भी ऊपर को किस लिए? क्या हर-एक की ज़िन्दगी में कोई-न-कोई घटना हो रही थी, जिसने उन्हें बदहवास कर रखा था?

दूसरी मंज़िल पर कैंटीन के बाहर उसे कुछ परिचित चेहरे दिखाई दे गए। उसकी स्टेनो रूबी और लोकतन्त्र परिषद का मन्त्री नीलकान्त पटेल। घंटा भर पहले नीलकान्त उसके केबिन में उसे अपनी पार्टी का प्रोग्राम समझा रहा था। हर दूसरे या तीसरे दिन नीलकान्त घंटे दो घंटे उसके पास आकर बैठा रहता था और कुछ बेमतलब की बातें बहुत गम्भीर भाव से करता रहता था। मगर वास्तव में क्या वह इसी इरादे से नहीं आता था कि पाँच बजने पर रूबी को कैंटीन में ले जाकर उसके साथ चाय पी सके? वरना उसके केबिन में चाय पीने से वह हमेशा इन्कार क्यों कर देता था? भाई ने एक लड़की के साथ चाय पीने के लिए जगह भी चुनी, तो ऑफ़िस की कैंटीन! इसलिए कि कैंटीन में चाय की प्याली सिर्फ़ दो आने में मिल जाती है?

मगर हो सकता है कि मेज़बान रूबी हो और यह जगह उसी की चुनी हो!

या हो सकता है कि बात चाय पिलाने की न होकर पार्टी का प्रोग्राम समझाने की हो!

नीलकान्त ने कुमार को देखा, तो मुस्करा कर उसकी तरफ़ बढ़ आया।

"पैदल नीचे आ रहे हो, ख़ैर तो है?" नील बात करता था, तो उसकी आँखें रहस्यमय ढंग से मुस्कराने लगती थीं। बीच-बीच में किसी रहस्यमय कारण से वह अपने गीले होंठों पर ज़बान फेर लेता था।

"कुर्सी पर बैठे-बैठे टाँगें अकड़ गई थीं," कुमार खिसियाते स्वर में बोला। "सोचा शायद चलकर उतरने से इनमें कुछ जान आ जाए।"

"आँखें तुम्हारी भारी लग रही हैं। रात ठीक से सोये नहीं?"

"आँखें तो पहले भी ऐसी ही लग रही होंगी—जब तुम वहाँ मेरे पास बैठे थे।"

नीलकान्त की मुस्कराती हुई आँखें और मुस्कराने लगीं—यहाँ तक कि उसके होंठ भी मुस्कराहट से फैल गए। "तुम्हारे केबिन की रौशनी में हल्की और भारी आँखों का कुछ अन्दाज़ा नहीं होता," उसने कहा। "वहाँ तो चेहरे के सब उतार-चढ़ाव भी एक-से लगते हैं।"

कुमार ने सूखे गले से हँस दिया। उसे लगा कि वह कोशिश करके हँसा है और उसका खिसियानापन और बढ़ गया। उसने अपनी हँसी को खाँसी में बदल दिया।

"लगता है तुम्हारी तबीयत ठीक नही है," नीलकान्त ने चलते ढंग से कहा, जैसे कह रहा हो कि चाय की प्याली में चीनी ठीक नहीं है।

"तबीयत ठीक या ख़राब, हमेशा एक-सी रहती है।"

"तो कुछ दवाई-आई लो न!"

कुमार को सचमुच हँसी आने को हुई, मगर उसने होंठों को सिकोड़ लिया। "अच्छा!" कहकर दो अँगुलियों से उसने नील की अँगुलियों को छुआ और चल दिया। चलते-चलते उसने देखा कि रूबी उतनी देर उसे न देखने का स्वांग करती रही है—ज़ीने और कैंटीन के बीच की दीवार में आँखों से न जाने क्या टोहती हुई। वह लड़की नोटबुक लिए हुए जब डिक्टेशन लेने के लिए उसके सामने बैठती थी, तो उसका चेहरा बिल्कुल निर्विकार, मोम का बना-सा लगा करता था। परन्तु उस समय दूर और ख़ामोश होते हुए भी वह उतनी निर्विकार और उस तरह मोम की बनी नहीं लग रही थी...।

ज़ीने के मोड़ पर उसे कुछ महीन शब्द सुनाई दिए। सहसा एटिकेट का ध्यान आ जाने से शायद रूबी ने पीछे से उसे विश किया था। वह जवाब देने के लिए नहीं रुका और न उसने पीछे मुड़कर देखा ही। ज़ाहिर किया जैसे उसने सुना ही न हो। पाँच बजकर दस मिनट हो गए थे। बीस मिनट में उसे श्यामा के पास पहुँच जाना था! क्या श्यामा आज वक़्त पर पहुँच जाएगी?

टेलीफ़ोन पर श्यामा की आवाज़ उसे कुछ और-सी लगी थी। तीन-चार साल में इनसान की आवाज़ इतनी कैसे बदल सकती है! चोंगा उठाने पर जब श्यामा ने अपना

नाम बताया, तो दिमाग़ में यह ख़याल तक नहीं आया था कि वही श्यामा है। इसीलिए उसने वह बेहूदा सवाल पूछ लिया था, जो कभी नहीं पूछना चाहिए, ''कौन, श्यामा?'' पल भर उस तरफ़ ख़ामोशी रही और उसे शक हुआ था कि ग़लत नम्बर मिल जाने से उधर से रिसीवर रख दिया गया है। वह अपना रिसीवर रखने ही जा रहा था कि श्यामा की आवाज़ सुनाई दी थी, ''क्या इस बीच इतने बदल गए हो कि आवाज़ भी नहीं पहचान पाते?''

इस बार भी आवाज़ नहीं, आवाज़ की लय ही उसने पहचानी थी। ''तो तुम हो? यहाँ? बम्बई में? यह अनहोनी बात कैसे?''

उसे मालूम था कि वह अपनी सकपकाहट को दबाने के लिए ही इतनी बातें पूछ रहा है।

''तुमने सोचा था कि मैं सदा के लिए मिट चुकी हूँगी?''

''नहीं नहीं। मगर तुम्हारा अचानक बम्बई आ पहुँचना...।''

''तुम्हें अचरज हो रहा है न? मगर इससे पहले तो इससे बड़ी-बड़ी बातों पर तुम्हें अचरज नहीं होता था।''

वह नहीं चाहता था कि टेलीफ़ोन पर बातचीत को और बढ़ाया जाए। श्यामा को वह कैसे बता सकता था कि उसके सामने लोकतन्त्र परिषद का सेक्रेटरी सशरीर बैठा है और वह टेलीफ़ोन की बातचीत को भी लोकतन्त्र का ही विषय समझता है। नील की भौंहों में जो जिज्ञासा काँप रही थी, उसका उत्तर देने से वह बचा रहना चाहता था।

''ख़ैर, ये सब बातें तो मिलने पर होंगी,'' उसने कहा था। ''इस समय मैं ज़रा...।''

यह बात कहने का अभ्यास इतना बढ़ गया है, इस पर उसे स्वयं आश्चर्य हुआ था। ''बिज़ी हूँ,'' श्यामा उधर से बोली थी। ''यही कहना चाहते थे न? मुझे लगता है कि इस शहर में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो हर समय किसी-न-किसी रूप में बिज़ी न हो—सिवाय एक मेरे। और अब तो अपने बारे में भी मुझे सन्देह होने लगा है।''

रेशम भंवन में साढ़े पाँच बजे मिलने का सुझाव उसने कुछ जल्दबाज़ी में दिया था—नील की तेज़ आँखों से आँखें बचाते हुए। उसके बाद चोंगा रखकर वह सीधा लोकतन्त्र परिषद के कार्यक्रम पर लौट आया था—जैसे कि टेलीफ़ोन की बातचीत उस महत्वपूर्ण प्रसंग में एक अनावश्यक बाधा रही हो।

ड्योढ़ी पार करके कुमार सड़क पर आया, तो उसे क्षण भर के लिए ऐसा लगा कि जैसे वह सहसा किसी अपरिचित जगह पर पहुँच गया हो।

शाम शाम होती है और उसका अपना एक रंग, एक व्यक्तित्व होता है, यह बात पिछले तीन साल से धीरे-धीरे भूलती जा रही थी। अनुभव के सीमान्त पर समय के केवल दो नाम रह गए थे—दिन और रात। और दो ही रूप—दफ़्तर के ट्यूब की रौशनी और सड़क के हंडों की रौशनी। सुर्खी-मायल बादल के टुकड़े का सड़कों पर फैला हुआ रंग...एक जंगली युवती के अस्तव्यस्त शरीर-सा—यह एक नया-सा अनुभव था, जिसने उसे थोड़ा चौंका दिया। उसे इस क्षण के लिए लगा, जैसे वह शाम उस दिन की शाम न होकर बरसों पहले की वह शाम हो, जब वह शिमला से पैदल उतरता हुआ तत्तापानी आया था और पक्की सड़क पर आकर कुछ क़दम चलते ही...। तत्तापानी से तीन-एक मील, पहले, पगडंडी का मोड़ मुड़ते हुए वह आकाश का कुछ ऐसा ही रंग देखकर ठिठक गया था। क्या वह रंग इतने दिनों से समय के गर्भ में उसी तरह सुरक्षित था, या यह केवल स्मृति का ही छल था जिसने आज उस रंग को बम्बई के फुटपाथ पर बिखरा दिया था?

दफ़्तरों से छुट्टी करके जाते हुए लोगों की एक लम्बी पंक्ति चर्चगेट स्टेशन की तरफ़ जा रही थी। कुमार काफ़ी धीमी चाल से चल रहा था। अब बस, उसे दो जगह सड़क पार करनी थी और सौ-डेढ़ सौ गज़ चलकर रेशम भवन पहुँच जाना था। इस अन्तराल में वह अपने को तैयार कर लेना चाहता था—उस भेंट के लिए, जो चार साल पहले होती, तो उसके क़दम बहुत उत्सुकता से उस दिशा में बढ़ रहे होते। लेकिन आज उसके क़दमों में एक अनिश्चित-सा भारीपन था—वह नहीं सोच पा रहा था कि इस समय श्यामा के सामने पहुँचकर वह कैसा महसूस करेगा, जिस मुस्कराहट के साथ उसकी तरफ़ देखेगा, वह क्या प्रयत्न से लाई हुई मुस्कराहट न होगी?

श्यामा भी तो इस बीच बहुत बदल गई होगी! कैसी लगती होगी अब?

लोगों की भीड़ को फुटपाथ पर छोड़कर सड़क के बीचोंबीच ही पहुँचा था। परले सिरे पर पहुँचने के पहले एक बस की चपेट से बचने के लिए उसे दौड़ना पड़ा। दौड़ता नहीं, तो क्षणभर में मैरीना एक्सप्रेस के नीचे होता। सामने के फुटपाथ पर पहुँच उसने इतमीनान की साँस ली। सामने से लाल बत्ती घूर रही थी—डोंट क्रास। कितनी ही बार दो-तिहाई सड़क पार कर चुकने पर उसका ध्यान इस तरफ़ जाता था। वह अपने को इसके लिए कोसता था और बहुत बार सड़क का एक-तिहाई भाग उसे इसी तरह दौड़कर पार करना पड़ता था। हर बार वह ज़िन्दगी भर के लिए फ़ैसला करता था कि अब ऐसा मौक़ा नहीं आने देगा, मगर पूरे अड़तालीस घंटे भी नहीं गुज़र पाते थे कि वह फिर अपने को दो-तिहाई और एक-तिहाई के बीच तेज़ ट्रेफ़िक में घिरे हुए पाता था और दौड़कर बचने तथा ज़िन्दगी भर के लिए फिर से फ़ैसला करने की प्रक्रिया नए सिरे से दोहराई जाती थी।

मगर आज लाल बत्ती के पास पहुँचकर यह फ़ैसला नहीं किया गया। सोचा कि दुर्घटना होनी ही है, तो हो जाए एक दिन। वह कब तक अपने को इससे बचा सकता है?

उसके क़दमों की स्वाभाविक चाल अभी वापस नहीं आ पाई थी कि एक सफ़ेद वर्दीवाले सिपाही ने पीछे से आकर उसे घेर लिया। "कान से सुना नहीं है क्या?"

कुमार समझ नहीं सका कि सवाल सुनने-न-सुनने का कैसे है!

"क्यों, क्या बात है?"

"हमने आवाज़ लगाया, तुमने सुना नहीं?"

कुमार ने कन्धे हिला दिए। "नहीं तो।"

सिपाही ज़ेब से पर्चा निकालने लगा। "तो हम तुम को अभी कान के वास्ते दवाई देता है।"

"देखो दोस्त, बात यह है...।"

"बात हमको मालूम है। तुम लोग सड़क पर अपने घर का कानून लेकर चलता है। सरकार के घर का कानून तुमको बताना माँगता है।"

कुमार पलभर परेशान-सा चुप खड़ा रहा। उसे गुस्सा आ रहा था कि सरकार के घर का कानून उसे आज ही क्यों बताया जा रहा है। क्या उसके लिए आज से एक दिन पहले या एक दिन बाद का वक़्त मुकर्रर नहीं किया जा सकता था?

उसने इरोज़ की घड़ी की तरफ़ देखा। साढ़े पाँच में कुल पाँच मिनट बाक़ी थे। क्या इतनी देर में सरकार के घर का पूरा कानून उसे बताया जा सकेगा?

"देखो बात यह है...," वह कहने लगा।

"हमने बोला बात हमको सब मालूम है। तुम पहले अपना नाम बताओ।"

"जब सब बात तुम को मालूम है, तो नाम भी मालूम होना चाहिए।"

सिपाही की आँखों में गुस्सा उतरने को हुआ मगर कुमार को मुस्कराते देखकर वह भी मुस्करा उठा, "इस बार हम तुमको छोड़ देता है," वह बोला, "आगे से कब्भी इस तरह सड़क पार नहीं करना? हाँ!"

"नहीं, कभी नहीं। आगे से मैं कभी सड़क पार करूँगा ही नहीं। करूँगा तो पहले तुमसे पूछ लूँगा। और तुम नहीं मिलोगे, तो थाने में टेलीफ़ोन कर लूँगा।"

उसने हाथ हिलाया और जल्दी से आगे चल दिया। सिपाही कहता रहा, "सड़क पर आँख खोलकर चलना माँगता है। सरकार ने इधर हम लोग का ड्यूटी किस वास्ते लगाया है? पब्लिक के वास्ते और पब्लिक ऐसा है कि...!"

कुमार जल्दी-जल्दी चलकर चर्चगेट के पास की ज़मींदोज़ सुरंग में उतर गया। सीढ़ियाँ उतरना, छोटी-सी सुरंग पार करना और ऊपर जाना, इसमें उसे एक-डेढ़ मिनट से ज़्यादा नहीं लगा। रोज़ ही चर्चगेट स्टेशन तक आने के लिए उसे सुरंग को

पार करना होता था। और तब उस सुरंग के अस्तित्व का आभास तक न होता था। मगर आज सुरंग में से होकर आने-जाने में उसे लगा कि वह आज का वातावरण पीछे छोड़कर सुरंग के रास्ते अपने अतीत के वातावरण में चला आया है—सुरंग के एक तरफ़ वह दुनिया है, जिसमें वह जीता है और दूसरी तरफ़ वह जिसमें कभी वह जीना चाहता था, रोम-रोम की कामना से जिनकी तरफ़ उसने कभी हाथ बढ़ाया था, मगर...।

सुरंग से निकलते ही उसने मुड़कर इस तरह चर्चगेट स्टेशन की तरफ़ देखा, जैसे वहाँ किसी ऐसी गाड़ी का इन्तज़ार करने आया हो जिसके समय का उसे पता न हो और वह एक बार देख लेना चाहता हो कि उसके अनजाने में गाड़ी स्टेशन पर पहुँच तो नहीं गई...।

स्टेशन पर उस समय दो गाड़ियाँ खड़ी थीं। एक डबल फ़ास्ट गाड़ी छूटने ही वाली थी। लोग बेतहाशा गाड़ी की तरफ़ दौड़ रहे थे जबकि गाड़ी, जैसे उन्हें हताश करने के लिए ही धीरे-धीरे आगे की तरफ़ सरकने लगी थी...।

पाँच बजकर उनतीस मिनट हो रहे थे। बादल का लाल रंग सड़कों से मिट गया था और एक घना काला साया उसका स्थान ले रहा था...।

उसने जल्दी-जल्दी आगे की सड़क पार की और रेशम भवन वाले फुटपाथ पर पहुँच गया। माथे पर पसीने की बूँदें झलक आई थीं। हाथों की अँगुलियों में कोई चीज़ सरसरा रही थी। क्या वह किसी बीते हुए स्पर्श की चेतना थी? यह चेतना क्या कई बरस गुज़र जाने पर भी बनी रही थी? उसने दोनों हाथों को मल लिया। स्पर्श की चेतना इससे दूर नहीं हुई, पूरे शरीर में व्याप्त हो गई। उसकी पलकें कई बार काँप गईं और होंठों के गीले भाग और गीले हो गए...।

डोरमैन ने दरवाज़ा खोल दिया, तो अन्दर के ठंडक भरे स्पर्श से सिहरकर एक बार उसने चारों तरफ़ नज़र दौड़ाकर देख लिया। तीन चौथाई मेज़ें रुकी हुई थीं—दफ़्तरों से उठकर आए हुए अकेले आदमी, अकेली औरतें अपने सामने के काग़ज़ों में खोया हुआ एक विद्यार्थी, दो एक दम्पति और मेज़ पर कुहनियाँ टिकाकर हाथों के हावभाव से एक युवती को कुछ समझाता हुआ एक अधेड़ व्यक्ति! उस भीड़ में कोई मेज़ ऐसी नहीं थी, जिसके पास बैठकर एक अकेली लड़की (?) कुछ सोच रही हो, या किसी पत्रिका के पन्ने पलटती हुई बार-बार घड़ी की तरफ़ देख रही हो। उसे झुँझलाहट हुई कि श्यामा उससे पहले वहाँ क्यों नहीं पहुँच गई? क्या जीवन में एक अवसर भी ऐसा नहीं आना था, जब उसे श्यामा का इन्तज़ार न करना पड़ा हो, श्यामा उसका इन्तज़ार करे? जब शिकायत उसकी तरफ़ से न होकर श्यामा की तरफ़ से हो। जब मुस्कराते हुए खेद श्यामा प्रकट न करे, वह करे।

उसने बैठने के लिए ऐसी जगह चुनी, जो ठीक दरवाज़े के सामने पड़ती थी। बैठकर उसे अफ़सोस हुआ, क्योंकि इससे तो लगता था कि वह श्यामा से मिलने के

लिए बहुत उत्सुक है और नहीं चाहता कि अन्दर दाखिल होने पर श्यामा को उसे ढूढ़ने में एक क्षण की भी देर लगे। उसने आसपास देखा कि कोई दूर की सीट ख़ाली हो तो उठकर वहाँ चला जाए। मगर तब तक वेटर उसके पास पहुँच गया और उसे अपना विचार बदल देना पड़ा।

"कोल्ड टी सर?"

उसने सर हिलाया। "ठहरो अभी और लोग आ रहे हैं।" और उसने घड़ी की तरफ़ देख लिया। पाँच पैंतीस। श्यामा न आई, तो वेटर क्या सोचेगा?

"अभी, अभी एक चाय ले आओ," उसने पल भर के अनिश्चय के बाद कहा, "ख़ूब गर्म। नीलगिरि।"

वेटर चला गया, तो उसने मुँह बिचकाया और जैसे आसपास के लोगों की नज़र से बचने के लिए ज़ेब से एक पुरानी चिट्ठी निकाल कर पढ़ने लगा। चिट्ठी जाने कब आई थी। और क्यों ज़ेब में पड़ी रह गई थी। एक मुचड़ा हुआ काग़ज़ था, जो जब-तब हाथ डालने पर ज़ेब से निकल आता था। अपने जाने उनसे कितनी ही बार उसे निकालकर रख दिया था, मगर वह काग़ज़ ज्यों का त्यों, उतना ही मुचड़ा हुआ, फिर ज़ेब में पड़ा मिल जाता था। एकाध बार उसने उसे फेंक भी देना चाहा था, मगर फेंक नहीं सका था, क्योंकि फेंकते हुए लगा था कि वह काग़ज़ को नहीं, एक व्यक्ति को ज़ेब से निकालकर फेंक रहा है। ठीक है कि वह व्यक्ति उसके लिए विशेष परिचित नहीं था और उसने जो बात लिखी थी, उसका भी कुछ ख़ास सिर-पैर नहीं था, फिर भी...। उस पत्र को न तो उसने पहली बार ध्यान से पढ़ा था और न ही अब पढ़ रहा था। मगर ज़ेब से उस पंत्र के निकल आने से उसे एक सहारा ज़रूर मिल गया था। श्यामा अगर पाँच-दस मिनट न भी आए, तो उस पत्र को पढ़ने के बहाने उतना समय निकल सकता था। 'प्रिय भाई, यह पत्र पाकर शायद आप सोचेंगे कि...'

चाय आ गई। लगा कि बेयरा जानबूझकर जल्दी ले आया है। इससे जो खीझ उठी, उसे छिपाने के लिए उसने पत्र को हटा लिया और प्याली में चाय बनाने लगा।

अचानक सामने का दरवाज़ा खुला और एक साथ कई लोग अन्दर चले आए। उसे आश्चर्य हुआ। फिर दरवाज़ा खुला और एक पंक्ति में लगातार कितने ही लोग अन्दर आ गए। उसने सोचा कि शायद कोई बड़ी पार्टी होगी। मगर सब लोग छितराकर अलग-अलग जगह बैठने लगे और दो आदमी बिना पूछे उसके सामने आ बैठे, तो उनके भीगे हुए सिरों को देखकर ही सही कारण का अनुमान लगा सका।

"इस साल मानसून जल्दी उतर आई है, नहीं?" सामने उधर बैठे व्यक्तियों में से एक उसकी तरफ़ मित्रता का हाथ बढ़ा रहा था। वह उस मित्रता को स्वीकार करने की मनःस्थिति में नहीं था, इसलिए उसने झट से आँखें दूसरी तरफ़ हटा लीं, जैसे

वह बात उससे न कही जाकर किसी और से कही गई हो। आसपास जितने नए लोग आए थे, उन सबको भी वह एक बार अच्छी तरह से देख लेना चाहता था। सम्भव था कि श्यामा भी भीड़ के रेले में अन्दर आई हो और उसे न देख पाने के कारण कहीं एक तरफ़ बैठ गई हो। मगर जितने भी लोग थे, वे दो-दो, तीन-तीन करके एक-दूसरे के साथ ही आए थे और वह परिचित आकृति उनमें कहीं नहीं थी। जगह न मिलने से जो लोग दरवाज़े के पास खड़े थे, उनमें भी वह नहीं थी। तो क्या समय देकर भी वह आना भूल गई थी, या...?

दरवाज़े के बाहर जो आकृतियाँ हिलती नज़र आ रही थीं—अस्पष्ट और उलझी हुई, वह उन्हें भी पहचानने की चेष्टा करने लगा। क्या यह सम्भव था कि वे दोनों इस अरसे में इतना बदल गए हों कि एक-दूसरे को पहचान ही न सकें? उसे जानने वाले कई लोगों ने कहा भी तो था कि वह पिछले चार-पाँच साल में पहले से काफ़ी और-सा नज़र आने लगा है। हो सकता है कि श्यामा भी इसी बीच काफ़ी बदल गई हो। यहाँ इस भीड़ में पास-पास बैठे हुए भी एक-दूसरे को पहचान न पा रहे हों। मगर क्या सचमुच ऐसा हो सकता है?

एक के बाद दूसरी प्याली बनाकर वह उसे भी जल्दी से पी गया। निश्चित था कि श्यामा नहीं आई थी। वह कितना भी बदल गई हो, उसे पहचानने में वह भूल नहीं कर सकता था। समय के साथ इनसान का चेहरा बदलता है, शरीर की रेखाओं में अन्तर आ जाता है, मगर उसकी आँखें तो कहीं नहीं बदल जातीं? श्यामा की पहचान के लिए क्या उसकी आँखें ही काफ़ी नहीं? वैसी आँखें उससे पहले या उसके बाद उसने कब देखी हैं?

तीसरी प्याली बनाने के लिए उसने चायदानी उठाई, मगर यह देखकर उसमें और पानी नहीं है, उसे रख दिया। दरवाज़े के बाहर जो आकृतियाँ हिलती नज़र आ रही थीं, उनके बारे में उसकी उत्सुकता अब पहले से कहीं बढ़ गई थी। वेटर ने बिल लाकर सामने रख दिया, तो बिना यह सोचे कि बारिश में वह बाहर कहाँ जायेगा, उसने बिल अदा कर दिया और वहाँ से उठ खड़ा हुआ। उठते हुए उसने देखा कि घड़ी में अभी सिर्फ़ छः बजे हैं। क्या उसे कुछ देर और वहाँ बैठकर इन्तज़ार नहीं करना चाहिए था? यह पहला अवसर था जब वह ठीक से आधा घंटा भी इन्तज़ार नहीं कर सका था। पहले दिनों में कितनी ही बार उसने दो-दो घंटे श्यामा का इन्तज़ार नहीं किया था? और हर बार श्यामा के बताने पर कि देर से आने में उसका कसूर नहीं था, वह मान भी कितनी आसानी से गया था! और आज...?

आसपास की भीड़ पर एक सरसरी नज़र डालता हुआ वह दरवाज़े से बाहर निकल आया, देखा काफ़ी तेज़ बारिश हो रही है। रेशम भवन के पोर्च के नीचे अच्छी-ख़ासी भीड़ जमा हो गई थी। मौसम की पहली बारिश ने लोगों को अचानक

घेर लिया था और बरसातियाँ, छाते पास में न रहने से जिसे जहाँ जगह नज़र आई थी, वह भागकर वहीं पहुँच गया था। हवा की नमी और भीड़ की गरमी को एक साथ महसूस करता हुआ वह एकदम पोर्च के कोने पर पहुँच गया। वहाँ जहाँ वह अपने को अलग और अकेला महसूस कर रहा था। अभी और लोग सड़क से भागते हुए आ रहे थे और जगह न रहने पर भी न जाने कैसे उस भीड़ में समाते जा रहे थे। उसने एक बार उस भीड़ में भी श्यामा को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। एक-दूसरी से सटी हुई पचासेक आकृतियाँ थीं, मगर निःसन्देह श्यामा उनमें नहीं थी। उसका मन सहसा उस भीड़ से, श्यामा से और यहाँ तक कि अपने से भी उचाट होने लगा। वह चाहने लगा कि अभी, इसी क्षण निकलकर सड़क पर पहुँच जाए और भीगता हुआ चुपचाप किसी भी तरफ़ को चल दे। घंटों इसी तरह चलता रहे और आख़िर...।

मगर वह बरामदे से उतरा नहीं, वहीं खड़ा रहा। सामने की सड़क बारिश से धुलकर पारदर्शक हो गई थी—आती-जाती गाड़ियाँ ज़मीन के ऊपर-नीचे दोनों तरफ़ चलती नज़र आती थीं। सिगनल न मिलने पर गाड़ियों की एक लम्बी पंक्ति सामने रुकने लगती थी और सिगनल मिलते ही बिखर जाती थी। तेज़ी से आती हुई गाड़ियाँ एक झटके के साथ रुकती थीं और फिर धीरे-धीरे सरकती हुई रफ़्तार पकड़ने लगती थीं।

अपने अन्दर उसे लग रहा था कि वह भी किसी सिगनल की प्रतीक्षा में ही रूका हुआ है और बेसब्री से देख रहा था कि कब सिगनल मिले और वह वहाँ से चले...।

सहसा एक झटके के साथ वह सड़क पर आ गया और एक आती हुई टैक्सी के सामने उसने हाथ कर दिया। टैक्सी रुकी तो उसमें बैठे हुए उसने कुछ निराशा के साथ देखा कि चर्चगेट की घड़ी में अभी कुल छः बजकर बीस मिनट ही हुए हैं।

क्या अब भी श्यामा के आने की उम्मीद की जा सकती थी?

कस्बाती शहर में नई बस्ती का वह घर बस्ती के सिरे पर बना था। एक तरफ़ एक ही तरह के बने हुए पीले-पीले मकानों की कतारें थीं और दूसरी तरफ़ ऊँची-नीची ज़मीन, जहाँ नए घर बन रहे थे। सड़क के मोड़ से श्यामा खुद ही उस तरफ़ को मुड़ गई, हालांकि मकानों के बीच से होकर वे लोग वॉटर-वर्क्स के टैंक की तरफ़ जा सकते थे, जहाँ शाम को बहुत से लोग घूमने के लिए आते थे और बारिश से बचाव के लिए जहाँ एक बड़ा-सा शेड भी बना था। नई मकानियत की कच्ची मिट्टी और बिखरी हुई ईंटों के बीच से होकर जब वे लोग बस्ती की सीमा के कँटीले तारों के पास पहुँचे, तो कुमार ने रुककर उसकी तरफ़ देखा और कहा, "मेरा ख़याल है, यहाँ से आगे जाने के लिए रास्ता नहीं है।"

''रास्ता न हो तो बनाया भी नहीं जा सकता?'' श्यामा फिर उन्मुक्त भाव से हँस दी। घर से बाहर आते ही उसे छोटा करके वह जैसे उससे बड़ी हो गई थी, ''देखिए, वहाँ तार कुछ नीचे हैं, वहाँ से हम लाँघ सकते हैं।''

''लाँघ तो सकते हैं'' कुमार फिर भी हिचकिचाया, ''मगर डर भी लगता है कि कही... ।''

''तारों में हाथ-पैर उलझ न जाएँ? देखिए, मेरे लिए तो आप डरें नहीं! अपने लिए डर रहे हों तो दूसरी बात है।''

कुमार को लगा कि वह कुछ ज़्यादा ही बड़ी बनने की कोशिश कर रही है। वह चुपचाप बढ़ा और कूदकर तारों को पार कर गया। उधर से हाथ बढ़ाकर उसने कहा, ''अब आप भी आ जाइए।''

श्यामा ने हाथ नहीं पकड़ा तो कुमार नें झेंप के साथ उसे हटा लिया। श्यामा इस कोशिश में थी कि साड़ी को सँभालकर तारों को ऊपर से पार कर ले, मगर पैर ऊपर उठाते ही वह संकोच के साथ पीछे हट गई। घुटने से थोड़ा ऊपर तक उसकी टाँग साड़ी से बाहर उघड़ आई थी।

कुमार उसके प्रयत्न पर हँसने जा रहा था, मगर उसकी हँसी गले में ही अटक कर रह गई। उसे महसूस हुआ कि अचानक उसके कान गर्म हो उठे हैं और कनपटियाँ आवाज़ करने लगी हैं। श्यामा की आँखों में एक शिकायत नज़र आ रही थी। यह शिकायत उसे दोनों से थी। कुमार को अपनी ग़लती का अहसास हुआ तो उसके कान और भी सुर्ख़ हो उठे। वह मुँह मोड़कर इस तरह चुपचाप पगडंडी पर चलने लगा जैसे अकेला ही बाहर आया हो। अपने व्यावहारिक ज्ञान की कमी से उसे झुँझलाहट हो रही थी और साथ ही मन में कुछ आशंकित भी था कि श्यामा ठीक से तारों को पार न कर सकी, उसकी साड़ी कहीं ज़रा भी उलझ गई तो...! यह सोचने-सोचने में उसने परिणाम की कल्पना भी कर ली। उसे लगने लगा कि अब काफ़ी देर हो गई है और श्यामा अगर तारों में उलझी न होती तो अब तक उसे पीछे से आकर उसके बराबर पहुँच जाना चाहिए था। मगर फिर भी वह रुका नहीं, न ही उसने पीछे मुड़कर देखा ही। वह रुका जब श्यामा ने ही खुद पीछे से उसे आवाज़ दी, ''सुनिए!''

यह आवाज़ श्यामा की रोज़मर्रा की आवाज़ से काफ़ी अलग और बारीक़ थी। मुड़कर देखा तो पता चला कि श्यामा तारों को पार तो कर आई है, मगर इस तरफ़ आकर ज़मीन पर बैठी न जाने क्या ढूँढ़ने की या ठीक करने की कोशिश कर रही है।

''पहुँच गईं आप इस तरफ़?'' कहता हुआ वह लौट पड़ा।

''मैं समझती हूँ कि अब हमें लौट ही चलना चाहिए,'' श्यामा ने उसी तरह बैठे-बैठे कहा।

"क्यों? कहीं चोट-ओट आ गई क्या?"

"नहीं, चोट तो नहीं आई, मगर...?"

"पैर छिल गया है?"

"नहीं, पैर भी नहीं छिला। साड़ी नीचे से फट गई है।"

वह उठ खड़ी हुई। साड़ी बार्डर के पास से फटी थी और फटे हुए हिस्से में उसने हल्की-सी गाँठ दे ली थी।

"मैंने आपसे कहा था न कि..."

"यही सोच रही थी कि बड़ों की बात न मानने का यही फल होता है। बताइए, आप मुझसे बड़े हैं न?"

"कह नहीं सकता। महीने भर में मैं तीस का हो जाऊँगा।"

"बस? चार महीने में तो मैं भी तीस की हो जाऊँगी। इसका मतलब है, आप मुझसे ज़रा भी बड़े नहीं हैं।"

"छोटे-बड़े बरसों के हिसाब से तो होते नहीं!" वह हँसा।

"तब तो एक लिहाज़ से मैं ही आप से बड़ी हूँ।" वह भी हँसी, मगर उसकी हँसी पहले की तरह स्वाभाविक नहीं थी।

"किस लिहाज़ से?" कुमार को लग रहा था कि जिस से वह बात कर रहा है, वह रोज़ उसके पास आने वाली श्यामा नहीं, कोई और लड़की है, जो उससे बड़ी चाहे न हो, मगर छोटी भी नहीं है।

"चौदह-पन्द्रह साल की उम्र से लड़कियाँ लड़कों से कहीं तेज़ी से बड़ी होने लगती हैं और फिर उम्र भर उन्हें अपने बराबर नहीं आने देतीं।" श्यामा अब हँसी तो उसकी हँसी स्वाभाविक नहीं थी। मगर फिर वह सहसा गम्भीर होकर बोली, "देखिए, कैसी बचकाना बात कह रही हूँ। आपसे पढ़ती हूँ, आपकी बराबरी मैं ज़िन्दगी भर नहीं कर सकती हूँ?"

वे लोग कच्चे रास्ते पर कुछ क़दम चल आए थे। लौट चलने की बात शायद श्यामा के दिमाग़ से निकल गई थी। कुमार ने जान-बूझकर उस प्रकरण को नहीं उठाया।

"मैं दो-एक बार पहले भी इधर आ चुकी हूँ, अकेली।" श्यामा ने चलते हुए कहा। "जीजा जी के घर की तरफ़ से आएँ तो ये तार रास्ते में नहीं पड़ते। थोड़ी दूर आगे एक कुआँ है। वहां एक दिन मुझे भुनी हुई मक्की खाने को मिल गई थी।"

हल्की-हल्की बूँदें पड़ने लगीं। पहली बूँदों के शरीर से छूते ही श्यामा एक बार सिहर गई। वे लोग खेतों की संकरी पगडंडी पर चल रहे थे। श्यामा आगे थी और कुमार पीछे। कुमार को लग रहा था कि छोटी-छोटी बूँदें अपनी ख़ामोशी में एक तरह

का खिलवाड़ कर रही हैं, उनका ऊपर से आना और श्यामा के कन्धों पर बैठ जाना एक तरह की शरारत है। बीच-बीच में हवा से श्यामा की साड़ी का पल्लू उसके शरीर से छू जाता था। यह भी उसे लगता था, जैसे वैसी ही एक अदृश्य शरारत हो। किसी-किसी क्षण एक-दूसरे के बराबर आ जाने से उसकी बाँह के रोम श्यामा की बाँह के रोमों से छू जाते थे। उसे स्पर्श से लगता था कि बीच का अन्तराल भी मांसल हो उठा है। एक क्षण में आसपास का सारा विस्तार सजीव होकर चेतना को सहला जाता है—जिसमें चेतना एक बच्चे की तरह किलकारी भर लेना चाहती है। कुमार चाह रहा था कि कुछ कहे, मगर उसे कहने के लिए कुछ मिल नहीं रहा था। वह उस अनुभव में ही डूब रहा था कि रोमों के स्पर्श में एक गहरी उष्णता और स्निग्धता है, जिससे वर्षा में चलते हुए भी लगता है कि घर की छत के नीचे अंगीठी के पास बैठकर आग ताप रहे हैं और चाय की एक गर्म प्याली किसी ने लाकर हाथ में दे दी है। श्यामा की पीठ पर पड़ती हुई बूँदों के निशान उसके ब्लाउज के कपड़े को पारदर्शक बना रहे थे, और वह पारदर्शिता शरीर तक सीमित नहीं थी, शरीर के अन्दर, कहीं नीचे सुलगती हुई कोई चीज़ भी जैसे नज़र आ रही थी और उसकी आँच बूँदों की जाली से होकर उसके शरीर तक पहुँच रही थी।

श्यामा ने एक बार उसकी तरफ़ देखा और कहा, ''आज न जाने क्यों फिर वही बात मेरे मन में आ रही है! उनके बारे में कुछ पूछूँ तो बुरा तो नहीं मानेंगे?''

''किनके बारे में?'' कुमार थोड़ा चौंक गया।

''उन्हीं के बारे में जो आजकल कलकत्ता में हैं।''

कुमार को लगा कि उसका पाँव सहसा फिसलन पर पड़ गया है, और सचमुच ऐसा था भी। वह एकाएक गिरने को हुआ, मगर श्यामा ने झट बाँह से पकड़कर उसे सँभाल लिया, ''देखिए, सँभलकर चलिए, अभी आप गिर गए होते।'' उसने कहा।

''यहाँ मिट्टी बहुत चिकनी है, मैंने पहले देखा नहीं,'' कुमार कहकर भी अपनी झेंप नहीं मिटा सका। श्यामा का हाथ उसकी बाँह से हट गया था।

''आपने मेरी बात का जवाब नहीं दिया!'' कुछ क़दम चलकर वह फिर बोली।

आसमान से मोटी-मोटी बूँदें उतर आईं और एकाएक तेज़ बारिश होने लगी।

बारिश से परेशान होकर आँखें झपकते हुए भी श्यामा उस सवाल पर रुकी रही, ''तो?''

''आप बुरी तरह भीग गई हैं, मेरा ख़याल है पहले कोई बचकर खड़े होने की जगह ढूँढ़ ली जाए। यह न हो कि लौटने पर आप बीमार पड़ जाएँ और ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर आए!''

''आप भी तो भीग रहे हैं।'' श्यामा फिर अपनी स्वाभाविक हँसी हँस दी, ''अपने भीगने की आपको चिन्ता नहीं है?''

"मैं मोटे कपड़े पहने हूँ," कुमार अपना रूमाल खोलकर सिर पर बाँधता हुआ जल्दी-जल्दी चलने लगा, "और मुझे जल्दी से ठंड लगती भी नहीं।" श्यामा अब पीछे थी और वह आगे।

"आपको ठंड नहीं लगती और मुझे बारिश में भीगना अच्छा लगता है, फिर आप इस तरह तेज़ क्यों चल रहे हैं? आहिस्ता चलिए, मुझसे इतना तेज़ नहीं चला जाएगा।"

कुमार रुका और रुककर उसने पीछे आती हुई आकृति को देखा। कपड़े शरीर से चिपक जाने से शरीर की रेखाएँ बाहर निकल आई थीं—शरीर का साँवलापन साड़ी के रंग में घुल-मिलकर बाहर झलक रहा था। क्षण भर के लिए कुमार उसे पहचान नहीं सका...यह न तो वह लड़की थी, जो उसके पास पढ़ने के लिए आती थी और न ही वह युवती, जो कुछ क्षण पहले उससे बात करती चल रही थी। भीगे वस्त्रों में लिपटी वह एक नारी-मूर्ति मात्र थी, एक शरीर मात्र जिसका आकार वर्षा, मिट्टी और आसपास की हरियाली जैसा ही था, जैसे घास और सरकंडों के बीच से वह शरीर भी तिगलियों की तरह ही उग आया हो...!

उस दिन बारिश क़दम-क़दम पर और तेज़ होती जा रही थी। एक बार श्यामा के भीगे हुए शरीर को देखने के बाद फिर उसने मुड़कर पीछे नहीं देखा। दोनों चुपचाप चलते रहे, जैसे एक दूसरे से उनका कोई वास्ता ही न हो—एक ही पगडंडी पर साथ-साथ चलते हुए भी वे अलग-अलग और अकेले हों।

"वह रहा कुआँ।" श्यामा ने पीछे से कहा, तो भी कुमार पीछे की तरफ़ नहीं घूमा, आँख की सीध में ही देखता रहा।

"कहाँ?" उसने आँखें झपक कर कोशिश की कि मूसलाधर पानी के उस तरफ़ उसे कहीं कुएँ की चर्खी या और कोई निशान नज़र आ जाए।

"वह, वहाँ, उधर, दाईं तरफ़।"

कुआँ ज़्यादा दूर नहीं था, मगर जहाँ वे लोग चल रहे थे, वहाँ से दाईं तरफ़ थोड़ा पीछे को हटकर था। बीच में खेत थे—कोई पगडंडी वहाँ तक जाने के लिए नहीं नज़र आ रही थी।

"मगर वहाँ तक पहुँचेंगे कैसे?" अब भी कुमार सीधा सामने की तरफ़ ही देखता रहा, चेष्टा थी कि आँख को पीछे की तरफ़ घूमने से बचाए रखे।

"पहुँचना तो होगा ही, कैसे भी पहुँचें," कहती हुई श्यामा ज़रा पास आ गई। उस बारिश में भी कुमार ने अपनी पीठ पर हल्का-सा उष्णता का अनुभव कर लिया।

"खेतों में से होकर जाने में एक ही डर है," वह बोला, "कहीं मिट्टी बहुत कच्ची हुई, और आधा रास्ता जाते-जाते घुटने-घुटने कीचड़ में लथपथ हो गए तो और

हालत ख़राब होगी। एक तो बारिश ने ही आदिम इनसान बना दिया है, ऊपर से मिट्टी का लिबास और मिल गया तो बिल्कुल बनमानुस नज़र आएँगे।''

पीठ पीछे की आँच बहुत पास आकर उसके आगे निकल गई। उसके लिए कल्पनातीत-सा था वह अनुभव कि जिस शरीर की ओर देखने में उसे इतने संकोच का अनुभव हो रहा था, उस शरीर को संचालित करने वाली शक्ति में कहीं वैसा संकोच नहीं है। श्यामा पगडंडी की मेड़ पार करके खेत में उतर गई थी। वहाँ से उसने पीछे मुड़कर कहा, ''अब आ जाइए न आप भी! जिस मिट्टी-पानी से बने हैं, उसी मिट्टी-पानी से डरना अच्छा लगता है?''

कुमार ने पहला क़दम मेड़ के पार रखा तो थोड़ा डगमगा गया। लगा कि वह शायद उस मात्रा में मिट्टी-पानी का नहीं बना है, जिस मात्रा में श्यामा बनी है, मगर एक बार सँभल जाने के बाद वह ठीक से स्थिर होकर चलने लगा। ज़मीन कच्ची नहीं थी, मगर कोशिश करने पर भी कि पाँव बोई हुई क्यारियों पर न पड़ें, उन्हें बचाकर चलना असम्भव था। मिट्टी से उठती हुई सोंधी गन्ध धुएँ की तरह धीरे-धीरे ऊपर उठ रही थी—गन्ध जो कि बुझती हुई प्यास की तरह थी। सारे शरीर में एक सरसराहट का अनुभव होता था—शरीर के रेशे-रेशे में वह गन्ध, वह तृप्ति, अपने स्पर्श की एक प्रतिक्रिया छोड़ जाती थी।

श्यामा गरदन ऊपर को उठाकर चल रही थी।

श्यामा नीचे देखकर नहीं चल रही थी। लगता था, आसपास के वातावरण का उसे ध्यान ही नहीं है। उसे शायद इसका होश भी नहीं था कि उसके वस्त्र भीगकर पारदर्शक हो रहे हैं और उसके शरीर के साँवलेपन को छिपाने की जगह उसे और व्यक्त कर रहे हैं। कुछ क्षण तो जैसे वह आँखें मुँदकर ही चलती रही—बहुत हल्के-हल्के क़दम रखती हुई, फिर सहसा उसने सिहरकर आँखें खोल लीं और तेज़-तेज़ चलने लगी।

खेत पार करके जब वे लोग उधर की पगडंडी पर पहुँचे, तो मूसलाधार पानी में इस कदर भीग चुके थे कि कुएँ के पास जाकर आड़ लेने का कोई अर्थ नहीं रह गया था। टखनों-टखनों तक उनके पैर मिट्टी में लथपथ हो रहे थे।

''अब यहाँ रुकना है क्या?'' कुमार ने कहा, ''जितना भीग गए हैं, उसके बाद तो रुकना फ़िज़ूल ही लगता है।''

श्यामा ने ऐसे उसकी तरफ़ देखा, जैसे बात उसकी समझ में न आई हो। वह उस समय शायद किसी और ही दुनिया में थी। क्षण भर में अपने को सहेज कर वह बहुत धीमे स्वर में बोली, ''फिर भी रुकना तो होगा ही। इन भीगे कपड़ों में यहाँ तो चल सकता है, मगर वहाँ, लोगों के बीच...।'' और एक बार उड़ती नज़र से बस्ती की तरफ़ देखकर वह चुपचाप आगे चलने लगी।

कुमार ने भी फिर कुछ नहीं कहा। चुपचाप उसके पीछे-पीछे चलता रहा। कुएँ से पहले एक छोटी-सी नाली थी। नाली को पार करने के लिए श्यामा ने अपना हाथ उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। श्यामा के ठंडे हाथ के स्पर्श से भी कुमार को शरीर में उष्णता की एक लहर उतरती हुई प्रतीत हुई। वह डगमगा जाता, मगर किसी तरह सँभल कर उसने खुद नाली को पार किया, फिर सहारा देते हुए श्यामा को पार करा दिया। पार आकर श्यामा का हाथ उसके हाथ से अलग हो गया।

कुएँ के आसपास की ज़मीन पर काफ़ी फिसलन हो रही थी। कुछ सूखी ज़मीन बाईं तरफ़ खपरैल के नीचे ही थी। आगे घना पीपल का पेड़ होने से खपरैल के नीचे ज़्यादा छींटे नहीं पहुँच रहे थे। पीछे दो कच्ची कोठरियाँ थीं, जिनके अन्दर अँधेरे के सिवा दिखाई कुछ नहीं दे रहा था। खपरैल के नीचे एक ख़ाली चारपाई तिरछी पड़ी थी। पीपल के नीचे आकर उन दोनों ने एक-दूसरे की तरफ़ देखा। पहली बार श्यामा के चेहरे पर संकोच की एक रेखा दिखाई दी। कुमार की आँखों से मिलकर उसकी आँखें एक भार से झुक-सी गईं।

''यहीं खड़ें रहें, या कुछ देर वहाँ बैठकर बारिश के रुकने का इन्तज़ार कर लें?''

श्यामा ने धीरे से आँख उठाई और चारपाई की तरफ़ देखा। बोली, '' कोई है भी तो नहीं, जिससे पूछकर वहाँ बैठ सकें।''

''कोई आकर मना करेगा तो उठ जाएँगे!'' कुमार थोड़ा हँस दिया, ''जब तक कोई आसपास नहीं है, तब तक तो घर-ज़मीन सब कुछ अपना ही है।''

श्यामा चारपाई पर पैताने की तरफ़ बैठ गई। उसकी आँखें जैसे दूर तक के बरसते हुए विस्तार में कुछ ढूँढ़ रही थीं...पानी के झिलमिल पर्दे के एक-एक तार में, उन तारों की बुनावट में और उससे भी परे–वहाँ, जहाँ इक्का-दुक्का पेड़ों की धुँधली रेखाएँ नज़र आ रही थीं और उन रेखाओं की पृष्ठभूमि में कुछ और भी धुँधली रेखाएँ–तार के खम्भों और पक्के एक-मंज़िला मकानों की।

कुमार पल भर उसके पास खड़ा रहा, फिर पीपल के नीचे चला गया और वहाँ से लौटकर कुहनियों पर झुका-सा चारपाई पर बैठ गया। दाईं तरफ़ रेल की इकहरी पटरी थी, जो कोठरियों के पीछे से आकर सीधी ईंट के भट्ठों की तरफ़ निकल गई थी। भट्ठों के पीछे का आकाश मैला, भारी और उदास-सा नज़र आ रहा था।

''बारिश इसी तरह पड़ती रही तो बहुत मुश्किल हो जाएगी,'' कुमार ने कहा, ''अँधेरा हो जाने पर तो लौटने के रास्ते का भी पता नहीं चलेगा।''

''मैं भी यही सोच रही थी।'' श्यामा अपनी साड़ी का पल्लू निचोड़ती हुई बोली, ''ज़्यादा देर हो जाने से जीजाजी जाने मन में क्या सोचेंगे! पहले ही रोज़ वे मज़ाक में सौ-सौ बातें कह देते हैं।''

''क्यों? क्या पहले भी कभी इस तरह देर हुई है?''

"रोज़ ही देर नहीं हो जाती? पढ़ने आती हूँ तो दो-दो तीन-तीन घण्टे जो आपके पास बिता जाती हूँ! कई बार उसके बाद घूमने निकल जाती हूँ, जिससे और देर हो जाती है। एक दिन तो वापस पहुँची तो खाना मेज़ पर लग रहा था। उस दिन जीजाजी ने मुझे इतना बनाया कि रुआँसी होकर मैं अपने कमरे में चली गई। बाद में आकर वे माफ़ी माँगते रहे, मगर...। बात दर-असल यह है कि...।" और उसने अपने को बीच में ही रोक लिया। उसकी आँखें इस तरह कुमार के चेहरे पर टिक गईं, जैसे उसे तराज़ू पर तौल रही हों।

कुमार ने ख़ामोश रहकर उसकी नज़र का सामना किया। श्यामा ने आँखें दूसरी तरफ़ हटा लीं और रेल की पटरी की तरफ़ देखती हुई बोली, "देखिए, बारिश में आती हुई गाड़ी कितनी अच्छी लग रही है।"

भट्ठों की तरफ़ से ब्रांच लाइन की छोटी गाड़ी जैसे बरसते हुए पानी में तैरकर आ रही थी। इंजन को आगे बढ़ने के लिए जैसे अतिरिक्त संघर्ष करना पड़ रहा था। उसकी आवाज़ एक थके हुए मज़दूर की-सी थी, जिसे बुढ़ापे के बावजूद मजबूर होकर एक भारी बोझ ढोना पड़ रहा हो।

श्यामा एक हाथ पर भार दिए बच्चों के-से उत्साह के साथ गाड़ी की तरफ़ देखती रही। कुमार भी उसी तरफ़ देखता रहा, हालाँकि अपने अन्दर वह महसूस कुछ और ही कर रहा था। उसके पास रखे श्यामा के हाथ की उँगलियाँ उसकी उँगलियों के बहुत पास आकर उनसे छू गई थीं। मात्र इतना ही नहीं था, एक हल्की-सी कँपकँपी भी उन उँगलियों में महसूस हो रही थी। लगता था कि श्यामा के पूरे शरीर के अन्दर कोई चीज़ लरज़ रही है, गाड़ी के पहियों की गूंज की तरह। इंजन पास आकर कोठरियों के पीछे चला गया और गाड़ी के डिब्बे भी एक-एक करके आँख से ओझल होने लगे, तो वह लरज़ एक हल्के से दबाव में बदल गई। गाड़ी की आवाज़ दूर चली गई, तो कुमार ने पाया कि श्यामा की उँगलियाँ उसके हाथ की उँगलियों में उलझी हुई हैं और उसके अपने हाथ का दबाव धीरे-धीरे बढ़ रहा है। श्यामा का हाथ एक ख़ामोश आज्ञाकारी बच्चे की तरह उसके हाथ में फिसलता आ रहा था। कुमार को कुछ क्षणों के लिए ऐसा महसूस हुआ, जैसे वह अपनी जगह से थोड़ा ऊपर उठ गया हो और दूर तक का बरसता हुआ आकाश उसके अन्दर आ समाया हो।

"तुम कुछ सोच रही हो!" भीगे हुए वातावरण में भी उसे अपनी आवाज़ खुश्क-सी लगी।

"मैं?" श्यामा जैसे चौंक गई। कुमार को लगा कि वह चौंकना स्वाभाविक नहीं है, चौंकने की नकल-सा है, "हाँ... नहीं तो...!"

"लगता है, जैसे तुम्हें कोई बीती हुई बात याद आ रही हो...!"

"हाँ,...नहीं...एक कहानी है, जो याद आ रही थी।"

"कहानी...?"

"कुछ दिन हुए कहीं पढ़ी थी।"

"क्या कहानी?"

श्यामा ईंट के भट्ठों की तरफ़ देखती हुई ख़ामोश रही—वह शरीर से जितनी पास थी, मन से उस समय उतनी ही दूर गई हुई लगी थी।

कुमार के हाथ का दबाव पल भर के लिए बढ़ा और फिर ढीला पड़ गया। श्यामा की उँगलियों को छोड़कर उसने सहसा हाथ से उसका चेहरा अपनी तरफ़ कर लिया, "क्या कहानी...?"

श्यामा की आँखों में आश्चर्य-सा उतर आया...उसे जैसे समझ ही न आ रहा हो कि वह कहाँ है, किसके साथ है और वह व्यक्ति उससे क्या बात पूछ रहा है। कुमार का हाथ अलबत्ता उसने धीरे से अपने चेहरे से हटा दिया।

"तुम्हें बुरा तो नहीं लगा?" कुमार को अपनी आवाज़ काफ़ी कमज़ोर लगी।

"क्यों?" श्यामा का आश्चर्य उसी तरह बना रहा, "इसमें बुरा लगने की क्या बात थी? आपने किसी बुरे इरादे से तो छुआ नहीं!"

कुमार को लग रहा था कि अभी-अभी एक भूचाल आया था, जो अब गुज़र गया है। उसके शरीर के रेशे-रेशे को उस भूचाल ने एक बार हिला दिया था, जो कि उसके लिए एक नया और विचित्र-सा अनुभव था। भूचाल ने उसे डिगा नहीं दिया, इसका उसके मन में खेद भी था, मगर उस खेद से बढ़कर यह ग्लानि उसके मन में उठ रही थी कि श्यामा के सामने क्या वह सदा के लिए अब इस हरकत के लिए शरमिन्दा न रहेगा? क्या श्यामा की तरह वह भी विश्वास के साथ कह सकता था कि उसका इरादा बुरा नहीं था?

"आप पूछ रहे थे मैं क्या सोच रही थी," श्यामा ने बात शुरू करके उसे संकट से निकाल लिया, "सच कहूँ तो जो बात सोच रही थी, उसके लिए मुझे अपने को धिक्कारना चाहिए। कहीं पढ़ा था मैंने कि आदमी सुखी तभी रह सकता है, जब वह हर क्षण अपने सामने अपना कनफ़ेशन करता चले, अपने मन के किसी भी अपराध को कम से कम अपने आपसे छिपाकर न रखे। मैं इसकी कोशिश करती हूँ, मगर हमेशा सफलता नहीं मिलती।"

"मैंने तुमसे कहानी की बात पूछी थी...," कुमार कुछ भी कहने के लिए मशीनी ढंग से कह गया।

"कहानी? हाँ," श्यामा सहज भाव से बोली, "वही बात बता रही हूँ। देखिए, हँसियेगा नहीं और न ही इसका कोई और अर्थ लीजिएगा। मैं जिस कहानी की बात सोच रही थी, उसका नाम है 'प्रीतो'। कृश्नचन्दर की कहानी है शायद। आपने पढ़ी है?"

भूचाल गुज़र गया था, मगर पूरी तरह से नहीं। एक हल्का-सा झटका कुमार की धमनियों को फिर हिला गया। थोड़े ही दिन पहले वह कहानी उसने पढ़ी थी! पूरे चाँद की रात और गाड़ी का सफ़र। एक बूढ़ा जाट, जिसके चेहरे पर गहरे घावों के निशान हैं—एक गाल के घाव अंग्रेज़ी के अक्षर 'वी' की तरह हैं और दूसरे के एक क्रास की तरह। वे घाव किसी महायुद्ध में नहीं लगे...मगर हाँ, महायुद्ध तो वह था ही, चाहे उसकी अपनी ज़िन्दगी का ही रहा हो। जीवन में उसने एक ही बार और एक ही लड़की से प्रेम किया था और उस लड़की का नाम था प्रीतो—प्रीतो, जो उसकी पत्नी थी। अपनी पत्नी से भी कोई व्यक्ति प्यार कर सकता है, मगर उस जाट ने केवल अपनी पत्नी से, अपनी प्रीतो से ही प्यार किया था। ब्याह के बाद प्रीतो अपने मायके गई तो वह चार दिन भी अकेला नहीं रह सका। उसके पीछे अपनी ससुराल पहुँच गया। वहाँ रात को उसने देखा कि प्रीतो उसके पास से उठकर कहीं बाहर जा रही है। वह उसके पीछे-पीछे चला। कितने ही खेत लाँघकर एक पहाड़ी की ओट में प्रीतो जिस जगह पहुँची, वह एक कुआँ था। कुएँ के पास बेरिया का एक झाड़ था और, झाड़ के नज़दीक एक चारपाई बिछी थी। पीछे एक कच्चा घर था, जिसका दरवाज़ा आधा खुला था...। जाट ने देखा कि अन्दर प्रीतो एक और आदमी से प्रेम कर रही है। उस आदमी के कहने से वह अँधेरी कोठरी में से पानी लाने के लिए अन्दर गई, तो इसने कृपाण निकालकर उस आदमी का सिर काट दिया और चुपचाप वापस चला आया। रास्ते में अपनी कृपाण का लहू पोंछ लिया। प्रीतो कुछ देर बाद घर पहुँची तो उसे सोया जानकर उसने चुपके से उसकी कृपाण निकाली और अपने मन की तसल्ली करके कि उसके प्रेमी का कातिल उसका पति नहीं है, चुपचाप सो गई। ज़िन्दगी चलती रही। उनके कई-एक बच्चे-अच्चे हो गए। बरसों बाद एक दिन खाना खाते हुए जाट ने प्रीतो से अन्दर की कोठरी से अचार ला देने को कहा, तो प्रीतो यह कहकर बैठी रही कि उसे अँधेरे में अन्दर जाने से डर लगता है। तब जाट से नहीं रहा गया और उसने ताने में कह दिया कि जिस दिन वह अपने प्रेमी के कहने से अँधेरी कोठरी में पानी लाने गई थी, उस दिन उसे डर नहीं लगा? यह जानते ही कि उसके प्रेमी की हत्या उसके पति के हाथों हुई थी, प्रीतो बिजली की तरह उठी और कृपाण लेकर उसके शरीर को छलनी करने लगी। जाट ने किसी तरह अपने को बचाया और वही कृपाण प्रीतो के हाथ से छीनकर उसका सिर काट दिया...। अब गाड़ी की खिड़की के पास बैठा हुआ जाट पूनम की चाँदनी को देख रहा है—उस चाँदनी को, जिसमें प्रीतो अपने प्रेमी के यहाँ जाने के लिए घर से निकली थी। गाड़ी के सफ़र में जाट के पास ही एक जोड़ा बैठा है। पति थोड़ी देर पहले ही अपनी पत्नी को दुलार-चुमकार कर सोया है। अब उसकी पत्नी अकेली जाग रही है और खिड़की के शीशे की ओट में मुँह किए रो रही है...।

कुमार श्यामा की आँखें बचाकर पल भर सीजते हुए आकाश को देखता रहा। श्यामा को वह कहानी उस समय क्यों याद आई थी? क्या उस कुएँ के वातावरण को देखकर ही या...?''

''हाँ, पढ़ी तो है,'' उसने कहा, ''अच्छी कहानी है, उसका अन्त बहुत अच्छा है।''

''मैं कई बार सोचती हूँ...' कहकर श्यामा फिर पल भर चुपचाप उसकी तरफ़ देखती रही, ''सोचती हूँ कि जब प्रीतो ने अपने पति पर कृपाण उठाई होगी, तो उसे अपने मन में कैसा लग रहा होगा, और जब उसके सिर पर बार हुआ होगा, तो उस एक क्षण के लिए...उस एक क्षण के लिए...।''

बाईं तरफ़ से एक कुत्ता दौड़ता हुआ आया और सीधा उन दोनों के पास पहुँच कर ज़ोर-ज़ोर से भौंकने लगा, जैसे कि तैश में आकर कह रहा हो, 'कौन हो तुम? कौन हो तुम? क्यों आए हो? क्यों आए हो? जाओ, जाओ, आओ...!'

कुत्ते के पीछे-पीछे एक युवक भी आया। लाठी से पोटली लटका कर वह लाठी को कन्धे पर रखे था। उसने आते ही कुत्ते को डाँटना शुरू किया, ''हट पाजी, चल अन्दर। ओए चल वी ना कुत्ते दिया पुतरा...।'' फिर वह कुमार की तरफ़ देखकर बोला, ''बाबूजी, बुरी तरह भीग गए आप लोग तो!''

'आप लोग' से उसकी मुराद शायद श्यामा से ही थी, क्योंकि बात करते हुए उसकी आँखें श्यामा के शरीर पर ही टिकी हुई थीं। श्यामा उस आदमी की बेबाक नज़र के सामने कुछ कुंठित हो उठी थी और बाँहें सिकोड़ कर अपने गीले शरीर को किसी तरह छिपा लेने की कोशिश में थी।

''मेरा ख़याल है बारिश कम हो रही है, अब हमें चलना चाहिए,'' उसने धीरे से कहा। कुमार ने सामने देखा...बारिश उसी तरह हो रही थी, शायद पहले से कुछ ज़्यादा ही हो रही थी, मगर उसने श्यामा की बात का विरोध नहीं किया और झट से उठ खड़ा हुआ, ''हाँ-हाँ, आओ, चलें।''

''बाबूजी, इतने पानी में जाकर बीमार पड़ जाओगे,'' वह युवक बोला, ''बैठ जाइए, मैं डँगर ले आऊँ, फिर आकर चाय-शाय बनाता हूँ। चाय पी लोगे तो शरीर में गरमायश आ जाएगी। क्या पता तब तक पानी भी रुक जाए!''

युवक कोठरी के अन्दर चला गया और दो मिनट बाद बाहर आकर बोला, ''आप लोग अन्दर चल बैठें। मैंने चारपाई पर लीड़ा बिछा दिया है। जितनी देर बैठना है, आराम से बैठिए। मैं अभी पशुओं को लाने जा रहा हूँ। उन्हें उधर की कोठरी में ले जाने के लिए वैसे भी यह चारपाई यहाँ से उठानी पड़ेगी।''

कुमार और श्यामा दोनों चारपाई से उठ खड़े हुए थे। युवक चला गया तो वे बिना एक दूसरे की तरफ़ देखे पलभर अजनबी-से खड़े रहे।

"क्या ख़याल है?" कुमार ने पूछा, "चलना है या कुछ देर अन्दर बैठकर इन्तज़ार कर लिया जाए?"

श्यामा ने सरसरी नज़र से अन्दर की तरफ़ देखा। टूटी हुई चारपाई पर फटा हुआ सालू बिछा था। उसने सहसा इस तरह आँखें हटा लीं, जैसे उसके अन्तर का कोई मर्मान्तक घाव छिल गया हो।

"मैं सोच रही हूँ," वह बोली, "कि रानी उठकर रोने न लगी हो। मैं चली थी तो वह सो रही थी।"

यह जवाब नहीं था। कुमार चुप रहा। यह बात उसने पहले भी नोट की थी कि बातचीत में जहाँ कहीं सीधे उत्तर से बचना हो, वह कोई और प्रकरण छेड़ देती थी। उसकी लड़की रानी ऐसे ही प्रकरणों में से थी। एक आड़ की तरह जब-तब वह उसके नाम का उपयोग कर लेती थी।

खपरैल से मिट्टी और गोबर चूकर नीचे गिरने लगा। गोबर के दो-एक छींटे शरीर पर पड़ने से श्यामा चौंककर थोड़ा परे हट गई। पलभर खपरैल की तरफ़ देखती रही, फिर जैसे एक निश्चय के साथ पीपल की तरफ़ बढ़ गई। "मेरा ख़याल है, अब चलना चाहिए," उसने कहा।

जाट युवक पशुओं को धकेलता हुआ कुएँ की हद में ले आया था। एक भैंस और दो गौएँ थीं। वर्षा में भीगकर पशुओं का मन भरा नहीं था और वे अब भी किसी तरह लौटकर बाहर चले जाना चाहते थे। जाट युवक उन्हें एक-एक करके लाठी के सहारे धकेलता हुआ सामने की कोठरी में ले गया। पीपल के आसपास उनके शरीरों की हल्की तुर्श गन्ध उसके बाद भी बनी रही।

पीपल से आगे बढ़ने पर श्यामा ने अपना हाथ उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। वह उसका हाथ थामकर दो-एक क़दम ही चला था कि जाट युवक कोठरी से बाहर आ गया।

"बाबूजी, कोई लालटेन-वालटेन तो नहीं चाहिए?"

"नहीं, अभी हल्का-हल्का उजाला है। थोड़ा-सा ही रास्ता है, किसी तरह पहुँच जाएँगे।"

"कोई और चीज़?"

"बस शुक्रिया...।"

"आजकल कोई सब्ज़ी भी नहीं है, जो आपको दे देता। थोड़ी-सी मिर्च है। ला दूँ?"

"इस बारिश में अपने को ही सँभाल कर चले जाएँ तो बहुत है, फिर भी शुक्रिया।"

पगडंडी पर आकर उन्हें अहसास हुआ कि उन्होंने ग़लती की है। बारिश तो थी ही, पर उससे भी तकलीफ़देह चीज़ें थीं गड्ढ़ों में जमा पानी और नीचे की फिसलन।

आकाश में अभी कुछ उजाला था, पर सरकंडों से घिरी हुई ज़मीन पर तब तक अँधेरा घिर आया था। चलते हुए कुछ पता नहीं चल रहा था कि कब अगला क़दम कहाँ जा पड़ेगा। दिशा जानने के लिए सरकंडों की सीधी लकीर का ही सहारा था। जब एक का पाँव फिसलने लगता था, तो दूसरे को उसे सँभालना पड़ता। दोनों बिलकुल ख़ामोश चल रहे थे, जैसे उनकी चेतना मस्तिष्क में न रहकर रास्ता बनाते हुए पैरों में केन्द्रित हो गई हो।

एक जगह सरकंडों के सहारे पगडंडी का मोड़ मुड़ते हुए उन्हें एकाएक ठिठक जाना पड़ा। बादल इतने ज़ोर से गरजा था कि उन्हें लगा, जैसे उनके नीचे की जमीन हिलकर खिसक गई हो। श्यामा का हाथ कुमार के हाथ से छूट गया और सुस्थित होने-होने तक कुमार ने पाया कि श्यामा का शरीर उसकी बाँहों में सिमट आया है और बाँहें इस तरह कस गई हैं कि दोनों के अस्तित्व की अलग-अलग रेखाएँ अगल-अलग नहीं रहीं...।

उस दिन पहली बार वह आवाज़ सुनी थी। सुनी पहली बार नहीं थी, मगर लगा था जैसे पहली बार सुनी हो। उस आवाज़ में एक अर्थ, एक आशय का बोध कम-से-कम पहली बार हुआ था। श्यामा हल्के-से प्रयत्न से उसकी बाँहों से अलग हुई, तो उसे लगा था कि वह आवाज़ उसकी कनपटियों के अन्दर से आ रही है। फिर लगा था कि अन्दर से नहीं, बाहर से आ रही है, या कि अन्दर और बाहर दोनों जगह से, एक आवाज़ है और दूसरी उसकी गूँज। पहले वह आवाज़ हल्की और अद्‌भुत-सी लगी थी। फिर एकाएक ऊँची होकर बहुत साधारण लगने लगी थी।

आवाज़ पानी में टर्राते हुए मेंढकों की थी...।

दूसरी बार वह आवाज़ उस तरह सुनी थी, श्यामा के जाने के दिन...।

इस बीच वे प्रायः रोज़ मिलते रहे थे, पहले दो दिनों को छोड़कर। उस दिन बरसते पानी में पक्की सड़क तक दोनों साथ-साथ आए थे, मगर बिजली के पहले खम्भे के पास से ही श्यामा चुपचाप हाथ जोड़कर दूसरी तरफ़ चली गई थी—उस आकस्मिक घटना के बाद न तो उनके हाथ छुए थे और न ही रास्ते भर दोनों ने एक-दूसरे से कोई बात की थीं। श्यामा के चले जाने के बाद कुमार का मन एक बोझ से लद गया था, उस आत्मग्लानि में उसे रात भर नींद नहीं आई थी। अगले दिन और उससे अगले दिन शाम को भी श्यामा नहीं आई, तो आत्मग्लानि एक व्याकुलता में बदल गई। उसका मन होने लगा कि वह स्वयं प्रोफ़ेसर मल्होत्रा के यहाँ चला जाए और अवसर मिले तो श्यामा से उस दिन के लिए क्षमा माँग ले। वह बार-बार उस घटना को मन में दोहरा कर निश्चय करना चाहता था कि उससे अपराध बन पड़ा था तो किस तरह...श्यामा को अपनी बाँहों में समेट लेने के लिए उसकी ओर से कोई अनुचित प्रयत्न हुआ था, तो कैसे? परन्तु श्यामा के मांसल स्पर्श से

पहले के क्षणों का कोई ब्यौरा उसके मस्तिष्क में स्पष्ट नहीं था, स्पष्ट था तो इतना ही कि वे दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए चल रहे थे, अचानक बादल ज़ोर से गरजा था और...और एक आग-सी उसके शरीर में उतर गई थी। फिर भी अपराध की छाया मन पर बनी हुई थी, क्योंकि श्यामा जब उससे अलग हुई थी, तो उस प्रयत्न में एक हल्ली-सी वितृष्णा का आभास उसे मिला था और क्योंकि उसके बाद श्यामा नहीं आईं थी...।

कुमार को लगता कि उसकी आँखों में कोई चीज़ है, जो सामने बैठे हुए व्यक्ति में एक विवशता भर देती है, सच बोलने की विवशता। उस विवशता में ही वह उसे अपने बारे में सब कुछ बता गया था। श्यामा लता के विषय में जानना चाहती थी। उसने उसे बताया कि उस दुबली-सी लड़की को केन्द्र में रखकर उसने किस तरह घर और जीवन की कल्पना का ताना-बाना बुना था। शरीर के आकर्षण से हटकर एक और आकर्षण होता है, व्यक्तित्व का चुम्बक-आकर्षण, जो दूर रहने पर भी व्यक्ति को अपनी ओर खींचता है। उस आकर्षण का अनुभव उसने जीवन में एक ही बार किया था। लता प्रायः उससे मिलने के लिए उसके घर आती थी। उसे उन दिनों लगता था, जैसे वह सड़क पर से आती हुई उसकी साइकिल की आवाज़ भी पहचानता हो। घर के सेहन में किसी की भी साइकिल आकर रुकती तो उसके हृदय की धड़कन बढ़ जाती। वह काँपते हाथों से दरवाज़ा खोलता। लता उसे देखते ही मुस्कराती और कमरे में दाखिल होते ही आँखें मूँदकर अपनी बाँहें उसके कन्धों पर रख देती। लता का दुबला शरीर अपनी बाँहों में उसे और भी दुबला प्रतीत होता था। लगता था, जैसे बाँहों के घेरे में वह स्वयं ही नहीं, उसके आसपास का आकाश भी घिर आया हो। मगर मन का खालीपन केवल कुछ ही क्षणों के लिए भरता था। लता जब चली जाती थी, तो वह अपने को एक ऐसे सूनेपन में घिरा हुआ पाता, जिसमें आकाश का पूरा विस्तार उसे व्यर्थ-सा लगता। वह लता से ब्याह की बात करता तो वह मुस्करा देती और कभी 'हाँ' और कभी 'न' के भाव से सिर हिला देती। वह वास्तव में क्या चाहती थी, यह वह नहीं समझ पाता था। यह वह पहले से जानता था कि वह किसी की मँगेतर है। उससे परिचय होने से पहले ही एक सिविल इंजीनियर के साथ उसकी सगाई हो चुकी थी—मगर जब दोनों का परिचय एक घनिष्ठता में बदल गया तो वह स्वाभाविक रूप से सोचने लगा था कि वह सगाई अब बनी नहीं रहेगी। लता उसके विभाग में उसके साथ काम कर रही थी। कॉलेज में दोनों की नियुक्ति लगभग बराबर ही हुई थी। वह शिमला से आया था और लता उसी शहर से थी, उसी कॉलेज में पढ़कर उसने परीक्षा दी थी। एक तरह से उस सम्बन्ध की शुरुआत लता की तरफ़ से ही हुई थी। वह हर दूसरे दिन उसके यहाँ आती थी या आग्रह के साथ उसे अपने यहाँ निमन्त्रित करती थी। परन्तु अपने घर

में लता का रूप बिल्कुल और हो जाता था। वहाँ वह एक दूरी बनाए रखती थी, व्यवहार और बातचीत में भी। उसकी माँ और बहनें बारी-बारी से कमरे में चक्कर लगाती रहती थीं। लता की माँ तो ऐसी सन्देहपूर्ण दृष्टि से उसे देखती थी, जैसे वह उनके घर में चाय पीने नहीं, चोरी करने के लिए आया हो, और वहाँ हर चीज़ पर कड़ी नज़र रखना उनके लिए ज़रूरी हो। लता माँ की नज़रों के सामने बिलकुल गुम-सुम हो जाती थी। माँ का पैर कमरे में पड़ते ही उसके मुँह के शब्द गले में अटक जाते थे। अपने घर में केवल एक बार उसने निकटता की बात की थी। वह बीमार थी और वह उसका हाल पूछने के लिए गया था। चलने से पहले जब कि माँ पास में नहीं थी, उसने लता से कहा था, ''देखो, अब तुम जल्दी ठीक हो जाओ, ईश्वर के लिए...।''

''ईश्वर के लिए?'' लता मुस्कराई, ''तुम्हारे लिए नहीं?''

उस दिन घर लौटने पर उसे लगा था, जैसे आसपास की हरियाली बढ़ गई हो, और हवा में वसन्त की महक फैल गई हो! मगर यह अनुभूति ज़्यादा दिन नहीं रही। दो उनींदी रातें बिताकर उस रात भी वह दो बजे से ही जाग गया था। बार-बार उसके मन में एक अज्ञात आशंका उठ रही थी और मन अकारण ही एक उद्विग्नता से भर रहा था।

सुबह नहाकर कन्घी कर रहा था तो दरवाज़े पर दस्तक हुई। दरवाज़ा खोलकर देखा, लता थी। चेहरा जाने बुख़ार की वजह से ज़र्द लग रहा था या वैसे ही।

''कॉलेज जा रही हूँ, बैठूँगी नहीं,'' उसने आते ही कहा।

''ऐसी जल्दी की क्या बात है?'' वह बोला ''तबीयत तो अब ठीक है?''

''हाँ, तबीयत ठीक है।''

''तो ऐसे क्यों हो रही हो? घर में कोई बात हुई है क्या?''

''नहीं, बात कुछ नहीं हुई। मैं बस अब जाऊँगी।''

''मगर तुम कुछ बात करने के लिए आई होगी...।''

वह जड़-सी खड़ी देखती रही। उसके चेहरे की ज़र्दी पहले से बढ़ गई थी।

''अच्छा एक मिनट के लिए बैठ जाओ। तुम्हारी तबीयत अभी ठीक नहीं है।''

''नहीं, मैं बैठूँगी नहीं।'' कुछ और क्षण वह खड़ी रही, फिर स्वयं ही बैठ गई, ''मैं सिर्फ़ एक बात कहने के लिए आई थी!''

''कहो।'' वह धड़कते दिल से उसके सामने बैठ गया।

''मैं माफ़ी माँगने आई हूँ।''

''माफ़ी माँगने? क्यों?''

''परसों वे लोग शादी की तारीख़ निश्चित करने के लिए आ रहे हैं।''

''तो क्या तुम...?'' वह अचकचाया-सा उसकी तरफ़ देखता रहा।

"मैं इन्कार नहीं कर सकती। यह रिश्ता माँ का तय किया हुआ है। हमारे घर में कोई भी माँ की बात नहीं टाल सकता।"

"लता...।" उसकी आँखें जाने कैसी हो रही थीं। उनमें जाने भर्त्सना थी, या याचना, या अनुनय, या शिकायत, या दुःख या इन सबका केवल अभिनय, वह नहीं जान सका।

"मैं तो सोच रहा था कि...।"

"मैं जानती हूँ। मगर मैं मुँह खोलकर घर में कह नहीं सकती।"

"तो मैं मान लूँ कि तुम आज आखिरी बार आई हो?"

वह चुप रही।

उसने सिर हिलाया, "यह तो मैंने नहीं कहा।"

"तो?"

"देखो अब मैं जाऊँगी। मेरी क्लास है।" वह उठ गई।

"तो आज तक जो भी बात थी, वह...।"

"मुझे माफ़ कर दो।"

"अच्छा यही होगा कि तुम आज के बाद कभी न आओ।"

वह चुपचाप देखती रही।

"घर में तुम्हारी किसी से बात हुई थी?"

वह चुपचाप नीचे देखती रही।

"तुम्हारे यह कहने में संकोच क्यों है कि तुम्हीं अपने मन में नहीं चाहतीं। इतने दिन जो कुछ हो रहा था वह केवल एक साइड शो था, सिर्फ़ समय बिताने का एक बहाना।"

लता ने हमेशा की तरह बाँहें उसके कन्धों पर रख दीं। मगर उसने उसे अपनी बाँहों में नहीं लिया, हल्के-से प्रयत्न से परे हटा दिया।

"मैं नहीं चाहूँगा कि आज के बाद भी तुम यहाँ आओ या मुझसे कभी अपने यहाँ आने के लिए कहो," वह रूखे स्वर में बोला, "मैं कोशिश करूँगा कि जल्द ही कोई दूसरी नौकरी ढूँढ़कर इस शहर से चला जाऊँ।"

"देखो, मैं एक बात कहना चाहती थी," लता फिर उसके बहुत पास आ गई, "बिना ब्याह के भी तो हम लोग...।"

उसे लगा जैसे एक कच्चा शीशा उसके हाथ में टूट गया हो। उसके मन में एक तूफ़ान-सा उमड़ आया, "तुम जाओ लता," उसने कहा, "तुम्हारी क्लास है, तुम्हें देर हो जाएगी।"

वह दहलीज़ तक पहुँची और कुछ देर किवाड़ के साथ सटकर खड़ी रही। फिर कुछ देर चिक उठाकर खड़ी रही। फिर बाहर चली गई। बरामदे से सेहन में उतरने में भी उसे काफ़ी समय लगा। फिर वह साइकिल पर सवार होकर चली गई।

कुमार यह सब कह रहा था तो श्यामा इस तरह आँखें फैलाए उसकी तरफ़ देख रही थी, जैसे उसके सामने एक नाटक का अभिनय हो रहा हो। कुमार ने बात समाप्त की तो आँखें बन्द किए हुए वह कुर्सी पर पीछे को हट गई और कुछ देर ख़ामोश रहकर कुछ सोचती रही। फिर एक उसाँस के साथ उसने आँखें खोलीं और थोड़ा आगे को झुककर बोलीं, "होती है यह बुज़दिली लड़कियों में। मैं भी तो ऐसी ही बुज़दिल रही हूँ...।"

कुमार चुपचाप उसकी तरफ़ देखता रहा। वह अपनी बुज़दिली की बात क्यों कह रही है, यह वह पूछना चाहकर भी नहीं पूछ सका।

अँधेरे में देव के अतिरिक्त दो-एक चेहरे और उभरते थे। एक चेहरा था आर्ट्स कॉलेज के प्रिंसिपल गोपालजी का। चुस्त शेरवानी के साथ चूड़ीदार पाजामा पहने हुए वे क्लास में पढ़ाने के लिए आते थे। पहले ही दिन उनकी क्लास में बैठे हुए शरीर में एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हुआ था। लगा था कि शैले की पंक्तियाँ एक ऐसा सूत्र हैं, जो पहली बार उसका सम्बन्ध बाहर की दुनिया से जोड़ रही हैं; हवा से, बादलों से, चाँदनी से। पहली बार उसने कल्पना में ऐसे बिम्ब देखे थे, जिन्होंने प्राणों को रोमांचित कर दिया था। "पिलोड अपॉन माई स्वीट लब्ज राइपनिंग ब्रेस्ट...।" पहली बार मन किन्हीं शब्दों के अर्थ से शरमाया था और फिर उसी में डूबने उतराने लगा था। वह इस तरह गोपालजी के चेहरे की तरफ़ देखती रही थी, जैसे कि वह कविता उन्हीं की हो और प्रत्येक शब्द और उसके अर्थ पर उन्हीं के व्यक्तित्व की छाप हो। बड़ी बहन स्नेह भी उसके साथ उसी क्लास में पढ़ती थी। एक साल पहले से वह उस क्लास में थी। परीक्षा के दिनों में बीमार हो जाने से उसका प्रोमोशन रुक गया था। कॉलेज में दाखिल होने से पहले भी वह बहन के मुँह से कई बार गोपालजी की चर्चा सुन चुकी थी। उस दिन पहली बार उन्हें देखकर और उनके मुँह से शैले की पंक्तियों की व्याख्या सुनकर उसे लगा, जैसे एक दिन पहले तक वह सोलह साल की बच्ची रही हो, परन्तु उस दिन, बल्कि उस समय अचानक सोलह साल की युवती में बदल गई हो।

कविता की पंक्तियाँ सचमुच एक सूत्र थीं। सूत्र का एक सिरा गोपालजी के व्यक्तित्व में खोया रहता था और दूसरा उसके अपने व्यक्तित्व में गूँथा रहता था। उसके हृदय में गोपालजी के लिए इतना आदर बन गया था कि किसी के भी मुँह से उनकी आलोचना सुनना भी वह सहन नहीं कर सकती थी। अक्सर कॉलेज की लाइब्रेरी में लड़कियाँ उसे इस बात पर छेड़ देती थीं और वह अपनी कुर्सी से उठकर भाग आती थी। देर तक हँसी की आवाज़ें उसके कानों में पड़ती रहती थीं। कभी-कभी लड़कियाँ यह भी कहती थीं कि गोपालजी इतने इन्स्पायर होकर इसीलिए

पढ़ाते हैं कि वह आगे की बेंच पर उनके ठीक सामने बैठती है। वह इस बात पर लड़ पड़ती थी, मगर मन में ही कहीं उसे इस बात पर विश्वास भी था। वह कई बार बहन के साथ गोपालजी के घर चली जाती थी और कितनी-कितनी देर उनसे साहित्यिक विषयों पर बातचीत करती रहती थी। गोपालजी बहुत धैर्य के साथ उसके हर प्रश्न का उत्तर देते थे। जब वह उनसे बात कर रही होती तो हृदय में एक आवेश-सा उमड़ आता, जिससे शायद उसकी आँखों में एक चमक भर जाती थी, क्योंकि एक बार गोपालजी ने स्नेह से कहा था, "तुम्हारी बहन इतनी छोटी उम्र में ऐसी बातें करती है कि कभी-कभी मुझे उससे ईर्ष्या होने लगती है। किसी-किसी समय तो उसकी आँखों में एक ऐसी चमक समा जाती है कि मुझे उससे डर भी लगता है।"

बहन ने यह बात उसे बताई, तो साथ इसकी व्याख्या इस रूप में कर दी कि गोपालजी ने यह एक तरह से उलाहना दिया है; लगता है वे उसके व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं हैं। उस दिन वह अकेले में ख़ूब रोयी थी और कई दिन कॉलेज में गोपालजी की क्लास में नहीं जा सकी थी...।

गोपालजी के बाद दूसरा व्यक्ति था राजीव। देहली में बहन के घर पर उससे परिचय हुआ था। किसी पत्रिका के कार्यालय में काम करता था, खादी पहनता था और किसी भी विषय पर अधिकारपूर्ण ढंग से बहस कर सकता था। उसके परिचय में एक विशेष बात यह भी थी कि बयालीस के आन्दोलन में वह कुछ अरसा जेल में काट आया था। पहली बार खादी के ढीले-ढाले कुरते पाजामे में उसे देखकर मन पर बहुत अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा था। मगर बाद में यह बात गौण लगने लगी थी। वह जब कभी अपने जेल के दिनों के संस्मरण सुनाने लगता तो उसकी आँखों में वह बहुत ऊँचा उठ जाता। वह उसके मुँह से निकले हुए एक-एक शब्द को आदर के साथ सुनती और कल्पना करने लगती कि एक दिन शायद वह व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द की तरह सारे संसार को अपने विचारों से चमत्कृत कर देगा। राजीव के साथ उसकी सगाई की बात उठाई गई तो उसने मन ही मन अपने को उस व्यक्ति के साथ पूरा जीवन बिताने के लिए तैयार कर लिया था, परन्तु कुछ दिन टाल-मटोल करने के बाद राजीव ने यह कहकर मना कर दिया था कि उसका विवाह करने का इरादा ही नहीं है; उसने अपना सारा जीवन राजनीतिक कार्य में अर्पित कर देने का निश्चय कर रखा है। राजीव की ओर से अपना यह तिरस्कार उसे बुरा लगा था, मगर साथ ही उसके मन में राजीव का सम्मान पहले से बढ़ गया था। उसने अपने को धिक्कारा था कि उसने पहले ही क्यों नहीं सोच लिया कि उस व्यक्ति का भवितव्य एक महान् प्राप्ति के मार्ग पर चलना है, उसे ब्याह के झंझट में खींचने का प्रयत्न ही ग़लत है।

परन्तु एक दिन अचानक पता चला कि एक संसद-सदस्य की छोटी बहन से राजीव की सगाई हो गई है। उस दिन वह रोई नहीं, बहन की पढ़ने की मेज़ के पास काफ़ी देर जड़ होकर बैठी रही और एक काग़ज़ पर उलटी-सीधी लकीरें बनाती रही। चौबीस साल की उम्र में उस दिन उसे लगा, जैसे एकाएक उस पर बुढ़ापा आ गया हो...।

अँधेरे की गुफ़ाओं में भटकते आधी रात हो चुकी थी, जब एक आवाज़ ने वे सबके सब चित्र मिटा दिए।

आवाज़ शायद किवाड़ के चरमराने की थी, उसकी आँख खुल गई। अँधेरे में एक हल्की-सी दरार नज़र आ रही थी, जो धीरे-धीरे बढ़ रही थी। एक चेहरा दरार से अन्दर झाँक रहा था। सहसा दरार बन्द हो गई और दरवाज़े के पास कुछ देर दो अस्पष्ट स्वर फुसफुसाते रहे। फिर उसी तरह दरार बनी और एक छाया कमरे में आकर किवाड़ बन्द कर लेने की चेष्टा करने लगी।

"तू मेरी बात नहीं सुनेगी न?" बाहर की छाया ज़बर्दस्ती किवाड़ों के बीच आ गई।

"तुझसे कहा है कि तू आज रात भर उधर सो जा...।"

"और मैंने कह दिया है कि अब और ज़्यादा बात मत करो," अन्दर की छाया का स्वर थोड़ा ऊँचा हो गया, "अपना कमरा छोड़कर मैं उधर के कमरे में क्यों सोऊँ?"

किवाड़ों के बीच खड़ी छाया का स्वर हताशा से काँप गया, "कह रही हूँ, आहिस्ता बात कर। वह अगर जाग जाएगी, तो...।"

"तो? क्या हो जाएगा जाग जाएगी तो?"

दूसरी छाया भी अब अन्दर आ गई और पहले से और दबे हुए स्वर में बोली, "मगर तू एक रात उस कमरे में सो लेगी तो अन्धेर क्या हो जाएगा? मैं तेरे कपड़े तुझे वहीं दिए देती हूँ।"

"मैंने कह दिया है कि मैं अपने कमरे में और सिर्फ़ अपने कमरे में ही सोऊँगी। समझ गईं या नहीं?"

"तू बात सुनती क्यों नहीं? तुझसे उधर लड़की के पास नहीं सोया जाता तो मैं उसे उठाकर यहाँ ले आती हूँ...।"

"फिर कह रही हूँ कि मैं उस कमरे में नहीं सोऊँगी, हरगिज़ हरगिज़ नहीं सोऊँगी। सुबह उठो नहीं कि स्टोव की बदबू...मुझसे स्टोव की बदबू बर्दाश्त नहीं होती।"

"एक रात की ही तो बात है...!"

"एक रात की ही तो बात है! तुम जाकर अपने कमरे में सो जाओ न! क्यों ख़ामख़ाह चख किए जाती हो?"

"अच्छा कम से कम बत्ती मत जलाना।"

"क्यों?"

"कह जो दिया। तू दूसरे की कोई तो बात माना कर।"

"और तुम भी कभी किसी की कोई बात मान लिया करो। अब जाओ और जाकर सो रहो।"

और वह छाया दूसरी छाया को कमरे के बाहर पहुँचा आई। फिर कुछ ही क्षणों में कमरे की बत्ती जल उठी।

श्यामा ने आँखें बन्द कर लीं और जिस तरह पड़ी थी, उसी तरह पड़ी रही। सीमा पहले उसके बिस्तर के पास आकर, उसपर झुकी हुई न जाने क्या देखने की चेष्टा करती रही। उसकी साँस से कुछ वैसी ही गन्ध आ रही थी, जैसी...ब्याह की रात को जैसी गन्ध देव की साँस से आ रही थी। तो क्या...क्या सीमा शराब पीकर आई थी? साँस करीब से करीबतर आ रही थी। उस साँस के साये में आँख मूँदकर पड़े रहना श्यामा को असम्भव लगने लगा। मन हुआ कि झटके से उठकर बैठ जाए और उस साँस की जालियों से अपने को मुक्त कर ले। दो-एक क्षण भी सीमा और उसी तरह झुकी रहती तो शायद वह फटी-फटी आँखों से उसे देखती हुई सचमुच उठकर बैठ जाती। मगर अचानक ही वह साँस उससे दूर चली गई और वह पानी की गहरी सतह से जैसे ऊपर हवा में तैर आई।

कुछ देर वह राह देखती रही कि सीमा बत्ती बुझा दे तो वह करवट बदलकर सो जाने की कोशिश करे। मन ही मन आहटों से अन्दाज़ा लगाती रही कि अब सीमा साड़ी उतार कर नाइट गाउन पहन रही होगी, अब चेहरे पर क्रीम लगा रही होगी, अब बालों से पिनें निकाल रही होगी और अब शायद बत्ती बुझाने के लिए बटन की तरफ़ जा रही होगी। मगर कई बार कई तरह से आहटों के अर्थ लगा चुकने पर भी बत्ती नहीं बुझी तो उसने देखने के लिए आँख ज़रा सी खोल ली।

सीमा ड्रेसिंग टेबल के पास खड़ी थी और चेहरा आईने के बहुत पास ले जाकर उसमें न जाने क्या देख रही थी! ब्रेसियर और पेटीकोट के अलावा शरीर पर और कुछ नहीं था। हाथ पीछे से ब्रेसियर का बकल खोलने की चेष्टा में रुके हुए थे। एक बार उसने होंठ भीचे हुए आड़े और तिरछे कोण से अपने को देखा, फिर होंठ ढीले छोड़कर जैसे हँसने की चेष्टा करते हुए उसी तरह देखा। कुछ क्षण वह गरदन ऐंठकर जैसे उसके जोड़ को हिलाकर देखती रही, फिर एक झटके से बालों को माथे पर लाकर उनकी जाली के अन्दर से अपने को देखने लगी। तभी उसके हाथों ने पीछे फीते को खींच दिया और अगले ही क्षण कन्धों के फीते भी नीचे फिसल गए। सहसा बत्ती की रौशनी सीमा के गोरे शरीर में प्रतिबिम्बित हो उठी।

श्यामा ने आँखें हटा लीं, फिर बन्द कर लीं। उसे लगा, जैसे उसे सीमा के सुडौल शरीर से ईर्ष्या हुई हो। सीमा की पीठ पर बनी हुई फीते की लास और कोमल

मांस में खोई हुई-सी उसकी रीढ़ की हड्डी...वह भाव ईर्ष्या का नहीं तो और किस चीज़ का था? क्या उसके मन ने नहीं चाहा था कि वह सीमा के कन्धों के आगे जाकर भी देख सकती, ...कि वह आईने के इस तरफ़ न होकर उस तरफ़ होती...? परन्तु उस इच्छा का कारण क्या ईर्ष्या ही थी या और कुछ? क्या उफनते हुए झाग की तरह एक सन्देह उसके मन में नहीं फैल रहा था?

उसकी आँखें फिर पल भर के लिए खुल गईं। आईने की तरफ़ पीठ किए सीमा अब सीधी खड़ी थी और उसी की तरफ़ देख रही थी। उससे आँख मिलने पर वह जैसे व्यंग्य के साथ मुस्कराई और एक हाथ नाइट गाउन में उलझाए उसने जाकर दूसरे हाथ से बत्ती बन्द कर दी। पल भर बाद साथ के बिस्तर पर आकर लेटते हुए उसने कहा, ''गुड नाइट, भाभी।''

श्यामा को लगा जैसे उसे चोरी करते पकड़कर उसके मुँह से चोरी का इकबाल कराया जा रहा हो। ''गुड नाइट,'' उसने धीरे से कहा और करवट बदल ली। मगर करवट बदलकर भी उसे लगता रहा, जैसे सीमा की आँखें अँधेरे में उसे चीर कर जा रही हों, उसके शरीर को ही नहीं, मन के एक-एक भाव को भी, और जैसे वे उसके व्यक्तित्व के हर रेशे को अलग-अलग करके देख लेना चाहती हों।

वह काफ़ी देर उसी करवट लेटी रही। जब उसने करवट बदली तो देखा कि सीमा गहरी नींद में सो रही है।

श्यामा का मन बहुत उलझ रहा था कि वह लड़की इतनी बड़ी बनने की कोशिश क्यों कर रही है। उसकी बात के निहित संकेत से मन में ग्लानि का अनुभव भी हो रहा था। उसने एक बार अपने माथे को अँगूठे से मल लिया और धीरे से कहा, ''मैंने बताया था कि बड़े शहरों में रहने की अब मुझे आदत नहीं रही। साल-छः महीने के बाद यहाँ से घबराकर भागूँ, उससे अच्छा है कि अभी चली जाऊँ।"

''तुम फ्रैंक नहीं हो। मैं बहुत फ्रैंक बात कर रही हूँ।'' सीमा उसके कूल्हे पर कुहनी रखकर थोड़ा आगे को झुक गई। ''मुझे लुकाव-छिपाव रखना ज़रा अच्छा नहीं लगता। ममी से इसी बात पर मेरी लड़ाई हो जाती है।...मेरा एक ब्वॉय फ्रेंड है, अख़्तर। वह अक्सर घर पर मुझ से मिलने के लिए आता है। सिनेमा वगैरह भी मैं उसी के साथ जाती हूँ। बहुत कल्चर्ड और समझदार लड़का है, बड़े-बड़े लिट्रेरी लोगों के साथ उठता-बैठता है। आज भी वही मुझे डिनर के लिए ले गया था और अभी घर पर छोड़ने आया था। मुझे वह बहुत अच्छा लगता है। मेरा ख़याल है वह भी मुझे बहुत पसन्द करता है। मगर ममी को वह इसलिए पसन्द नहीं कि उसका नाम सुरेश या रमेश नहीं, अख्तर है और वह नमस्ते की जगह आदाब अर्ज़ कहता है। मुझे इन बातों से बहुत चिढ़ होती है। आदमी को नाम और जात पूछकर पसन्द किया जाता

है? मैंने ममी से कह दिया है कि यह मेरा पर्सनल मामला है, वे इसमें दख़ल न दें। देंगी, तो मैं अपना रहने का अलग इन्तज़ाम कर लूँगी। अभी पूरी तरह से उनकी आदत नहीं बदली, मगर जितना दख़ल पहले देती थीं, उतना अब नहीं देतीं। मैं तुमसे यही कहना चाहती हूँ कि मैं अगर घर में बहुत फ्रैंकली, अपने ढंग से रह सकती हूँ, तो तुम भी फ्रैंक होकर जैसे भी रहना चाहो, रह सकती हो। कम-से-कम मेरी तरफ़ से तुम्हें किसी तरह की दिक़्क़त नहीं होगी। ममी दो-चार दिन कुढ़ लेंगी, उसके बाद अपने-आप ठीक हो जाएँगी। यू नो, उनके लिए सवाल उनके लड़के का है। वे शायद सोचें कि उन्हें लड़के की इज़्ज़त की रक्षा करनी है। मैं भी देव भैया से कम प्यार नहीं करती थी और आज भी मेरे मन में उनके लिए बहुत इज़्ज़त है, मगर फ्रैंकली स्पीकिंग मैं तुम्हारी सिचुएशन को भी अच्छी तरह समझ सकती हूँ। यू आर स्टिल यंग एण्ड...।''

श्यामा का हाथ कब उठा और कब सीमा के गाल से जा टकराया, इसका पता उसे स्वयं नहीं चला। उसने इतना ही देखा कि सीमा के गले पर उसकी अँगुलियों के निशान उभर आए हैं और सीमा की आँखें एकदम सुर्ख हो उठी हैं। सीमा तड़प कर उसके पास से उठ खड़ी हुई। ''यू...यू...यू...।'' आवेश के मारे उसकी आवाज़ घरघराकर रह गई।

"जाकर अपने बिस्तर में सो रहो,'' श्यामा ने कठिन आदेश के स्वर में कहा। सहसा अन्दर से उसे बहुत शिथिलता अनुभव होने लगी थी। परिस्थिति के इस नए रुख के लिए वह तैयार नहीं थी।

''तुम मुझे छूकर तो देखो अब, अगर मैं...,'' सीमा चिल्लाकर बोली। ''मैं अगर...।" वह पल भर हाँफती रही। ''इस तरह अपने को पारसा बताना चाहती हो तुम? वहाँ अकेले घर में रहकर क्या करती हो, इसका तुम समझती हो किसी को पता नहीं है? लोगों को चिट्ठियाँ लिख-लिखकर अपने पास बुलाती हो और...।''

श्यामा के माथे पर पसीने की बूँदें झलक आईं। ''मैंने कहा है चुपचाप जाकर अपने बिस्तर में सो रहो,'' उसने कमज़ोर स्वर में दोहरा दिया।

''यह किसकी की चिट्ठी है?'' सीमा जाकर सहसा अलमारी में से एक पुराना लिफ़ाफ़ा निकाल लाई। ''तुम्हारी या किसी और की? कौन है जिसे वहाँ दशहरा देखने के लिए बुलाया था? इस पर भी अपनी पारसाई दिखाते शरम नहीं आती?''

चिट्ठी का लिफ़ाफ़ा श्यामा के मुँह से आ टकराया। उसकी लगाई हुई चपत का जैसे वह उससे कहीं करारा उत्तर था। वह फटी-फटी आँखों से लिफ़ाफ़े को देखती रह गई। रिटर्न्ड लैटर ऑफ़िस से लौटकर आया हुआ वह पत्र कल कुमार से मिलने जाने के समय उसने सूटकेस से निकाला था। रात को शायद कपड़ों की तह

में रख दिया था। इससे पहले कि वह कुछ भी कह पाती, एक प्रेत-सी छाया दरवाज़े के पास से हट गई। माँ जी कब से वहाँ खड़ी थीं, इसका वह अनुमान नहीं लगा सकी।

श्यामा का अचानक दफ़्तर में आ पहुँचना कुमार के लिए अप्रत्याशित नहीं था, फिर भी एकाएक उसे सामने देखकर अपने को सहेजने में उसे थोड़ा समय लगा। पहली नज़र में उसे लगा कि श्यामा पहले से बहुत बदल गई है, न सिर्फ़ चेहरा पहले से दुबला हो गया है, बल्कि पहले जैसी चमक भी अब उसमें नहीं है। रंग भी उसका पहले से साँवला लगा। मगर आँख के थोड़ा अभ्यस्त होते ही अनुभव का रूप बदलने लगा। क्या यह सम्भव था कि समय गुज़रने के साथ व्यक्ति के चेहरे का आकर्षण बढ़ जाए, वह पहले से युवा लगने लगे? ख़ासतौर पर तीस-पार के सालों में?

श्यामा केबिन में दाखिल हुई, तो वह रूबी को डिक्टेशन दे रहा था। रूबी हमेशा की तरह सिर झुकाए, अपने में डूबी उसके बोले हुए शब्दों को आड़ी-तिरछी लकीरों में बदलती जा रही थी, जैसे कि ध्वनियों के प्रभाव से उसके हाथ अपने आप हिल जाते हों जैसे बोलने वाली ज़बान और लिखने वाले हाथ दोनों एक ही विद्युतयन्त्र के दो हिस्से हों। श्यामा के अन्दर आने के साथ ही आले का स्विच एकाएक बन्द हो गया। ''अरे!'' कुमार ने कहा और फिर हल्के-से वक़्फे के बाद, ''तुम?''

श्यामा मुस्कराई। ''मैंने आकर डिस्टर्ब तो नहीं किया?'' और वह सामने की कुर्सी पर बैठ गई।

''नहीं, नहीं'', कुमार सकपकाया-सा पल भर कहने के लिए शब्द ढूँढ़ता रहा। ''मैं तो बल्कि सोच रहा था कि...।''

उसने अचानक मेज़ की दराज़ खोली और बन्द कर दी। ''तुम्हें यहाँ पहुँचने में असुविधा तो नहीं हुई?''

''नहीं। इस शहर में तो कोई भी जगह आसानी से ढूँढ़ी जा सकती है।

रूबी ने कॉपी-पेंसिल समेट ली थी। कुमार से आँख मिलते ही वह सिर हिलाकर उठ खड़ी हुई। ''मैं इतना हिस्सा टाइप कर लूँ?''

''हाँ, हाँ,'' कुमार जल्दी में बोला। ''इतना हिस्सा टाइप कर लो। इससे आगे मैं...मगर नहीं, अभी रहने दो। मैटर पूरा हो जाए, तभी टाइप करना। आगे का मैटर मैं...मेरा ख़याल है इसे कल पर ही रहने दिया जाए। बाक़ी डिक्टेशन मैं सुबह आकर दूँगा। इस वक़्त शायद मुझे बाहर जाना पड़ेगा...।''

''कहीं बाहर जा रहे हो?'' रूबी चली गई तो श्यामा ने पूछा। उसकी आँखें एक बार सागवान की केबिन में चारों तरफ़ घूम मई।

''नहीं...हाँ... सोच रहा था कि शायद...।''

''शायद मुझे लेकर बाहर जाना पड़े? नहीं, मैं तुम्हारा ज़्यादा वक़्त बर्बाद नहीं करूँगी। मैं सिर्फ़ पाँच-दस मिनट के लिए आई हूँ। दो-एक दिन में वापस जा रही हूँ, इसलिए सोचा कि जाने से पहले एक बार तुमसे मिलकर तुम्हारे हालचाल पूछ लूँ।''

''तो तुम्हारा मतलब है कि...।''

श्यामा बात पूरी होने की प्रतीक्षा करती हुई चुपचाप उसे देखती रही।

''तुम्हारा मतलब है कि तुम...।''

क्षणभर बात रुकी रही। श्यामा उसी तरह वाक्य पूरा होने की प्रतीक्षा करती रही।

''तुम सचमुच कल-परसों तक वापस जा रही हो?''

''क्यों?'' श्यामा के होंठों पर फीकी मुस्कराहट आ गई। ''नहीं जाना चाहिए क्या?''

क्षण...दो क्षण...तीन क्षण...समय बढ़ता गया, मगर वे लोग जैसे जहाँ-के-तहाँ स्थिर रहे...बीतते हुए क्षण से निरपेक्ष...!

कुमार सहसा कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। कुर्सी की पीठ पर लटका हुआ कोट उठाकर उसने कन्धे पर डाल लिया और बोला, ''चलो, बाहर चलते हैं।''

श्यामा उसके बाद भी दो-एक क्षण जैसे उस विराम पर ही ठहरी रही। फिर अपने को झटक कर उठ खड़ी हुई। ''चलो, कहाँ चलना है?''

''कहीं भी चलेंगे,'' कुमार ने दरवाज़ा खोल दिया। केबिन में से निकलते हुए श्यामा को लगा जैसे वह एक बन्द डिब्बे में से बाहर आ रही हो। बाहर आकर बन्द दरवाज़े पर एक नज़र डालकर उसने पूछा, ''तुम्हारा यहाँ दम नहीं घुटता?'' कुमार को लगा जैसे बहुत पहले की सुनी हुई कोई बात उसके सामने दोहराई गई हो। वह उत्तर न देकर चुपचाप लिफ़्ट की तरफ़ बढ़ गया।

रास्ते भर वे लोग ख़ामोश रहे। रेशम भवन के चाय घर में आकर भी कुछ देर उनकी ख़ामोशी नहीं टूटी। बैठकर बातें हुईं—कुछ ऐसी : ''कौन-सी चाय लोगी?'' "...चाय और चाय में भी फ़र्क़ करना होगा क्या?"...मगर उनके बीच की ख़ामोशी ज्यों-की-त्यों बनी रही।

''इस शहर में जी लग गया है?'' आख़िर श्यामा ने बात शुरू की।

कुमार ने ख़ास ढंग से होंठ हिला दिए। ''जी लगने न लगने की बात ही कौन सोचता है? और सच तो यह है कि कोई भी बात सोचने का मौक़ा नहीं आता। वक़्त ही नहीं मिलता।''

"अच्छा ही है जो वक़्त नहीं मिलता। दूसरी तरफ़ हम जैसे लोग हैं जिन्हें सिवाय सोचने के कुछ काम ही नहीं रहता।"

"चेहरे से तो नहीं लगता कि बहुत सोचती हो...।" कुमार किसी तरह कह देना चाहता था कि उसके चेहरे पर अब पहले से ज़्यादा ताज़गी नज़र आती है।

"मतलब बिलकुल जड़ नज़र आती हूँ?"

"ऐसा तो नहीं, मगर हाँ, तुम्हारी बात का मतलब यह हुआ कि हम जैसे लोग जो कुछ नहीं सोचते, वे बिलकुल...।"

श्यामा हँस दी। मगर वह हँसी कुछ बँधी-बँधी-सी थी, पहले की-सी उन्मुक्तता उसमें नहीं थी। "...हालाँकि तुम्हारे चेहरे से लगता है कि रात-दिन तुम्हें चिन्ताएँ-ही-चिन्ताएँ घेरे रहती हैं।"

कुमार सामने दीवार पर बनी हुई आकृतियों को देखने लगा। "कह नहीं सकता," उसने कहा। कई-कई बार तो सिर इस तरह पथरा जाता है कि समझ में ही नहीं आता कि दिमाग़ में कुछ सोचने की ताकत रह भी गई है या नहीं।"

श्यामा का हाथ ज़रा-सा हिला, मगर जैसे काँपकर ही रह गया। कुमार को लगा जैसे उस हाथ ने उसके हाथ को ढाँप लेना चाहा हो, मगर संकोच के मारे ऐसा न कर पाया हो। बीते हुए दिनों का अभ्यास शायद उसे अभी नहीं भूला था।

"तुम्हारी उनका क्या हाल है?"

कुमार चौंक गया। "किनका...?"

"उन्हीं का जो ब्याह करके कलकत्ता चली गई थीं? आजकल भी क्या वे कलकत्ता में ही हैं?"

"नहीं। आजकल वे लोग शायद मद्रास में हैं। जाने कौन आया था जो बता रहा था।"

"खुश हैं?"

"कैसे कह सकता हूँ? सोचना चाहिए कि खुश ही होगी। अब तो उसके दो-एक बच्चे भी हो गए हैं।"

"बच्चे हो जाने से क्या होता है? खुशी तो इनसान को...," कहने-कहते श्यामा अटक गई। चेहरे पर हल्की स्याही उतर आई। चाय के दो घूँट भरकर उसने बात आगे पूरी की। "खुशी तो इनसान को बच्चों से भी मिलती है, मगर वह खुशी अपनी तरह की होती है। उसके अलावा भी तो खुशी इनसान चाहता है?"

कुमार प्याली के दस्ते में उँगलियाँ उलझाये हुए कुछ देर चुप रहा। फिर बोला, "खुशी क्या होती है, क्या नहीं, ये बातें सोचना ही बेकार लगता है। जो लोग खुश रह सकते हैं, उन्हें खुशी की परिभाषा ढूँढ़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती। जिन्हें खुशी नहीं मिलती, वही लोग इस समस्या को लेकर परेशान रहते हैं।"

श्यामा कुछ देर गम्भीर होकर उसकी तरफ़ देखती रही। फिर बोली, ''तुम उन दिनों तो इस तरह निराशा की बातें नहीं करते थे। लगता है इस बीच अन्दर-ही-अन्दर और उलझ गए हो। एक बार अपने को सुलझा क्यों नहीं लेते?''

''सुलझा लेने से मतलब कि किसी मानसिक चिकित्सालय में क्यों नहीं चला जाता?''

''धत्!'' श्यामा का हाथ अब सचमुच उसके हाथ के ऊपर आ गया। उस स्पर्श का रोमांच सारे शरीर में फैल गया। ''मेरा मतलब इतना ही है कि यह अकेलापन और कब तक ढोए जाओगे? कोई अच्छी-सी लड़की ढूँढ़कर ब्याह क्यों नहीं कर लेते?''

कुमार के चेहरे पर एक विकृत-सी हँसी की रेखा आ गई। श्यामा की आँखें जैसे अपराध के अनुभव से झुक गईं। उसे लगा कि वह हँसी उसी के ऊपर किया गया व्यंग्य है। ''मैंने तुमसे कहा था कि जाकर तुम्हें पत्र लिखूँगी। मगर वहाँ जाकर कई दिन और-और झंझटों में नहीं लिख पाई। बाद में एक पत्र लिखा था...।''

कुमार का चेहरा ऐसे बन गया था जैसे उसे एक कहानी सुनायी जा रही हो। उसके होंठों की विकृत मुस्कराहट और व्यंग्यात्मक हो उठी। ''किसे? मुझे?''

श्यामा ने आँखें मूँदकर हल्के से सिर हिलाया। ''हाँ, तुम्हीं को लिखा था। मगर वह पत्र तुम्हें मिला नहीं। वापस आ गया। तब तक तुम वहाँ से चले गए थे।''

''कब की बात है यह?'' कुमार के चेहरे से व्यंग्य धुल गया और एक विचित्र-सा सूनापन उस पर घिरने लगा।

''जब तुम्हारे पास से गई थी, उससे दो या अढ़ाई महीने बाद की। दशहरे की छुट्टियाँ थीं उन दिनों। मैंने तुम्हें लिखा था कि हो सके तो तीन-चार दिन के लिए वहाँ चले आओ। उस दिन स्टेशन पर तुम्हें बहुत उदास देखा था। रह-रहकर मन में अपराध का अनुभव होता था कि शायद उस उदासी का थोड़ा बहुत कारण मैं भी हूँ।

कुमार देखता रहा—जैसे कि अपनी सूनी आँखें उसके सामने हों और वह स्वयं को उनमें डूबते...और...और डूबते देख रहा हो।

''तुम इतनी जल्दी वहाँ से छोड़-छाड़कर क्यों चले गए थे?''

कुमार जैसे सूनेपन के अतल में चला गया था, बहुत चेष्टा करके अपने को वहाँ लौटा पाया। ''मैंने तुम से कहा था कि मैं ज़्यादा दिन वहाँ नहीं रहूँगा। तुम्हारे जाने के पन्द्रह दिन बाद मैंने त्यागपत्र दे दिया था। उसके महीना भर बाद वहाँ से चल पड़ा था।''

फिर कुछ देर ख़ामोश रहकर दोनों एक-दूसरे की तरफ़ देखते रहे—जैसे नए सिरे से एक दूसरे को पहचानने का प्रयत्न कर रहे हों। कुमार देख रहा था श्यामा की

आँखों में उमड़ते हुए भाव को और श्यामा देख रही थी उसके समूचे व्यक्तित्व से झाँकते हुए गहरे अभाव को।

"उस दिन तुम्हें दिखाने के लिए मैं वह पत्र साथ लाई थी," मेज़ पर पड़ी हुई पानी की बूँदों से उँगलियाँ छुआ-छुआ-कर श्यामा उनसे लकीरें खींचती हुई बोली, "मगर तुम उस दिन शायद आ नहीं सके, या...।"

"तुम आई थीं उस दिन?"

श्यामा ने सिर हिलाया। "हाँ, बल्कि उस पत्र की वजह से बाद में...।"

कुमार अपनी छिंगुली से माथे को कुरेदने लगा। फिर एक खुश्क-सी हँसी हँस दिया। श्यामा आश्चर्य से उसकी तरफ़ देखती रही।

"कितनी विचित्र बात है," कुमार बोला, "कि दोनों बार...यह कोई नाटक है क्या जिसमें इस तरह की घटनाओं का होना अनिवार्य है? मैं उस दिन छः बीस तक इन्तज़ार करके यहाँ से गया था। मुझे यही ख़याल था कि तुम जान-बूझकर नहीं आईं क्योंकि...।"

"मैंने जब तुम्हें वक़्त दिया था, तो जान-बूझकर न आने की क्या वजह हो सकती थी?"

कुमार जो बात कहना चाहता था वह उससे नहीं कही गई। उसके गले में शब्द अटकने लगे। "कुछ नहीं,...ऐसे ही...मैंने सोचा कि...हो सकता है...शायद...।"

साथ के ऑडिटोरियम में शो शुरू हो रहा था। आसपास की मेज़ों से उठकर कुछ लोग उधर जा रहे थे। कुमार कुछ देर उस तरफ़ देखता रहा। फिर बोला, "तुम क्या यहीं बैठना पसन्द करोगी? उठकर किसी और जगह न चलें?"

"क्यों?"

'ऐसे ही पूछ लिया है।"

"यह जगह बुरी तो नहीं है...।"

"तो ठीक है," कहकर कुमार कुछ देर चुप रहा। फिर बोला, "न जाने कैसी आदत हो गई है कि दफ़्तर के अलावा और किसी जगह देर तक बैठ ही नहीं पाता। दफ़्तर में तो मन मारकर बैठना ही पड़ता है। यही एक जगह थी जहाँ आकर कभी-कभी कुछ देर बैठ लिया करता था। मगर उस दिन यहाँ भी देर तक नहीं बैठा गया और आज भी न जाने क्यों यहाँ से मन उखड़ने लगा है...।"

पुराने दिनों का-सा ही आवेग क्षण भर के लिए श्यामा की आँखों में झलक गया। "उतावलापन तो उन दिनों भी तुम्हारे स्वभाव में कम नहीं था," उसने कहा।

"यह सिर्फ़ उतावलेपन की ही वजह से नहीं है," कुमार फिर दूसरी तरफ़ देखने लगा। "इसकी वजह...या वजह शायद कुछ भी नहीं है...सिवाय मेरे पागलपन के।"

श्यामा देखती रही। उसकी उँगलियों ने मेज़ पर पानी की कितनी ही जालियाँ बना दी थीं। अब वह दायरे खींच-खींचकर जालियों को मिटा रही थी, इतनी सावधानी से कि कहीं कोई रेखा बनी न रह जाए, सब मिट जाएँ, यहाँ तक कि गोलाइयों की रेखाएँ भी।

"उस दिन चाह रहा था कि तुमसे भेंट हो जाए," कुमार कहता रहा। "मगर शायद...देखो, जब उठकर यहाँ से चला था, तो ख़याल था कि शायद अब भी तुम आ जाओ। यही डर था शायद, जिसने जल्दी यहाँ से उठा दिया था...हालाँकि कहीं जाने की जल्दी नहीं थी। काफ़ी देर बैठा रहा था, यहाँ, फिर कुछ देर बाहर भी खड़ा रहा था। मगर जिस क्षण लगा कि अब और रुकने पर...कह नहीं सकता क्यों मैं सहसा चल दिया था। मुझे अन्दर से लग रहा था शायद वैसा लगना ग़लत भी हो। तुम उस दिन बाद में आई थीं...और मैं भी उस समय सोच रहा था कि शायद... ख़ैर उस बात को अब जाने दो।...यह अच्छा नहीं कि सारे समय आज मेरे ही बारे में बातें होती रहें। मुझे तुम्हारे बारे में भी तो जानना चाहिए।"

जालियाँ मिट गई थीं और मेज़ के एक-तिहाई हिस्से पर पानी का नन्हा-सा द्वीप बन गया था। आसपास के कुछ रंग उस द्वीप में झलक रहे थे–एक दूसरे में खोये-खोये और काँपते हुए।

"मेरे बारे में जानने को क्या है?" श्यामा काँपते हुए रंगों को उँगली से सहलाती हुई बोली। "जिस तरह पहले पढ़ाती थी, उसी तरह अब भी पढ़ाती हूँ। जैसे उन दिनों रहती थी, वैसे ही अब भी रहती हूँ।"

"अच्छा ही है अगर ज़िन्दगी एक तरह चलती रहे और उसे लेकर इनसान को कभी मन में अस्थिरता का अनुभव न हो...।"

श्यामा ने पानी के द्वीप से कुछ रेखाएँ बाहर को निकाल दीं और आँखें उठाकर बोली, "जानती हूँ कि तुम यह क्यों कह रहे हो। मगर अपनी अस्थिरता पर काबू पाने का प्रयत्न तो इनसान कर ही सकता है।"

"हाँ, ठीक है," कुमार की पलकें कुछ देर झुकी रहीं। "प्रयत्न तो किसी भी चीज़ के लिए किया जा सकता है। सवाल तो यही है कि उसमें इनसान को सफलता कहाँ तक मिलती है। किसी एक को सफलता मिल सकी है, यह जानकर सचमुच ईर्ष्या होती है।"

"दूसरे शब्दों में तुम्हें विश्वास नहीं है कि...।"

"विश्वास न हो, तो ईर्ष्या क्यों होगी? विश्वास है, इसीलिए तो मन में ईर्ष्या जागती है। बिना समाधान के व्यक्ति अपनी समस्या को सुलझा ले, इससे बड़ी सफलता और क्या हो सकती है?"

श्यामा अपनी गीली उँगलियों को सूखी उँगलियों से सुखाने लगी। "मैं नहीं जानती थी कि तुम मेरे ऊपर भी इस तरह व्यंग्य करोगे।"

"व्यंग्य नहीं है, श्यामा! यह केवल अपनी असमर्थता की स्वीकृति है। मैं सोचता था कि समस्या समाधान से ही सुलझ सकती है। उसी का परिणाम यह है कि...।"

"क्या परिणाम है?" श्यामा कुछ उतावली में बोली। "कुछ साल बड़े हो जाने के अलावा और तो कोई परिणाम नहीं है।"

"कितना अच्छा होता, जो केवल इतना ही परिणाम होता। मगर इतना ही तो परिणाम नहीं है...।"

उँगलियाँ सूख गई थीं, मगर श्यामा उन्हें मल-मलकर और सुखा लेने की चेष्टा में थी। "और क्या परिणाम है? कुछ बाल भी सफ़ेद हो गए हैं, यह?"

"नहीं, इसके अलावा भी तो बहुत कुछ है।" फिर पल भर चुप रहने के बाद उसने पूछा, "तुम ठहरी कहाँ हो?"

"सैंटाक्रुज़।"

"कोई परिचित रहते हैं वहाँ?"

"अपने घर के ही लोग हैं। माँजी और सीमा पूना से यहाँ आ गई हैं।"

"तो इसका मतलब है कि तुम्हारा असली घर अब बम्बई में ही है।"

"एक तरह से कहा भी जा सकता है।"

"तुम यहाँ छुट्टी बिताने आई होगी?"

श्यामा ने सिर हिला दिया।

"अभी छुट्टी काफ़ी बाक़ी होंगी?"

श्यामा ने फिर सिर हिला दिया।

"तो इतनी जल्दी क्यों जा रही हो?"

"ऐसे ही...। पहले ख़याल था रहने का...मगर यहाँ आकर...।"

"यहाँ आकर ख़याल बदल गया है?"

श्यामा अनिश्चित-सी दृष्टि से दूसरी तरफ़ देखने लगी। "हाँ, यहाँ आकर ख़याल बदल गया है।"

"क्यों?"

"ऐसे ही। फ़्लैट ख़रीदा था, तो सोचा था कि शायद...मगर अब यही कह सकती हूँ कि यहाँ आकर मन नहीं लगा।"

"क्यों?"

श्यामा कुछ न कहकर उसी तरह दूसरी तरफ़ देखती रही।

"फ़्लैट तुमने ख़रीदा था यहाँ?"

श्यामा ने सिर हिला दिया। "मेरे और मांजी के नाम से है।"

"फिर भी तुम...?"

श्यामा ने मुस्कराने की चेष्टा की। ''हाँ, फिर भी मैं वापस जा रही हूँ।'' फिर जैसे अपने को सहेजते हुए उसने कहा, ''अब यहाँ से भी मुझे चलना चाहिए। नहीं तो घर पहुँचने में बहुत देर हो जाएगी...।''

''ठीक है।'' कुमार ने बैरे को बिल लाने के लिए संकेत कर दिया। ''दिन रहते घर पहुँच जाना चाहिए न!''

रेशम भवन से बाहर आकर स्टेशन की तरफ़ चलते हुए श्यामा ने पूछा, ''तुम यहाँ किस तरफ़ रहते हो?''

कुमार का ध्यान बात में नहीं था। चौंककर बोला, ''क्या कहा तुमने...?''

''अच्छा हाँ...मैं यहाँ बान्द्रा में रहता हूँ।''

''अकेले...?''

''हाँ, रहता अकेला ही हूँ, हालाँकि...।''

श्यामा ने चलते-चलते एक बार नज़र भरकर उसकी तरफ़ देख लिया। कुमार पल भर चुप रहा। फिर बोला, ''देखो, एक बात है जो मैं तुम्हें उसी समय बता देना चाहता था।... डेढ़ साल हुआ...मैंने ब्याह कर लिया था।''

''अच्छा?'' श्यामा के मुँह से शब्द कठिनाई से बाहर आए। ''यह तो बहुत-बहुत खुशी की बात है। तुमने पहले क्यों नहीं बताया?''

''बताना चाहता था मगर...मगर...बात मुँह पर आकर रह गई थी।''

''...तो अब भी अकेले क्यों रहते हो?''

वे स्टेशन की सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे। कॉरिडोर में आकर कुमार ने एक नज़र टिकट ख़रीदने वाली भीड़ पर डाली और बोला, ''मैं जल्दी से टिकट ले जाऊँ। नहीं तो यह गाड़ी हम मिस कर जाएँगे।''

वे लोग लगभग चलती गाड़ी में चढ़े, अलग-अलग डिब्बों में। सामने का डिब्बा केवल स्त्रियों के लिए था, मगर पता चलने तक श्यामा उसमें चढ़ चुकी थी। कुमार दौड़कर साथ के डिब्बे में चढ़ गया। भीड़ वहाँ इतनी थी कि ठीक से खड़े होने की भी जगह नहीं थी। ग्रांट रोड आने तक धक्के खाते-खाते वह पीछे एक कोने में जा लगा। ग्रांट रोड से बांद्रा तक उसे उसी तरह कोने में खड़े रहना पड़ा, डबल फ़ास्ट गाड़ी बीच के किसी स्टेशन पर नहीं रुकती थी।

बान्द्रा पहुँचने पर गाड़ी से उतरने में काफ़ी समय लग गया। प्लेटफ़ार्म पर आकर वह ठीक से साँस भी नहीं ले पाया था कि गाड़ी आगे चल दी। वह अचकचाया-सा गाड़ी के डिब्बों को गुज़रते देखता रहा। आखिरी डिब्बा गुज़र जाने पर उसे ध्यान आया कि अपने पास के अलावा श्यामा का टिकट भी उसकी ज़ेब में ही है।

''गाड़ी में कुछ खो गया है क्या?''

उसने घूमकर देखा। श्यामा उसके पास ही खड़ी थी।

"नहीं तो।...मैं तुम्हारी ही बात सोच रहा था।"

"सोच रहे थे और देख नहीं रहे थे! मैं तुमसे पहले से उतरकर खड़ी हूँ।"

"और मैं सोच रहा था कि शायद..."

"मैं आगे चली गई होऊँगी? मेरा टिकट तुम्हारे पास है, मैं आगे कैसे जा सकती थी?"

कुमार ने टिकट ज़ेब से निकालकर उसकी तरफ़ बढ़ा दिया।

"मुझे बहुत अफ़सोस है। जल्दी में उस वक़्त तुम्हें दे नहीं सका। अभी दस मिनट में दूसरी गाड़ी आ जाएगी।"

श्यामा टिकट को उँगलियों के बीच घुमाने लगी। "तुम्हारा घर यहाँ से कितनी दूर है?"

"ज़्यादा दूर नहीं है। पैदल पन्द्रह मिनट का रास्ता है।"

"और टैक्सी में?"

"टैक्सी में तीन या चार मिनट लगते होंगे।"

श्यामा की उँगलियाँ टिकट के किनारों पर घूम रही थीं। जैसे उसकी धार देख रही हो। फिर पल भर वह इंडिकेटर की तरफ़ देखती रही।

"इसके बाद दूसरी गाड़ी कब आती है?"

"गाड़ियाँ दस-दस मिनट में आती रहती हैं।...क्यों?"

"सोच रही थी कि...। मगर फिर सोचती हूँ कि जाने-आने में देर हो जाएगी।"

"कहाँ? मेरे घर तक? हाँ, वहाँ तक जाने-आने में आधा घंटा तो लग ही जाएगा।"

श्यामा उसी तरह इंडिकेटर की तरफ़ देखती हुई कुछ सोचती रही। "अगर ठीक आधे घंटे में लौट सकूँ, तो...तो ख़ास देर नहीं होगी। सोचती हूँ कि एक बार चलकर देख तो लूँ कि कहाँ रहते हो और किस तरह रहते हो। इसके बाद तो शायद ही कभी...।"

कुमार ने सिर हिला दिया—पहली बात की स्वीकृति में या दूसरी की, यह उसके अपने मन में स्पष्ट नहीं हो पाया।

एक ही कमरा था, छोटा-सा। किसी के फ़्लैट का हिस्सा था, मगर फ़्लैट के दूसरे कमरों से अलग। बीच में बाँस का पार्टीशन डालकर एक छोटा-सा किचन बना लिया गया था। खाना बनाने का पूरा सामान एक मेज़ पर रखा था। कमरे के आगे छोटी-सी बालकनी थी जो समुद्र के सामने पड़ती थी। कमरे में आते ही श्यामा सीधी बालकनी पर चली गई और कुछ देर वहाँ खड़ी रही। फिर लौटकर बिस्तर के पास रखी हुई कुर्सी पर बैठ गई।

कुमार ने पानी की केतली स्टोव पर रख दी थी और चाकू से स्लाइस काट रहा था। स्लाइस बहुत भद्दे ढंग से कट रहे थे, डबल रोटी दाना-दाना होकर बिखर रही थी। श्यामा कुर्सी से उठकर उसके पास आ गई।

''ठहरो, मैं काटती हूँ,'' कहकर उसने कुमार के हाथ से चाकू ले लिया।

''इतने दिन हो गए मगर मुझे रोटी काटना नहीं आया,'' कुमार अपनी झेंप मिटाने के लिए हँसने लगा।

''तुम वहाँ जाकर बैठ जाओ। मैं अभी चाय बनाकर लाती हूँ।''

''मैं साथ थोड़ी-बहुत मदद नहीं कर सकता?''

''तुमसे कहा है तुम जाकर बैठ जाओ!'' श्यामा का स्वर आदेशात्मक हो गया। ''तुम जिस तरह मदद करोगे, उसके बग़ैर भी चल सकता है।''

कुमार ने फिर कुछ नहीं कहा। सज़ा पाए हुए बच्चे की तरह जाकर कुर्सी पर बैठ गया। श्यामा चुपचाप काम करती रही। उसने नए स्लाइस काटकर टोस्ट बनाए और प्यालियाँ धोकर उनमें चाय डाल ली। फिर इधर-उधर देखते हुए पूछा, ''दूध कहाँ है?''

कुमार अपराधी-सा कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। ''दूध शायद नहीं है,'' उसने कहा। ''मैं अभी जाकर ले आता हूँ।''

''अब रहने दो।'' श्यामा के स्वर में गुस्सा भर आया। वह प्लेट और प्यालियाँ ट्रे में रखकर ले आई।

''रखने की कोई जगह भी तो नहीं है,'' वह बोली। ''अब कह दो कि अभी जाकर एक तिपाई भी ले आता हूँ।''

''तिपाई है,'' कुमार बोला। ''अभी देता हूँ।''

तिपाई कोने में रखी थी, किताबों से लदी हुई। कुमार ने जल्दी-जल्दी किताबें हटाईं और उसे उठाकर ले आया। ''यह लो।''

ट्रे रखकर श्यामा चारपाई पर बैठ गई। ''इस तरह रहना क्या अच्छा लगता है?'' उसने प्याली कुमार के हाथ में देते हुए पूछा।

''कैसा लगता है, यह सोचने का तो अब कोई सवाल ही नहीं है,'' कुमार ने एक चुस्की भरी और प्याली रख दी। ''सिवाय इसके और किसी तरह से रहना सम्भव ही नहीं है। तनख़ाह मिलती है, साढ़े छह सौ। डेढ़ सौ कमरे के किराये के चले जाते हैं और...।''

''मैंने तुमसे तनख़ाह का हिसाब नहीं पूछा,'' श्यामा उसी तलख़ी के साथ बोली, ''मेरा कहना सिर्फ़ इतना ही था कि जब एक बार फ़ैसला कर लिया था, तो उसे निभा क्यों नहीं सके? इस तरह अपनी ज़िन्दगी तो ख़राब कर ही रहे हो, साथ में...।''

''इनसान सिवाय अपने किसी और की ज़िन्दगी बर्बाद कर सकता है, यह बात मेरी समझ में ही नहीं आती,'' कुमार के स्वर में भी कुछ तीखापन आ गया। ''अगर किसी और को यह लगता हो कि उसकी ज़िन्दगी ख़राब हो रही है, तो उसे सुधार लेने का अधिकार तो किसी ने उससे नहीं छीना।''

''यह सब इतना ही आसान है क्या?'' श्यामा की आवाज़ कुछ कमज़ोर पड़ गई।

''आसान नहीं है, यह भी एक झूठा विश्वास ही नहीं है क्या? दो व्यक्ति आसानी से अगर ज़िन्दगी भर के एक रिश्ते में अपने को बाँध सकते हैं, तो असानी से अपने को उससे मुक्त क्यों नहीं कर सकते? इसलिए कि बाँधने में उन्हें समाज का समर्थन प्राप्त था और मुक्त होने में वे अपने को अकेले महसूस करते हैं? इसमें दोष सिवाय झूठे संस्कार के और किस चीज़ का है?''

श्यामा की आँखों में कई भाव एक-साथ लहरा गए। उनमें एक भाव विद्रोह का भी था, दूसरा ममता का भी। वह पलभर अन्तर्मुख रहकर सोचती रही? फिर बोली, ''देखो, मैंने उन्हें देखा नहीं है और न ही उनके बारे में कुछ जानती हूँ। सच पूछो तो मुझे विश्वास ही नहीं होता कि तुमने इस तरह की परिस्थिति को भोगा है या उसके बीच में से होकर निकले हो। मगर यह तुम कैसे कह सकते हो कि दो व्यक्ति एक-दूसरे के पास आने, एक-दूसरे के साथ रहने और जीवन के कई क्षणों को साथ-साथ बाँटने के बाद भी एक-दूसरे से बिलकुल कोरे हो सकते हैं? मैं तो समझती हूँ कि...।''

कुमार हँस दिया। ''एक बात पूछूँ।'' श्यामा के चेहरे के उतार-चढ़ाव पर दृष्टि जमाए हुए उसने पूछा।

श्यामा ने सिर हिला दिया।

''तुम इस तरह अपनी ज़िन्दगी की ही वकालत नहीं कर रही हो?''

''मैं जानती थी कि तुम यही बात कहोगे?'' श्यामा गम्भीर हो गई। ''मैं यह अस्वीकार नहीं कर सकती कि मेरी बात के पीछे मेरा निजी अनुभव भी है। तुम क्या विश्वास के साथ कह सकते हो कि तुम अकेले रहकर भी उस जीवन से कोरे हो सके हो? कि तुम आज इस तरह यहाँ बैठे हुए उस जीवन के प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो? ऐसा होता, तो तुम्हारे स्वर में इतनी कटुता कभी न होती।''

कुमार पल भर चुप रहकर उसे देखता रहा। एक कड़वी मुस्कराहट उसके चेहरे पर फैलकर विलीन हो गई। ''बात कुछ लम्बी हो जाएगी'', उसने कहा। ''और तुम्हारे पास ज़्यादा समय नहीं है। तुम्हारी सूचना के लिए बता दूँ कि स्टेशन से आए हमें आध घंटे से ज़्यादा समय हो चुका है।''

''मैं जानती हूँ।'' कहकर श्यामा जल्दी-जल्दी चाय के घूँट भरने लगी। ''मगर देखो...।'' प्याली उसने नीचे रख दी और रूमाल से मुँह पोंछ लिया। ''मैं इस समय

अपने को दोनों ही ओर से बँधी हुई महसूस करती हूँ। उधर से बँधी हूँ, इसलिए जाने की जल्दी है। परन्तु किसी-न-किसी रूप में तुमसे भी बँधी हूँ, इसलिए बिना पूरी बात जाने, उठकर जाने को भी मन नहीं होता।''

कुमार चुप रहकर तिपाई के तख़्ते और अपने हाथों को देखता रहा, तो श्यामा ने बहुत धीमे आत्मीयतापूर्ण स्वर में फिर कहा, ''बताओ न!... तुम पहले से उन्हें नहीं जानते थे क्या?''

कुमार के मन में जैसे वितृष्णा गहरी होती जा रही थी—वह वितृष्णा अपने वर्तमान और अतीत के प्रति ही नहीं अपने प्रति भी थी और शायद उस क्षण के प्रति भी जिसमें उससे यह बात पूछी जा रही थी। श्यामा के व्यक्तित्व को लेकर वितृष्णा वह नहीं थी—उसके प्रति तो अब भी मन में एक आकर्षण ही था। किसी-न-किसी रूप में बँधे होने की बात श्यामा के लिए ही नहीं, उसके लिए भी सच थी। इतने दिनों से उस बन्धन के कारण ही क्या वह मन में एक उलझन महसूस नहीं करता रहा था? उसके विवाह के निश्चय का कारण भी क्या उस बन्धन से मुक्ति पाने की कामना ही नहीं थी? उसने यही नहीं चाहा था कि जैसे भी हो उसे अपने को उन सब प्रभावों से मुक्त कर लेना चाहिए जो उसके स्वस्थ ढंग से जीने के रास्ते में बाधा बन रहे थे? मन को उलझाने वाले सूत्रों में एक सूत्र श्यामा भी थी, परन्तु अकेली वह तो नहीं...।

''किसी भी बात का पता क्या बताने से ही चल सकता है?'' उसने कहा। "बात अगर नई हो तो उसे बताने का कुछ अर्थ भी है। मगर वही पुरानी बात है जो हज़ारों लाखों लोगों के जीवन में हुई है, हो रही है। उन लोगों में शायद तुम भी हो हालाँकि इस बात को स्वीकार करने में उन दिनों तुम्हें संकोच होता था। आज भी तुम खुलकर स्वीकार कर सकती हो या नहीं, मैं नहीं जानता। मगर जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं अपने को या किसी और को धोखे में नहीं रख सका—शायद उस उतावलेपन की वजह से ही जिसका दोष तुमने कई बार मुझ पर लगाया है। मैंने विवाह किया था। अपनी इच्छा से, मगर एक समझौते के रूप में। उस समय यह नहीं सोचा था—इस तरह का समझौता ज़िन्दगी भर के लिए नहीं चल सकता। अगर चलता है, तो ज़िन्दगी को तोड़कर रख देता है।''

श्यामा की आँखों के भाव हर क्षण बदल रहे थे। वह जो कुछ सुन रही थी, उससे ज़्यादा शायद मन में सोच रही थी। ''मैंने तुम्हारे बारे में नहीं, उनके बारे में पूछा था,'' उसने कहा। ''और यह पूछा था कि क्या तुम उन्हें पहले से जानते नहीं थे?''

''कह नहीं सकता कि मुझे इसका क्या उत्तर देना चाहिए,'' कुमार की आँखें सामने दीवार की दरार पर जम गईं। ''ब्याह से चार-पाँच पहीने पहले तक मेरा उससे परिचय नहीं था। एक मित्र उसके परिवार को जानते थे। उनके कहने से पहले-पहल

जाकर उसे देखा था। साधारण लड़की थी। देखने में अच्छी नहीं लगी, इसलिए वहाँ से लौटकर उस मित्र को पत्र लिख दिया कि मेरी विवाह में रुचि नहीं है। इसका उत्तर उस मित्र की ओर से नहीं आया। उत्तर आया उस लड़की की ओर से ही। उसने लिखा था कि उसे बहुत ग़लत समझ लिया गया है। एक बार किसी को देखकर इनसान उसके बारे में कोई राय बना ही कैसे सकता है? मैंने ग़लती यही की कि उस पत्र का उत्तर दे दिया। उसके बाद उसके कई और पत्र आए। पत्र वह बहुत अच्छे लिखती थी। आखिर एक दिन उसके एक पत्र से प्रभावित होकर ही विवाह के लिए हामी भर दी। उस पत्र में उसने 'आग्नेय ज्वाला' और 'देदीप्यमान ज्योति शिखा' जैसी कई बड़ी-बड़ी बातें लिखी थीं। इसका पता मुझे बाद में चला कि उसकी नज़र में घिसटती हुई मध्यस्तता से जीवन का सूत्र बाँधकर बाद में रात-दिन रोने-चिल्लाने का नाम ही 'आग्नेय ज्वाला' और 'देदीप्यमान ज्योतिशिखा' है!"

"मगर एक बार जब ब्याह कर लिया तो...।"

"तो जैसे-कैसे उसे बनाए रखना आवश्यक है? मगर मैं जानना चाहता हूँ कि क्यों आवश्यक है।" कुमार का स्वर सहसा बहुत तीखा हो गया। "विवाह का अर्थ क्या है? सृष्टि को बनाए रखना? मगर विश्वास रखो हमारे चेतन सहयोग के बिना भी सृष्टि समाप्त नहीं हो जाएगी। जहाँ परस्पर किसी तरह की निर्भरता न हो और न ही उसके विकसित होने की कोई सम्भावना हो, वहाँ विवाह केवल एक ढकोसला है, जिसे बनाए रखने का मुझे कोई अर्थ नज़र नहीं आता।"

"मगर मैं जो बात कहना चाहती हूँ...।"

"तुम जो बात कहना चाहती हो, वह मैं जानता हूँ। हम लोग जिस विषवृक्ष पर उगे हैं, उसकी जड़ों से हमें बहुत प्यार है। हम उस विष के प्रभाव से मुक्ति नहीं चाहते क्योंकि उसमें हमें अपने अस्तित्व को ही ख़तरा नज़र आता है। हम अपने अन्दर उसी विष के बीज लिए हुए हैं और निरन्तर नए-नए विष अंकुर पैदा करते जाना चाहते हैं। यदि मन में इसका आभास जाग भी आता है तो हम वृक्ष के विष को भयानक समझते हुए भी अपने पत्ती भर विष को सह्य समझकर जिस किसी तरह जी लेना चाहते हैं और इस तरह प्रकृति के साथ विश्वासघात करते हुए एक विषैली परम्परा के साधन बने जिये जा रहे हैं...।"

"बस बस बस!" श्यामा ने उसके हाथ-पर-हाथ रख दिया। "यह तुम्हें हो क्या गया है? बहकी-बहकी बातें तो तब भी किया करते थे, मगर अब तो लगता है कि बिलकुल ही बौखला गए हो...।"

"हो सकता है तुम्हारी बात ठीक हो," कुमार ने उदासीनता से अपना हाथ उसके हाथ के नीचे से हटा लिया। "हो सकता है यह एक बौखलाये हुए मन का प्रलाप मात्र हो। मगर मैं सच कहता हूँ कि मुझे ज़िन्दगी का यह रूप जानवरों से भी बदतर

लगता है कि व्यक्ति मन में जिससे घृणा करता हो, सामाजिक न्याय से वह उसके साथ रहने और ज़िन्दगी काटने के लिए विवश हो। जिसके शरीर की गन्ध तक से उसका जी मितलाता हो, उसके साथ हर तरह की शारीरिक घनिष्ठता रखने के लिए वह अभिशप्त हो...।''

श्यामा का चेहरा न जाने कैसा होने लगा था। उसने फिर से एक बार कुमार के हाथ को थोड़ा थपथपा दिया और उठ खड़ी हुई।

कुमार शायद अभी और भी कुछ कहने जा रहा था मगर अपनी बात को उसने बीच में ही रोक लिया। ''मै यह भूल ही गया था कि तुम्हें जाना भी है,'' उसने कहा।

''नहीं, मैं जा नहीं रही।'' श्यामा स्टोव की तरफ़ जाती हुई बोली। ''सोच रही हूँ कि एक-एक प्याली चाय और ले ली जाए।''

''मैंने सोचा कि शायद देर हो रही है, इसलिए...।''

''हाँ, देर तो हो ही रही है। बल्कि हो चुकी है। कुछ और हो जाएगी।''

''मुझे अफ़सोस है अगर मेरी वजह से...।''

''नहीं, तुम्हारी वजह से नहीं। रुकी हूँ, तो अपनी वजह से ही। तुम्हारी बात से सहमत शायद मैं नहीं हूँ, फिर भी सुनकर सोच रही थी कि...। तुम बात क्षणिक आवेश में नहीं कह रहे थे यह मैं जानती हूँ। फिर भी सोच रही थी कि शायद...।''

कुमार को लगा कि उसकी आवाज़ कुछ भीग-सी गई है। वह उठकर उसके पास आ गया। ''क्या सोच रही थीं?''

''सोच रही थी कि...मगर तुम वहाँ से उठ क्यों आए? बैठे रहो न। मैं अभी चाय लेकर आ रही हूँ।''

''मगर मैं जानना चाहता हूँ कि क्या सोच रही थीं।''

''तुम सभी कुछ क्यों जानना चाहते हो? कहा है वहाँ बैठो, मैं चाय लेकर आ रही हूँ।''

''मगर तुम्हारा चेहरा ऐसा क्यों हो रहा है? मैंने ऐसी तो कोई बात नहीं कही जिससे...।''

''मैंने कब कहा है कि तुमने ऐसी कोई बात कही है?'' श्यामा ने आँखें झपक लीं और गले से उमड़कर आती हुई किसी चीज़ को जैसे अन्दर ही पी लिया।

''तो फिर तुम...।'' कुमार ने श्यामा का हाथ अपने हाथ में लेकर दबा दिया। ''मुझे यह तो जानना चाहिए न आख़िर...कि क्यों एकाएक तुम्हारा चेहरा इस तरह हो गया।...मैं अपने जीवन की दुर्घटना की बात बता रहा था। एक पुरुष के रूप में अपने विवाहित जीवन में मुझे जो अनुभव हुआ है...।''

''सृष्टि में तुम्हीं एक पुरुष तो नहीं हो...'' श्यामा क़ाम में व्यस्त होकर बोली। ''मैं जो बात सोच रही थी वह किसी और को लेकर थी...एक और पुरुष को। सोच

रही थी कि उसने भी जाने क्या-क्या सोचकर एक लड़की से ब्याह किया होगा। और बाद में चलकर...।''

''तुम्हारा मतलब है कि तुम...।''

''हाँ, मेरा मतलब वही है जो तुम समझ रहे हो। मैं यही सोच रही थी कि हम दोनों के विवाहित जीवन को लेकर उनके मन में भी कहीं इसी तरह की भावना तो नहीं थी। पहले ही दिन से वे मेरी ओर से जिस तरह उदासीन रहे, उसका कारण...उसका कारण भी कुछ ऐसा ही तो नहीं था। साथ ही मैं यह भी सोच रही थी कि कहीं उनकी मृत्यु का कारण...वास्तविक कारण...।'' श्यामा जाकर तिपाई से जूठी प्यालियाँ उठा लाई और चुपचाप उन्हें धोने लगी। मगर उसके हाथ स्थिर नहीं थे, काँप रहे थे। कुमार पल भर जड़-सा वहाँ खड़ा रहा फिर चुपचाप आकर कुर्सी पर बैठ गया।

खिड़की के बाहर आकाश का रंग पीला पड़ गया था। परन्तु वह रंग भी जैसे काँपता हुआ अपने में सिमटता जा रहा था। खुट्-खुट् खुट् जाने कहाँ पर कोई खुटकबढ़ैया काठ को काट रही थी। वह बैठा रहा और देखता रहा उस हिलती हुई आकृति को जिसकी पीठ से भी उसके अन्दर की हलचल का कुछ आभास मिल रहा था और सामने की उस दरार को जो जैसे आकाश के काँपते हुए रंग के साथ-साथ काँप रही थी। उसे आश्चर्य होने लगा कि उसने आज तक इस दरार को ध्यान से क्यों नहीं देखा...बल्कि शायद कभी देखा ही नहीं हालाँकि दरार बिलकुल कुर्सी के सामने थी और हर रोज़ वह कितनी-कितनी देर कुर्सी पर बैठा रहता था...!

रौशनदान के शीशे पर सुबह का हल्का रंग...दूर किसी दरवाज़े पर हल्की-सी दस्तक...साथ के फ़्लैट में फ़्लश की आवाज़...!

कुमार ने बिस्तर से उठकर बालकनी की खिड़की खोल दी। हवा के साथ उजाले का हल्का सुरमई रंग कमरे में भर आया। सुबह का वह रंग उसके लिए नया-सा था : रोज़ तो सुबह खिड़की के शीशों के आरपार चमकती हुई धूप की शक्ल में ही होती थी। चौखटे पर कुहनियाँ रखकर वह बाहर को झुक गया। चौखटा ठंडा और गीला था। शायद कुछ देर पहले तक हल्की-हल्की बूँदें पड़ती रही थीं।

वातावरण में काफ़ी नमी थी– नमी, जो बाहर की ख़ामोशी को और गहरा कर रही थी। समुद्र का विस्तार बहुत मैला और सपाट-सा लग रहा था। रात भर के तूफ़ान के बाद वह जैसे बाँहों में सिर छिपाकर सो गया था। दाईं तरफ़ गिरजाघर का क्रास वातावरण पर उदास नज़र डालता हुआ एक लम्बी अँगड़ाई ले रहा था...मुद्दत से गिरजे की पहरेदारी करते-करते जैसे वह बुरी तरह ऊब चुका था...।

कुमार कितनी ही देर वहाँ खड़ा आकाश में घुलते हुए धूप के रंग को देखता रहा। वह रंग जैसे एक-एक ज़र्रे के अन्दर से उमड़ रहा था, हवा में काँपते हुए वे

ज़र्रे जैसे नन्हे-नन्हे पक्षी थे जो बिना पँखों के किसी अज्ञात दिशा में उड़े जा रहे थे—एक-दूसरे में उलझे आपस में घुल-मिलकर भी एक-दूसरे से अलग, अपने आप में अकेले और एक-एक पूरी दुनिया के दावेदार...!

समुद्र का पानी भी सुबह के रंग को पकड़कर चमकने लगा था—हल्की-हल्की लहरें उसे फिर किनारे की तरफ़ ला रही थीं। गिरजे का क्रास लहू के रंग में रँगकर पीला पड़ रहा था। हर चीज़ के लिए यह ज़िन्दगी की नई शुरुआत थी। हर सुबह इसी तरह ज़िन्दगी की नई शुरुआत होती थी और हर चीज़ ज़िन्दा रहने के लिए नए सिरे से तड़पना और छटपटाना शुरू कर देती थी, नए सिरे से अपने को अपने मनचाहे रूप में ढालने की कल्पना में खो जाती थी और उस कल्पना को सार्थक करने के लिए नए सिरे से संघर्ष आरम्भ करती थी—जानते हुए भी कि शाम होने तक सिर्फ़ एक थकान शेष रह जाएगी, मन-प्राण पर छा जाने वाली ऊब, शिथिलता और उदासी के अलावा और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। आख़िर उस थकान और उदासी को भी एक नींद छा लेगी हालाँकि नींद की दरारों में से एक आशा फिर भी झाँकती रहेगी कि शायद आने वाला कल...वह कल ऐसा नहीं होगा और अगर ऐसा होगा तो अब उससे लड़ने की और कोशिश नहीं की जाएगी। शिथिलता और उदासीनता से भरी नींद की पहरेदारी में रात काटकर फिर वैसी ही एक सुबह...फिर उसी तरह किनारे की तरफ़ लौटने का प्रयत्न...फिर वही गिरजाघर की पहरेदारी...फिर वही बिना पंखों के धूप के समुद्र में उड़ने की मजबूरी!...मजबूरी जो कि एक अधूरी कामना भी थी कि शायद...!

खिड़की से हटकर वह स्टोव के पास लौट आया। चाय बनाने का सब सामान उसी तरह बिखरा था जैसे श्यामा उसे छोड़ गई थी। कमरे के वातावरण में जैसे कल की शाम उसी तरह रुकी हुई थी—धूप में चमकते और काँपते हुए ज़र्रों के बावजूद। इस बीच एक रात आकर चली गई थी मगर उस शाम को वह अपने में समेट कर नहीं ले जा सकी थी। आँखों में नींद का खुमार बना हुआ था—रात भर नींद आई ही नहीं थी। रौशनदान पर सुबह का रंग फैलने से पहले उसने अपने अन्दर सुबह महसूस करना चाही थी, मगर रात और सुबह दोनों ही जैसे बेगानों की तरह हो गई थीं। बेगानों की तरह ही रात आकर चली गई थी और सुबह खिड़की के बाहर समुद्रतट के उस तरफ़ ही रुकी हुई थी...।

स्टोव के पास से हटकर वह कुर्सी पर आ बैठा। सामने फिर वही दरार थी—दरार जो कि कल की रुकी हुई शाम की एक लकीर की तरह थी—जब तक वह लकीर वहाँ थी, वह शाम कमरे से नहीं जा सकती थी...।

वह वहाँ उसी तरह बैठा था और श्यामा स्टोव के पास चाय बना रही थी। बनाते हुए उसके हाथ हिलने से ज़्यादा काँप रहे थे। वह क्या सोच रही है, इसका अनुमान

वह उसकी पीठ से लगाने का प्रयत्न कर रहा था। एक दिन खेतों में से होकर जाते हुए उसने उस पीठ पर बनी हुई बूँदों की जालियाँ देखी थीं। उस दिन उन जालियों के अन्दर से एक उष्णता फूट रही थी। मगर उस समय वहाँ बूँदों की जालियाँ नहीं थीं, और न ही वह उष्णता थी। उस समय लग रहा था जैसे कोई चीज़ उस पीठ के अन्दर छटपटा रही हो...और छटपटाते हुए धीरे-धीरे शिथिल पड़ती जा रही हो।

श्यामा प्यालियाँ लिए हुए आई, तो उसकी आँखों में मरघट का-सा सूनापन छाया था। प्याली देने के लिए बढ़ा हुआ उसका हाथ भी निर्जीव-सा लग रहा था।

चाय पीते हुए कोई बात नहीं हुई। दोनों जैसे एक दूसरे के सामने बैठे हुए दो अभियुक्त थे—अभियुक्त, अपने-अपने लिए भी और एक-दूसरे के लिए भी।

पहली बात श्यामा ने ही कही। चाय पी चुकने के बाद उसी तरह रूमाल से मुँह पोंछते हुए। ''अब मुझे चलना चाहिए। काफ़ी देर हो गई है। कहीं उस दिन की तरह आज भी...।''

''उस दिन की तरह क्या...?''

श्यामा ने आँखें झपक लीं। ''कोई ख़ास बात नहीं थी। ऐसे ही उस दिन...।'' मगर बात बीच में ही छोड़कर वह उठ खड़ी हुई। ''ख़ैर, अब दो-एक दिन में तो चले ही जाना है। इसलिए सोचती हूँ कि...।''

उसने अनजाने ही श्यामा का हाथ अपने हाथ में ले लिया। शायद उसे रोकने के लिए मगर साथ ही वह खुद भी उठ खड़ा हुआ।

''तो इसका मतलब है कि आज के बाद...।''

''हाँ, आज के बाद शायद ही कभी भेंट हो। आज से पहले एकाध दिन तो सामान-बाँधने में ही चला जाएगा। आते हुए इतना सारा सामान साथ उठा लाई थी। फिर बेबी के लिए कुछ चीज़ें भी ख़रीदनी होंगी।''

वह पलभर चुपचाप उसके हाथ को सहलाता रहा। फिर बोला, ''एक बात तुमने नहीं बताई।''

''क्या बात?''

''कि तुम जब काफ़ी दिन रहने के लिए आई थीं, तो इतनी जल्दी क्यों लौटकर जा रही हो?''

''सोचा था कि मन लग जाएगा। नहीं लगा, इसलिए जा रही हूँ।''

''मगर मन न लगने की वजह भी तो होगी। घर के लोगों से किसी बात पर झगड़ा हुआ है क्या?''

श्यामा के होंठ काँपकर रह गए। उसने कहा कुछ नहीं।

''इसका मतलब है कि मेरा अनुमान ग़लत नहीं है।'' कुमार के हाथ का दबाव थोड़ा बढ़ गया।

"क्या अनुमान?"

"कि तुमने आखिर यह स्वीकार कर लिया है कि तुम अब उन लोगों के जीवन के साथ जुड़ी हुई नहीं हो...कि आज तक तुम जान-बूझकर अपने को धोखा दे रही थीं...और कि अब केवल तुम्हारा स्वाभिमान ही तुम्हें इस बात को स्वीकार करने से रोकता है।"

श्यामा ने हाथ छुड़ा लेने की चेष्टा की मगर उसने उसे और भी कस लिया। "तुम समझती हो कि इनसान अपने को धोखे में रखकर पूरी ज़िन्दगी काट सकता है?"

श्यामा ने मुस्कराने की चेष्टा की। "अब ज़िन्दगी बची ही कितनी है कि...।"

"यह भी धोखे का तार फैलाने का ही एक तरीका नहीं है?" श्यामा के हाथ से हटकर उसका हाथ उसकी बाँह पर आ गया। "मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि तुम जो बात कह रही हो, उसमें तुम्हें स्वयं विश्वास नहीं है। तुम जानती हो कि ज़िन्दगी आख़िरी दिन तक जी जाती है। तुम आज भी जीना चाहती हो, उसी तरह जैसे मैं या और कोई भी व्यक्ति जीना चाहता है। यह केवल हठ है कि तुम इसे अस्वीकार किए जाना चाहती हो।"

श्यामा के चेहरे पर मुस्काराहट उसी तरह जमी रही। "यह तुम कैसे कह सकते हो कि मैं जी नहीं रही हूँ? जी न रही होती, तो तुमसे बात कर सकती?"

"जीवित होना और जीना दो अलग-अलग बातें हैं।" उसके दोनों हाथ अब श्यामा की बाँहों पर आ गए थे। "मैं बात जीने की कर रहा हूँ, जीवित होने की नहीं!"

"और जीने का अर्थ तुम समझते हो कि...।" श्यामा ने उसके हाथ अपनी बाँहों से हटा देने चाहे...मगर उसकी उस चेष्टा में ही वह घटना हो गई...। उसने स्वयं नहीं सोचा था कि अचानक उससे उस तरह की हरकत हो जाएगी। उसके हाथ आवेश में आगे बढ़ गए और श्यामा के शरीर को उसकी बाँहों ने अपने में कस लिया।

"जीने का अर्थ...जीना है," वह बुदबुदाकर कहता रहा। "जीने से भागना नहीं।" उसके होंठ श्यामा के होंठों को टटोल रहे थे और श्यामा अपने चेहरे को परे हटा लेने की कोशिश में थी। फिर वह क्षण आया जब श्यामा के हर प्रत्यन को निष्फल करके उसने अपने होंठ श्यामा के होंठों पर रख दिए। उसे होश तब हुआ जब श्यामा ने उसकी ठोड़ी पर हाथ रखकर उसे परे धकेल दिया। श्यामा के शरीर से अलग होते हुए उसका हाथ तिपाई पर रखी हुई प्याली से टकरा गया। प्याली औंधी हो गई और चाय की तलछट तिपाई पर बह आई...।

फिर उसने पाया कि वह कुर्सी पर बैठा है और अपना मुँह उसने दोनों हाथों से ढाँप रखा है। हथेलियों के अन्दर से उमड़ता हुआ एक सुनसान अँधेरा उसे अपने

में गर्क किए ले रहा था। एक कुआँ है, गहरा कुआँ, जिसके तल पर पहुँचकर वह दीवार का सहारा लेने की कोशिश कर रहा था। मगर उस कुएँ में कहीं दीवार नहीं है। पैर जिधर भी बढ़ते हैं, उधर सूनापन ही सूनापन बढ़ता जाता है। आखिर उसने हथेलियाँ आँखों से हटा लीं। उसे ख़याल था कि श्यामा तब तक जा चुकी होगी और उसे अपने सामने कमरे की ख़ाली दीवारें ही नज़र आएँगी। मगर श्यामा वहाँ से गई नहीं थी, उसके लगभग सामने नीचे फ़र्श पर बैठी थी। कुछ पल दोनों चुपचाप एक-दूसरे की तरफ़ देखते रहे।

"देखो, मुझे बहुत अफ़सोस है," आख़िर किसी तरह वह बोल सका। "मेरा इरादा किसी भी तरह तुम्हें चोट पहुँचाने का नहीं था।"

श्यामा चुपचाप उसी तरह देखती रही—जैसे रेल की दुर्घटना में चोट खाकर उसकी शक्तियाँ सुन्न हो गई हों, उसकी सोचने-समझने की शक्ति जाती रही हो।

"उठ जाओ," वह कुछ देर चुप रहने के बाद बोला। "मैं चलकर तुम्हें स्टेशन तक छोड़ आता हूँ।"

श्यामा फिर भी उसी तरह देखती रही, जैसे अपने को और आसपास के वातावरण को समझने की चेष्टा कर रही हो! आखिर उसके होंठ हिले, "नहीं, छोड़ने चलने की ज़रूरत नहीं। मैं चली जाऊँगी।"

"और जाने से पहले जो कुछ हुआ है, उसके लिए मुझे...।"

श्यामा जैसे हवा के आर-पार कुछ टटोल रही थी। होंठों के पास छलछलायी लाल बूँद को आँचल से पोंछते हुए बोली, "किस बात के लिए तुम्हें क्षमा करना होगा? इसके लिए? वह तो मेरी बच्ची भी कितनी ही बार होंठ घायल कर देती है!"

उससे कुछ कहा नहीं गया। मन हुआ कि उठकर बालकनी पर चला जाए। मगर उठने को हुआ, तो श्यामा ने मना कर दिया। "बैठे रहो," वह बोली। "मैं समझती हूँ कि जाने से पहले मुझे एक बात तुम्हें बता देनी चाहिए।"

वह कनपटियों पर हाथ रखे हुए बैठा रहा। उसकी कनपटियाँ ज़ोर से धड़क रही थीं।

श्यामा ने कुहनियाँ घुटनों पर समेट ली थीं। वह उसी तरह हवा में देखती हुई कहती रही, "मैंने जब तुम्हें आने के लिए लिखा था, तो मेरे मन में कोई बाधा नहीं थी। तब तुम आए होते, तो सम्भव था कुछ भी हो जाता...मैंने अपने को बचाने का कुछ भी प्रयत्न न किया होता।...यह बात भी शायद मैं ग़लत कह रही हूँ। कहना चाहिए कि मैंने तुम्हें बुलाया ही इसलिए था कि मैं तब मन में अपनी स्थिति को स्वीकार कर चुकी थी। बात तब एक संस्कार से लड़ने की ही थी और मैं लड़कर उस संस्कार को हरा चुकी थी।...इस बार जब वहाँ से चली थी, तब भी यह प्रलोभन मन में था कि तुम यहाँ हो—जीजाजी ने अपने एक पत्र में तुम्हारे यहाँ होने के बारे

में लिखा था। तब तुम्हारी बात मुझे सच लगती थी कि सम्बन्धों को दिए गए सब नाम केवल सुविधा के लिए हैं...वास्तविक सम्बन्ध इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें नाम दिए ही नहीं जा सकते। मैं तुम्हारे और अपने सम्बन्ध को बिना नाम दिए उसमें सब कुछ पा लेना चाहती थी। उस दिन फ़ोन पर तुमसे मिलने की बात की थी, तब भी यही सोचती थी, यही चाहती थी। सोचती थी मैं विद्रोह करूँगी, अपने अन्दर की झूठी मान्यताओं को तोड़ दूँगी। उस दिन तुम मिल जाते, तो मुझे इस तरह न पाते। उस दिन अपना पत्र तुम्हें दिखाने के लिए लाई थी। घर लौटकर उसे कपड़ों की तह में रख दिया था। बाद में वह सीमा के हाथ लग गया और उसे लेकर घर में काफ़ी चखचख हुई। मैंने तब तक यहाँ से लौट जाने का निश्चय कर लिया था—मगर लौटने की बात परिस्थितियों की उलझन से भागने की एक चेष्टा ही थी। आज भी तुमसे मिलने के लिए आई थी तो निश्चय नहीं कर सकी थी कि तुम मुझे रोक लेना चाहोगे, तो मैं रुक जाऊँगी या नहीं। तब एक और कारण से अपने से लड़ रही थी। मगर तुम विश्वास कर सको, तो सचमुच लौट जाने का निश्चय मैंने आज तुमसे मिलने के बाद किया है—परन्तु इसी समय नहीं। कहीं यह न सोचना कि तुम्हारे इस समय के पागलपन के कारण यह निश्चय हुआ है, क्योंकि ऐसा नहीं है। निश्चय मेरे मन में हुआ था उस समय जब तुम अपने विवाहित जीवन की बात कर रहे थे। मैं उस समय सोच रही थी कि मेरे जीवन में अगर देव की जगह तुम आए होते, तब भी कैसे कहा जा सकता है कि हमारे जीवन का रूप वैसा ही न होता जैसा कि अब है—कि हम दोनों एक-दूसरे के लिए घनी वितृष्णा मन में लिए इसी तरह अपने जीवन को एक यन्त्रणा न समझ रहे होते—कि तुम किसी स्त्री से और मैं किसी पुरुष से इसी तरह अपने जीवन की विडम्बना की बात न कर रही होती...।"

उसने कुछ कहना चाहा मगर श्यामा ने उसे बीच में ही रोक दिया। "देखो, मुझे अपनी बात कह लेने दो," उसने कहा। "तुम उस समय विषवृक्ष की बात कर रहे थे, तो मुझे देव की एक बात याद आ रही थी। उन्होंने जीवन में कभी मुझे कड़वी बात नहीं कही—इसकी अधिकारिणी ही मुझे नहीं समझा। परन्तु विवाहित जीवन को लेकर उनके मन में भी गहरी वितृष्णा थी, यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ। मुझसे विवाह करने से पहले वे ज़िन्दगी देख चुके थे—तुम्हारी तरह स्त्री के शरीर की भूख शायद उनमें नहीं थी। उन्होंने विवाह क्यों किया था और वे अपनी पत्नी से क्या चाहते थे, यह मैं भी नहीं जानती। कारण जो भी रहा हो, मुझ में उन्हें वह कुछ नहीं मिला जो वे चाहते थे। इसलिए शायद वे ब्याह के दिन से मरने के दिन तक उदास रहे...और अपनी उदासी की साझीदार भी उन्होंने मुझे नहीं बनाया। उनके मित्र ही अक्सर मुझसे कहा करते थे कि वह आदमी ब्याह से पहले इतना हँसमुख था, मगर अब...अब वह किसी से भी ठीक से बात नहीं करता। मुझसे वे कुछ कहते नहीं थे, मगर अक्सर

अपनी उदासी में वे इसी तरह की बातें करने लगते थे जैसी अभी तुम कर रहे थे। अक्सर मैंने उनके मुँह से सुना था, 'यह सभ्यता मर्करी लैम्पों की नीली रौशनी है शमी, जिसने हम सबके चेहरों पर अपना रंग पोत रखा है। हम कितना भी चाहें, उस रंग को धोकर उतार नहीं सकते। इस रौशनी की बाँहों का घेरा इतना बड़ा है कि हम जंगल में जाकर भी इससे नहीं बच सकते। हम सब जीते नहीं, जीने का स्वाँग करते हैं और उस स्वाँग का एक दर्शन भी बना लेना चाहते हैं। हम इनसान नहीं, इनसान के खोल हैं जो अपने लहू की ताक़त से नहीं इस रौशनी की ताकत से ही चलते-फिरते हैं। हल्की-हल्की धूल की तरह यह रौशनी हमारे चारों तरफ़ घिरी रहती है। हम एक-दूसरे के पास आते हैं, मगर एक-दूसरे को पहचान नहीं पाते। हमारी बाँहे एक-दूसरे की तरफ़ उठती हैं, मगर एक-दूसरे तक पहुँच नहीं पातीं क्योंकि उसी नीली रौशनी के साये उन पर घिरे रहते हैं। हम लोग आज कुछ भी करने में असमर्थ हैं क्योंकि हमारी बाँहें हमारी अपनी बाँहें नहीं, उसी नीली रौशनी की बाँहें हैं...।' मैं तब उनकी बात ठीक से नहीं समझ पाती थी। सोचती थी कि इन बातों से वे सिर्फ़ मुझे और अपने को ठगने की कोशिश करते हैं। मगर आज अचानक मुझे लगा रहा है कि वे जो कुछ भी कहते थे, अपने अन्दर की कड़वाहट को प्रकट करने के लिए ही कहते थे। मैं आज तक सोचती थी कि मेरी ज़िन्दगी दुखी है, उनकी वजह से। मगर आज सोचती हूँ कि शायद मुझसे ज़्यादा दुखी ज़िन्दगी उनकी थी और उसका कारण...कारण केवल मैं ही थी। जब टायफ़ायड में पड़े थे, तब उन्होंने हमसे ठीक से दवाई भी नहीं ली...शायद इसीलिए कि वे चाहते ही नहीं थे कि...।''

बात करते-करते मुँह पर पसीना आ गया था। श्यामा ने एक बार अच्छी तरह रूमाल से चेहरे और गरदन को पोंछ लिया। वह नहीं सोच पा रहा था कि उसे क्या कहना चाहिए। किसी तरह उसने इतना ही कहा, ''मैंने न उस दिन सोचा था और न आज ही सोचा था कि मुझसे ऐसी हरकत हो जाएगी। हो सकता है इसका कारण केवल इतने दिनों की जमा भूख रही हो...या केवल...।''

''मैं तुम्हारी बात समझती हूँ,'' श्यामा अपने बालों को सहलाकर ठीक करती हुई बोली। ''मुझे इसके लिए दुःख भी नहीं है। दुःख होता अगर मेरा भी इसमें सहयोग होता...जैसे कि उस बार था। बल्कि उस बार भूख शायद मेरी थी, तुम्हारी नहीं। आज मुझे दुःख तो एक और ही बात का है। वह दुःख तुम्हारे या अपने लिए नहीं, एक और ही व्यक्ति के लिए है...। पहले सोचती थी कि धोखा मेरे साथ हुआ है। मगर अब सोचती हूँ कि उससे भी बड़ा धोखा शायद एक और व्यक्ति के साथ हुआ था जो अपनी बात कहने के लिए आज जीवित नहीं है।'' और पल भर आँखें मूँदे रहने के बाद उसने कहा, ''अब मैं चलूँगी। यह मत समझना कि मैं तुम्हारा तिरस्कार करके और सम्बन्ध तोड़कर जा रही हूँ। तुम मुझसे ज़्यादा अच्छी तरह

जानते हो कि सम्बन्ध कभी टूटते नहीं। मगर इस समय तुम मुझे छोड़ने के लिए चलो, यह मुझे अच्छा नहीं लगेगा। मैं उपकार मानूँगी अगर तुम इस समय मुझे यहाँ से अकेली चली जाने दो।''

जाते-जाते वह दरवाज़े के पास रुकी। पलभर स्निग्ध आँखों से उसकी तरफ़ देखती रही। फिर बोली, ''हो सकता हैं मैं फिर भी कभी तुम्हें बुलाऊँ। आना ज़रूर। मगर वह सब सोचकर नहीं...हाँ?''

हाथ से टकराकर जो प्याली कल शाम को औंधी हुई थीं, वह अब तक औंधी ही पड़ी थी। उससे बहकर आई हुई तलछट भी अभी तिपाई पर सूखी नहीं थी। कुमार ने प्याली को सीधा करके तिपाई को कपड़े से पोंछ दिया। फिर उठकर प्यालियों को धोया और स्टोव जलाकर चाय के लिए पानी रख दिया। थोड़ी देर के लिए वह फिर खिड़की के पास आया, तो देखा कि किनारे का बहुत-सा भाग पानी के अन्दर चला गया है और गिरजे के क्रास ने फिर रोज़ की तरह गम्भीरता का लबादा ओढ़ लिया है। ''हुँह!'' उसके मुँह से खोखली-सी आवाज़ निकली और वह स्टोव के पास आकर चाय बनाने लगा। मगर उसके हाथ काँप रहे थे। उसी तरह जैसे कल श्यामा के हाथ काँप रहे थे...।
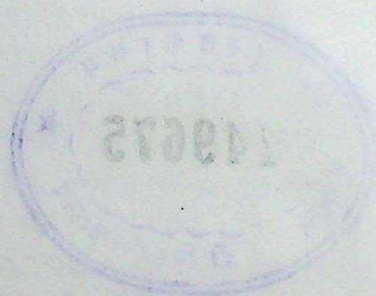
□ □ □

# मोहन राकेश
# रचनावली



ISBN : 978-81-8361-427-6
₹ 10400 (तेरह खंड)
9 788183 614276

राधाकृष्ण
नयी दिल्ली पटना इलाहाबाद